उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड – एक : राजनीति विज्ञान का परिचय		**03–35**
इकाई – 1	राजनीति विज्ञानः अर्थ, परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र	**06–17**
इकाई – 2	राजनीति के अध्ययन के उपागम – उत्तरव्यवहारवाद अन्तः शास्त्रीय उपागम	**18–27**
इकाई – 3	राजनीति विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्धं	**28–35**
खण्ड – दो : राज्य के प्रमुख लक्षण		**37–102**
इकाई – 4	राज्यः अर्थ, प्रकृति और उद्‌भव	**41–50**
इकाई – 5	राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त	**51–76**
इकाई – 6	संम्प्रभुता की धारणा एवं विकास	**77–86**
इकाई – 7	शक्ति सत्ता और वैधता	**87–102**
खण्ड – तीन : व्यक्ति और राज्य		**103–140**
इकाई – 8	विधि और न्याय	**106–121**
इकाई – 9	स्वतंत्रता	**122–129**
इकाई – 10	समानता	**130–140**
खण्ड – चार : सरकार के अंग और शासन प्राणालिया		**141–248**
इकाई – 11	सरकार के अंग और वर्गीकरण	**145–175**
इकाई – 12	लोकतंत्रीय सरकार	**176–201**
इकाई – 13	एकात्मक और संघात्मक सरकार	**202–220**
इकाई – 14	संसदीय शासन प्रणाली	**221–236**
इकाई – 15	अध्यक्षीय शासन प्रणाली	**237–248**
खण्ड – पाँच : राज्य के सिद्धान्त		**249–313**
इकाई – 16	राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण	**252–268**
इकाई – 17	कल्याणकारी राज्य	**269–286**
इकाई – 18	राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त	**287–296**
इकाई – 19	राज्य का अराजकतावादी दृष्टिकोण	**297–313**

TESLA-024

खण्ड – छः : राज्य की विचारधाराओं 315–376

इकाई – 20 सर्वाधिकारवाद 317–329

इकाई – 21 फासीवाद 330–348

इकाई – 22 साम्राज्यवाद 349–366

इकाई – 23 राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद 367–376

खण्ड – सात : समाज और अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप 377–420

इकाई – 24 आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका 380–390

इकाई – 25 राज्य और सामाजिक प्रक्रियाएँ 391–408

इकाई – 26 राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया 409–420

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड–1

राजनीति विज्ञान का परिचय

इकाई – 1	राजनीति विज्ञानः अर्थ, परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र	06–17
इकाई – 2	राजनीति के अध्ययन के उपागम – उत्तरव्यवहारवाद अन्तः शास्त्रीय उपागम	18–27
इकाई – 3	राजनीति विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्धं	28–35

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

1. **प्रो. एल. आर. गुर्जर**

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

2. **डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय,** असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच
3. **डॉ के. डी. सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया
4. **डॉ नीलिमा सिंह,** एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज
5. **डॉ एच. के. शर्मा**, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
6. **डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव,** शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज
7. **डॉ ए. पी. सिंह**, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज
8. **डॉ मोहम्मद शाहिद**, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN- 979-93-83328-35-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
प्रकाशक–कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–2020
मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

यू.जी.पी.एस.–101

खण्ड–01 परिचय

'राजनीति विज्ञान का परिचय' खण्ड के अन्तर्गत वे इकाईयाँ है, जिनमें।

इकाई–01 के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान के अर्थ परिभाषा, क्षेत्र, प्रकृति का वर्णन किया गया है तथा राजनीति विज्ञान को विज्ञान क्यों कहा गया है। इसका सरल शब्दों में वर्णन किया गया है।

इकाई–02 में राजनीति के अध्ययन के उपागम उत्तरव्यवहारवाद, अन्तः शास्त्रीय उपागम के अन्तर्गत उत्तरव्यवहारवाद के अर्थ, प्रकृति एवं उत्तरव्यवहारवाद के उदय के कारणों को तथा राजनीति विज्ञान का अन्तरनुशासनात्मक उपागम के रुप में अध्ययन कर सकेंगे।

इकाई–03 में राजनीति विज्ञान और अन्य सामाजिक विज्ञान में राजनीति विज्ञान का इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल, नीतिशस्त्र से संबंधों का विश्लेषण किया गया है। राजनीतिक संरचनाओं और प्रक्रियाओं के अध्ययन को ज्यादा वैज्ञानिक बनाने के लिए राजनीति विज्ञान किस प्रकार से इन विषयों में सहायता लेता है। इसका वर्णन किया गया है।

इकाई–1

राजनीति विज्ञानः अर्थ, परिभाषा, प्रकृति एवं क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 राजनीति विज्ञानः पारिभाषिक शब्दावली

- 1.2.1 राजनीति
- 1.2.2 राजनीति दर्शन
- 1.2.3 राज्य का सिद्धान्त
- 1.2.4 राजनीति विज्ञान

1.3 राजनीति विज्ञान की परिभाषा

- 1.3.1 परम्परागत दृष्टिकोंण के आधार पर राजनीति विज्ञान की परिभाषा
  - ➢ राजनीति विज्ञान केवल राज्य का अध्ययन
  - ➢ राजनीति विज्ञान केवल सरकार का अध्ययन
  - ➢ राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार दोनों का अध्ययन
- 1.3.2 आधुनिक दृष्टिकोण के आधार पर राजनीति विज्ञान की परिभाषा
  - ➢ राजनीति विज्ञान मानव क्रियाओं का अध्ययन
  - ➢ राजनीति विज्ञान शक्ति का अध्ययन
  - ➢ राजनीति विज्ञान राजव्यवस्था का अध्ययन
  - ➢ राजनीति विज्ञान निर्णय प्रक्रिया का अध्ययन

1.4 राजनीति विज्ञान की प्रकृति

- 1.4.1 राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के विपक्ष में तर्क
- 1.4.2 राजनीति विज्ञान के वैज्ञानिकता के पक्ष में तर्क

1.5 राजनीति विज्ञान का क्षेत्र

- 1.5.1 राज्य के सिद्धान्त का अध्ययन
- 1.5.2 सरकार का अध्ययन
- 1.5.3 अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से सम्बन्धित अध्ययन
- 1.5.4 मानव के राजनीति जीवन का अध्ययन

1.5.5 राजनीतिक दल दबाव एवं जनमत का अध्ययन

1.5.6 विभिन्न धारणाओं का अध्ययन

1.5.7 विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का अध्ययन

1.6 निष्कर्ष

1.7 अभ्यास प्रश्न

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देष्य

- इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप जान पायेंगे
- राजनीति विज्ञान के अर्थ एवं परिभाषाओं के बारे में।
- राजनीति विज्ञान की प्रकृति के बारे में।
- राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के बारे में।
- राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के बारे में।

1.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान का अस्तित्व प्राचीन समय से ही रहा है। जब से समाज मे राज्य विद्यमान रहा हैं। तब से ही राजनीति विज्ञान समाज में मौजूद है। परन्तु समाजिक विज्ञान के रूप में इसका विकास वर्तमान युग में ही हुआ हैं। पाश्चात्य देशों में राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ युनानी नगर राज्यों में माना गया है। युनानी नगर राज्यों से पहले भी राजनैतिक चिन्तन पर विचार होता था लेकिन उस राजनैतिक चिंतन में राजनीति और धर्म आपस में मिले हुये थे तथा कल्पनाओं के आधार पर राजनैतिक विचारधाराओं का बाहुल्य था। युनानी चिन्तन से पूर्व राजनीति विज्ञान का विकास विशुद्ध रूप से नहीं हो पाया था जिसके कारण राजनीति विज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान के रुप में विकसित नहीं हो पाया था। भारत के प्राचीन राजनीति चिन्तन को देखे तो उस समय के राजनीति विचारो में शासन कला और नीति शास्त्र पर ज्यादा जोर दिया गया। जिसको हम कौटिल्य, मनु याज्ञवल्क्य एवं सोमदेव सुरी की रचनाओं में देख सकतें हैं।

युनानियों जिनमें सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तु ने अपने ग्रन्थों में राजनीति विज्ञान को धर्म, अन्धविश्वास एवं कल्पनाओं से अलग करके राजनीति विज्ञान को एक क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित विज्ञान के रुप में विकसित किया। राजनीति विज्ञान अंग्रेजी के दो शब्दों से मिलकर बना है Political दूसरा Science। पहले शब्द का अर्थ राज्य, उसके अगों एवं सरकारों से लेते हैं, दूसरा शब्द विज्ञान सें जुडा हैं। विज्ञान का अर्थ राज्य एवं उसके अगों के क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन से है। इस प्रकार राजनीति विज्ञान वह विज्ञान है जिसमें राज्य और शासन कि समस्याओं और समाज में शक्ति के औचित्य पूर्ण प्रयोग का अध्ययन किया जाता है।

1.2 राजनीति विज्ञानः पारिभाषिक शब्दावली

राजनीति विज्ञान की परिभाषा स्पष्ट करने से पहले इसकी पारिभाषिक शब्दावली पर विचार करना जरुरी है राजनैतिक विज्ञान के विद्वान इसे कई नामों से सम्बोधित करते हैं। जिनमें कुछ विद्वान इसे राजनीति, राजनीति दर्शन, राज्य सिद्वान्त और राजनीति विज्ञान के नाम से प्रयुक्त करते है जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1.2.1 राजनीति

प्राचीन यूनानी विचारकों ने राजनीति विज्ञान के लिए पालिटिक्स शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द यूनानी भाषा के पौलिस तथा पालिटिया नामक शब्दों से मिलकर बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ नगर राज्य और सरकार से लिया जाता है। राजनीति विज्ञान का जनक अरस्तु ने अपने महान गन्थ का नाम भी 'पॉलिटिक्स' रखा है, राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान जेलिनेक हाजेनडाफ और सिजविक ने राजनीति विज्ञान के बजाय राजनीति शब्द को अपने विचारों मे अपनाया था। मार्क्स वादी विद्वान भी राजनीति विज्ञान के स्थान पर 'राजनीति' शब्द का ही प्रयोग करते हैं। राजनीति का सही रुप क्या होना चाहिये इस पर भी विद्वानों पर सहमति नहीं हैं। ये सभी विद्वान राजनीति को राज्य, सरकार और कानून के पर्याय के रुप में समझते है। निष्कर्ष तौर पर कहा जा सकता है कि ये विद्वान राजनीति विज्ञान के स्थान पर 'राजनीति' शब्द का ही प्रयोग करते हैं।

1.2.2 राजनीति दर्शन

कुछ विद्वान राजनीति विज्ञान को राजनीति दर्शन मानते हैं उनका आंकलन है कि राजनीति दर्शन राजनीति विज्ञान का प्रधान अंग है। राजनीति दर्शन शास्त्र का एक भाग है, दर्शन शास्त्र सम्पूर्ण विश्व का आंकलन करता है और राजनीति विज्ञान विश्व के एक अंग राज्य का। राजनीति दर्शन राज्य, नागरिकता कर्तव्य तथा राजनीति आदर्शों का विवेचन करता है। व्यवहारवादी लेखक राजनीति दर्शन को राजनीति विज्ञान का अंग नहीं मानते हैं।

1.2.3 राज्य का सिद्धान्त

प्राचीन एव आधुनिक अनेक राजनीति शास्त्रियों ने राजनीति विज्ञान को राज्य का पर्याय मानते हैं। इनका मानना है कि राजनीति का प्रधान विषय राज्य है। अतः राजनीति विज्ञान को राज्य का सिद्वान्त मानना उचित होगा क्योंकि राजनीति में राज्य, उसका उदभव, अतीत में राज्य कैसा था, वर्तमान मे कैसा है तथा भविष्य मे कैसा होगा का अध्ययन किया जाता हैं।

1.2.4 राजनीति विज्ञान

वर्तमान समय मे राजनीति के अधिकांश विद्वान राजनीति विज्ञान शब्द के प्रयोग पर मतैक्य रखते है। उनका मानना है कि राजनीति की उपेक्षा राजनीति शब्द व्यापक है इसमें राज्य सम्बन्धी समस्त ज्ञान का बौध होता है। राजनीति विज्ञान में सैद्धान्तिक राजनीति और व्यवहारिक राजनीति सम्मिलित है। राजनीति विज्ञान के विद्वान पॉल जेनेट ने कहा है कि ''राजनीति विज्ञान समाज विज्ञान का वह अंग है जो राज्य के मूल आधार और शासन सिद्धान्तों की व्याख्या करता है''। राजनीति विज्ञान शब्द का सबसे पहले प्रयोग 'गाडविन' तथा 'वुलस्टोने क्राफ्ट' ने किया। वर्तमान समय मे अब कोई बहस का मुद्दा नहीं रहा की राजनीति से सम्बन्धित

TESLA-024

किस शब्द का प्रयोग किया जाये। राजनीति विज्ञान शब्द पर सभी राजनीति शास्त्री एक राय रखते है तथा वर्तमान मे राजनीति विज्ञान ही सर्वमान्य प्रचलित शब्द है।

1.3 राजनीति विज्ञान की परिभाषा

राजनीति विज्ञान की परिभाषा को राजनीति दार्शनिकों ने दो दृष्टिकोणों के आधार पर स्पष्ट किया है–एक परम्तरागत दृष्टिकोण और दूसरा आधुनिक दृष्टिकोण।

1.3.1 परम्परागत दृष्टिकोण के आधार पर राजनीति विज्ञान कि परिभाषा

परम्परागत दृष्टिकोण के आधार पर राजनीति विज्ञान की परिभाषा को देखते हैं तो प्लेटो, अरस्तु एवं अन्य यूनानी चिन्तकों के दर्शनों में ही इसका आभास देखने को मिलता है। परम्परागत राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने इस विषय पर अनेक परिभाषाऐं प्रस्तुत की है। इन सबका अध्ययन निम्नलिखित रुप में किया जा सकता है।

- **राजनीति विज्ञान केवल राज्य का अध्ययन**

परम्परागत दृष्टिकोणों पर आधारित विद्वान राजनीति विज्ञान को राज्य से सम्बन्धित विज्ञान मानते हैं। उनका मानना है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय राज्य है । अतः यह राज्य का अध्ययन करती है। प्राचीन यूनान में राजनीति को ''नगर राज्य'' का पर्याय मानते थे। इस सम्बन्ध में गार्नर का कथन है कि ''राजनीति विज्ञान के अध्ययन का प्रारम्भ और अन्त राज्य के साथ होता है'' राजनीति विज्ञान के राज्य के अध्ययन से सम्बधित विद्वानो में गार्नर, ब्लश्ली, गिलक्राइस्ट तथा गेरिस प्रमुख हैं।

- **राजनीति विज्ञान केवल सरकार का अध्ययन**

राजनीति विज्ञान के कुछ परम्परागत विद्वान राजनीति विज्ञान के अर्न्तगत राज्य के स्थान पर सरकार के अध्ययन के दृष्टिकोण की बात करते हैं। उनका मानना है कि राज्य तो एक अमूर्त संस्था है जो दिखाई नहीं देती है जबकि सरकार एक मूर्त एवं दिखाई देने वाली संस्था है। राज्य की सम्प्रभुता का प्रयोग सरकार द्वारा ही किया जाता है। इस सम्बन्ध में सीले ने कहा है कि ''राजनीति विज्ञान शासन तत्वों का अध्ययन उसी प्रकार करता है जैसे अर्थशास्त्र सम्पति का, जीव विज्ञान जीवन का, बीजगणित अकों का तथा रेखागणित विस्तार एवं परिणाम का करता है'' सरकार से सम्बन्धित अध्ययन में लीकॉक ने कहा है कि ''राजनीति विज्ञान सरकार से सम्बन्धित विद्या है''।

- **राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार दोनों का अध्ययन**

राजनीति विज्ञान के अधिकांश विद्वान राजनीति विज्ञान को राज्य तथा सरकार दोनों के अध्ययन से सम्बन्धित मानते हैं। क्योंकि राज्य के अमूर्त स्परुप को मूर्त स्वरूप सरकार द्वारा ही प्रदान किया जाता है। सम्प्रभुता राज्य में निवास करती है लेकिन उसका प्रयोग सरकार द्वारा ही किया जाता है। अतः राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार दोनों में किसी भी एक के बिना कल्पना नहीं

की जा सकती है। अतः राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार दोनों का ही अध्ययन करती है।

डिमॉक के अनुसार ''राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य एवं उसके साधन सरकार से है'' इसी प्रकार गिलक्राइस्ट ने इस सम्बन्ध में सबसे उपयुक्त परिभाषा दी है। जिसके अनुसार ''राजनीति विज्ञान राज्य एवं सरकार की सामान्य समस्याओं का अध्ययन करता है''। परम्परागत दृष्टिकोण के अध्ययन के आधार पर कहा जा सकता है कि ''राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राज्य, सरकार तथा अन्य सम्बधिंत संगठनों व संस्थाओं का मानव के राजनीति जीवन के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है''।

1.3.2 आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान की परिभाषा

राजनीति विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण का प्रार्दुभाव 20 वीं शताब्दी के शुरुआत से माना जाता है। इसके विकास में सबसे ज्यादा योगदान शिकागो स्कूल, वियना सर्किल, फ्रेंकफर्ट स्कूल तथा व्यवहारवादियों का योगदान प्रमुख रुप से है जहां परम्परागत दृष्टिकोणो का अध्ययन का सन्दर्भं राज्य, सरकार एवं उसकी ओपचारिक संस्थाओं से रहा है वहीं आधुनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत, राजनीति शक्ति, सत्ता, राजनीति गतिविधि, मानव की क्रियाएँ एवं निर्णय प्रक्रिया से सम्बन्धित गतिविधियों का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक दृष्टिकोण से सम्बधित विद्वानो में चार्ल्स मेरियम, आमण्ड,पादेल डेविड ईस्टन, सिडनी बर्बा, लुसियन पाई तथा लॉ पालम्बरा प्रमुख है। राजनीति विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार निम्न आधारों पर इसकी परिभाषा दी जा सकती है

➢ राजनीति विज्ञान मानव क्रियाओं का अध्ययन

राजनीति विज्ञान के आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान में मानव की क्रियाओं एवं उसके राजनीति व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। आधुनिक राजनीति शास्त्रियों के अनुसार मनुष्य का राजनीति व्यवहार जो राजनीति गतिविधियों को प्रभावित करता है उसको राजनीति विज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता है। मनुष्य के राजनीतिक व्यवहार में नियममितता पाई जाती है।

➢ राजनीति विज्ञान शक्ति का विज्ञान

आधुनिक राजनीति विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को शक्ति के पर्याय के रुप में माना है। उनके अनुसार राजनीति शक्ति के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार को विनियमित, निर्देशित तथा नियंत्रित किया जा सकता है। केटलीन के अनुसार ''राजनीति विज्ञान शक्ति का विज्ञान है'' इसी प्रकार लासवेल ने राजनीति विज्ञान को सत्ता के सन्दर्भ में देखा है, उन्होंने अपने अध्ययन में लिखा है कि राजनीति सत्ता कौन, क्या, कब और कैसे प्राप्त करता है।

➢ राजनीति विज्ञान राजव्यवस्था का अध्ययन

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान राज व्यवस्था एवं उसकी उप व्यवस्थाओं का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान में व्यवस्था विश्लेषण सिद्धान्त का प्रयोग डेविड ईस्टन एवं आमण्ड ने किया है। राजनीति व्यवस्था वैद्य बाध्यकारी शक्ति से युक्त एक ऐसा यंत्र है जिसके द्वारा भूमिगत आधार वाले समाज के लिए आधिकारिक निर्णय लिये और प्रभासित किये जाते जाते हैं। डेविड ईस्टन के अनुसार ''राजनीति व्यवस्था किसी समाज के अन्दर उन अन्तः क्रियाओं की

प्रणाली को कहते है जिसके माध्यम से अनिवार्य या आधिकारिक आवंटन किये जाते हैं''।

➢ **राजनीति विज्ञान निर्णय प्रकिया का अध्ययन**

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राजनीति व्यवस्था में नीति निर्धारित करके जो निर्णय लिये जाते हैं उनका अध्ययन किया जाता है। निर्णय निर्माण प्रक्रिया के सिद्धान्त के समर्थक विद्वान रिचर्ड स्नाइडर है। इसी प्रकार आर्थर बेन्टले ने प्रकिया की संकल्पना का सिद्धान्त विकसित करके राजनीति विज्ञान को नये दृष्टिकोण से परिभाषित करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी पुस्तक का नाम ही ''दी प्रासेस ऑफ गर्वन्मेंट'' रखा है।

1.4 राजनीति विज्ञान कि प्रकृति

राजनीति विज्ञान की प्रकृति से यह अर्थ लिया जाता है कि प्राकृतिक विद्वानों कि तरह राजनीति विज्ञान, विज्ञान है या नहीं। अनेक प्रत्यक्षवादी राजनीतिक विद्वान राजनीति विज्ञान का अध्ययन प्राकृतिक विज्ञानों की तरह करना चाहते है। उन्हीं के आधार पर वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसना चाहते हैं। उनका कहना है कि राजनीति विज्ञान को विज्ञान होने में कोई शक नहीं है। यह पूर्णतः समाज विज्ञान है दूसरी तरफ कुछ विद्वान इसे विज्ञान नहीं मानते हैं। बकल का कहना है कि ''राजनीति विज्ञान का विज्ञान होना तो बहुत दूर की बात है यह तो कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है'' राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता के दृष्टिकोण पर विचार करने से पूर्व इसके विज्ञान न होने के तर्कों को जानना आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने राजनीति विज्ञान के विज्ञान न होने के निम्न तर्क दिये हैं, जो इस प्रकार है–

1.4.1 राजनीति विज्ञान के विज्ञान होने के विपक्ष में तर्क

❖ **विज्ञान की भांति प्रयोग तथा परीक्षण सभंव नहीं है**

राजनीति विज्ञान मे प्राकृतिक विज्ञानों की तरह प्रयोग तथा परीक्षण सभंव नहीं है। क्योंकि राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान की भांति प्रयोगशाला संभव नहीं है साथ ही राजनीति अध्ययन भी बार बार दोहराना संभव नहीं है। जैसे कि भौतिक विज्ञान में होता है। राजनीति विज्ञान कि प्रयोगशाला सम्पूर्ण मानव जगत है। अतः कहा जा सकता है कि भौतिक विज्ञान कि तरह राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं है।

❖ **निजी शब्दावली एवं सुनिश्चित परिभाषा का अभाव**

हर विज्ञान के पास अपनी निजी शब्दावली एवं उसकी सुनिश्चित मानक परिभाषाऍं होती है लेकिन राजनीति विज्ञान के पास इनका अभाव है। राजनीति विज्ञान के लेखक ''राजनीति विज्ञान'' शब्द पर भी एकमत नहीं है तथा अपने अपने दृष्टिकोण के आधार पर इसकी परिभाषाएँ दी है। अतः इस दृष्टिकोण के आधार पर देख सकते हैं कि राजनीति विज्ञान, विज्ञान नहीं है।

❖ **कार्य एवं कारण में सुनिश्चित सम्बन्ध का अभाव**

राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान कि भांति कार्य एवं कारण में सुनिश्चित सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है। राजनीति विज्ञान में जो घटना घटित होती है उसका सुनिश्चित कारण नहीं जान पड़ता है। उदाहरण के लिए सोवियत

संघ का पतन एक राजनीति घटना है लेकिन राजनीति विज्ञान आज तक इसका सुनिश्चित कारण नहीं बता पाया है।

❖ शुद्ध नापतोल का अभाव

प्राकृतिक विज्ञान में पदार्थ का अध्ययन किया जाता है और पदार्थों कि क्रियाओं का अध्ययन करने के लिए विज्ञान के पास नाप तोल के उपकरण उपलब्ध होते हैं, लेकिन राजनीति विज्ञान में पदार्थ का अध्ययन नहीं किया जाता बल्कि मनुष्य की राजनीति गतिविधियों एवं उसके राजनीति व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इनको मापना संभव नहीं है।

❖ अध्ययन सामग्री की प्रकृति में अन्तर–

प्राकृतिक विज्ञान की अध्ययन सामग्री जड़ पदार्थ होती है उनमें चेतना नहीं होती है। राजनीति विज्ञान की अध्ययन सामग्री में चेतना होती है। इसकी अध्ययन सामग्री सम्पूर्ण मानव होता है। प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन करते समय पदार्थ में कोई बदलाव नहीं होता लेकिन राजनीति विज्ञान में मनुष्य का राजनीति व्यवहार बदलता रहता है। उसके व्यवहार में विभिन्नताएँ होती है। इस आधार पर देखें तो राजनीति विज्ञान विज्ञान नहीं है।

❖ निश्चित भविष्यवाणी का अभाव

प्राकृतिक विज्ञानों में प्रयोग तथा अन्वेक्षण करने के पश्चात निश्चित भविष्यवाणी की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर खगोलिय घटना, भौतिक शास्त्र में परमाणु सिद्धान्त आदि के बारे मे सटीक भविष्यवाणी संभव है लेकिन राजनीति विज्ञान मे ऐसा संभव नहीं है। इसमें सिर्फ अनुमान लगा सकते हैं।

1.4.2 राजनीति विज्ञान के वैज्ञानिकता के पक्ष में तर्क

राजनीति विज्ञान की तुलना प्राकृतिक विज्ञानों से करना तो सही प्रतीत नहीं होता क्योंकि राजनीति विज्ञान एक समाज विज्ञान है। समाज विज्ञान होने की दृष्टि से देखें तो वैज्ञानिकता के सभी लक्षण राजनीति विज्ञान में पाये जाते हैं। राजनीति विज्ञान को विज्ञान का स्वरुप प्रदान करने के लिए अधिकाधिक प्रयास किये जा रहे है। इसके वैज्ञानिकता के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

❖ राजनीति विज्ञान एक क्रमबद्ध और व्यवस्थित विज्ञान

विज्ञान में ज्ञान क्रमबद्ध व्यवस्थित और वर्गीकरत करता है। उसी प्रकार राजनीति विज्ञान में जो भी अध्ययन एवं अनुसंधान किये जाते हैं, वे क्रमबद्ध और व्यवस्थित होते है तथा राजनीति विज्ञान में राज्य, सरकार एवं उसकी सस्थाओं का अध्ययन इसी दृष्टिकोण के आधार पर किया जाता है। राज्य की उत्पति, विकास एवं राजनीति विचारधाराओं का अध्ययन क्रमबद्ध व्यवस्थित और वर्गीकृत आधार पर किया जाता है अतः राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है।

❖ कार्य तथा कारण में पारस्परिक संभव

राजनीति विज्ञान में कार्य तथा कारण में पारस्परिक संबंध स्थापित होता है। विश्व में आज तक जितनी भी राजनीति क्रान्तियाँ हुई है जिनमें फ्रान्स की क्रान्ति अमरीकी क्रन्ति, इग्लैण्ड की गौरवमय क्रान्ति तथा सोवियत क्रान्ति प्रमुख

TESLA-024

है। उनका कारण तथा निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इसी प्रकार राजनीति विज्ञान में जो भी घटना घटित होती है उसका कारण खोजा जा सकता है।

❖ **पर्यवेक्षण का प्रयोग संभव**

राजनीति विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञानो की तरह तो प्रयोगशाला संभव नहीं है, क्योंकि राजनीति विज्ञान कि प्रयोगशाला सम्पूर्ण समाज होता है। लेकिन फिर भी राजनीति विज्ञान में पर्यवेक्षण का प्रयोग संभव है। राजनीति विज्ञान में विभिन्न शासन प्रणालियों का अध्ययन करके ये निष्कर्ष दिया गया है कि लोकतंत्र ही सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। लोकतंत्र की सफलता तथा विफलता के कारणों का पर्यवेक्षण करके ही यह निष्कर्ष निकाला है कि लोकतांत्रिक सफलता के लिए कुछ निश्चित शर्तों का होना जरुरी है। राजनीति विज्ञान में मतदान व्यवहार, सरकार की नीतियों का मूल्यांकन, गठबंधन सरकार की सफलता तथा विफलता के कारणों को पर्यवेक्षण तथा प्रयोग द्वारा ही जाचाँ या परखा जा सकता है।

❖ **भविष्यवाणी सभंव**

विज्ञान के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसमें भविष्यवाणी की जाती है, राजनीति विज्ञान मे प्राकृतिक विज्ञान की तरह भविष्यवाणी संभव नहीं है फिर भी राजनीति विज्ञान में भविष्यवाणी के तत्व विद्यमान रहते हैं तथा अधिकांश भविष्यवाणियां भी सत्य सिद्ध हुई हैं। सामाजिक विकास के कुछ निश्चित नियमों के आधार पर वर्तमान समय मे मार्क्स तथा एंजिल्स पूंजीवाद के पतन तथा समाजवाद के उदय की भविष्यवाणी की है जो सत्य सिद्ध हुई है। इसी प्रकार चुनावों के सदर्भ में किस पार्टी की विजय होगी आदि भविष्यवाणी की जाती हैं जो अधिकांश सही होती है। अतः भविष्यवाणी के सन्दर्भ में देखें तो राजनीति विज्ञान एक विज्ञान है।

❖ **मौसम विज्ञान की प्रकृति से समानता**

भौतिक विज्ञान एवं जीव विज्ञान जैसे निश्चित प्रकृति के विज्ञान हैं परन्तु मौसम विज्ञान जैसे अनिशचित प्रकृति के विज्ञान भी है। राजनीति विज्ञान की प्रकृति भौतिक विज्ञान जैसी नहीं है लेकिन इसकी तुलना मौसम विज्ञान से की जा सकती है। अतः राजनीति शास्त्रियों का मानना है कि अगर मौसम विज्ञान को विज्ञान माना जाता है तो राजनीति विज्ञान भी एक विज्ञान है।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि राजनीति विज्ञान भले ही प्राकृतिक विज्ञानों की तरह विज्ञान नहीं है लेकिन समाज विज्ञानों की दृष्टि से देखें तो राजनीति विज्ञान एक समाज विज्ञान है। एक समाज विज्ञान के रुप मे राजनीति विज्ञान यथार्थ परक विज्ञान के साथ ही आदर्श परक विज्ञान है। राजनीति विज्ञान के कई विद्वानों ने जिनमें ब्लशंली, जेनेलिक, त्रीत्सके, लेविस, सिजविक, बर्गेस, बेबट, ईस्टन, लासवेल आदि प्रमुख है जिन्होंने राजनीति विज्ञान को विज्ञान के रुप मे प्रस्तुत किया तथा इनका कहना है कि अब विवाद का विषय नहीं है की राजनीति विज्ञान विज्ञान है या नहीं यह एक वैज्ञानिकता की दृष्टि से विज्ञान है।

1.5 राजनीति विज्ञान का क्षेत्र

राजनीति विज्ञान के क्षेत्र के अन्तर्गत इसमें क्या क्या विषय सम्मिलित किये जाते हैं तथा यह किन क्षेत्रों तथा विषयों से सम्बंधित होता है। राजनीति विज्ञान के

क्षेत्र में विशेष तौर से अध्ययन की सीमा निश्चित की जाती है। लेकिन राजनीति विज्ञान को सीमा मे बांधना सरल कार्य नहीं है। राजनीति विज्ञान के क्षेत्र को परम्परागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण के आधार पर विभाजित किया जाता है। अतः दोनों दृष्टिकोणों के आधार पर अध्ययन करने के पश्चात राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में निम्न विषय वस्तु को सम्मिलित किया जाता है।

1.5.1 राज्य के सिद्धान्त का अध्ययन

राजनीति विज्ञान राज्य के पर्याय के रुप में माना जाता है। राजनीति विज्ञान का मुख्य विषय राज्य है। यह राज्य के इर्द गिर्द ही घुमता है। परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान राज्य के प्राचीन, वर्तमान एवं भावी स्वरुपो का अध्ययन है। राजनीति विज्ञान राज्य के इस स्वरुप को देखता है कि प्राचीन काल में राज्य कैसा था तथा राज्य की उत्पति किस प्रकार हुई। राज्य के वर्तमान स्वरुप तक इसका विकास कैसे हुआ। प्राचीन यूनान के नगर राज्यों से लेकर आधुनिक राष्ट्र राज्य तक राज्य के विकास का अध्ययन राजनीति विज्ञान करता है। राजनीति विज्ञान यह भी देखता है कि राज्य का वर्तमान स्वरुप कैसा है। वर्तमान सवैधानिक राज्य के सामने कौन कौन सी चुनोतियाँ विद्यमान है। उनको स्पष्ट करते हुए उनको दूर करने का प्रयास करता है। राजनीति विज्ञान राज्य के भावी स्वरूप को स्पष्ट करते हुये यह बताता है कि राज्य कैसा होना चाहिये। गैटिल के अनुसार– ''राजनीति विज्ञान 'राज्य कैसा है' की एतिहासिक गवेषणा, राज्य कैसा है का विश्लेषणात्मक अध्ययन और 'राज्य कैसा होना चाहिये' की राजनीति व नैतिक परिकल्पना है।

1.5.2 सरकार का अध्ययन

राजनीति विज्ञान सरकार से सम्बंधित विषयों का अध्ययन करने वाला विषय है। राजनीति विज्ञान सरकार के अंगों जिनमें व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का विस्तृत विवेचन करता है। यह विभिन्न शासन की लोकतांत्रिक प्रणालियों जिनमें संसदीय शासन, एवं अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्थाओं को स्पष्ट करता हुआ इनकी कमियों को बताता हुआ सफलता की आवश्यक शर्तों को स्पष्ट करता है।

1.5.3 अर्न्तराष्ट्रीय सम्बन्धों से सम्बंधित अध्ययन

वर्तमान समय मे औद्योगिकीकरण, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की घटनाओं के कारण राजनीति विज्ञान में विभिन्न देशों की विदेश नितियां तथा अन्य देशों से राजनीति एवं आर्थिक सम्बन्धों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत अर्न्तराष्ट्रीय संगठन जिनमें संयुक्त राष्ट्र संघ, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक आदि कई संगठनों की व्याख्या तथा विश्व राजनीति में इनकी भूमिका का विश्लेषण किया जाता है।

1.5.4 मानव के राजनीति जीवन का अध्ययन

राजनीति विज्ञान मनुष्य के समस्त राजनीतिक क्रियाकलापों का अध्ययन करता है। राज्य से सम्बन्धित जितनी भी गतिविधियां होती है जिनमें व्यक्ति भाग लेता है, राज्य के द्वारा कौन–कौन से मूल अधिकार प्रदान किये गये है। व्यक्ति के राजनीतिक कर्तव्य क्या है आदि का अध्ययन राजनीति विज्ञान करता है। संक्षेप में व्यक्ति तथा राज्य के पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्धों का अध्ययन राजनीति विज्ञान का क्षेत्र है।

TESLA-024

1.5.5 राजनीतिक दल दबाव एवं जनमत का अध्ययन

राजनीति विज्ञान दल शासन संचालन के लिए आवश्यक होते हैं। राजनीति दल ही चुनाव जीतकर सरकार बनाते हैं तथा सरकार और जनता के बीच सेतु का कार्य करते हैं। इसी प्रकार दबाव समूह सत्ता में शामिल न होकर दबाव की राजनीति अपनाकर सरकार को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। राजनीति विज्ञान में राजनीति दलों एवं दबाव समूहों का गइन विश्लेषण किया जाता है। इनके साथ–साथ राजनीति विज्ञान में जनमत को जानने का प्रयास किया जाता है जिसके तहत राजनीतिक मूल्यों, मान्यताओं के प्रति जनता का क्या मत है का भी अध्ययन किया जाता है।

1.5.6 विभिन्न अवधारणाओं का अध्ययन

राजनीति विज्ञान में विभिन्न आधुनिक अवधारणाओं जिनमें शक्ति, सत्ता, वैधता संचार एवं निर्णय प्रक्रियाओं की गहनता का विश्लेषण किया जाता है। आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान को शक्ति से सम्बंधित माना गया है। अनेक राजनीति शास्त्री कहते हैं कि राजनीति विज्ञान शक्ति का विज्ञान है। जिसमें लासवेल, कैटलीन आदि प्रमुख है। रिचर्ड स्नाइडर ने कहा है कि राजनीति विज्ञान में निर्णय निर्माण प्रकिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, कोई भी नीति निर्माण के लिए निर्णय लेना जरुरी होता है। अतः यह राजनीति विज्ञान का विषय है।

1.5.7 विभिन्न राजनीति विचारधाराओं का अध्ययन

राजनीति विज्ञान में विभिन्न राजनीति विचारधाराओं जिनमें आदर्शवाद, उदारवाद, अराजकतावाद समाजवाद, साम्यवाद एवं लोकतांत्रिक बहुलवाद आदि का अध्ययन किया जाता है। राजनीति विज्ञान विभिन्न विचारधाराओं का विश्लेषण कर यह बताता है कि इनमें क्या कमियाँ है व कौनसी विचारधारा सबसे अच्छी विचारधारा मानी जाती है। यह बताने का प्रयास करती है कि पूंजीवाद विचारधारा में क्या कमियॉ थी। जिसके कारण समाजवादी विचारधारा का सुत्रपात हुआ। आज पूंजीवादी विचारधारा प्रभावी क्यों हो गयी आदि का स्पष्टीकरण राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत मिलता है।

1.6 निष्कर्ष

राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध मानव की राजनीतिक क्रियाओं से होता है। राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु के बारे में विभिन्न मत रहे हैं। परम्परागत राजनीति विज्ञान के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान का सम्बन्ध राज्य, सरकार एवं अन्य औपचारिक संस्थाओं से माना है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में राजनीति विज्ञान की विषयवस्तु मानव व्यवहार, प्रक्रियाओं, शक्ति, सत्ता एवं निर्णय निर्माण प्रक्रिया आदि से माना गया है। राजनीति विज्ञान की प्रकृति के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह विषय एक समाज विज्ञान का विषय है, इसमें परिशुद्ध रूप से भौतिक विज्ञानों की भांति तो भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है किन्तु इसमें वैज्ञानिकता की कई कसौटियां, जैसे क्रमबद्ध अध्ययन, सीतिम भविष्यवाणी आदि की जा सकती है। अतः राजनीति विज्ञान भी एक विज्ञान है।

1.7 अभ्यास प्रश्न

- राजनीति विज्ञान को परिभाषित कीजिए।
- राजनीति विज्ञान की प्रकृति की विवेचना कीजिए।
- राजनीति विज्ञान की वैज्ञानिकता पर एक लेख लिखिए।
- राजनीति विज्ञान के क्षेत्र पर प्रकाश डालिये।

1.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

- कृष्णकान्त मिश्रः राजनीति सिद्धान्त और शासन ग्रन्थशिल्पी, दिल्ली, 2001
- बी.आर. पुरोहित : राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007

इकाई–2

राजनीति के अध्ययन के उपागम–उत्तरव्यवहारवाद अन्तः शास्त्रीय उपागम

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 उत्तरव्यवहारवाद का अर्थ

2.2.1 यह परम्परावाद की पुनरावृत्ति नही है

2.2.2 यह व्यवहारवाद में सुधार का आन्दोलन

2.2.3 यह राजनीति विज्ञान के विकास की निरंतरता को प्रकट करता है

2.2.4 उत्तरव्यवहारवाद की प्रवृत्ति रचनात्मक

2.2.5 उत्तरव्यवहारवाद के उदय के कारण

2.2.6 अन्तर– अनुशासनात्मक उपागम

2.2.7 परम्परागत दृष्टिकोण

2.2.8 अनुभववादी दृष्टिकोण

2.2.9 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

2.2.10 राजनीति विज्ञान एवं अन्तर–अनुषासनात्मक उपागम

2.0 उद्देश्य

इस इकाई के उपरान्त समझ पायेगें :–

- उत्तर–व्यवहारवाद का अर्थ एवं प्रकृति के बारें में।
- उत्तर–व्यवहारवाद के उदय के कारण।
- उत्तर–व्यवहारवाद की विशेषताओं के बारें में।

2.1 प्रस्तावना

व्यवहारवाद की कड़ी आलोचना के पश्चात् उत्तर–व्यवहारवाद का जन्म हुआ ऐसा व्यवहारवाद में कमियों व दोषों के परिणामस्वरूप हुआ। जिसके पश्चात् ईस्टन द्वारा उत्तर–व्यवहारवाद की विशेषताओं व मान्यताओं की खोज की गई। इसके अतिरिक्त अन्तर–अनुशासनात्मक उपागम के अर्न्तगत किसी विषय विशेष को अन्य विषयों के साथ विकसित करने का व्यवस्थित प्रयत्न किया गया। इसका उद्देश्य अन्य को आत्मसात कर उन्हें आलोचनात्मक दृष्टि से अपनाना और उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना है।

2.2 उत्तरव्यवहारवाद का अर्थ

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक के अंत में डेविडईस्टन ने व्यवहारवाद की तत्कालिन प्रवृतित्तयों पर प्रबल प्रहार किया हालांकि व्यवहारवाद के विकास में स्वयं ईस्टन की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। सितंबर, 1969 में न्यूर्याक में अमेरिकन पॉलिटीकल साइंस एसोसियेशन के पैंसठवें अधिवेशन में अपने अध्यनीय भाषण के अन्तर्गत ईस्टन ने तत्कालिन राजनीतिक अनुसंधान की स्थिति पर गहरा असंतोष व्यक्त किया जिसमें राजनीति के अध्ययन को कठोर वैज्ञानिक अनुशासन में ढ़ालने की कोशिश की जा रही थी। उसे नई दिशा देने के लिए ईस्टन ने उत्तरव्यवहारवादी क्रांति का शंखनाद किया।

ईस्टन ने तर्क दिया कि छठे और सातवें दशक में बहुत सारा समय बेकार व निरर्थक शोध में लगाया गया है। वे वैचारिक संरचनाओं, प्रतिमानों, सिद्धान्तों के निर्माण में लगे हुए थे, उनकी अपनी पाश्चात्य दुनियां को तीव्र सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक संकटों का मुकाबला करना पड़ रहा था और वे स्वयं उनके संबंध में सर्वथा अनजान थे। वे तो प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों के शानदार प्रांगणों में अपने वातानुकूलित कक्षों एवं पुस्तकालयों में बैठे स्थिरता, स्वामित्व, संतुलन, संरक्षण, प्रतिमान आदि की तकनीकी समस्याओं और माडल निर्माण के प्रवृत्तियों में उलझे हुए थे और विशेषीकृत तकनीकों के आधार पर कभी–कभी क्षेत्रीय अनुसंधान भी कर लेते थे। तथापि बाहर का समाज विघटन और इनफूट की स्थितियों में से गुजरता हुआ दिखाई दे रहा था। आणविक अस्त्रों का आंतक, गृहयुद्ध, तानाशाही शासनों के अभ्युदय की प्रवृत्ति, बढते हुए सामाजिक विभेद आदि ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो रही थी जिनके संबंध में व्यवहारवादी राजनीति शास्त्रियों ने कभी कल्पना भी नहीं की थी। उत्तरव्यवहारवादियों का प्रश्न था कि उस शोध अनुसंधान की उपयागिता क्या थी। जिसने समाज और राजव्यवस्था के इन तीव्र रोगों, संकटों एवं समस्याओं के निदान की और ध्या ही नहीं दिया था।

व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण में प्रमाणिक अध्ययन के दौर में प्रमाणिकता में अन्तर्निहित एवं प्रमाणिकता को प्रभावित करने वाले आधारभूत तथ्य, मूल्य के अध्ययन को उचित स्थान दिया गया। विश्लेषण को तकनीक को विश्लेषण वस्तु लक्ष्य से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया गया। इसके परिणामस्वरूप राजनीतिक को तथाकथित वैज्ञानिकता का एक निश्चित स्तर तो प्राप्त हो गया लेकिन उसके निष्कर्षों में प्रासंगिकता एवं वैद्य शाश्वतता का अभाव बना रहा। उत्तरव्यवहारवाद राजनीतिक विश्लेषणों में मूल्यों को समाविष्ट कर राजनीतिक अध्ययन को औचित्यपूर्ण एवं शाश्वत (प्रासंगिता) प्रदान करने के समर्थक है। उत्तरव्यवहारवाद के अर्थ एवं प्रकृति को इस प्रकार समझा जा सकता है–

2.2.1 यह परम्परावाद की पुनरावृत्ति नहीं है

उत्तरव्यवहारवादियों ने व्यवहारवाद की गंभीर आलोचना की है और राजनीति विज्ञान के मानव मूल्यों को भी स्थान दिया है। उत्तरव्यवहारवाद उसमें ही दृष्टिकोण की पुनरावृत्ति है। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उत्तरव्यवहारवाद ने परम्परावाद की तरह व्यवहारवाद की वैज्ञानिक अध्ययन तकनीकों की उपेक्षा नहीं की है अपितु इन्हें अपनाया है। साथ ही यह परम्परावादी लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति अधिक प्रतिबद्ध है तथा सामाजिक पुर्ननिर्माण के प्रति अधिक उत्साही है। उत्तरव्यवहारवाद न तो अतीत से प्रेरण लेता है और न यह यथास्थितिवादी है अपितु यह भविष्योन्मुखी है। इस प्रकार उत्तरव्यवहारवाद का अर्थ एवं प्रकृति समझने में यह भूल नहीं की जानी चाहिए कि यह एक नये रूप में परम्परावाद है अथवा यह परम्परावाद की पुनरावृत्ति है।

2.2.2 यह व्यवहारवाद में सुधार का आन्दोलन है

उत्तरव्यवहारवाद द्वारा व्यवहारवाद की आलोचना की प्रकृति निरोधात्मक नहीं अपितु रचनात्मक है। यह एक प्रतिक्रिया नहीं वरन् रचनात्मक सुधार आन्दोलन है। इन्होंने व्यवहारवाद में यह सुधार करने पर बल दिया कि वह अपने युग की समस्याओं के हल में अधिक सक्रिय योगदान देने में समर्थ हो अर्थात् व्यवहारवाद को अपने युग के सन्दर्भ में अधिक प्रासंगिक एवं कार्योन्मुख होना चाहिए।

उत्तरव्यवहारवाद समन्वयवादी है

परम्परावादी दृष्टिकोण तथा व्यवहारवादी दृष्टिकोण परस्पर विरोधी वृत्ति वाले हैं : परम्परागत दृष्टिकोण ''मूल्यों'' पर बल देता है और व्यवहारवाद ''तथ्यों'' पर किन्तु उत्तरव्यवहारवाद ने मूल्यों तथा तथ्यों को ही उचित महत्व दिया है। इस प्रकार यह समन्वयवादी है।

2.2.3 यह राजनीति विज्ञान के विकास की निरंतरता को प्रकट करता है

राजनीति विज्ञान का विकास कई अवस्थाओं में हुआ है। सम्पूर्ण अतीत के विकास की अवस्था को ''परम्परागत राजनीति विज्ञान के नाम से जाना जाता है। दूसरी अवस्था ''व्यवहारवाद'' के रूप में रही। उसके बाद उत्तरव्यवहारवाद आया जो विकास की निरंतरता को प्रकट करता है।

2.2.4 उत्तरव्यवहारवाद की प्रवृत्ति रचानात्मक है

व्यवहारवाद ने परम्परावादियों की आधाभूत मान्यताओं का तीव्र विरोध एवं खण्डन किया किन्तु स्वयं व्यवहारवाद किसी ऐसे सिद्धान्त को प्रस्तुत करने में असमर्थ रहा जो समाज के पुर्ननिर्माण में सहायक हो। इन्होंने व्यवहारवादियों के ज्ञान के लिए ज्ञान के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है अपितु उन्होंने जीवन के लिए ज्ञान के सिद्धान्त को अपनाया है।

इस प्रकार उत्तरव्यवहारवाद व्यवहारवाद का अगला चरण सुधार एवं रचनात्मक आन्दोलन तथा नवीन दिशा संकेत है। इसके दो नारे – कर्म तथा प्रासंगिता इसका मूल मंतव्य है– सामाजिक शोध समाज की आवश्यकता के सन्दर्भ में प्रासंगिकता तथा संगतिपूर्ण होनी चाहिए। यह राजवैज्ञानिकों से मूल्य निरपेक्ष या तटस्थ भाव से अलग रहकर अध्ययन करने के बजाए स्वयं उनको समाज एवं

राजव्यवस्था की रक्षार्थ आगे आने के लिए आवहान करता है। उन्हें मानवीय मूल्यों की रक्षार्थ कर्म करने की ओर प्रवृत्त किया गया है।

2.2.5 उत्तरव्यवहारवाद के उदय के कारण

उत्तरव्यवहारवाद की उत्पत्ति का मूल कारण व्यवहारवाद में निहित कमियों व दोषों के विरूद्ध पैदा हुए तीव्र असंतोष को माना जाता है इनके विरूद्ध एक सुधार एवं रचनात्मक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही उत्तरव्यवहारवाद का उदय एवं विकास हुआ है। संक्षेप में इसके कारण है–

1. **व्यवहारवादियों द्वारा राजनीति विज्ञान को प्राकृतिक विज्ञान बनाने की असफल कोशिष की –** व्यवहारवादियों ने राजनीति विज्ञान के अध्ययन के लिए प्राकृतिक विज्ञान जैसी शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति व तकनीक विकसीत करने की कोशिश की किन्तु यह संभव नहीं था। अतः व्यवहारवादियों की इस मान्यता के विरोध में उत्तरव्यवहारवादी का जन्म हुआ।

2. **व्यवहारवादी मानव व्यवहार के निश्चित नियम देने में असमर्थ रहे –** व्यवहारवादियों का मानना था कि मानव व्यवहार के बारे में निश्चित नियम बना सकते हैं। किन्तु वास्तव में मानव व्यवहार का वास्तविक एवं वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है और इसलिए मानव व्यवहार के बारे में न तो निश्चित नियमों का निर्माण संभव था और न ही कभी इसकी भविष्यवाणी ही की जा सकती है। व्यवहारवाद की इस असफलता ने उत्तरव्यवहारवाद के जन्म हेतु वातावरण को जन्म दिया।

3. **व्यवहारवाद ने मूल्यों की उपेक्षा की –** व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान के पूर्ण अध्ययन के नाम पर मात्र लक्ष्यों के अध्ययन पर बल दिया और मूल्यों की पूरी उपेक्षा की। वस्तुतः राजनीति विज्ञान के संतुलित अध्ययन के लिए तथ्य एवं मूल्य का ही महत्व है। व्यवहारवाद के इस दोष के विरोध में उत्तरव्यवहारवाद का जन्म हुआ।

4. **व्यवहारवाद की अप्रासंगिता एवं निष्क्रियता –** व्यवहारवाद ने राजनीति विज्ञान के वैज्ञानिक अध्ययन के नाम पर स्वयं को अत्यधिक व्यस्त कर लिया और अपने युग की सभी प्रमुख सामाजिक–राजनीतिक समस्याओं– शीत युद्ध, साम्यवाद के प्रसार का भय, आणविक युद्ध का खतरा आदि की उपेक्षा की।

5. **उत्तरव्यवहारवाद का जन्म युग की माँग है –** राजनीति विज्ञान के परम्परावादी एवं व्यवहारवादी दृष्टिकोणों की कमियों एवं उनके आपसी विरोध ने यह स्पष्ट कर दिया था कि राजनीति विज्ञान को एक ऐसी अवधारणा की आवश्यकता है जो दोनों दृष्टिकोणों के दोषों से मुक्त हो किन्तु इसमें इन दोनों के गुण पर्याप्त मात्रा में हो। वास्तव में उत्तरव्यवहारवाद ने हर युग में इस माँग की पूर्ति की है और इसे ही इसकी उत्पत्ति का एक मूल व आवश्यक कारण माना जाता है।

उत्तरव्यवहारवाद के आधारभूत लक्षण अथवा मान्यताएँ – डेविड ईस्टन ने उत्तरव्यवहारवाद के प्रमुख लक्षण बताएँ हैं– शोध की सार्थकता या प्रासंगिकता (Relevence) और क्रियानिष्ठता या कर्म (Action)। डेविड ईस्टन ने उत्तरव्यवहारवाद की सात मान्यताओं या विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है जिन्हें वह प्रासंगिकता के सिद्धान्त कहकर पुकारते हैं।

TESLA-024

1. **प्रविधि से पूर्ण सार** – उत्तरव्यवहारवादियों का कहना है कि व्यवहारवादी तकनीक को सार या विषय वस्तु के ऊपर प्रधानता देते हैं। उत्तरव्यवहारवादी यह मानते है कि प्रायः तथ्य और तकनीक दोनों का साथ–साथ उचित प्रयोग किया जाना चाहिए और ऐसा सम्भव भी है। तथ्यों को बलि चढाकर व्यवहारवादी तकनीक के पीछे भागते रहे जबकि उत्तरव्यवहारवादी मानते है कि शोध के लिए परिष्कृत उपकरणों का विकास करना उपयोगी है, परन्तु उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात वह उद्देश्य है जिसके लिए इन उपकरणों को प्रयोग में लाया जा रहा है। व्यवहारवादियों का नारा था – अस्पष्ट होना जितना गलत होना उतना बुरा नहीं (It was better to be wrong than Vague)। उत्तरव्यवहारवादियों ने इसके विपरीत नारा दिया कि अप्रासंगिक सुनिश्चितता से अस्पष्ट होना कम बुरा था (It was better to be Vague than relevantly precise)।

2. **सामाजिक परिवर्तन पर बल–** व्यवहारवाद में मामूली परिवर्तनों से संबंधित रूढ़ीवादी विचारधारा छिपी हुई है। उत्तरव्यवहारवाद व्यापक मूल्यों के संदर्भ में परिवर्तन का समर्थन करता है। व्यवहारवादी तथ्यों के वर्णन और विश्लेषण तक अपने को सीमित रखते हैं उन तथ्यों के व्यापक संदर्भ को उनकी सामाजिक प्रासंगिकता को समझने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देते। इसका परिणाम यह हुआ कि व्यवहारवाद ने एक ऐसी सामाजिक रूढ़िवादिता की विचारधारा का रूप ले लिया था जिसमें केवल धीमी गति से होने वाले परिवर्तनों के लिए ही गुंजाइश थी।

3. **समस्याओं के विश्वसनीय निदान की आवष्यकता** – उत्तरव्यवहारवादियों के अनुसार मानव जाति की आवश्यकताओं को पूरा तथा संकटों का समाधान करने में सहायता करनी चाहिए। व्यवहारवादी युग में राजनीति विज्ञान ने राजनीति की क्रूर यर्थाथताओं से अपना नाता बिल्कुल ही तोड़ लिया था। व्यवहारवाद के अमूर्त प्रत्ययों एवं अवधारणाओं में व्यक्ति तथा समाज की व्यापक एवं गंभीर समस्याओं के समाधान की क्षमता नहीं थी। राजनीति विज्ञान का औचित्य उसी स्थिति में सर्वमान्य होगा जबकि समाज में व्याप्त विषमताओं, संघर्षों, आकांक्षाओं एवं चिंताओं के उचित समाधान किए जाए। इसलिए व्यवहारवाद पर यह आक्षेप है कि उसकी शोध वस्तुस्थिति से असंबद्ध होती है। उत्तरव्यवहारवाद का मूल उद्देश्य राजनीति विज्ञान की मदद करना है ताकि इस संकट से बचा जा सके जिससे मानव जाति की वास्तविक आवश्यकता को पूरा किया जा सके।

4. **मूल्यों की महत्वपूर्ण भूमिका** – उत्तरव्यवहारवादियों के अनुसार कोई भी ज्ञान विशेषकर सामाजिक विज्ञान मूल्यात्मक दृष्टि से न तो तथ्यों एवं प्रासंगिक यर्थाथताओं से तटस्थ रहा है और न ही रह सकता है। और व्यवहारवादियों ने ज्ञान की सीमाएं पहचानने के लिए उन आधारभूत मूल्यों को ही पहचाना जिन पर वह ज्ञान टिका है। उत्तरव्यवहारवादियो ने मूल्यों की निर्णायक भूमिका को स्वीकार किया है। वे इस बात पर बल देते हैं कि यदि ज्ञान के सही प्रयोजन के लिए प्रयोग में लाना है तो मूल्यों को उनकी केन्द्रिय स्थिति प्रदान करनी होगी।

5. **बुद्धिजीवियों की भूमिका** – उत्तरव्यवहारवादियों का मानना है कि यदि राजनीति वैज्ञानिक बुद्धिजीवी होने के नाते यदि मानवीय मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है तो वहा अपनी उचित भूमिका नहीं निभाता वरन् अपने दायित्व से विमुख हो जाता है। राजनीति वैज्ञानिक यदि अपने को सामाजिक समस्याओं से अलग रखेंगे तो वे केवल ऐसे तकनीकविद और यंत्रवादी बनकर रह जायेंगे जो समाज के साथ खिलवाड़ में लगे हुए हैं।

6. **कर्मनिष्ठ विज्ञान** – उत्तरव्यवहारवाददी कर्मनिष्ठा पर बल देते हैं उनका मत है कि ज्ञान व्यवहारिक रूप से सार्थक होना चाहिए। व्यवहारवादी शोध परिणामों का रचनात्मक क्रियान्वयन नहीं हो सकता तो वह सार्थक ज्ञान नहीं, अर्थात् ज्ञान का क्रियान्वयन होना आवश्यक है। अर्थात् कोरे चिंतन की ओर उन्मुख ज्ञान के स्थान पर समसामयिक समस्याओं को सुलझाने में योगदान हो। अतः राजनीति विज्ञान को मनन विज्ञान के स्थान पर कार्य विज्ञान बनना चाहिए।

7. **व्यवसाय का राजनीतिकरण** – उत्तरव्यवहारवादियों की व्यवहारवादियों के विपरीत यह मान्यता है कि राजनीति वैज्ञानिकों की समाज में सकारात्मक भूमिका अदा करनी चाहिए जिससे समाज के उद्देश्यों को सुव्यवस्थित दिशा प्रदान की जा सके। अतः बुद्धिजीवियों के संघों और समुदायों, विश्वविद्यालयों को मानव मूल्यों की रक्षार्थ संघर्ष के मैदान में आ जाना चाहिए। उनके व्यवसाय का राजनीतिकरण अपरिहार्य एवं वांछनीय है।

इस प्रकार ईस्टन ने उत्तरव्यवहारवाद के प्रमुख लक्षण गिनाएं हैं।

निष्कर्ष : समीक्षात्मक दृष्टि – सारांशतः कहा जा सकता है कि उत्तरव्यवहारवाद, व्यवहारवाद की कमियों को दूर करने का एक प्रयास है और व्यवहारवादियों का मत है कि राजनीति वैज्ञानिकता अपने ज्ञान की छाप अपने युग के सामाजिक पक्षों और समस्याओं पर अंकित करना अनिवार्य उत्तरदायित्व है। संक्षेप में उत्तरव्यवहारवाद को व्यवहारवाद की अंत्येष्टि करने वाली क्रांति के स्थान पर व्यवहारवाद का विस्तार करने वाला आन्दोलन कहना उचित है।

1970 के दशक के बाद में व्यवहारवादियों तथा उत्तरव्यवहारवादियों के बीच पारस्परिक विरोध की स्थिति समाप्त हो गई है। व्यवहारवाद की इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि राजनीति विज्ञान में अधिकाधिक मात्रा में आनुभाविक अध्ययन और परिशुद्ध परिणाम देने वाली पद्धतियों को अपनाते हुए इसे सही अर्थों में विज्ञान की स्थिति प्रदान करने की चेष्टा की जानी चाहिए। राजनीति का ज्ञान वास्तविक राजनीतिक जीवन की समस्याओं और जटिलताओं से अलग रहकर नहीं किया जा सकता तथा समस्त राजनीतिक अध्ययन में मूल्यों को केन्द्रिय स्थिति प्राप्त होनी चाहिए। दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने पर ही राजनीति विज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिकता और जाप ही सार्थकता की स्थिति को प्राप्त कर सकेगा।

2.2.6 अन्तर–अनुशासनात्मक उपागम

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है तथा समाज के विभिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील रहता है। उसके जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, मनौवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि अनेक पहलु है। समाज विज्ञानों के अध्ययन का विषय यही मानव समुदाय एवं समाज है। चूंकि मानव जीवन के सभी पहलु एक दूसरे से अलग नहीं है बल्कि जुड़े हुए हैं। इसलिए सभी सामाजिक शास्त्र भी एक दूसरे से किसी न किसी रूप से जुड़े हुए हैं। इसी आधार पर अन्तर अनुशासनात्मक उपागम अस्तित्व में आया हे।

18वीं शताब्दी से पूर्व तक विभिन्न समाज विज्ञान नहीं थे। समाज का तमाम अध्ययन दर्शन से ही जुड़ा हुआ था किन्तु 18वीं सदी में फिसियोक्रेट्स और एडमस्मिथ ने राजनैतिक अर्थशास्त्र के एक स्वतंत्र समाज विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठत करने की चेष्टा की उसके बाद भिन्न–भिन्न समाज विज्ञानों को स्थापित

TESLA-024

करने की कोशिशें की गई। 19वीं सदी में इस प्रक्रिया के विरोध में आवाज उठी। 19वीं सदी में ही आपने समाज विज्ञानों की एकता का पक्षपोषण किया।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात समाज विज्ञानों के अध्ययन में एक नई दिशा उभरी है– वह है अन्तर–अनुशासनात्मक अध्ययन। इसका अभिप्राय है – जब हम किसी विषय का अध्ययन करते समय अपना ध्यान केवल उसी विषय पर केन्द्रित नहीं करते बल्कि उसे समझने–समझाने के लिए अन्य संबंधित विषयों का सहारा भी लेते हैं तब हमारे इस तरीके को अन्तर्विषयक या अंतःशास्त्रीय उपागम कहा जाता है। उदाहरण के लिए – राजनीति विज्ञान, समाज विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास इत्यादि परस्पर संबंधित विषय है। इनमें से किसी एक का अध्ययन करते समय दूसरे विषयों से सहायता लेना और उनके विकास में योग देना अन्तर्विषयक उपागम होगा।

यह बात अब स्पष्ट हो चुकी है कि अनेक समाज विज्ञानों का निश्चित रूप से अलग–अलग अध्ययन फलदायी नहीं हो सकता क्योंकि समाज एक है, समाज में विभिन्न पहलु आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए है तथा उनका अलग–अलग अध्ययन नहीं किया जा सकता। विभिन्न समाज विज्ञानों में व्यवहारवाद के बाद यह बात अधिक स्पष्ट हो गई है कि सभी समाज विज्ञानों का अलग–अलग अध्ययन नहीं बल्कि अन्तर अनुशासनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

अन्तर अनुशासनात्मक उपागम में चार शब्द है। जिनका सामान्य अर्थ है – अन्तर का अर्थ है– आन्तरिक संबंध, अनुशासन का अर्थ है– विषय या विद्या; आत्मक का अर्थ है– लक्षण तथा उपागम का अर्थ है–अध्ययन का दृष्टिकोण। इस प्रकार इसका शाब्दिक अर्थ है– अध्ययन का ऐसा दृष्टिकोण जो विभिन्न विषयों में आन्तरिक संबंध के लक्षण पर बल देता है।

अन्तरविषयक उपागम अपनाने से हमारा विचारतंत्र बहुत विस्तृत हो जाता है; हम अपनी समस्याओं को अधिक गहराई तक समझ सकते हैं और उनमें अधिक सार्थक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। परन्तु इसमें बहुत सावधानी की जरूरत हो कहीं ऐसा न हो कि हम अपने अध्ययन के केन्द्रिय विषय से हटकर बेमतलब दूसरे विषयों को छेड़ना शुरू कर दें।

राजनीति विज्ञान में अन्तर अनुशानात्मक उपागम की अवधारणा यह मानती है कि राजनीति विज्ञान के अपने अध्ययन में अन्य विज्ञानों विशेषकर समाज विज्ञानों के तथ्यों, पद्धतियों, अपचारणाओं, उपलब्धियों तथा निष्कर्षों की मदद लेनी चाहिए ताकि स्वयं राजनीति विज्ञान के अध्ययन को अधिक शुद्ध पूर्ण एवं उपयोगी बनाया जा सके।

अन्तर अनुशासनात्मक उपागम की दृष्टिकोण/धारणाएं – राजनीति विज्ञान के इतिहास में अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की तीन स्पष्ट धारणाएं या दृष्टिकोण पहचाने जा सकते हैं वे है– परम्परागत, व्यवहारवादी एवं माक्सवादी दृष्टिकोण।

2.2.7 परम्परागत दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण का अभिप्राय किसी विषय विशेष को अन्य विषयों के तथ्यों, तकनीकों, उपलब्धियों तथा परिणामों की सहायता से समृद्ध तथा विकसीत करने का व्यवस्थित प्रयत्न है। विषय विशेष की इस समृद्धि का अभिप्राय दूसरे विषयों में तथ्यों तथा तकनीकों को उधार लेना

नहीं है। इसका ध्येय अन्य विषयों को आत्मसात करना, उन्हें आलोचनत्मक दृष्टि से अपनाना और उनके स्रोतों तथा लेखकों के प्रति खुले दिल से कृतज्ञता व्यक्त करना है। उदाहरण के लिए – यदि एक राजनीति वैज्ञानिक राजनीति के अध्ययन के लिए अर्थशास्त्र के तरीकों को अपनाता है तो वह अर्थशास्त्र की किसी एक तकनीक को राजनीति शास्त्र में प्रवेश देता है। वर्तमान राजनीति सिद्धान्तों में प्रयुक्त होने वाली कई धारणाएं, जैसे कि भूमिका (Role) संस्कृति (Culture) समाजीकरण (Socialization) आदि समाजशास्त्र की मुख्या अवधाणाओं के उदाहरण है। इसी तरह आस्टिन का प्रभुसत्ता सिद्धान्त विधिशास्त्र की प्रमुख धारणा है जिसे राजनीति शास्त्र में अपना लिया गया है। जब राजनीति का वैज्ञानिक ई. एच. कार की ''हिस्ट्री और सोवियत रक्षा'' जैसी पुस्तक को अपने अध्ययन का आधार बनाता है तो वह एक इतिहासकार के परिणामों का उपयोग कर रहा होता है।

अन्तर्विषयक पद्धति अपेक्षाकृत नया शब्द है परन्तु इसका भाव राजनीतिक अध्ययन की तरह ही पुराना है। पुराने प्रतिभाशाली लेखकों के लिए मानवीय ज्ञान हमेशा जीवनरहित पाल रहा है। प्रचलित ज्ञान को नये व्यवस्थित सूत्र में बांधने का प्रयास कई दार्शनिको और वैज्ञानिकों ने किया जिनमें अरस्तु, सेंट थामस, हॉब्स, हींगल, एंगेलस, राडरवन बैक वाइटहैड, रसेल आदि के नाम प्रमुख है। 1880 तक राजनीति शास्त्र का अलग अस्तित्व नही था। यह दर्शनशास्त्र, इतिहास, कानून और धर्मशास्त्र जैसे विषयों की परिधि में आ जाता था। अरस्तु का राजनीतिक विषयक अध्ययन उतना ही अर्न्तविषयक है। जितना कि आधुनिक युग में मेरियम का। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ अरस्तु ने राजनीति को जीवनशास्त्र, नैतिकता और तर्कशास्त्र के साथ जोड़ा वहां मेरियम ने राजनीति को मनोविज्ञान मनोवेग विज्ञान और समाज मनोविज्ञान के साथ जोड़ा। सेण्ट आगस्टाइन और सेण्ट थॉमस की रचनाओं में राजनीति को धर्म और नैतिकता के साथ जोड़ा गया। हीगल ने राजनीति को दर्शनशास्त्र के साथ जोड़ा और मार्क्स ने इसे अर्थशास्त्र के अंग के रूप में देखा।

2.2.8 अनुभववादी दृष्टिकोण

अन्तर अनुशासनात्मक दृष्टिकोण की अनुभववादी धारणा अमेरिकी राजनीति विज्ञान की विभिन्न शाखाओं जैसे व्यवहारवाद और व्यवस्था विश्लेषण सिद्धान्त में परिलक्षित होती है। चार्ल्स मेरियम, लासवैल, सारटोरी, ग्रीनस्टोन जैसे राजनीति वैज्ञानिकों, आस्लोव जैसे अर्थशास्त्री और ग्रीयर जैसे समाजशास्त्री की रचनाओं में अन्तर्विषयक दृष्टि की झलक स्पष्ट नजर आती है। परम्परागत दृष्टिकोण की तुलना में इसमें वैज्ञानिक धारणा अधिक जुड़ी है। यह धारणा विभिन्न विज्ञानों– विशेषतः अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र में विधि तर्क, प्रतिमानों आदि की समानता पर बल देती है तथा विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के स्थान पर एक सामाजिक विज्ञान का निर्माण करने के पक्ष में है। इस धारणा के अनुसार विभिन्न विज्ञान केवल केन्द्रिय तत्व की दृष्टि से भिन्न है। जैसे अर्थशास्त्र को केन्द्र बिन्दु धन है, राजनीतिशास्त्र का केन्द्र बिन्दु शक्ति और राजनीतिक व्यवस्था है और समाजशास्त्र का केन्द्र बिन्दु परिवार, समूह तथा वर्ग जैसे सामाजिक पर है। इन सभी विषयों की पद्धति समान है और वह है – वैज्ञानिक पद्धति; इनका तर्क समान है जिन्हें परिमाणन, आगमन, निगमन, व्युत्पत्ति तथा अन्य प्रकार के सत्यापनीय तर्क कहा जाता है। इनके प्रतिमान भी समान है जिन्हें ज्ञान तथा मूल्यांकन के प्रतिमानों के विपरीत व्याख्या के प्रतिमान कहा जा सकता है। इस धारणा के प्रवर्तकों का विश्वास है कि विभिन्न विषय केवल सुविधा, श्रमविभाजन, विशेषीकरण तथा

TESLA-024

निपुणता के लिए विभाजित किये गये हैं। अतः यदि विभिन्न विज्ञान समाज के अध्ययन के लिए समान विधियों तथा प्रतिमानों का प्रयोग करें तो उनका ज्ञान भण्डार आसानी से हस्तांतरित होने के साथ–साथ अधिक लाभकारी भी हो सकता है।

2.2.9 मार्क्सवादी दृष्टिकोण

अन्तरअनुशासनात्मक उपागम की मार्क्सवादी धारणा जी.वी. लेखनॉक की पुस्तक ''द डवलपमेन्ट ऑफ मोनिस्टिक थ्योरी ऑफ हिस्ट्री'' में स्पष्ट की गयी है। मार्क्सवाद के अन्तर्गत एतिहासिक भौतिकवाद की धारणा भी अन्तर्विषयक दृष्टिकोण का आधार है। मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार मानवीय इतिहास प्रगतिशील दण्डात्मक और एकताबद्ध प्रक्रिया है। इतिहास के विभिन्न तत्व है – राज्यव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति। यदि इन सभी तत्वों को सम्पूर्ण मानवीय इतिहास के अंगों के रूप में देखें तो उन्हें बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं। अतः मार्क्सवादी मानव इतिहास को उत्पादन प्रणाली में होने वाले परिवर्तनों के रूप में देखता है। मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन की मुख्य प्रणालियां है – आदिम युग, दास समाज, सामन्तवाद, पूंजीवाद और समाजवाद। किसी विशेष एतिहासिक अवस्था में कोई विशेष उत्पादन प्रणाली प्रधान होती है। उत्पादन प्रणाली आधारभूत ढांचा है जिनके ऊपर कानून, दर्शनशास्त्र, राजव्यवस्था, नैनिकता समाज तथा संस्कृ ति का ऊपरी ढांचा बनता है।

2.2.10 राजनीति विज्ञान एवं अर्न्तअनुषानात्मक उपागम

राजनीति के अध्ययन के लिए अन्य विषयों से सहयोग लेने की प्रवृत्ति बहुत प्राचीनकाल से चली आ रही है। प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' के अन्तर्गत राजनीति के साथ अन्य विषयों – धर्म, जिमनास्टिक, उत्पादन प्रक्रिया, परिवार, शिक्षा आदि का भी विस्तृत उल्लेख किया है। अरस्तु ने अपने ग्रन्थ 'पोलिटिक्स' में राजनीति के अलावा (एथिक्स) नीतिशास्त्र और अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत भी राजनीति की कई महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया है। जॉनलॉक, हीगल, माण्टेस्क्यू जैसे विचारकों ने भी केवल राजनीति तक ही अपने को सीमित न रखकर नीतिशास्त्र की गहराइयों को छूने की कोशिश की। कार्लमार्क्स तथा एंजिल्स ने राजनीतिक विषयों की चर्चा करते हुए समाजशास्त्र, वर्ग, संरचना और औद्योगिक विकास को अपने अध्ययन का आधार बनाया।

19वीं सदी के अन्त तक जब तक ज्ञान की विभिन्न शाखाएं अलग–अलग शास्त्रों में विभाजित नहीं हुई थी उनमें काफी समायोजन था। आधुनिक अर्थों में राजनीति विज्ञान का प्रारम्भ काफी देर से हुआ और 1890 में जब कोलम्बिया विश्वविद्यालय में राजनीति विज्ञान का संकाय खोला गया तो उसमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास, मानवशास्त्र, सांख्यिकी, सार्वजनिक विधि और प्रशासन के विभाग भी सम्मिलित थे। ज्ञान की अन्य शाखाओं से अलग हो जाने और स्वतंत्र विषयों को केन्द्र बनाकर अपना–अपना संगठन कर लेने के बाद भी उनके अदयेता राजनीतिक अध्ययन में अनवरत रूचि लेते रहे हैं। यह बात समाजशास्त्रियों एवं मनौवैज्ञानिकों के संबंध में विशेष रूप से सच थी। मैक्स वेबर, राबर्ट मिचेल्स, परेटो और एमिली दुर्कहारस समाजशास्त्रिय अध्ययन के एक अंग के रूप में राजनीतिक विश्लेषण में रूचि लेते रहे हैं। सन् 1908 में ग्राहम बालस की पुस्तक 'ह्यूमन नेचर इन पॉलिटिक्स तथा आथ्रर बैन्टले की कृति द प्रोसेस ऑफ गर्वनमेंट प्रकाशित हुई। इन्होंने राजनतिक प्रतिमानों, प्रक्रियाओं को समझाने के लिए मनौविज्ञानिक और लोगों के वास्तविक आचरण का सहारा लिया। बेण्टले ने अपनी कृति में

सामाजिक संगठन पर बल दिया। उसका चिंतन काफी सीमा तक समाजशास्त्र का ऋणी है। उसने दबाव गुटो, राजनीतिक दलों, चुनावों और जनमत के अध्ययन पर विशेष बल दिया। लेपास्फेल्ड ने अमेरिका में चुनाव व्यवहार संबधी अध्ययनों का विकास किया। मैक्सवेबर तथा मिचेल्स के द्वारा विकसित अधिकारी तंत्र संबंधी संरचनाओं के विश्लेषण की पद्धतियों को अनेक सरकारी और गैर सरकारी संस्थानों के अध्ययन में प्रयोग में जाने का प्रयत्न किया। 20वीं सदी के मध्य से डेविड ईस्टन, राबर्ट डहल, ग्रेबियल आमण्ड जैम्स कॉलमेन लुसिमन पार्ट, डेविड एप्टर, कार्ल ड्यूश, हैरॉल्ड लॉसवेल आदि विद्वानों ने राजनीति विज्ञान को अन्तर्विषयक उपागम का प्रयोग किया।

संक्षेप में द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक राजनीति शास्त्रियों ने राजनीतिक विश्लेष, समाजशास्त्र और मनौविज्ञान में विकसित किये गये सैद्धान्तिक और प्राविधिक उपागमों को आत्मसात कर लिया था और चुनाव संबंधी व्यवस्था और राजनीतिक विश्वासों अभिवृत्तियों के अध्ययन अनुसंधान के सामान्य विषय बन चुके थे। जब समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक और मनौवैज्ञानिक संकल्पनाएं राजनीतिक विकास को समझने में अपर्याप्त होने लगी तो आर्थिक सिद्धान्त, गणित और सांख्यिकी प्रारूपों पर अधिक जोर दिया जाने लगा।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. उत्तरव्यवहारवाद का अर्थ एवं विषेषताओं का वर्णन कीजिए?
2. उत्तरव्यवहारवाद के उदय के प्रमुख कारणों को स्पष्ट कीजिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. व्यवहारवाद और उत्तरव्यवहारवाद में अन्तर स्पष्ट कीजिए?
2. अन्तर–अनुषासनात्मक उपागम की अवधारणा स्पष्ट कीजिए?
3. राजनीति विज्ञान में अन्तर–अनुषासनात्मक उपागम का महत्व बताइए?

इकाई–3

राजनीति विज्ञान का अन्य विषयों से सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 राजनीति विज्ञान का अर्थशास्त्र से सम्बन्ध

3.3 राजनीति विज्ञान और इतिहास के बीच सम्बन्ध

3.4 राजनीति और समाज शास्त्र के बीच सम्बन्ध

3.5 राजनीति विज्ञान और कानून (विधि) के बीच सम्बन्ध

3.6 राजनीति विज्ञान और भूगोल के बीच सम्बन्ध

3.7 राजनीति विज्ञान और नीति शास्त्र के बीच सम्बन्ध

3.8 राजनीति विज्ञान का मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध

3.8.1 सारांश

3.8.2 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.9 बोध प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से विद्यार्थियों को अन्तर विषयक अध्ययन के आधुनिक उपागम के महत्व, उसकी उपयोगिता और लाभ से परिचय कराया जायेगा। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से, समाज के विविध पक्षों का अलग–अलग अध्ययन आरम्भ हुआ था कालान्तर में विशिष्टता और दक्षता प्राप्त करने के आधार पर अलग–अलग विषयों (Disciplines) का विकास हुआ। जिन्हें हम समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि नामों से जानते है।

19वीं शती के अंत तथा बीसवीं शती के आरम्भ में यह स्पष्ट हो गया कि पृथकतावादी दृष्टि से केवल कूपमण्डूकत्व में ही वृद्धि हो सकती है। अतः विभिन्न विषयों को साथ–साथ पढ़ने खासकर उनके सिद्धान्तों और आंकड़ों के प्रयोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया गया और इससे राजनीति विज्ञान का सर्वाधिक लाभ हुआ। इस प्रवृत्ति से किसी घटना, समस्या या फिर नीति को उसकी समग्रता में देखने में मदद मिली।

3.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि 18वीं शताब्दी तक लगभग सभी सामाजिक विज्ञान से जुड़े विषयों को सिर्फ एक विषय के अन्तर्गत पढ़ा जाता था जिसे हम मॉरल फिलासफी या नीति शास्त्र के नाम से जानते हैं। डेविड ईस्टन का यह कथन प्रसंगानुकूल है कि ''हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि समस्त सामाजिक जीव परस्पराश्रित है। इस प्रकार किसी विशेष आग्रह से सामाजिक जीवन के किसी एक पक्ष को सम्पूर्णता से पृथक करना बनावटीपन है।''

19वीं शती में औद्योगीकरण का प्रभाव जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति अध्ययन की विधा पर भी पड़ा। जीवन जटिल हो गया और इस जटिलता को किसी एक या दो विषय के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता था। अतः विभिन्न विषयों का स्वतंत्र अस्तित्व सामने आने लगा। सर्वप्रथम आदम स्मिथ के नेतृत्व में अर्थशास्त्र ने एक स्वतंत्र विषय के रूप में अपने अस्तिव की स्थापना की। इसी प्रकार भूगोल ने हमवोल्ट, के रिक्टर तथा रैटजेल, विधिशास्त्र, जॉन आस्टिन, तो राजनीति शास्त्र को एफ0डब्लू0 डालमैन तथा ए0डी0टॉकवील ने स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान किया। आगस्ट कामटे, एच0 स्पेन्सर तथा कार्ल मार्क्स का मार्गदर्शन प्राप्त कर समाजशास्त्र ने स्वतंत्र विज्ञान का स्वरूप धारण किया। आगस्ट कामटे ने बलपूर्वक कहा ''सभी सामाजिक घटना प्रक्रियाएं मूलभूत तौर पर एक दूसरे से जुड़ी रहती है। अतः किसी घटना, प्रक्रिया या पक्ष को अलग कर अध्ययन करना निरर्थक है।''

कार्ल मार्क्स ने सर्वप्रथम अन्तविर्षयक अध्ययन की आधारशिला रखी जब अपने गहन शोध के आधार पर उन्होने अर्थव्यवस्था को पूरी राजनीतिक–सामाजिक–धार्मिक या सांस्कृतिक व्यवस्था का मूलाधार सिद्ध कर दिया। उन्होने अर्थव्यवस्था को 'सब–राष्ट्रक्चर' या मूलाधार माना जिस पर समाज का वृहत ढांचा या 'सुपर–स्ट्रक्चर' खड़ा होता है। उन्होने इतिहास को सम्भावनाओं से पूर्ण तथा वर्तमान को समझने में सहायक माना। उनके अनुसार हर युग में उत्पाद का साधन और उस पर नियंत्रणकारी शक्तियों को पहचान कर हम युग की विशेषता बता सकते हैं। मार्क्सवाद ने सभी समाज विज्ञानो की एकता का समर्थन किया।

19वीं से 20वीं शती के मध्य के कालखण्ड को हम 'विषय–विशेषज्ञता' युग कह सकते हैं। यह विशेषज्ञता यहाँ तक बढ़ गयी कि कुछ विद्धानों को कहना पड़ा ''सामाजिक विज्ञानो में विशेषज्ञता इतने हद तक बढ़ गयी है कि यह सामाजिकता के समग्र ज्ञान को खण्डित कर बिखेरने की हद तक पहुँच चुका है। कहाँ शताब्दियों तक के संश्लिष्ट और सम्पूर्ण एकीकृत ज्ञान और कहाँ अब विशेषज्ञता की पराकाष्ठा....'' प्रथम विश्व युद्ध से द्वितीय विश्व युद्ध का काल सामाजिक विज्ञानों के परस्पर मिलन का काल है। अमेरिकी तथा यूरोपीय सरकारों ने अन्तर्युद्ध अवधि में सरकारों के सहयोग हेतु सभी विषयों के विद्वानों को आमंत्रित किया। राजनीति विज्ञान से सम्बन्धित लोग भी बुलाये गये। सरकार के साथ निकट से कार्य करते हुए राजनीति शास्त्रियों को अपने विषय की न्यूनता, यथार्थ से दूरी तथा आवश्यक उपकरणों के अभाव का अनुभव हुआ। इसी समय उन्होने अन्य विषयो की अध्ययन पद्धतियों, शोध प्रविधियों और उपागमों को राजनीति विज्ञान में अंगीकार किया। और इस प्रकार राजनीति विज्ञान ने अन्य विषयों के साथ अपने सम्बन्धों की स्थापना की जिसका पूर्ण विकास हमें व्यवहारवादी क्रान्ति के दौरान दिखलायी देता है।

TESLA-024

आरम्भ में सभी विषयो का एक रहना फिर एक से ही अनेक विषयो का जन्म तथा पुनः उसी एक में एकीकरण हमें उपनिषद के उस अमर मन्त्र का स्मरण कराता है जिसमें इस शाश्वत भाव प्रक्रिया का वर्णन है ''अविभक्तं च भूतेषु विभक्त मिव च स्थितम्।''

विद्वानों ने राजनीति के अध्ययन को विज्ञान समस्त बनाने का निश्चय किया तथा इस हेतु तथ्यात्मकता (इमपीरिसिज्म) का आग्रह हुआ। राजनीतिक व्यवहार, सामाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा। अन्य विषयो की वैज्ञानिक पद्धतियों के विकास का लाभ भी राजनीति विज्ञान को हुआ जैसे जीव विज्ञान में विकसित सिस्टम थ्योरी (व्यवस्था सिद्धान्त), संचार सिद्धान्त, गेम्स थ्योरी आदि।

अन्तर विषयक अध्ययन से कई लाभ होते हैं। इससे हम एक समस्या या घटना या नीति के विविध पक्षों पर विचार कर पाते हैं तथा उसे सही ढंग से समझ पाते हैं। प्रत्येक घटना के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक यहाँ तक मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक ऐतिहासिक पक्ष होते हैं या हो सकते हैं। इन विषयों के परस्पर अध्ययन से एक समष्टिपूर्ण दृष्टि का विकास होता है। राजनीति विज्ञान ने अपने आभ्यान्तर विकास हेतु इस परस्पर आदान–प्रदान प्रक्रिया को अपनाया है। इसी का अध्ययन हम प्रस्तुत इकाई में करेंगे।

3.2 राजनीतिक विज्ञान का अर्थशास्त्र से सम्बन्ध

अर्थशास्त्र को उचित ही सम्पत्ति–विज्ञान या 'साइन्स ऑव वेल्थ' कहते हैं जिसका सम्बन्ध मनुष्य के सार्थक क्रिया–कलापों से है। अर्थशास्त्र प्रमुखतया प्रचलित एवं पूववर्ती उत्पादन के साधनों का अध्ययन कर, समाज के लिए उपयुक्त–व्यवस्था का उपाय करती है। इस प्रक्रिया में सर्वाधिक जटिल प्रश्न वस्तुओं और सेवाओं के वितरण को लेकर खड़ा होता है। जनता तब तक किसी खास वितरण प्रणाली को स्वीकार नहीं करती जब तक उसे वह न्यायपूर्ण नहीं मान लेती और यहीं से राजनीति का क्षेत्र (राज्य का क्षेत्र) आरम्भ होता है। डेविड ईस्टन का मानना है कि केवल राज्य ही समाज में वस्तुओं और सेवाओं का आधिकारिक वितरण सुनिश्चित कर सकता है। इतना ही नहीं बहुत सारे आर्थिक निर्णयों के पीछे कार्य करने वाले कारण गैर आर्थिक हो सकते है जैसे–धार्मिक विश्वास, सांस्कृतिक मूल्य, राजनीतिक आवश्यकताएं आदि। क्या यह सुखद आश्चर्य जनक नहीं कि इन दोनों ही शास्त्रों में सम्बन प्रशस्त करते हुए रानीतिशास्त्र के पितामह आचार्य कौटिल्य अपनी पुस्तक का नाम अर्थशास्त्र रखते है जिसका सम्बन्ध अर्थ और शासन दोनों से है।

अर्थशास्त्र का आधुनिक युग में उद्‌भव 'पोलिटिकल इकोनॉमी' के रूप में होता है। इसे शास्त्रीय आधार आदम स्मिथ तथा रिकार्डो के हाथो प्राप्त होता है। जो बाजारवाद के सर्मथक थे और अदृश्य हाथ के सहारे की बात करते थे किन्तु बींसवी शती आते–आते यूरोप में अर्थव्यवस्था को लेकर गहरा असंतोष उत्पन्न हो गया और मार्क्स के विचारों के सहारे पूरे यूरेशिया में क्रन्ति का बिगुल बजने लगा। यहीं पर राजनीति ने प्रवेश किया तथा युग धर्म को पहचानते हुए लोक कल्याणकारी राज्य के विचार को आगे किया जिससे बाजार और बेजार के बीच

संतुलन स्थापित किया जा सके। अतः राजनीति भी अर्थव्यवस्था के लिए उतना ही निर्धारक है जितना अर्थव्यवस्था राजनीति के लिए।

आइवर ब्राउन का कहना था कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध वस्तुओं से है तो राजनीति शास्त्र का सम्बन्ध व्यक्तियों से है। अर्थशास्त्र जहां भाव (रेट) तथा मूल्य (प्राइस) या दाम से सम्बन्ध रखता है वहीं राजनीति संख्या (नम्बर) और मूल्य (वैल्यू) तथा गुण पर आधारित है। इसलिए राजनीति विज्ञान एक आदर्शवादी विज्ञान बन जाता है। वहीं पर अर्थशास्त्र एक व्याख्यात्मक विज्ञान है।

सैबाइन के इस मत से सहमत हुआ जा सकता है कि राजनीति को समझने में सामाजिक, आर्थिक पहलू अब महत्वपूर्ण बन गये हैं।

3.3 राजनीति विज्ञान और इतिहास के बीच सम्बन्ध

इन दोनों विषयों के परस्पर संबंध का पता हम इस बात से कर सकते हैं कि लोग ''इतिहास को बीती हुई राजनीति और राजनीति को वर्तमान इतिहास कहते है।'' इतिहास राजनीति को न केवल तथ्य देता है बल्कि एक दृष्टि प्रदान करता है। हमारा पूर्ववर्ती समाज अपने समय में उपजी चुनैतियों का किस प्रकार सामना किया, किस प्रकार नीति को जनानुकूल बनाया तथा किन–किन चुनौतियों के समक्ष असफल रहा, यह सभी राजनीति को एक दृष्टि तथा दिशा प्रदान करते है साथ में आवश्यक तथ्य एवं आंकड़े भी उपलब्ध कराते है। उसी प्रकार राजनीति वर्तमान समाज का संचालन करते हुए अनवरत इतिहास का निर्माण करती है। प्रो. सीले के अनुसार ''इतिहास के बिना राजनीति निर्मूल है और राजनीति के बिना इतिहास निष्फल'' प्रमुख विद्वान जैसे मैक्यावली, हेगल, कार्ल मार्क्स आदि एवं आधुनिक काल में जार्ज एच. सैवाइन, इ.एच. कार आदि इतिहास के अध्ययन को अवश्यम्भावी मानते हैं। इतिहास राजनीति के लिए कारण और प्रभाव के बीच के सम्बन्धों को उजागर करता है। हेगल जहां इतिहास को गतिमान चेतना द्वारा अपनाये गये विभिन्न स्वरूपों और उसके द्वारा कृत गतिविधियों को अंकित करने वाली प्रक्रिया माना है तो वहीं कार्ल मार्क्स ने वर्ग संघर्ष के होने और उसे समझने के लिए इतिहासोन्मुख होने की बात किया है। आधुनिक इतिहास का अपने विश्लेषण में सामाजिक, आर्थिक पक्षों को आधार बना रहे है तो वहीं राजनीतिक दर्शन और सिद्धान्त निर्माण में इतिहास का व्यापक उपयोग भी हो रहा है। इतना ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समझ विकसित करने तथा पूर्ववर्ती आचार्यो के सिद्धान्तों के आलोक में नवीन विकसित सिद्धान्तों की पुनर्व्याख्या तथा प्राचीन किन्तु प्रासंगिक सिद्धान्तों को वैश्विक स्तर पर मान्यता मिल रही है। जैसे थ्यूसीडाइड्स का मेलियन डायलाग, और आचार्य कौटिल्य का षणगुण सिद्धान्त, कन्फ्यूशियस के 'स्थिति–बोध' एवं श्रेणीबद्धता के सिद्धान्त, सुन्जू के युद्धविहीन विजय का सिद्धान्त आदि।

इतिहास और राजनीति के सम्बन्धों को लेकर आधुनिक काल में विद्वानों के दो वर्ग है। प्रथम वर्ग में कार्ल पापर, माइकल, ओकशॉट, आई. बर्लिकन आदि आते है जो इतिहास को अतीत के अध्ययन से अधिक कुछ नहीं मानते है और राजनीति विज्ञान के लिए इसका अध्ययन अनुपयुक्त मानते हैं। वहीं पर दूसरा वर्ग इ.एच.कार तथा आर.जी. कोलिंगवुड आदि का है जो इतिहास को राजनीति के लिए उपयोगी मानते हैं। ई.एच.कार का मानना था कि इतिहास दोहरी भूमिका निभाता है–(अ) यह व्यक्ति को भूतकालीन समाज को समझने तथा (ब) इस आधार पर वर्तमान पर अपनी पकड़ और समझ को समृद्ध करने का अवसर प्राप्त करता है।

TESLA-024

3.4 राजनीति और समाज शास्त्र के बीच सम्बन्ध

समाज शास्त्र एक व्यापक क्षेत्र का विषय है जिसके अध्ययन परिधि में जीवन के सभी पक्ष समाहित हो जाते हैं। आगस्ट कामटे तो सभी समाज विज्ञानों का समाज शास्त्र के भीतर ही अध्ययन करने के पक्षधर थे। समाजशास्त्र मनुष्य की समस्त गतिविधियों का अध्येता है, वही राजनीति विज्ञान उन पक्षों में रूचि रखता हैं जहाँ शक्ति का खेल निहित हो। जहाँ विवाद, विषमताएं एवं विभिन्नताएं समाज के समक्ष अस्तित्वगत संकट उत्पन्न कर रहे होते है, राजनीति शक्ति के प्रयोग से जिसमें कानून का प्रयोग भी निहित है, उसका समाधान करने का प्रयास करता है। यह पूरे समाज में वस्तुओं, सेवाओं और मूल्यों का आधिकारिक वितरण करता है। राजनीति अपने इस कर्तव्य निर्वहन के लिए राज्य का विधान करता है लेकिन राज्य तब तक प्रभावी नहीं हो सकता जब तक वह सामाजिक विकास के सामान्य नियमों को न जान ले। समाज में व्याप्त वर्गीकरण, विन्यास, विभाजन, विभेद आदि राजनीति को प्रभावित करते है। जैसे–अमेरिकी राजनीति में नस्लभेद, भारत में जाति भेद, पाकिस्तान में धर्म भेद, अफ्रीका में रंग भेद आदि। इसी प्रकार अगर हम भारत की संसदीय प्रणाली से ब्रिटिश संसदीय प्रणाली की तुलना करें तो यह तुलना तब तक विश्वसनयीय नहीं हो सकती जब तक दोनों ही देशों की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों को एवं सामाजिक विकास के विभिन्न चरणों का सम्यक् ज्ञान न हो। भारत में गरीबी का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रोजगार, अशिक्षा या स्वामित्व से सीधे न होकर बहुत हद तक जाति व्यवस्था से भी जुड़ा है। राजनीति विज्ञान का भी समाज शास्त्र पर भी व्यापक प्रभाव है। अनेक ऐसी प्रथाएं है जो समाज की गति को बाधित करती हैं तथा कुछ ऐसी प्रथाएं हैं जो कालान्तर में अनुपयोगी एवं अनुपयुक्त हो जाती है। राजनीति ही ऐसी प्रथाओं से समाज को मुक्त करा सकती है, जैसे बाल विवाह, बहु विवाह, सती प्रथा, दहेज प्रथा तथा छुआछूत आदि।

आधुनिक काल में राजनीति विज्ञान ने समाज शास्त्र द्वारा प्रयुक्त अनेकों शोध प्रविधियों को अपनाया है जैसे–इक्वलीब्रियम या साम्यता का सिद्धान्त, पीसमील सोसल इन्जीनियरिंग (मन्द गति से सामाजिक परिवर्तन) तथा सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त। कुछ महाविद्वानो की कृतिया इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है जिनमें वे राज्य और उसकी संस्थाओं के समाजशास्त्री व्युत्पत्ति पर बल देते हैं। जैसे–हेनरी मेन कृत ऐंसिएंट लॉ, एल.एच.मोर्गन कृत ऐंसिएंट सोसाइटी तथा एंगेल्स कृत्य आरिजिन आफ फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड स्टेट। 20वीं शताब्दी में बेण्टली ने राज्य को व्यक्तियों को नही बल्कि सामाजिक समूहों का संगठन बताया था जिसका एक निश्चित हित होता है। आज कल राजनीतिक दलों और दबाव समूहो आदि का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने की प्रथा चल पड़ी है। इस क्षेत्र में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम मैकाइबर का है जो समाजशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान दोनो ही विधाओं में समादृत है। इन्होने अपनी प्रसिद्ध कृति 'मार्डन स्टेट' में राज्य की प्रकृति को एक समाजशास्त्री की आँखो से देखा है। पूरा आभिजात्य सिद्धान्त, राजनीतिक संस्कृति, ढांचा एवं क्रियावादी दृष्टिकोण तथा आज–कल लोकप्रिय पोलिटिकल सोसियॉलजी का आवश्यक अध्ययन इस बात का प्रमाण है कि कैसे ये दोनों विषय एक दूसरे से प्रभावित तथा एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं।

3.5 राजनीति विज्ञान और कानून (विधि) के बीच सम्बन्ध

राज्य और कानून अन्योन्याश्रित है राज्य के 04 अंगो में सम्प्रभुता का शरीर कानून ही है। अतः कानून राज्य को वैधता एवं पूर्णताः प्रदान करता है। मैकाइवर के शब्दो में राज्य कानून का पिता और पुत्र दोनों है। राज्य के आगमन के पूर्व भी प्राकृतिक नियम, दैवीय नियम एवं शाश्वत नियम (विधि) का अस्तित्व था। प्राकृतिक विधि को राज्य के बनने के बाद भी एक सतत् मानक के रूप में विद्यमान रही। दूसरी तरफ राज्य बहुत सारे कानूनो का निर्माण करता है जिसका अनुपालन जनता के लिए बाध्यकारी होता है। विधि निर्माण के पश्चात् राज्य स्वयं ही इन नियमों, कानूनो के अनुपालन करने हेतु बाध्य होता है। विधि और राजनीति विज्ञान के सम्बन्धो को लेकर भी अनेको मत प्रचलित है जिनमें प्रमुख दो मतो का उल्लेख प्रसंगानुकूल होगा। मैक्यावली से लेकर थामस हाब्स और जॉन आस्टिन तक सभी यह मानते है कि राज्य ही कानून का एकमात्र स्रोत है और कानून राज्य का आदेश मात्र है। वही पर प्रमुख बहुलवादी डिग्वी और क्रैब आदि का मानना है कि विधि राज्य से श्रेष्ठ है। यह राज्य को सीमित करता है तथा राज्य से स्वतंत्र है। इन दोनो ही मतो में सत्यांश है, कानून राजनीति का एक अंग है परन्तु अपनी व्यापकता और तकनीकी स्वरूप के कारण इसका अध्ययन एक पृथक विज्ञान की भाँति किया जाता है।

संवैधानिक कानून राज्य के विभिन्न अंगो की परिभाषा करता है, उनके आपसी सम्बन्धो को तथा व्यक्ति एवं राज्य के सम्बन्धो को तय करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो का विवेचन करता है। प्रसिद्ध विद्वान हैलो वेल ने राज्य को एक कानूनी साझेदारी कहा है।

3.6 राजनीति विज्ञान और भूगोल के बीच सम्बन्ध

राजनीति विज्ञान और भूगोल अभिन्न है। राज्य के लिए जहाँ एक निश्चित भूभाग अपरिहार्य है, वहीं पर भूगोल राजनीति के माध्यम से महत्ता प्राप्त करता है। जियो–पालिटिक्स या भू–राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्रीय विषय है।

कुछ विद्वानो ने मनुष्य पर भौगोलिक दशाओं और भौतिक परिस्थितियों के व्यापक प्रभाव का रेखांकन किया है। मनुष्य भौगोलिक परिस्थितियों से प्रभावित भी होता है और उन्हें प्रभावित भी करता है। अरस्तू ऐसे पहले विचारक थे जिन्होने राजनीतिक संस्थाओं पर तथा जनता के चरित्र पर भूगोल के प्रभावो का अध्ययन किया। बाद में ज्याँ बोंदा तथा रूसो ने इस पर विचार किया। रूसो ने जलवायु और सरकार के स्वरूप के बीच गहरे संबंधों की बात की जिसके अनुसार गरम जलवायु के लिए तानाशाही के लिए, ठण्डी जलवायु के लिए जंगलीपन तथा समशीतोष्ण जलवायु के लिए अच्छी शासन प्रणाली को स्वाभाविक माना। इसी क्रम में उन्होने छोटे देशों के लिए लोकतंत्र तथा बड़े देशों के लिए राजतंत्र को सर्वोत्तम माना। अपनी चर्चित पुस्तक हिस्ट्री आफ सिविलाइजेशन में टामस बकल ने प्राकृतिक परिस्थितियों और राष्ट्रीय चरित्र के बीच सम्बन्धों को बढ़ा–चढ़ाकर पेश किया। उन्होने राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में भूगोल के गहरे प्रभाव का रेखांकन किया।

इन अतिश्योक्तियों से पृथक यह अवश्य है कि भूगोल एवं प्राकृतिक संसाधन तथा उनका समुचित उपयोग राष्ट्र निर्माण में अग्रणी भूमिका निभाते है किन्तु इनसे संस्थाओं और चरित्र निर्माण की बात करना अनुचित है।

3.7 राजनीति विज्ञान और नीति शास्त्र के बीच सम्बन्ध

दोनों ही विषयों में बहुत कुछ सांझा है, इन दोनों में उचित, अनुचित तथा न्याय, अन्याय का विचार होता है। राजनीति के आदि आचार्य प्लेटो ने तो राजनीति विज्ञान को नीतिशास्त्र की एक शाखा कहा था। अरस्तू ने सर्वप्रथम इन दोनो को अलग–अलग करके देखा परन्तु यह अलगाव भी विषयवस्तु के स्तर का नहीं अपितु व्याख्या पद्धति या रीति (मेथडाल्जी) के स्तर का है। प्लेटो राजनीतिक प्रश्नो का नैतिक समाधान प्रस्तुत करते है। नीति और राजनीति का यह मेल अगली शताब्दियों तक चलता रहा और थामस एक्वीनाश इसके जीवन्त प्रमाण है किन्तु राजनीति विज्ञान का आधुनिक काल मैक्यावली से शुरू होता है जिन्होने राजनीति और नीति को अलग–अलग करने का कार्य किया। उन्होने राजनीति को धर्म और नैतिकता के बन्धनो से मुक्त किया तथा राज्य के शासन व्यवस्था संचालन में धर्म और नैतिकता के दबाव तथा बन्धनों को अस्वीकार कर दिया। इस स्थिति को और भी सबलता थामस हाब्स के हाथो प्राप्त हुई तथा इसके पश्चात् पूरा पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन इसी रास्ते चला। कार्ल मार्क्स ने तो धर्म को जनता के लिए अफीम के समान बताया। बीसवीं शती से धीरे–धीरे यह अनुभव किया जा रहा है कि इन दोनों में अलगाव वृहत्तर सामाजिक हितों के अनुकूल नहीं है। यहाँ तक 19वीं शती में ही जे.एस.मिल तथा टी.एच. ग्रीन ने नैतिकता को राजनीति से जोड़ दिया था। लार्ड एक्टन नीति और राजनीति के संगम के पक्षधर थे, उनके अनुसार ''यह पता लगाना महत्वपूर्ण नहीं है कि सरकारे क्या निर्धारित करती है बल्कि यह महत्वपूर्ण है कि सरकारों को क्या निर्धारित करना चाहिए। राजनीति को नीति से पूर्णतया अलग करना इसे संकीर्ण एवं भाव शून्य बनाने के बराबर है। आइबर ब्राउन के अनुसार ''नीति शास्त्र राजनीति के लिए नैतिकता के मानदण्डों तथा न्याय–अन्याय, उचित–अनुचित का पैमाना तय करता है।'' महात्मा गाँधी ने तो राजनीति के आध्यात्मीकरण का आह्वान किया तथा धर्म विहीन राजनीति को मृतप्राय घोषित किया। उनके अनुसार राज्य और समाज के आदर्शो एवं उद्देश्यों में सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा अपरिग्रह आदि शामिल होने चाहिए। कैटलिन की टिप्पणी सर्वाधिक सटीक एवं सुस्पष्ट है। ''नीति राजनीति को अनेको नीतियों में से 'वांछनीय' नीति बताता है वहीं पर राजनीति, नीति को 'आसान नीति' से परिचित कराता है।''

3.8 राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान के बीच सम्बन्ध

मनोविज्ञान एक आधुनिक शास्त्र है। यह मनुष्य के क्रियाकलापो की 'प्रेरणा' कहा से आती है, इस गुत्थी को सुलझाता है। मानव व्यवहार को ठीक–ठीक समझाने के लिए हमें प्रकृति, प्रवृत्ति, अनुसरण और सुझाव आदि को जानना पड़ता है। किसी भी सरकार को अपनी जनप्रियता सुनिश्चित करने के लिए जनता के मनोभाव को समझना होता है। प्रसिद्ध विद्वान ले बों (Le Bon) के शब्दो में ''सरकार को जाति की मानसिक प्रवृत्ति के अनुरूप होना चाहिए।

मनोविज्ञान का सहारा थामस हाब्स भी लेते है जब वे मानवीय स्वभाव की व्याख्या करे है। किन्तु साथ में उन्होने मनोविज्ञान की सीमा को भी बताया। मनोविज्ञान जहाँ पर प्रेरणा (स्टीमुलस) और प्रतिक्रिया के युगल पदो पर चलता है वहीं पर हाब्स ने इसमें बौद्धिक मनुष्य (आर्गनिज्म) द्वारा प्रतिक्रिया को नियंत्रित करने की बात कहकर राजनीति विज्ञान को विज्ञान से जोड़ दिया तथा यह मनोविज्ञान के आगे की बात है। अर्नेस्ट बार्कर का भी मत था कि मनोविज्ञान

वस्तुओं के वास्तविक रूप से सम्बन्ध रखता है किन्तु राजनीति विज्ञान को तो नीति शास्त्र के आदर्शो से भी तादात्म में स्थापित करना रहता है।

3.8.1 सारांश

अन्तर विषयक अध्ययन से राजनीति विज्ञान को एक व्यापक दृष्टि मिलती है तथा साथ में सहयोगी विषयो में विकसित पद्धतियों के सदुपयोग का अवसर पर भी प्राप्त होता है। आधुनिक काल में शासन व्यवस्था एक जटिल प्रक्रिया बन चुकी है ऐसे में नीति निर्माताओं को ज्ञान–विज्ञान के प्रत्येक उपकरण का प्रयोग करना पड़ता है। सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, भू–राजनीतिक तथा नृजातीय तथा मनोवैज्ञानिक तत्व नीति का प्रमुख हिस्सा बन चुके है। अतः इन सभी सम्यक् अध्ययन से ही हम राजनीति विज्ञान को उपयोगी एवं सक्षम बना सकते हैं।

3.8.2 उपयोगी पुस्तकें

1. डेविड ईस्टनः पॉलिटिकल सिस्टम।
2. एस0एल0वैश्वीः पॉलिटिकल साइन्स–द डिसिप्लिन एण्ड इट्स डाइमेंसंस।
3. ए0एफ0 बेन्टलीः द प्रासेस आफ गवर्नमेन्ट।
4. एफ0एच0 गिडिंग्सः डिस्क्रिप्टिव एवं हिस्टोरिकल सोसियोलॉजी।
5. मैकाइवर : मार्डन स्टेट।
6. ए0डी0 आर्शीवाद्मः राजनीतिक सिद्धान्त
7. एम0पी0जैन : राजनीतिक सिद्धान्त।
8. ओ0पी0 गावा : राजनीतिक सिद्धान्त एक परिचय।

3.9 बोध प्रश्न

अर्न्तविषयक अध्ययन की पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए इसके प्रमुख लाभों का वर्णन करें।

1. राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।
2. राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।
3. राजनीति विज्ञान और इतिहास के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।
4. राजनीति विज्ञान और नीतिशास्त्र के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।
5. राजनीति विज्ञान और कानून के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।
6. राजनीति विज्ञान और मनोविज्ञान के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।
7. राजनीति विज्ञान और भूगोल के सम्बन्धों को स्पष्ट करें।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–2

राज्य के प्रमुख लक्षण

इकाई – 4	राज्यः अर्थ, प्रकृति और उद्भव	41–50
इकाई – 5	राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त	51–76
इकाई – 6	संम्प्रभुता की धारणा एवं विकास	77–86
इकाई – 7	शक्ति सत्ता और वैधता	87–102

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

9. प्रो. एल. आर. गुर्जर

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

10. डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच

11. डॉ के. डी. सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया

12. डॉ नीलिमा सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

13. डॉ एच. के. शर्मा, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

14. डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज

15. डॉ ए. पी. सिंह, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

16. डॉ मोहम्मद शाहिद, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN- 979-93-83328-35-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
प्रकाशक–कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–2020
मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

यू.जी.पी.एस.–101

खण्ड–02 परिचय

'राज्य के प्रमुख लक्षण' में राज्य विषयक प्राचीन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

इकाई–04 में राज्य के अर्थ, प्रकृति, उत्पत्ति की चर्चा की गई है। राज्य की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है।

ईकाई–05 राज्य के विभिन्न सिद्धान्तों जैसे–उदारवादी, मार्क्सवादी, अराजकतावादी, सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोणों का वर्णन किया गया है।

ईकाई–06 प्रभुसत्ता और बहुलवाद का वर्णन किया गया है।

ईकाई–07 में 'शक्ति प्राधिकार और वैधता' के अन्तर्गत शक्ति को परिभाषित किया जायेगा और इसके कार्यक्षेत्र की जानकारी दी जायेगी। इस ईकाई के अध्ययन के पश्चात् आप वैधता और प्राधिकार के स्त्रोतो को समझ सकेंगे।

इकाई–4

राज्यः अर्थ, प्रकृति और उद्‌भव

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 राज्य के तत्व

- **4.2.1** जनसंख्या
- **4.2.2** निश्चित भूभाग
- **4.2.3** सरकार
- **4.2.4** सम्प्रभुता

4.3 राज्य की प्रकृति

- **4.3.1** राज्य का सावयवी स्वरूप
- **4.3.2** राज्य का नैतिक स्वरूप
- **4.3.3** राज्य का उदारवादी स्वरूप
  - ➢ वैधानिक सिद्धान्त
  - ➢ राज्य एक मशीन के रूप में
  - ➢ कल्याणकारी राज्य
- **4.3.4** राज्य की प्रकृति का मार्क्सवादी दृष्टिकोण
- **4.3.5** राज्य की प्रकृति का आराजकतावादी दृष्टिकोण
- **4.3.6** राज्य की प्रकृति का सर्वाधिकरवादी दृष्टिकोण

4.4 राज्य का उद्‌भव

4.5 निष्कर्ष

4.6 अभ्यास प्रश्न

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

TESLA-024

- ➢ इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान पायेंगे
- ➢ राज्य की अवधारणा के बारे में।

- राज्य के आवष्यक तत्वों के बारे में।
- राज्य की प्रकृति के बारे में।
- राज्य के उदारवादी एवं मार्क्सवादी दृष्टिकोण के बारे में।
- राज्य के उद्भव के बारे में।

4.1 प्रस्तावना

राजनीति शास्त्र का मुख्य सरोकार राज्य से है। अतः राज्य के बिना राजनीति विज्ञान की कल्पना नहीं की जा सकती है। राज्य की सम्पूर्णता का अध्ययन राजनीति विज्ञान द्वारा ही किया जाता है। इसलिए राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए राज्य का अर्थ, प्रकृति तथा उद्भव को जानना जरूरी है। यूनानी विचारकों ने राज्य को स्वाभावित समुदाय माना है। इस सम्बन्ध में अरस्तु का कहना है कि राज्य परिवार का विकसित रूप है। उनके अनुसार परिवार के विकसित होने से गांव बनता है तथा कई गांवों के मिल जाने से राज्य बनता है। अरस्तु ने मनुष्य को राजनीतिक प्राणी माना है और कहा है कि मनुष्य राज्य का स्वाभाविक सदस्य है यदि कोई व्यक्ति राज्य का सदस्य नहीं है या राज्य का सदस्य होने के लायक नहीं है तो या तो देवता होगा या जानवर होगा। व्यक्ति के विकास के लिए राज्य का होना आवश्यक है। राज्य के बिना व्यक्ति सम्पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता है। अर्थात् व्यक्ति के जीवन को सुखी एवं सुन्दर बनाने की परिस्थिति राज्य पैदा करता है।

राज्य के संदर्भ में विद्वानों नें अलग–अलग परिभाषाएं दी है। किसी एक परिभाषा पर मतैक्य नहीं है इनमें कुछ परिभाषा करते हुए कहा है कि ''राज्य बहुसंख्यक मनुष्यों का एक समुदाय है जिसके अधिकार में आमतौर पर एक भू प्रदेश रहता है, जिसमें बहुमत की इच्छा का या बहुमत के बदल पर कुछ व्यक्तियों या एक निश्चित वर्ग की इच्छा का बोलबाला उन लोगो के ऊपर रहता है जो उस इच्छा का विरोध करते है''।

मैकाइवर ने राज्य के बहुलवादी स्वरूप को स्पष्ट करते हुए राज्य की परिभाषा इस प्राकर की है ''राज्य एक संघ है जो कानून की सहायता से ऐसे समाज में पूर्ण बाहरी व्यवस्था बनाए रखता है जिसके निवासी एक निश्चित भूखण्ड पर बसे हुए हो और जिसके कानून को ऐसी सरकार ने लागू कर रखा हो जिसके पास उस कानून को जबरदस्ती मनवाने की ताकत हो''।

गार्नर ने राज्य की परिभाषा करते हुए लिखा है ''राजनीतिशास्त्र और सार्वजनिक विधि का धारणा में राज्य ऐसे लोगो का समुदाय है जो साधारणतया बड़ी संख्या में हो, जिसका एक निश्चित भूप्रदेश पर स्थायी अधिकार हो, जो बाहरी नियत्रंण से स्वतंत्र हो ओर जिसकी एक संगठित सरकार हो तथा जिसकी आज्ञाओं का पालन अधिकांश जनता स्वभाव से करती हो''।

4.2 राज्य के तत्व

उपर्युक्त परिभाषाओं में राज्य के आवश्यक तत्वों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। लेकिन गार्नर ने जो परिभाषा प्रस्तुत की है वह राजनीति शास्त्र के दृष्टिकोण से सर्वोच्च है। गार्नर की यह परिभाषा राज्य के आवश्यक चार तत्वों को

सम्मिलित करती है। ये चार तत्व हैः जनसंख्या, निश्चित भूभाग, सरकार तथा सम्प्रभुता। वर्तमान समय में राज्य का अर्थिक करते समय इन चार तत्वों को राजनीति शास्त्री अपने अध्ययन में आवश्यक रूप से शामिल करते हैं।

राज्य की परिभाषा स्पष्ट करते समय सभी विद्वानों ने राज्यों के मूल तत्वों के रूप में चार तत्वों को शामिल किया है, जिनमें जनसंख्या निश्चित, भूभाग, सरकार तथा सम्प्रभुता प्रमुख है, जिनको यहां निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

4.2.1 जनसंख्या

किसी भी संगठन अथवा संस्था के लिए सदस्यों का होना आवश्यक होता है। राज्य में जनसंख्या का होना अति आवश्यक है। जनसंख्या के अभाव में राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। एक निर्जन सुनसान क्षेत्र को राज्य नहीं कह सकते। अतः राज्य के लिए जनसंख्या का होना जरूरी है। राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिये इस सम्बन्ध में राजनीति शास्त्रियों ने अलग–अलग विचार व्यक्त किये हैं। प्राचीन राजनीति दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'लॉज' में आदर्श राज्य के लिए जनसंख्या 5040 होने की बात कही है। राजनीति विज्ञान के जनक अरस्तु ने राज्य की जनसंख्या के बारे में कहा है कि जनसंख्या न तो अधिक होनी चाहिये और न ही कम। उत्पादन एवं सुरक्षा के मापदण्डों को ध्यान में रखते हुये राज्य की जनसंख्या होनी चाहिये। प्रत्यक्ष लोकतत्रं के समर्थक रूसो ने प्राचीन नगर राज्यों का समर्थन करते एक राज्य के लिए 10 हजार की जनसंख्या को आदर्श माना था। वर्तमान समय में विश्व में राज्यों की विशाल जनसंख्या है। जिनमें चीन, भारत, अमेरीका, रूस, इण्डोनेशिया प्रमुख रूप से हैं। विशाल जनसंख्या के कारण ही ये देश विश्व की राजनीति दृष्टि से शक्तिशाली देश है। राष्ट्रीय शक्ति के आवश्यक तत्वों में जनसंख्या भी एक प्रमुख तत्व है और यह शक्तिशाली राज्य बनाने में सहायक होती है। निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं। कि राज्य एक मानवीय संस्था है। अतः जनसंख्या उसका प्रथम तत्व है।

4.2.2 निश्चित–भूभाग

निश्चित–भूभाग राज्य का दूसरा आवश्यक तत्व है। राज्य को साकार रूप लेने के लिए निशिचित भूभाग का होना जरूरी है। अर्थात् लोगों के रहने लिए भूभाग का होना जरूरी है। यदि निश्चित भूभाग नहीं होगा तो राज्य के कानूनों को लागू करने की सीमाओं का पता नहीं चलेगा। अस्थायी एवं भ्रमणशील अर्थात् खानाबदेश लोगों का राज्य नहीं बन सकता है। क्योंकि भ्रमणशील जातियों का स्थायी प्रदेश नहीं होता है, जिसके कारण उनको राज्य नहीं कह सकते। हांलाकि उनके मुखिया के पास सत्ता एवं सगठन होता है। इजराइल की स्थापना से पहले यहूदियों के पास कोई भूभाग नहीं था, जिसके कारण उनका कोई राज्य नहीं था। क्योंकि वे पूरे दुनिया में बिखरे हुए थे। अब वे स्थायी रूप से निश्चित प्रदेश में बस गये जिसके कारण उनका राज्य इजराइल अस्तित्व में आ गया है। अब यह प्रश्न उठता है कि राज्य के लिए कितना भूभाग आवश्यक है। प्राचीन यूनानी राजनीति वैज्ञानिकों का मत था कि राज्य का क्षेत्र न तो ज्यादा होना चाहिये ना ही कम। रूसो ने कहा था कि प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के लिए छोटे राज्यों का होना आवश्यक है। वर्तमान में छोटे राज्यो की अवधारणाओं को सही नही माना गया है। निश्चित भूभग का अर्थ केवल भूमि से नहीं है। भूभाग का व्यापक अर्थ लिया जाता है। उसमें पाई जाने वाले खनिज, प्राकृतिक सम्पदा, इसके नदी, पहाड़, वायुमण्डल, राज्य के तट

TESLA-024

से 12 मीलतक समुद्र इत्यादि को शामिल किया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है। कि निश्चित भूभाग राज्य के लिए होना आवश्यक है।

4.2.3 सरकार

सरकार राज्य का तीसरा प्रमुख तत्व है। सरकार के बिना राज्य का अस्तित्व नहीं रहेगा। राज्य तो एक अमूर्त संस्था है, जो कभी दिखाई नहीं देता है। लेकिन सरकार राज्य की मूर्त संस्था है जो राज्य के रूप में दिखाई देती है। सरकार राज्य की राजनीतिक संस्था है। यह राज्य की सम्प्रभु इच्छा को पूरी करने का साधन है। सरकार द्वारा राज्य की नीतियों का निर्माण एवं उन्हें लागू किया जाता है। सरकार ही लोगों पर शासन करती है तथा यह वैधानिक सम्प्रभु है। सरकार का गठन व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के रूप में किया जाता है, जिसके माध्यम से राज्य के उदेश्यों को पूरा किया जाता है। सरकार के कई रूप होते है, जिनको हम लोकतंत्र, राज्यतंत्र संसदीय शासन व्यवस्था एवं अध्यक्षीय शासन व्यवस्था के रूप में देख सकते है। सरकार का स्वरूप राज्य के स्वरूप पर निर्भर करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि राज्य के गठन के लिए सरकार का होना जरूरी है।

4.2.4 सम्प्रभुता

सम्प्रभुता राज्य का प्रमुख तत्व माना जाता है सम्प्रभुता के बिना राज्य नहीं कहा जा सकता हैं। सम्प्रभुता राज्य की वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कोई बंधंन नहीं होता है। साधारण अर्थ में कहा जाता है कि सम्प्रभुता राज्य की वह शक्ति है जिसके तहत राज्य आंतरिक मामलों तथा अर्न्तराष्ट्रीय में स्वतंत्र होता है, जो किसी अन्य कानूनी शक्ति को मानने के लिए बाध्य नहीं है। आंतरिक सम्प्रभुता का अर्थ है कि राज्य के अन्तर्गत रहने वाले लोगों, समुदायों तथा पदार्थो पर सम्प्रभुता का नियंत्रण रहता है। बाहा सम्प्रभुता के अन्तर्गत राज्य अर्न्तराष्ट्रीय मामलों के तहत नीतियों के निर्माण एवं लागू करने के बारे में बिल्कुल स्वतंत्र निर्णय लेता है। जॉन आस्टिन ने कहा है कि सम्प्रभुता निश्चित तौर पर ऐसे व्यक्ति में होती है जो किसी अन्य व्यक्तियों की आज्ञा नहीं मानता हो तथा लोग उसके आदेशों का पालन करते हो। आस्टिन के सिद्धान्त को एकल प्रभुता का सिद्धान्त कहा गया है। बहुलवादी विचारक, मैकाइवर लास्की, लिण्डसे दुर्खिम ने सम्प्रभुता को सर्वोच्च, अदेय, अविभाजित आदि विशेषताओं के रूप में प्रस्तुत किया है। अगर राज्य के तीन तत्वों के होते हुए भी सम्प्रभुता नहीं है तो वह राज्य नहीं कहलायेगा। अतः सम्प्रभुता राज्य का चौथा आवश्यक तत्व माना गया है।

4.3 राज्य की प्रकृति

राज्य के प्रकृति के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण अपनाये गये हैं। इन दृष्टिकोण के अनुसार राज्य की प्रकृति अभिव्यक्ति होती है। राज्य की प्रकृति के बोर में प्रमुख धारणायें निम्न है–

4.3.1 राज्य का सावयवी स्वरूप

राज्य के सावयवी स्वरूप के अन्तर्गत राज्य की तुलना मनुष्य के शरीर से की गयी है। राज्य की एकता को मनुष्य की शारीरिक एकता के समान माना गया है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयव हाथ, पैर, कान, आंख सिर तथा धड़ मिलकर शरीर की एकता का निर्माण करते है, उसी प्रकार राज्य के विभिन्न अंग मिलकर राज्य

की एकता का निर्माण करते है। शरीर का सम्बन्ध उसके अगों से होता है उसी प्रकार राज्य का सम्बन्ध लोगों से है। शरीर के विकास के समान ही राज्य का विकास होता है। राज्य तथा शरीर की इन समानताओं के आधार पर विद्वान मानते है कि राज्य का स्वरूप सावयवी एकता है। प्लेटो ने राज्य की तुलना एक बड़े डीलडौल वाले मनुष्य से की थी। प्लेटो का कहना है कि राज्य व्यक्ति का वृह्द्ध रूप है उन्होंने राज्य तथा व्यक्ति के कार्यों को समान माना है। जिस तरह मनुष्य के शरीर में विवेक, साहस तथा वासना होती है, उसी के समान राज्य में भी तीन वर्ग होते है, बुद्धि का प्रतिनिधित्व करने वाले शासक वर्ग, साहस का प्रतिनिधित्व करने वाला शासक वर्ग तथा वासना का प्रतिनिधित्व करने वाला उत्पादक वर्ग। प्लेटो व्यक्ति को राज्य का छोटा स्वरूप मानते इसी सन्दर्भ में उन्होनें कहा था कि राज्य का निर्माण चट्टानों, पहाड़ों अथवा पेड़ों से नहीं किया जाता, बल्कि आदर्श नागरिकों से होता है।

राज्य का निर्माण उसके नागरिकों के चरित्र के अनुकूल होता है। अरस्तु ने भी राज्य को सावयवी स्वरूप के समान माना है। उन्होंने राज्य का गठन तुलना शरीर के अंगों से की है। ब्लंटशली ने राज्य के सावयवी स्वरूप को मान्यता देते हुए कहा है कि व्यक्तियों में जिस प्रकार लिंग भेद होता है उसी प्रकार का लिंग भेद राज्य में भी होता है। उनका कहना था कि राज्य पुर्ल्लिंग है और चर्च स्त्रीलिंग है।

आधुनिक राजनीति विज्ञान के विद्वानों जिनमें हाब्स तथा रूसो प्रमुख है उनके विचारों में भी राज्य के सावयवी स्वरूप के दर्शन मिलते है। हाब्स के राज्य की तुलना 'लेवियाथान' से की है जो एक कृत्रिम मनुष्य है। जिस प्राकर राज्य में कमजोरियां विद्यमान होती है उसी प्रकार मानव शरीर में भी बीमारिया होती है, जो मानव शरीर को कमजोर कर देती है।

19वीं शताब्दी के लेखको में हरबर्ट स्पेंसर का नाम महत्वपूर्ण हैं, जिन्होंने राज्य के सावयवी स्वरूप को प्रचलित करने में योगदान किया है। हरबर्ट स्पेन्सर ने मानवीय शरीर तथा सामाजिक शरीर के बीच समानता को दर्शाने का प्रयास किया है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार शरीर में विभिन्न प्रकार के अंग होते हैं उसी प्रकार के अंग तथा प्रक्रियाएं राज्य रूपी शरीर में भी पाये जात हैं। उन्होंने रेलवे लाइनों की तुलना मनुष्य के शरीर में पायी जाने वाली धमनियों तथा शिराओं से की है। धन की तुलना रूधिर कणिकाओं और टेलीग्राफ की तुलना स्नायुओं से की है। स्पेन्सर ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का विकास होता है, उसका निर्माण नहीं उसी प्रकार राज्य भी एक सजीवं संगठन होता है उसका भी विकास होता है निर्माण नहीं।

4.3.2 राज्य का नैतिक स्वरूप

आदर्शवादी राज्य को एक नैतिक संस्था मानते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य की नैतिक प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप ही राज्य का निर्माण हुआ है। प्रसिद्ध आदर्शवादी विचारक बोसांके ने कहा है कि ''राज्य नैतिक विचार का मूर्तरूप है।'' परिवार, धर्म संस्थान (चर्च) आदि कई नैतिक संस्थाएं समाज में विद्यमान है, लेकिन इन सभी संस्थाओं में राज्य एक महत्वपूर्ण संस्था है। आदर्शवादी विचारक राज्य को कृत्रिम नहीं मानते है। उनका कहना है कि मनुश्य एक राजनीति प्राणी है और राज्य रूपी संस्था का उद्‌भव मनुष्य की राजनीतिक प्रकृति का संस्थात्मक रूप है। राज्य व्यक्ति के लिए होता है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य का कार्य व्यक्ति के विकास में सहायता करना होता है और व्यक्ति के नैतिक जीवन

TESLA-024

का माध्यम होता है। प्रसिद्ध आदर्शवादी विचारक ग्रीन का कहना है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं उसकी इच्छा है'' उनका कहना है कि राज्य शक्ति का प्रयोग करता है लेकिन शक्ति राज्य की मुख्य विशेषता नहीं है। राज्य सामूहिक इच्छा का प्रतिबिम्ब होता ह। ग्रामीन राज्य को नैतिक संस्था मानते हुए कहा है कि यह व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक है। आदर्शवादियों का विचार है कि राज्य को चाहिये कि वह व्यक्त्वि के सुन्दर जीवन के मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं को दूर करे। राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि राज्य का स्वरूप नैतिक है।

4.3.3 राज्य का उदारवादी स्वरूप

1. **वैधानिक सिद्धान्त** – राज्य की प्रकृति का वैधानिक सिद्धान्त उदारवादियों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि राज्य एक वैधानिक व्यक्ति है। यह कानून का निर्माता है और व्याख्या करता है और इसे लागू करता है। राज्य को कानूनों का स्रोत माना गया है। बोंदा पहला राजनीति विचारक है जिसने संप्रभुता शब्द का प्रयोग किया। उन्होनें संप्रभुता को राज्य की सर्वोच्च तथा वैधानिक शक्ति माना है। उन्होनें संप्रभुता को शाश्वत तथा निरंकुश माना तथा कानून को प्रभुसत्ताधारी का आदेश माना। थॉमस हॉब्स ने प्रभुसत्ता को राज्य को आत्मा माना है। बोंदा ने प्रभुसत्ता पर प्राकृतिक कानून और ईश्वरीय कानून की जो सीमाएं लगायी थी उनकी उसने हटा दिया और कहा कि प्रभुसत्ताधारी ही कानून का निर्माण करता है तथा उन्हें लागू करता है। हॉब्स ने एकता, अविभाज्यता, सर्वव्यापकता, निरंकुश्ता और अदेयता संप्रभुता की विशेषता बतलायी है। प्रभुख विधि शास्त्री बेन्थम ने राज्य को कानून का निर्माता तथा राज्य के कानूनों को अधिकारों का स्रोत भी माना है। उन्होंने कहा कि लोगों द्वारा राज्य की सर्वोच्च शक्ति के कानूनों का पालन किया जाता है तभी नागरिक समाज अस्तित्व में आता है। बेन्थम ने राज्य की उपयोगितावादी धारणा को प्रतिपादित करते हुए कहा कि राज्य अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख प्रदान करने वाले कानून का निर्माण करता है। राज्य की प्रकृति के विधि शास्त्री सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि राज्य एक सर्वोपरि कानूनी संस्था है जिसकी सामूहिक इच्छा सामूहिक कार्य करने की शक्ति तथा सामूहिक कानूनी क्षमता है। राज्य के भी अपने कानूनी अधिकार तथा कानूनी कर्तव्य है।

2. **राज्य एक मशीन के रूप में** – राज्य एक मशीन के रूप में राज्य को उदावादियों ने मान निर्मित क्षेत्र की संज्ञा दी है। वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणाम स्वरूप सामाजिक संस्थाओं की तुलना यंत्रों के समान की जाने लगी। हॉब्स ने समाज तथा राज्य को यंत्र माना है और उन्होंने कहा कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है जो मानव निर्मित है। राज्य की मशीनीकृत धारणां के अनुसार राज्य को ऐसी मशीन बताया है जिसका कार्य व्यक्ति के जीवन में आने वाली बाधाओं को दूर कर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करना है। राज्य का निर्माण व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता है। राज्य मनुष्य के लिए आवश्यक है क्योंकि यह व्यक्ति को सुरक्षा शांति और व्यवस्था प्रदान करता है। राज्य व्यक्ति के लिए बना हुआ है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। लॉक के अनुसार राज्य एक मशीन है जिसका निर्माण और संचालन हम अपने कल्याण के लिए कहते हैं। लॉक ने राज्य को व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों, जिनमें स्वतंत्रता जीवन तथा संपत्ति के अधिकारों को लेता है, का संरक्षक माना है। उदारवादी विचारक राज्य के कार्यों को सीमित करना चाहते हैं तथा व्यक्ति को ज्यादा से ज्यादा

स्वतंत्रता के पक्षधर है, लेकिन वे व्यक्ति की आत्मरक्षा के लिए राज्य को आवश्यक मानते हैं।

3. **कल्याणकारी राज्य** – कल्याणकारी राज्य की शुरूआत 20वीं शताब्दी के आरम्भ से मानी जाती है। इससे पहले राज्य एक पुलिस राज्य की भूमिका ही निभाते है। पुलिस राज्य व्यक्ति को सिर्फ आत्मरक्षा ही उपलब्ध कराते थे। उनको लोक कल्याणकारी कार्यों से कोई मतलब नहीं होता था। आधुनिक राजनीति विचारकों में लॉस्की का महत्वपूर्ण योगदान है जिसनें पुलिस राज्य की भूमिका से राज्य को लोक कल्याणकारी की तरफ ले गये। इग्लैण्ड में प्रधानमंत्री लायर्ड जार्ज के कार्यकलाप से लोक कल्याण राज्य के विकास की शुरूआत हुई। लोक कल्याणकारी राज्य की परिभाषा देते हुए राजनीति विज्ञान के विद्वान डब्ल्यू केंट ने कहा कि ''कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए दूरगामी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है''।

लोक कल्याणकारी राज्य का सम्बन्ध सार्वजनिक कल्याण से होता है। यह विचारधारा राज्य को समाज का सवेक, सामान्य हित का साधक और अधिक से अधिक मांगों की पूर्ति करने वाली संस्था मानती है। व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति लोक कल्याणकारी राज्य द्वारा उपलब्ध करायी जाती है। यह राज्य को सेवा का माध्यम मानती है। भारत एक लोक कल्याणकारी राज्य की भूमिका निभा रहा है। मूल अधिकारों तथा नीति निदेशक तत्वों की व्यवस्था भारतीय संविधान में स्थापित कर देश में गरीबी मिटाना, समानता लाना, वृद्धों का कल्याण करना स्वास्थ्य तथा प्रसूति सेवाएं उपलब्ध कराना, चौदह वर्ष के बच्चों के लिए निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराना, लोगों को राजगार उपलब्ध कराना विशेषतौर से मनरेगा के द्वारा लोगों का जीवन स्तर उंचा उठाना, असमर्थ व्यक्तियों को आर्थिक सहायता उपलब्ध कराना आदि योजनाएं लोककल्याण राज्य की तरपफ बढ़ता हुआ कदम माना जाता है। इन उद्देदश्यों को प्राप्त करने के लिए पंचवर्षीय योजनाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

4.3.4 राज्य की प्रकृति का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

मार्क्सवादी दृष्टिकोण राज्य को प्राकृतिक संस्था न मानकर उसको मानव निर्मित मानते है। उनका कहना है कि राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का उत्पीड़न करने की संगठित शक्ति मात्र है। मार्क्स कहता है कि समाज में जिस वर्ग के पास उत्पादन के साधनों एवं आर्थिक शक्तियों पर नियंत्रण होता है उस आर्थिक शक्तिशाली वर्ग के हाथों में राज्य एक शोषण का हथियार है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य शोषक वर्ग तथा पूंजीपतियों के हितों का संरक्षक होता है तथा मजदूर वर्ग का शोषण करने वाली संस्था है। मजदूर वर्ग को इस संस्था से मुक्ति पाने का एक ही रास्ता बचा है कि वे पूंजीपतियों से संघर्ष करके उनका अंत करके राजनीति सत्ता पर नियंत्रण स्थापित कर एक समाजवादी राज्य कायम कर दें। लेनिन ने अपनी पुस्तक The State and Revolution में राज्य को एक वर्ग उपकरण मानते हुए कहा है कि यह दूसरे वर्ग पर अत्याचार करता है। लेनिन के अनुसार ''राज्य एक ऐसा यंत्र है जो एक वर्ग को पराधीन और आज्ञाकारी बनाने के लिए निर्मित किया गया है।'' मार्क्सवाद राज्य को वर्ग संघर्ष का परिणाम मानता है। मार्क्स का उद्देश्य साम्यवादी राज्य स्थापित करना है। साम्यवादी राज्य में न वर्ग होगा तथा न राज्य होगा अर्थात् वर्गहीन राज्यहीन समाज की स्थापना करके राज्य के इस वर्गीय शोषणकारी संस्था से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

TESL-024

4.3.5 राज्य की प्रकृति का अराजकतावादी दृष्टिकोण

अराजकतावादी विचारधारा राज्य अथवा शासन का अन्त करना चाहती है। वे राज्य को एक अनावश्यक संस्था मानते हैं। वे राज्य को शक्ति आधारित शोषणकारी संस्था मानते हैं। प्रुघों ने अपने अराजकतावादी विचारों का प्रतिपादित करते हुए कहा कि राज्य के अस्तित्व मात्र से ही व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होता है। राज्य के माध्यम से एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति पर शासन किया जाता है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन करता है। अतः किसी भी रूप में मनुष्य के द्वारा शासन अत्याचार है। अतः इस कारण से अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक बुराई मानते हैं। प्रसिद्ध अराजकतावादी विचारक क्रोपोटिन ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि राज्य कोई नैसर्गिक अथवा आवश्यक संस्था नहीं है। यह मनुष्य में जो सहयोग तथा सहकारिता की भावना पायी जाती है उसको नष्ट करता है। उन्होंने कहा कि राज्य एक अयोग्य संस्था है जो मानवीय जीवन के लिए किसी भी प्रकार का रचनात्मक योगदान देने में यह असमर्थ है।

अराजकतावादी विचारकों की मान्यता है कि राज्य का जन्म निजी सम्पत्ति के हितों की रक्षा के लिए हुआ है तथा राज्य हमेशा सम्पत्तिशाली वर्गों के हितों की रक्षा करता है। अतः राज्य समाज में असमानताओं को जन्म देता है। अराजकतावादी विचारक बाकुनिन राज्य को निरंकुश संस्था मानता है। राज्य के द्वारा जो कानून बनाये जाते हैं वे मनमाने पूर्ण तथा निरंकुश ढंग से जनता पर लागु कर दिये जाते हैं। बाकुनिन का कथन है ''चर्च अधिक समय तक स्वंय को चर्च नहीं कहता वह स्वंय को पाठशाला करने लगता है। राज्य भी शीघ्र अपने आपको गणराज्य कहने लगता है किन्तु वह आधिपत्य का प्रतीक ही रहता है।''

अराजकतावादी विचारक लिये टॉलस्टाय ने राज्य को हिंसा तथा दमन पर आधारित संस्था माना है जो अपनी आज्ञाओं का पालन सेना अथवा पुलिस के द्वारा कराता है। उन्होंने यह भी कहा कि राज्य अत्याचारियों तथा लुटेरों का शासन है। टॉलस्टाय ने कहा कि व्यक्ति को राज्य के साथ असहयोग करना चाहिए। राज्य को कर न देना, जूरी का कार्य न करना, सैनिक कार्यों को न करना आदि कई असहयोग के उदाहरण बताये हैं। निष्कर्ष तौर पर कह सकते हैं कि अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक मानते हुए वर्गहीन राज्यहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं और राज्य का अन्त हिंसा के द्वारा ही चाहते हैं। उनका कहना है कि राज्य हिंसा पर आधारित शासन व्यवस्था है अतः उसका अन्त हिंसा के द्वारा ही किया जा सकता है।

4.3.6 राज्य की प्रकृति का सर्वाधिकारवादी दृष्टिकोण

सर्वाधिकार ऐसी शासन व्यवस्था है जो व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर राज्य की सर्वोच्चता का दावा करती है। यह मनुष्य के जीवन को राज्य की धरोहर मानती है तथा मनुष्य के जीवन का उपयोग राज्य के हित में करने में विश्वास करती है। सर्वाधिकारवादी राज्य को ही सब कुछ मानते हुए कहते हैं कि वह सर्वशक्तिमान है। वह कोई गलती नहीं कर सकता है। सुसोलिनी ने कहा था कि ''राज्य के भीतर सब कुछ राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरूद्ध कुछ भी नहीं''। सर्वाधिकारवादी राज्य की पूजा करना सिखाते हैं जैसा कि हिटलर ने जर्मनी के लोगों को तथा मुसोलिनी ने इटली के लोगों को राज्य की पूजा करने का पाठ पढ़ाया। ये कहते हैं कि व्यक्ति के जीवन पर उसका स्वंय अधिकार नहीं है। उस पर केवल राज्य का ही अधिकार है। सर्वाधिकारवादी राज्य में बुद्धि तथा विवेक को कोई महत्व नहीं दिया जाता। मुसोलिनी एवं हिटलर द्वारा इटली तथा

जर्मनी में जिस राज्य का सिद्धान्त विकसित किया वह बुद्धि तथा विवेक विरोधी था।

सर्वाधिकारवादी राज्य की प्रकृति तानाशाही होती है। इस व्यवस्था में एक व्यक्ति तथा एक पार्टी के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता होती है जो तानाशाही स्वरूप लिए होती है। जर्मनी में हिटलर की सत्ता तथा इटली में मुसोलिनी की सत्ता एक व्यक्ति आधारित तानाशाही का उदाहरण है जबकि रूस में बॉल्शेविक पार्टी का शासन दल आधारित तानाशाही व्यवस्था है। सर्वाधिकारवादी राज्य में व्यक्ति की स्वतंत्रता को कोई महत्व नहीं दिया जाता। वहां विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नाम मात्र की होती है। सर्वाधिकारवाद उदारतावाद तथा मानवतावाद में विश्वास नहीं करता है। यह लोकतंत्र को स्वीकार नहीं करता है और कहता है कि लोकतंत्र एक सड़ी हुई लाश है।

4.4 राज्य का उद्भव

राज्य का अस्तित्व मानव चेतना के साथ ही दिखायी देता है। राज्य के उदभव के बारे में हमें विचार प्राचीन काल से ही प्रारम्भ करना पड़ेगा। प्लेटो ने नगर राज्य की बात की थी। ये नगर राज्य नैतिकता युक्त मान्यता पर आधारित थे। अरस्तु ने माना है कि राज्य व्यक्ति का ही एक वृहद रूप है। उनका माना था कि व्यक्ति से परिवार बनता है, परिवार से समाज एवं समाज से राज्य का उद्भव होता है। मध्यकाल में राज्य को धर्मसत्ता के अधीन माना गया राज्य सत्ता एवं धर्म सत्ता का पृथक–पृथक अस्तित्व तो स्वीकार किया गया किन्तु धर्मसत्ता को सर्वोच्च स्थान दिया गया तथा राज्य–सत्ता को धर्म–सत्ता का अधीनस्थ स्वीकार किया गया। पुनर्जागरण के उपरान्त राजनीति को एक स्वतंत्र एवं निरपेक्ष रूप में स्वीकार किया गया। मैकियावेली एवं हॉब्स ने राज्य की संप्रभुता पर किसी भी प्रकार के नियंत्रण को अस्वीकार किया। यहाँ से राज्य एक निरपेक्ष रूप से हमारे सामने आया। कालान्तर में बेंथम ने कानूनी स्वरूप को महत्व प्रदान किया। राज्य के विकास में महत्वपूर्ण चरण राष्ट्र राज्यों के उद्भव का रहा है। यहाँ एक राज्य एक राष्ट्र की धारणा को प्रमुखता दी गयी। इस क्रम में 20वीं सदी उल्लेखनीय है, जिसमें उदारवादी राज्य के साथ–साथ लोककल्याणकारी राज्य पर जोर दिया जाने लगा है।

4.5 निष्कर्ष

राजनीति विज्ञान में राज्य एक महत्वपूर्ण विषय वस्तु है। किसी भी समाज की कल्पना राज्य के बिना नहीं की जा सकती है। ऐतिहासिक रूप से राज्य के बारे में भिन्न–भिन्न मत रहे हैं, किन्तु राज्य के चार अंगों के बारे में एक मतता पायी जाती है। जनसंख्या भू–भाग सरकार एवं संप्रभुता राज्य के अंग हैं। इनके बिना राज्य नहीं हो सकता है। राज्य के स्वरूप के बारे में विभिन्न मत पाये जाते हैं जिससे राज्य की प्रकृति का निर्धारण होता है। उदारवादी दृष्टिकोण में राज्य को कम से कम अधिकार देने की बात की जाती है। अराजकतावादी पूरी तरह से राज्य के अंत की वकालत करते हैं, जबकि समाजवादी एवं लोककल्याणकारी धारणा के अन्तर्गत राज्य को अधिक से अधिक कार्य प्रदान करने का मंतव्य प्रकट करते हैं। मार्क्सवादी एक राज्य एवं वर्ग विहीन समाज की कल्पना करते हैं। राज्य की प्रकृति के अनुरूप ही राज्य से कार्य करने की अपेक्षा की जाती है। राज्य के

TESLA-024

स्वरूप पर ही निर्भर करता है कि वह मानव जीवन को किस सीमा तक प्रभावित करेगा।

4.6 अभ्यास प्रश्न

1. राज्य से आप क्या समझते हैं
2. राज्य के विभिन्न तत्वों की विवेचना कीजिए।
3. राज्य की प्रकृति का मूल्यांकन कीजिए।
4. राज्य के उदारवादी स्वरूप की विवेचना कीजिए।
5. राज्य के मार्क्सवादी स्वरूप की विवेचना कीजिए।

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कुथवर्थ, हाल एण्ड मेकगोबर्नः दि माडर्न स्टेट, इनडबर्ग यूनिवर्सिटी प्रेस, इनडबर्ग, 2007
2. हेल्ड, डी : ''ला ऑफ स्टेट्स'' लिगल थ्योरी, बी.1,2002
3. शोल्टे,जे.ए,: ''ग्लोबल कैपिटलिज्म एण्ड दि स्टेट'' इनटरनेशनल अफेयर्स, 73.3, 1997
4. पोग्गी, जीः दि डवलपमेंट ऑफ दि माडर्न स्टेट, लन्दन, 1978

इकाई–5

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त

5.3 राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त

5.4 राज्य की उत्पत्ति का पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

5.4.1 पितृसत्तात्मक सिद्धान्त

5.4.2 मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

5.5 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

5.5.1 हॉब्स का समझौता सिद्धान्त

5.5.2 लॉक का समझौता सिद्धान्त

5.5.3 रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

5.5.4 रूसो का सामान्य इच्छा सिद्धान्त

5.6 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

5.7 राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 उपयोगी पुस्तकें

5.11 सम्बन्धित प्रश्न

5.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

राजनीति विज्ञान का अध्ययन विषय राज्य से सम्बन्धित है। इस इकाई का अध्ययन करके आप–

- राज्य की उत्पत्ति के विषय में विविध विचारों को जान सकेंगे।
- आप जान सकेंगे कि परिस्थितियों एवं काल के अनुरूप राज्य की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न सिद्धान्त सामने आये और समयातीत हो गये।

- राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित दैवी उत्पत्ति, शक्ति सिद्धान्त, मातृसत्तात्मक–पितृसत्तात्मक, सामाजिक समझौता सिद्धान्त एवं ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धान्त को समझ सकेंगे।
- राज्य के विषय में मार्क्सवादी तर्क को समझ सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और राजनीतिक विचारकों के मध्य यह सर्वाधिक विवादित एवं चर्चित विषय है कि राज्य की उत्पत्ति कैसे हुई राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न के समाधान हेतु कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में राजनीतिक विचारकों ने अपने–अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित हो राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों की कल्पना की। इन विभिन्न सिद्धान्तों में से कोई भी सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति पर पर्याप्त एवं तर्कसंगत प्रकाश नहीं डालता और सभी सिद्धान्तों में कुछ न कुछ त्रुटियाँ हैं परन्तु इन सिद्धान्तों में वर्णित सभी कारकों ने किसी न किसी रूप में राज्य की उत्पत्ति व विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है और राज्य एक राजनीतिक संस्था के रूप में अवतरित हुआ। राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त, शक्ति सिद्धान्त, मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक सिद्धान्त एवं सामाजिक समझौता सिद्धान्त विचारकों की कल्पना का परिणाम है। इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त है जो कल्पना पर आधारित होते हुए भी अन्य सिद्धान्तों की तुलना में इसमें सत्य के अंश अधिक हैं। इस इकाई में हम राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित इन विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

5.2 राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों में दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त सर्वाधिक प्राचीन है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का निर्माण मनुष्यों द्वारा नहीं वरन् ईश्वर द्वारा हुआ है। इसलिए राज्य एक ईश्वरीकृत संस्था है। ईश्वर ने अपने सर्वोच्च निर्णय द्वारा निर्धारित किया कि मनुष्यों को एक राजनीतिक संगठन में रहना चाहिए जिसे राज्य कहा गया और इसीलिए उसने अपने प्रतिनिधि के रूप में पृथ्वी पर राज्य संचालन हेतु राजा को भेजा। राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के निम्न निहितार्थ थे–

1. राजा शासन करने की सत्ता जनता से नहीं वरन् सीधे ईश्वर से प्राप्त करता है।
2. राजा की शक्तियाँ असीमित हैं। राजा के कार्य न्यायी हैं अथवा अन्यायी यह निर्णय करने का अधिकार केवल ईश्वर को है, जनता को नहीं।
3. राजा की आज्ञापालन हेतु जनता बाध्य है। राजा की आज्ञा का उल्लंघन का अर्थ है स्वयं ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करना।
4. राजा को बदलने का जनता को काई अधिकार नहीं है क्योंकि राजा ईश्वर द्वारा नियुक्ति है, जनता द्वारा नहीं।

5. ईश्वर के प्रतिनिधि राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना न केवल अपराध वरन् पाप है। अपने ऐसे अपराध के लिए पृथ्वी पर मनुष्य राजा द्वारा और पाप के लिए ईश्वर द्वारा दण्डित होंगे।

6. राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है। अतः उसके द्वारा निर्मित कानूनों को दैवीय संस्तुति प्राप्त है। राजा का आदेश कूानन है और उसके प्रत्येक कार्य सही है। काई भी कानून व कार्य अत्याचारी, अन्यायी या दमनकारी नहीं हो सकता।

7. राजा का पद पैतृक है। राज्य में ईश्वर का अंश है और इसलिए राजा की मृत्यु के बाद वह अंश उसके पुत्र को प्राप्त होता है अतः अन्य काई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता।

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को विभिन्न धार्मिक पुस्तकों में समर्थन प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए भारतीय ग्रन्थ मनुस्मृति में कहा गया है कि राजाओं की उत्पत्ति देवताओं के अंश से हुई। महाभारत में कहा गया है कि जब संसार में अराजकता छा गयी तो लोगों ने ईश्वर से प्रार्थना की 'हे भगवान! बिना शासक के हम नष्ट हो रहे हैं। हमें एक ऐसा शासक प्रदान कीजिए जो हमारी रक्षा कर सके, और हम उसकी पूजा करेगें।' ईश्वर ने मनु को शासन करने हेतु नियुक्त किया। ईसाई विचारकों की रचनाओं में राज्य की उत्पत्ति के देवी सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सन्त पॉल के अनुसार 'प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन रहना चाहिए क्योंकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं है। जितनी भी शक्तियाँ हैं उन सबकी स्थापना ईश्वर ने की है जो कोई शक्ति का प्रतिरोध करता है वह ईश्वर की आज्ञा का प्रतिरोध करता है और जो प्रतिरोध करते हैं उन्हें अनन्त काल तक नरक की यातनाएं भोगनी पड़ती हैं।' यहूदियों के धर्मग्रन्थ ओल्ड टेस्टामेंट में भी इस सिद्धान्त का समर्थन प्राप्त होता है। प्राचीन मिस्र में राजा को सूर्य पुत्र चीन में सम्राट को स्वर्ग–पुत्र और जापान में राजा को सूर्य देव का पुत्र समझा जाता है।

इंग्लैण्ड में स्टुअर्ट राजाओं और उनके समर्थकों ने देवी उत्पत्ति सिद्धान्त के आधार पर निरंकुश राजतंत्र का समर्थन किया। सर राबर्ट फिलमर ने अपनी पुस्तक पैट्रिआर्का' में इस सिद्धान्त का समर्थन किया। स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम का कहना था कि 'राजा पृथ्वी पर ईश्वर की साँस लेती हुई मूर्तियाँ हैं। स्टुअर्ट राजाओं और उनके समर्थकों का तर्क था कि राजा के बिना समाज का बना रहना सम्भव नहीं है। जनता राजा के बिना सिरविहीन भीड़ के समान है। वे कानून नहीं बना सकती । राजा ईश्वर द्वारा नियुक्त है और कानूनों का रचयिता है। राजा अपने कार्यों तथा निर्मित कानूनों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। चार्ल्स प्रथम ने भी इस सिद्धान्त के आधार पर शासन करने का प्रयास किया और कालान्तर में इंग्लैण्ड की संसद द्वारा उसे चुनौती दी गयी और अन्ततः चार्ल्स प्रथम को मृत्यु दण्ड दिया गया और इंग्लैण्ड में 18 वर्षों तक गणतंत्र बना रहा। वर्तमान में इंग्लैण्ड में लोकतंत्र है और राजा मात्र संवैधानिक प्रधान है। फ्रान्स में लुई चौदहवें ने भी राजा के दैवी अधिकारों को समर्थन दिया और फ्रान्स की क्रान्ति के साथ राजा के दैवीय अधिकारों की समाप्ति हुई। मध्ययुगीन राजनीतिक चिन्तन में इस सिद्धान्त के अनुरूप यह माना गया कि प्रजाजन को विनम्र भाव से राजाओं के आदेशों का पालन करना चाहिए। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्यों को उनके कार्यों के अनुरूप अच्छे या बुरे राजा की प्राप्त होती है। संत आगस्टाइन, पोप ग्रेगरी सप्तम, संत टॉमस एक्वीनास और जॉन ऑफ सेलिसबरी इस दृष्टिकोण के समर्थक विचारक हैं।

TESLA-024

इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त काफी समय तक लोकप्रिय रहा परन्तु कालान्तर में विभिन्न कारणों से इसका पतन प्रारम्भ हो गया जो संक्षेप में निम्नानुसार हैं :–

1. राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त के विकास ने दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त को आघात पहुँचाया। सामाजिक समझौता सिद्धान्त ने राज्य को मनुष्यकृत अर्थात मनुष्यों द्वारा समझौते का परिणाम बताया।
2. राज्य से चर्च (धर्म) का अलग होना भी दैवी सिद्धान्त के पतन का एक कारण था।
3. 19वीं शताब्दी में विकसित राज्य के विकासवादी सिद्धान्त भी इसके पतन के लिए उत्तरदायी हैं।
4. लोकतांत्रिक विचारों के उदय ने भी दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त का पतन किया।

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त की विभिन्न आधारों पर आलोचना की गई है जो निम्नानुसार हैं–

1. राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त विवेक व तर्क के स्थान पर आस्था और विश्वास को महत्व देता है जो कि राज्य जैसी राजनीतिक संस्था हेतु उचित नहीं है।
2. दैवी सिद्धान्त का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।
3. आधुनिक समय में जब जनता की आवाज, ईश्वर की आवाज मानी जाती है, दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। राज्य एक मनुष्यकृत संस्था है, जो मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति, सुरक्षित एवं निश्चित वातावरण हेतु बनाया गया है और इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु अस्तित्व में बना हुआ है।
4. दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य इसलिए भी नहीं हैं क्योंकि इसके अनुसार राजा केवल ईश्वर कि प्रति उत्तरदायी है, जनता के प्रति नहीं। यह निरंकुशता को बढ़ावा देता है।
5. यह सिद्धान्त शासक के वंशानुगत सिद्धान्त का समर्थन करता है जबकि आधुनिक समय में प्रत्येक शासक व सरकार को किसी न किसी रूप में जनता की स्वीकृति व सहमति लेनी पड़ती है।
6. यह सिद्धान्त जनता के अधिकारों को मान्यता नहीं देता और जनता अत्याचारी व अन्यायी शासक को हटा नहीं सकती। यह लोकतांत्रिक सिद्धान्तों के विपरीत है।
7. नास्तिक लोगों के लिए इस सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं है।

उपर्युक्त आलोचनाओं एवं कारणों से आधुनिक समय में दैवी सिद्धान्त का पतन हो गया। दैवी सिद्धान्त का महत्व केवल इस तथ्य में निहित है कि प्राचीन काल में व्यक्ति को अनुशासित करने तथा कानूनों के प्रति आज्ञाकारी बनाने में धर्म का महत्वपूर्ण योगदान था। उन दिनों में केवल ईश्वर का भय ही था जिसने जनता को राजा के प्रति सम्मान रखना सिखाया। जिस काल में मनुष्य अर्द्ध–सभ्य अवस्था में था उस समय दैवी सिद्धान्त ने उसके हृदय में शासन के प्रति श्रद्धा

उत्पन्न की और अराजकता तथा अव्यवस्था को नियंत्रित रखने में अमूल्य सहायता दी।

5.3 राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त व्यक्ति के स्वभाव सम्बन्धी दो धारणाओं पर आधारित है–प्रथम सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि मनुष्य में सामाजिक प्रवृत्ति होने के उपरान्त भी झगड़ालू स्वभाव होता है। द्वितीय वे यह मानते हैं कि मनुष्य में शक्ति की लालसा रहती है। अब जब 'सभी व्यक्ति झगड़ालू हैं और सभी दूसरों पर आधिपत्य करना चाहते हैं अतः यह स्वाभाविक है कि वह व्यक्ति जो अन्य लोगों की तुलना में अधिक शक्तिशाली है, वह समूह पर आधिपत्य करने में सक्षम होगा। प्राचीन काल में जब राज्य नहीं था, यही घटित हुआ। शक्तिशाली व्यक्ति ने अपनी शारीरिक शक्ति के प्रभाव से अपने चारों तरफ व्यक्तियों का एक समूह बना लिया जो उसके आदेशों का पालन करने हेतु भयभीत व बाध्य थे। शक्तिशाली व्यक्ति अपने शक्ति के प्रयोग और अपने अनुयायियों के समर्थन से अन्य कमजोर व्यक्तियों पर आधिपत्य कर अपने समूह का दायरा बढ़ाता गया। यह प्रक्रिया तब तक चलती रही जब तक समूह बड़ा नहीं हो गया और एक बड़े निश्चित भू भाग पर आधिपत्य नहीं हो गया। समूह निर्माण की इस प्रक्रिया का मुख्य नेता समूह का मुखिया बन गया और कालान्तर में स्वयं को राजा घोषित कर दिया। इस प्रकार राज्य के उदय में शक्ति ने प्रमुख भूमिका निभाई। राजा अपनी शक्ति के कारण ही राजा था। उसने यह शक्ति न तो ईश्वर से और न ही अपनी प्रजा से प्राप्त की थी। मात्र शक्ति के आधार पर उसने आधिपत्य स्थापित किया और समूह का निर्माण किया। शक्ति के ही कारण उसके द्वारा समूह का विस्तार किया गया और पूर्ण साम्राज्य स्थापित हुआ। अन्य समूहों के विरूद्ध वह निरन्तर युद्ध करता रहता था। साम्राज्य निर्माण के पश्चात् भी आन्तरिक शान्ति, विरोध का दमन करने और वाह्य आक्रमणों से रक्षा हेतु वह शक्ति पर ही निर्भर करता है।

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त के अनुसार :–

1. शक्ति ही सत्य है अर्थात् बलवान की ही सदा विजय होती है। दुर्बल व्यक्तियों पर सबल व्यक्तियों का ही नियंत्रण होता है।
2. राज्य बलवानों द्वारा निर्बलों पर अधिकार तथा प्रभुत्व का परिणाम है। लोगों को जो अधिकार प्राप्त हैं वे बलवानों की इच्छा पर निर्भर करते हैं और बलवान जब चाहें उन अधिकारों को छीन सकता है।
3. निर्बल लोग निरंतर डर के साये में जीवित रहते हैं।
4. इस प्रकार के राज्य में लोकतंत्र संभव नहीं है क्योंकि लोकतंत्र में जनता का बहुमत प्रभावी होता है जबकि इस प्रकार के राज्य में बलवान व्यक्ति की इच्छा ही प्रभावी होती है।
5. इस प्रकार गठित राज्य बाध्यकारी/दमनकारी होता है।

राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त नवीन नहीं है। विभिन्न विचारकों ने अपने दृष्टिकोण को सत्य सिद्ध करने हेतु इस सिद्धान्त का समर्थन किया। मध्यकाल में चर्च समर्थकों ने राज्य की तुलना में चर्च की श्रेष्ठता स्थपित करने हेतु इस सिद्धान्त का समर्थन किया। सिद्धान्त का मूल है कि युद्ध ने राजा को जन्म दिया है। आधुनिक युग में ह्यूम, जैक्स और मैकियावली इस सिद्धान्त के समर्थक

TESLA-024

माने जाते हैं। ह्यूम के अनुसार सम्भवतः युद्ध के दौरान एक व्यक्ति का बहुत से लोगों पर आधिपत्य प्रारम्भ हुआ, क्योंकि युद्ध में साहस और प्रतिभा की उच्चता का स्पष्ट रूप से पता चल जाता है, एकता तथा सहयोग की सबसे अधिक आवश्यकता पड़ती है और अव्यवस्था के घातक परिणामों का अनुभव बहुत तीव्र होता है। जैंक्स ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ पालिटिक्स' में लिखा है 'ऐतिहासिक रूप से यह सिद्ध करने में तनिक भी कठिनाई नहीं है कि आधुनिक राजनीतिक समाजों का मूल सफल युद्ध में हैं। शक्ति सिद्धान्त के एक अन्य समर्थक लीकॉक का मानना है कि राज्य का जन्म एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य को गुलाम बनाने तथा एक निर्बल कबीले पर एक शक्तिशाली कबीले की विजय से हुआ। साधारणतया श्रेष्ठ सैनिक शक्ति द्वारा दूसरों पर अधिकार जमाने से राज्य का उदय हुआ। इसी कारण कबीले से राज्य और राज्य से साम्राज्य का शनैः शनैः विकास हुआ। जर्मन विचारक ट्रीटस्के एवं नीत्शे तथा अधिनायक हिटलर ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। ट्रीटस्के ने 'राज्य आक्रमण करने और रक्षा करने की जनशक्ति है, जिसका पहला काम युद्ध करना और न्याय का शासन करना है' कथन द्वारा शक्ति सिद्धान्त का समर्थन किया। हिटलर ने पुरूषों के जीवन में युद्ध को विशेष महत्व देते हुए शक्ति सिद्धान्त का समर्थन किया। मुसोलिनी व हिटलर ने शक्ति के अत्यधिक प्रयोग को राज्य की गरिमा, संस्कृति, प्रभाव और व्यवसायिक सर्वोच्चता स्थापित करने हेतु अनिवार्य बताया। उनकी इसी विचारधारा के कारण द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ। अमेरिकी विद्वान वार्ड एवं स्माल ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। ओपेनहाइमर ने अपनी कृति 'दि स्टेट' में शक्ति सिद्धान्त का पूर्ण, सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं विकसित रूप में वर्णन किया है। ओपेनहाइमर के अनुसार राज्य वह संगठन है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्गों के ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। यह संगठन केवल एक ही तरीके से होता है, खासकर जबकि सबल समूह, निर्बल समूहों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने अधीन कर लेता है।

आलोचना

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि प्रत्येक राज्य को वाह्य आक्रमणों से रक्षा तथा आन्तरिक शान्ति व सौहार्द्र बनाये रखने के लिए शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। इसी उद्देश्य से राज्य में सैन्य एवं पुलिस बल का गठन होता है। यह भी सर्वमान्य तथ्य है कि राज्य के विकास में शक्ति ने किसी न किसी रूप में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। भविष्य में राज्य शक्ति का कभी भी प्रयोग नहीं करेगा ऐसी कल्पना करना भी अनुचित है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि शक्ति ही केवल राज्य का आधार है। राज्य का आधार जनता की इच्छा व सहमति है और हमेशा होनी भी चाहिए।

आधुनिक युग में राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त के अस्वीकार किये जाने के अनेक कारण हैं–

1. शक्ति पर आधारित राज्य का आधार बहुत कमजोर है जबकि जनता की इच्छा व सहमति पर आधारित राज्य स्थिर व स्थायी होते हैं। केवल शक्ति पर आधारित राज्य को कभी न कभी जनविद्रोह का सामना करना पड़ता है, उदाहरणार्थ फ्रान्स में लुईस 14वें के विरूद्ध क्रान्ति उसके द्वारा अत्यधिक शक्ति प्रयोग के कारण हुई थी।
2. यह सिद्धान्त स्वीकार्य इसलिए भी नहीं है क्योंकि यह शक्ति ही सत्य है, सिद्धान्त पर आधारित है। यह सिद्धान्त निर्बल के अधिकारों की पूर्ण उपेक्षा

करता है। आधुनिक समय में यह माना जाता है कि राज्य द्वारा सबल व निर्बल दोनों की रक्षा की जानी चाहिए। वास्तव में निर्बलों को राज्य द्वारा अधिक संरक्षण की आवश्यकता होती है।

3. यह सिद्धान्त स्वीकार्य इसलिए भी नहीं है क्योंकि यह विश्व शान्ति व सुरक्षा को आघात पहुँचाता है।

4. यह सिद्धान्त अस्पष्ट है, व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन दण्ड के भय से करता है, अस्वीकार्य है। यह लोकतंत्रीय सिद्धान्त के विपरीत है। जैसा कि ग्रीन ने कहा है कि राज्य शक्ति नहीं वरन् इच्छा का परिणाम है।

उपरोक्त आलोचनाओं के उपरान्त भी यह तो कहा ही जा सकता है कि शक्ति सिद्धान्त का महत्व इस दृष्टि से है कि आज भी राज्य में शक्ति एक महत्वपूर्ण तत्व या कारक है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वाधीनता बनाये रखने तथा आन्तरिक स्तर पर शान्ति व व्यवस्था हेतु शक्ति अनिवार्य है। सम्प्रभुता की कल्पना शक्ति बिना नहीं की जा सकती, हाँ केवल शक्ति को ही राज्य का आधार मानना उचित नहीं है।

5.4 राज्य की उत्पत्ति का पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक दोनों ही सिद्धान्त राज्य के विकास की मूल इकाई परिवार को मानते हैं अर्थात् राज्य परिवार का ही विकसित रूप है। राज्य के मूलभूत लक्षण परिवार में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं मैकाइवर ने कहा है कि 'परिवार का जन्म जिन आवश्यकताओं के कारण हुआ होगा, लगभग उन्हीं आवश्यकताओं के कारण नियमों की भी सृष्टि हुई।' इस प्रकार प्रारम्भिक परिवार ही सरकार का आदि रूप था पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धान्त के समर्थकों के बीच अन्तर उनके प्राचीन समय में परिवार के स्वरूप के विषय में अन्तर के कारण है। पितृसत्तामक सिद्धान्त के समर्थक विश्वास करते हैं कि प्राचीन काल में परिवार का मुखिया पुरूष अर्थात् पिता होता था। दूसरी तरफ मातृसत्तात्मक सिद्धान्त के समर्थक मानते हैं कि परिवार की मुखिया महिला अर्थात् माता होती थी। अब हम इन दोनों सिद्धान्तों का अलग–अलग अध्ययन करेंगे।

5.4.1 पितृसत्तात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के समर्थकों का विश्वास है कि राज्य परिवार का विस्तृत रूप है जिसमें एक पुरूष, उसकी पत्नी व बच्चे होते थे। उनके विचार में पिता परिवार का मुखिया होता था। और परिवार के सभी सदस्यों पर उसका पूर्ण नियंत्रण एवं अधिकार होता था। कालान्तर में मूल परिवार का विकास हुआ, बच्चों का विवाह हुआ और नये परिवारों की स्थापना हुई परन्तु मूल परिवार के पिता की सत्ता एवं अधिकार बने रहे और विस्तृत परिवारों का भी वह मुखिया बना रहा। वृद्ध पिता की आज्ञा ही अंतिम आज्ञा मानी जाती थी। ऐसे ही परिवारों के मिलने से कुल बने, कई कुलों के बनने से कबीले बने। कबीलें के कई सदस्य दूसरे भू क्षेत्रों में निवास करने लगे और नये कबीलों को जन्म दिया। इन सभी कुलों में रक्त सम्बन्ध के कारण एकता स्थापित हुई। दूसरे कबीलों के आक्रमण से सुरक्षा ने एक सत्ता की आवश्यकता को जन्म दिया जिसकी अधीनता में वे प्रभावी रूप से संगठित हो सके और प्रतिरक्षा एवं अन्य उद्देश्यों की पूर्ति कर सकें और इस प्रकार राज्य का उदय हुआ। इस विकास क्रम में पितृसत्ता की ही प्रधानता बनी रही। पितृसत्तात्मक

TESLA-024

राज्य के प्रमुख लक्षण

सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक सर हेनरीमेन के अनुसार परिवार ऐसा प्रारम्भिक समूह होता है जो सबसे बड़े पुरूष पूर्वज की सामान्य अधीनता के कारण संगठित रहता है। परिवारों के योग से कुलों का और कुलों के योग से जाति का निर्माण होता है। जातियों का योग राज्य का निर्माण करता है। यह कुल पिता ही समस्त अधिकारों एवं सम्पत्ति का स्वामी था। हेनरी मेन ने अपने सिद्धान्त में चार बिन्दुओं पर बल दिया है–

1. पितृसत्तात्मक परिवार का मुख्य तत्व पितृसत्ता थी और इसलिए वंशावली सदैव परिवार के पुरूष मुखिया से ही मानी जाती थी।
2. स्थायी विवाह सम्बन्ध का नियम प्रचलित थी।
3. परिवार के मुखिया को पूर्ण सत्ता प्राप्त था।
4. परिवार का मुखिया न केवल समूह के व्यापार को नियंत्रित करता था वरन् धर्म सहित अन्य गतिविधियों को भी नियंत्रित करता था।

पितृसत्तामक सिद्धान्त की मुख्य आलोचना उन विद्वानों द्वारा की गयी है जो यह मानते हैं कि प्राचीन काल में परिवार में माता की प्रधानता होती थी और वंशावली माता के नाम से ही चलती थी, पिता के नाम से नहीं। उनके अनुसार प्राचीन काल में विवाह स्थायी संस्था नहीं थी। ऐसा इसलिए कि प्राचीन काल में एक महिला के कई पति होते थे। उसके अनुसार पितृसत्तात्मक व्यवस्था बहुत बाद में आयी।

5.4.2 मातृसत्तात्मक सिद्धान्त

मातृसत्तात्मक सिद्धान्त के प्रमुख समर्थकों में मैक्लेनन, मॉर्गन और जैंक्स के नाम आते हैं। उनका मानना था कि प्राचीन काल में बहुपति प्रथा प्रचलित थी और ऐसी स्थिति में एक बच्चे के पिता को जानना दुष्कर कार्य था जबकि माता की पहचान सरलता से हो सकती थी। इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह भी कहना है कि परिवार में पिता–माता और बच्चे, यह स्वरूप प्राचीन काल में सभी समाजों में प्रचलित नहीं था। प्राचीन काल में माता के नाम पर वंशावली चलती थी, परिवार की मुखिया माता अर्थात् वरिष्ठ महिला होती थी और उत्तराधिकार भी महिला को ही प्राप्त था। पितृ प्रधान परिवार उस समय अस्तित्व में नहीं था। आज के समय में परिवार के जिस स्वरूप को हम देख रहे हैं वह तब अस्तित्व में आया जब मनुष्य ने खानाबदोश जीवन त्याग कर चरवाहे और कृषि कार्य प्रारम्भ किया और उसे स्थायी निवास व घर की आवश्यकता पड़ी। पुरूषों ने पशुपालन प्रारम्भ किया और इसी समय स्त्री व पुरूष में कार्य विभाजन भी हुआ। स्त्रियों ने हल्के और घरेलू कार्य करने प्रारम्भ किये और पुरूषों ने कठिन। इस प्रकार मातृप्रधान परिवार पितृप्रधान परिवार में परिवर्तित हो गया। मातृसत्तामक सिद्धान्त के समर्थकों ने राज्य के विकास का वही क्रम बताया है जो पितृसत्तात्मक सिद्धान्त के समर्थकों ने बताया था।

इस सिद्धान्त की मुख्य बातें निम्न हैं :

1. परिवार की मुखिया स्त्री होती थी पुरूष नहीं।
2. सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी स्त्री को ही प्राप्त था।
3. पारिवारिक सम्बन्ध स्त्रियों के नाम से चलते थे।

4. स्थायी वैवाहिक सम्बन्धों के अभाव के कारण वंशावली माता के नाम से ही चलती थी।

पितृसत्तात्मक सिद्धान्त की भाँति इस सिद्धान्त की भी कटु आलोचना की गयी है। सर्वप्रथम मातृसत्तात्मक व्यवस्था कुछ स्थानों पर मिलती है सभी जगह नहीं। अतः यह प्रमाणित करना कठिन है कि राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार के परिवार से हुई। परिवार को राज्य के विकास में एक सहायक तत्व माना जा सकता है, आधार नहीं। कुछ आलोचकों का कहना है कि स्त्री शारीरिक रूप से दुर्बल होने के कारण शारीरिक रूप से सबल पुरूषों पर अधिकार रखने में सक्षम नहीं हो सकती। कुछ विचारकों का मानना है कि न तो मातृसत्तात्मक और न ही पितृसत्तात्मक सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के समुचित कारणों पर प्रकाश डालने में सक्षम है। उनके अनुसार राज्य और परिवार भिन्न–भिन्न प्रकार की संस्थाएँ हैं और इनका संगठन, उद्देश्य और कार्य भी भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं। वे इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते कि राज्य केवल परिवार का ही विस्तृत रूप है।

5.5 राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्तों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न सामाजिक समझौता सिद्धान्त का विशेष महत्व है। 17वीं और 18वीं शताब्दी में प्रतिपादित इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक कृत्रिम अर्थात् मनुष्यकृत संस्था है जिसे मनुष्यों ने समझौते द्वारा उत्पन्न किया है। इस सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था जिसे प्राकृतिक अवस्था कहा गया, में मनुष्यों को कुछ असुविधाएं या समस्याएं उत्पन्न हुईं जिसे दूर करने हेतु मनुष्यों ने समझौता किया। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्राकृतिक विधियों के अनुसार संचालित होते थे। ये विधियाँ क्या थीं, प्राकृतिक अवस्था में समस्यायें क्या थीं, समझौते का स्वरूप क्या था इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं।

सामाजिक समझौता सिद्धान्त काफी प्राचीन हैं और इसकी जड़ें भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास में देखी जा सकती हैं। महाभारत के शान्ति पर्व और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इसका स्पष्ट वर्णन मिलता है। महाभारत में अत्याचारी राजा बेन की हत्या के पश्चात् उसके पुत्र को राजपद प्रदान करते हुए उसके द्वारा प्रजा के सामने ली गई शपथ और प्रजा द्वारा करों के रूप में या अन्य साधनों द्वारा राजा को सहायता प्रदान करने की प्रतिज्ञा लेना समझौता सिद्धान्त का ही उदाहरण माना जाता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मत्स्य न्याय और अराजक स्थिति से पीड़ित प्रजा द्वारा मनु को राजा चुनने और उसे कृषि उत्पाद का छठा भाग, व्यापार–वाणिज्य का दसवाँ भाग राज्य को सहायतार्थ देना समझौता सिद्धान्त को ही प्रदर्शित करता है। बौद्ध त्रिपिटक और जैन साहित्य में भी ऐसे ही उदाहरण मिलते हैं। पाश्चात्य जगत में ओल्ड टेस्टामेंट में इस सिद्धान्त के अंश मिलते हैं। प्राचीन यूनानी चिन्तन में एपीक्यूरियन और स्टोइक विचारकों के विचारों में इस सिद्धान्त का बीजारोपण दिखाई देता है। मध्ययुग में हालांकि दैवी सिद्धान्त ही स्थापित सिद्धान्त था परन्तु 11वीं शताब्दी में मेन गोल्ड ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त का समर्थन किया। एक्वीनास ने अप्रत्यक्ष रूप से इस सिद्धान्त का समर्थन किया।

आधुनिक युग में इस सिद्धान्त के अनेक समर्थक हुए परन्तु इस सिद्धान्त की अत्यधिक वैज्ञानिक ढंग से विवेचना 17वीं और 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन के हॉब्स एवं लॉक तथा फ्रांस के रूसो ने की। तीनों विचारकों में इस बात पर सहमति है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में था, इस अवस्था में कुछ

TESLA-024

समस्या उत्पन्न हुई तो व्यक्तियों ने समझौता कर राज्य का निर्माण किया परन्तु प्राकृतिक अवस्था, उसकी समस्याओं एवं समझौते के स्वरूप के विषय में तीनों में मतभेद है और उन्होंने भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न उद्देश्यों से इसकी व्याख्या की थी। हॉब्स ने अपने समझौता सिद्धान्त द्वारा निरंकुश या स्वेच्छाचारी राजतंत्र, लॉक ने वैधानिक या मर्यादित या सीमित राजतंत्र, और रूसो ने प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का समर्थन करने का प्रयास किया।

5.5.1 हॉब्स का समझौता सिद्धान्त

ब्रिटिश नागरिक हॉब्स (1588–1679) का जीवन काल राजनीतिक उथल–पुथल का काल था जिसका हॉब्स के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने इंग्लैण्ड का गृहयुद्ध (1642–1649) देखा, इंग्लैण्ड के राजा चार्ल्स प्रथम का मृत्यु दण्ड (1649) देखा और इसी पृष्ठभूमि से प्रभावित हो उसने 1651 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लेवियाथन' में राजाओं की निरंकुशता को उचित ठहराते हुए सामाजिक समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का बड़ा दयनीय चित्रण किया है। उसके अनुसार मूलतः मनुष्य बड़ा स्वार्थी प्राणी है और अपनी शक्ति बढ़ाने की असीमित इच्छा रखता है। उसके कार्य स्वहित से प्रेरित होते थे। मनुष्य व्यवहार को प्रेरित करने वाले दो तत्व हैं इच्छा और द्वेष। मनुष्य मूलरूप से स्वार्थी, लोभी, असामाजिक तथा हिंसक होता है। जिसमें दया, करूणा, सहयोग, निःस्वार्थ मित्रता एवं परोपकार के भावों का अभाव रहता है। मनुष्य स्वभाव के कारण ही हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था को निरन्तर युद्ध की अवस्था कहा। व्यक्ति एक दूसरे से भयभीत थे। मनुष्य का सम्पूर्ण आचरण आत्म संरक्षण की अभिलाषा से प्रेरित था। हॉब्स के अनुसार मनुष्य का जवीन 'एकाकी, दीनहीन, कुत्सित, पशुवत् और क्षणिक था।' प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को वह सब करने की प्राकृतिक स्वतंत्रता थी जिसे करने की उसमें क्षमता हो। यही प्राकृतिक स्वतंत्रता दूसरे व्यक्ति का प्राकृतिक अधिकार भी था।

प्राकृतिक अवस्था की कठिनाईयों, भय, संघर्ष, असुरक्षा को समाप्त करने के लिए लोगों ने समझौता किया। यह समझौता प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्रत्येक दूसरे व्यक्ति से किया गया। हॉब्स के अनुसार समझौता इस प्रकार था–''मैं अपने उन अधिकारों को, जिनके कारण मुझे अपनी इच्छानुसार चलने का अधिकार है, इस व्यक्ति या व्यक्ति समूह को इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी मेरी ही भाँति इसे समर्पित कर दो और मेरी ही भाँति इसके कार्यों को अधिकार पूर्ण मानो।' इस प्रकार हॉब्स के समझौते की निम्न विशेषताएँ थीं–

1. एक ही समझौते से समाज व शासन दोनों का जन्म होता है।इस समझौते में सम्प्रभु पक्षकार नहीं है अतः वह समझौते की शर्तों से बंधा भी नहीं है और संप्रभु, निरंकुश, सर्वसत्ताधारी तथा स्वेच्छाचारी है।
2. यह समझौता व्यक्तियों द्वारा इच्छानुसार भंग नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका आधार भय और जीवन की रक्षा है।
3. समझौते के फलस्वरूप व्यक्ति शक्ति तथा स्वतंत्रता को सदा के लिए पूर्णतया त्याग देते थे अतः राजा के अत्याचारी होने पर भी वे उसके विरूद्ध विद्रोह नहीं कर सकते थे। राजा का जघन्य कार्य भी अन्यायी नहीं हो सकता था।

इस प्रकार समझौते के फलस्वरूप जिस सम्प्रभु सत्ता का उदय होता है वह एक निश्चित मानवीय सत्ता है, अविभाज्य है, अदेय है, विधि का स्रोत है और प्राकृतिक विधि या दैवी विधि से सीमित नहीं है। चूंकि समझौता व्यक्ति ने जीवन रक्षा हेतु किया है अतः यदि उसके जीवन पर संकट आता है तभी व्यक्ति सम्प्रभु की आज्ञा की अवहेलना कर सकता है अन्यथा प्रत्येक अवस्था में सम्प्रभु की आज्ञा व्यक्तियों के लिए बाध्यकारी है।

हॉब्स के समझौता सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की गयी है :

1. मानव स्वभाव का चित्रण एकांगी है। मनुष्य में केवल बुराईयां नहीं होतीं।
2. हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था का इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता है।
3. राज्य का आधार केवल भय नहीं है और सम्प्रभु को असीमित और निरंकुश मानने के कारण लोकतंत्रीय विचारों के विपरीत है।
4. हॉब्स ने सरकार व राज्य में भेद नहीं किया है। समझौता दो पक्षों के बीच होता है जबकि शासक समझौते का पक्षकार नहीं है।
5. यह अतार्किक भी है क्योंकि प्राकृतिक अवस्था के असभ्य मनुष्यों को अचानक राज्य निर्माण का विचार आना उचित नहीं लगता।
6. समाज व राज्य में कोई भेद नहीं क्योंकि एक ही समझौते से समाज व राज्य दोनों का निर्माण हुआ।

आलोचनाओं के उपरान्त भी हॉब्स के सिद्धान्त का महत्व है, क्योंकि पहली बार राज्य को मानवीय संस्था माना गया। शांति स्थापना हेतु शक्तिशाली शासन को महत्व दिया गया। उसने वैधानिक सम्प्रभुता का प्रतिपादन किया जो आज भी स्वीकार्य है। इस सिद्धान्त ने इस दृष्टिकोण का विकास किया कि राजनीतिक संस्थाओं को समझने के लिए मानव स्वभाव को समझना भी आवश्यक है।

5.5.2 लॉक का समझौता सिद्धान्त–

समझौता सिद्धान्त का दूसरा प्रबल समर्थक इंग्लैण्ड में जन्मा (1632) जॉन लॉक था। अपने जीवन काल (1632–1704) में उसने इंग्लैण्ड में गृहयुद्ध और 1688 की रक्तहीन क्रान्ति को देखा। उसे 1688 की घटित रक्तहीन क्रान्ति का प्रतिपादक दार्शनिक कहा जाता है। हॉब्स जहाँ राजा का समर्थक था वहीं लॉक जनता का समर्थक था और उसने अपने समझौता सिद्धान्त द्वारा वैधानिक या सीमित राजतंत्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। संसद के समर्थक लॉक ने 1688 की रक्तहीन अथवा गौरवमयी क्रान्ति को औचित्यपूर्ण ठहराते हुए 1690 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ 'दि टू ट्रीटाइजेज ऑन सिविल गवर्नमेन्ट' में समझौता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और सरकार की प्रकृति की व्याख्या प्रस्तुत की।

लॉक ने मानव स्वभाव पर विचार करते हुए कहा है कि मानव जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्ति है और यह तभी होती है जब उसकी इच्छाओं की संतुष्टि होती है और यह सुख व्यक्ति का व्यक्तिगत सुख है। अतः मनुष्य स्वार्थी प्राणी है। प्रकृति द्वारा सभी मनुष्य को लॉक समान मानता है। लॉक के अनुसार मनुष्य बौद्धिक प्राणी है और इसी बौद्धिकता के कारण व्यक्ति नैतिक नियमों से बंधा हुआ है और उन्हें समझने की उसमें क्षमता भी है। इसलिए उसमें विवेक तत्व भी विद्यमान है। इस तरह मानव जीवन का विशिष्ट उद्देश्य है जो शांतिपूर्ण जीवन में

TESLA-024

ही संभव है। अतः मनुष्य एक शांतिप्रिय प्राणी है। लॉक के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में स्वामित्व की स्वाभाविक इच्छा होती है जो व्यक्ति के जीवन के उद्देश्य के लिए आवश्यक है जिससे सम्पत्ति के अधिकार का जन्म होता है। इस तरह सम्पत्ति मानव जीवन का आधार होता है। लॉक का मनुष्य हॉब्स के मनुष्य के विपरीत हिंसक नहीं है वरन् समाजप्रिय, सहयोगी, प्रेम व दया का पोषक है।

मानव स्वभाव के ऐसे चित्रण के आधार पर लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को शांति और पारस्परिक सहयोग की अवस्था कहा है। इस अवस्था में मनुष्य के संबंध इस भावना पर आधारित हैं कि वे एक दूसरे से स्वतंत्र प्राणी हैं और उनके अधिकार समाज हैं। अतः उन्हें एक दूसरे की सम्पत्ति व जीवन को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है अतः उसके जीवन को नियमन और संचालन एक बौद्धिक नियम से होता है जिसे वह प्राकृतिक विधि कहता है, जो मात्र आदर्श नहीं वरन् पूर्णरूपेण व्यावहारिक थी और प्रत्येक व्यक्ति उसके अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करता था। लॉक की प्राकृतिक विधि स्वार्थ नहीं वरन् सद्गुण पर आधारित थी और उसके अनुसार राज्य की विधि का स्रोत प्राकृतिक विधि ही है। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को तीन अधिकार प्राप्त थे– जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार व सम्पत्ति का अधिकार। जीवन का अधिकार असीमित है, स्वतंत्रता प्राकृतिक विधि से मर्यादित है और सम्पत्ति के विषय में उसका कहना है कि प्रकृति की सभी चीजें सभी के लिए हैं और जब किसी वस्तु में कोई व्यक्ति अपना श्रम मिश्रित कर देता है तो वह उसकी सम्पत्ति हो जाती है। अतः उपभोग हेतु, श्रम का मिलाना आवश्यक है अर्थात् सम्पत्ति का आधार उपभोग है।

लॉक द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था, शांतिपूर्ण सामाजिक सहयोग की अवस्था है किन्तु अंत में लॉक स्वीकार करता है कि इस अवस्था में कुछ असुविधाएं थीं। यह तीन असुविधाएं थीं– पहला प्राकृतिक विधि की स्पष्ट व्याख्या सम्भव नहीं थी, दूसरा स्वतंत्र व निष्पक्ष निर्णायक का अभाव था जो विवादों का निर्णय कर सके और तीसरा नियमों को लागू करने वाली सत्ता का अभाव था। इस प्रकार शासन तंत्र और उसके तीन अंगों व्यवस्थापिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका के अभाव के कारण यह असुविधाएं उत्पन्न हुईं और परिणाम स्वरूप प्राकृतिक अवस्था की शांति व्यवस्था अन्ततः अराजकता एवं अशांति में परिवर्तित हो गई जिससे मुक्ति पाने के लिए मनुष्यों ने आपस में समझौता करके राज्य का निर्माण किया।

सामाजिक समझौता के विषय में हॉब्स व लॉक के मध्य मूल अन्तर यह है कि हॉब्स ने एक समझौते की कल्पना की है जबकि विचारकों का मानना है कि लॉक ने दो समझौतों की कल्पना की। पहले समझौते द्वारा समाज की कल्पना की गयी जो, जनता के बीच सम्पन्न हुआ और जिसे सामाजिक समझौता कहा गया। दूसरा समझौता जनता एवं शासक के मध्य हुआ जिससे सरकार की स्थापना हुई जिसे राजनीतिक समझौता कहा जा सकता है। लॉक के समझौते द्वारा अधिकार का समर्पण किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह में न होकर समाज में होता। समझौते द्वारा व्यक्ति ने अपने कुछ अधिकारों का ही समर्पण किया। जीवन, स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति के अधिकारों का समर्पण नहीं हुआ। समझौते में प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता है अतएव समझौते हेतु एकमत होना अनिवार्य है, हाँ भविष्य के समझौते बहुमत पर आधारित होंगे। यह समझौता प्राकृतिक विधि के अनुकूल है और शासन अनिवार्य रूप से समझौते का एक पक्ष है अतः समझौते की शर्तों से

वह बाध्य है तथा समझौते का वह उल्लंघन नहीं कर सकता है। यदि सरकार निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने में सफल न हो तो जनता उसे पदच्युत कर सकती है।

इस प्रकार लॉक सीमित सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

लॉक के सम्प्रभुता सिद्धान्त की आलोचकों ने विभिन्न आधारों पर आलोचना की है। सर्वप्रथम प्राकृतिक अवस्था अवास्तविक और अनैतिहासिक है। प्राकृतिक अधिकार असम्भव हैं क्योंकि अधिकार राज्य में ही प्राप्त हो सकते हैं। मानव स्वभाव का चित्रण एकांगी है। वह व्यक्ति को विरोध का अधिकार देता। जिससे राजनीतिक सत्ता में अस्थायित्व का भय निरन्तर बना रहेगा। लॉक वैधानिक एवं राजनीतिक सम्प्रभुता के मध्य भेद नहीं कर पाता है।

आलोचनाओं के उपरान्त भी लॉक के सिद्धान्त का महत्व यह है कि उसने सम्प्रभु को भी कर्तव्यों से आबद्ध किया है। अगर शासक उन कर्तव्यों को पूर्ण नहीं करता तो जनता उसे पद से हटा सकती है। लॉक सरकार के लिए सहमति सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। उसके प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त राजनीतिक विचारों को महत्वपूर्ण देन है और उसका पूंजीवादी राज्यों ने व्यापक समर्थन किया है। व्यक्ति के अधिकारों को महत्ता देने के कारण ही लॉक को व्यक्तिवादी विचारक भी कहा जाता है।

5.5.3 रूसो का सामाजिक समझौता सिद्धान्त

समझौतावादी विचारकों हॉब्स एवं लॉक की भाँति रूसो (1712–1778) ने भी मानव स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था एवं समझौते का वर्णन किया है। मानव स्वभाव के सम्बन्ध में रूसो के विचार प्लेटो तथा लॉक के अधिक निकट हैं। रूसो के अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है और इसीलिए सच्ची कला उसकी स्वाभाविक अच्छाई का विकास करना है। संसार में पाया जाने वाला पाप, भ्रष्टाचार, दुष्टता, मनुष्य की जन्मजात दुष्टता नहीं बल्कि गलत सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है।

रूसो के अनुसार मानव स्वभाव की नियामक दो प्रवृत्तियाँ होती हैं– आत्मप्रेम अथवा आत्म प्रतिरक्षण की भावना तथा सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना यह दोनों प्रवृत्तियाँ शुभ होती हैं अतएव मनुष्य को अच्छा मानना चाहिए बुरा नहीं। इन दो आदि भावनाओं आत्मप्रतिरक्षण तथा संवेदना दोनों में संघर्ष होना अनिवार्य है। दोनों पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं की जा सकतीं इसलिए व्यक्ति इनमें समझौता करने के लिए विवश है। इस प्रकार के निरन्तर समझौतों से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्तःकरण (conscience) कहा जाता है। यह बुद्धि व शिक्षा दोनों से प्राचीन है और प्रकृति का उपहार है। अतःकरण में सत्य असत्य की पहचान करने की क्षमता नहीं होती वरन् वह मात्र मनुष्य को सत्य से प्रेम करने व असत्य से घृणा करने के लिए प्रेरित करती है। सत् असत् के ज्ञान हेतु व्यक्ति को विवेक पर निर्भर रहना पड़ता है। रूसो के अनुसार आत्मप्रेम व संवेदना में सामंजस्य स्थापित करने तथा अन्य भावनाओं के विकास करने में विवेक व अन्तःकरण साथ–साथ कार्य करते हैं। रूसो ने अन्तःकरण को अधिक महत्व सम्भवतः इसलिए दिया कि उस युग में अन्तःकरण की उपेक्षा की जा रही थी। इसी कारण उसे विवेक विरोधी तथा रोमांचकारी (Romantic) तक कहा गया। वास्तव में रूसो ने विवेक पर बड़े आक्षेप किये हैं। उसके अनुसार बुद्धि भयानक है क्योंकि वह श्रद्धा को कम करती है, विज्ञान विनाशक है क्योंकि वह विश्वास को नष्ट करता है और विवेक बुरा है क्योंकि वह नैतिक सहज ज्ञान के विरोध में

तर्क–वितर्क को प्रधानता देता है। वह मानव व्यक्तित्व के विकास में विवेक को उचित स्थान प्रदान करता है, हाँ उसे असीम अधिकार नहीं देता। रूसो के अनुसार प्रकृति ने आत्मप्रेम व संवेदना तत्व के अतिरिक्त एक और उपहार प्रदान किया है वह है अपना मार्ग चुनने की स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता के कारण ही मनुष्य पशु से भिन्न है।

रूसो के मानव स्वभाव की कल्पना हॉब्स और लॉक से भिन्न थी अतएव उसकी प्राकृतिक अवस्था की धारणा भी स्वाभाविक रूप से इन दोनों की धारणा से मौलिक भेद रखती है। रूसो के अनुसार प्राकृतिक मनुष्य एकाकी स्वतंत्र नैतिक तथा अनैतिक भावनाओं से मुक्त, निःस्वार्थ सम्पत्ति और परिवार से रहित, आदिम स्वर्ण युग की स्वर्गीय दशा में रहता था। उस समय उसमें तेरे मेरे की कोई भावना नहीं थी। उसका जीवन उदात्त वनेचर (Noble Savage) जैसा था। प्राकृतिक व्यक्ति के पास सिर्फ क्रन्दन की भाषा थी और काई भाषा नहीं थी। भाषा के बिना किसी प्रकार के विचार असम्भव हैं। फलतः प्राकृतिक व्यक्ति न तो नीतिवादी ही था और न ही दुष्ट ही। वह दुखी नहीं था लेकिन वह सुखी भी नहीं था। स्पष्ट है उसके पास सम्पत्ति भी नहीं थी क्योंकि सम्पत्ति विचारों, पूर्ण कल्पित आवश्यकताओं, ज्ञान और उद्योग से उत्पन्न होती है। परन्तु कालान्तर में सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। मनुष्य ने तेरे मेरे के भाव से सोचना आरम्भ किया। रूसो के अनुसार 'वह प्रथम व्यक्ति ही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेर लेने के बाद यह कहा था कि यह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हुआ था। जब अन्य लोगों ने उसकी देखा देखी अन्य स्थानों और वस्तुओं को अपना समझना प्रारम्भ किया। इससे प्राकृतिक व्यक्ति की स्वाभाविक समानता स्वतंत्रता समाप्त हो गयी, दास प्रथा तथा सभ्यता की अन्य बुराईयों का प्रादुर्भाव हुआ। परिवार वैयक्तिक सम्पत्ति, समाज कानून और सरकार की संस्थाएं दृढ़ हुईं। उल्लेखनीय है कि रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के तीन प्रकार माने हैं :–

1. आदिम प्राकृतिक अवस्था जिसमें मनुष्य निपट जंगली था।
2. मध्यवर्ती प्राकृतिक अवस्था जिसमें असमानता का प्रादुर्भाव हुआ और संचयवृत्ति बढ़ गई।
3. अत्याचार व दमन की पोषिक अवस्था जो असहनीय थी जिसमें मनुष्य की गति बुरे से सर्वनाश की ओर थी और इस कुचक्र को रोकने के लिए ही सामाजिक समझौते की उत्पत्ति हुई।

सामाजिक समझौते के उद्देश्य के दो भाग हैं– पहला मनुष्य समूह अपने धन जन की रक्षा हेतु सम्पूर्ण समाज की सहायता प्राप्त करने हेतु बनाते हैं और दूसरा वे अधिकतम स्वतंत्रता चाहते हैं। इसकी पूर्ति हेतु सद् समझौता समस्त देशकाल के लिए एक ही हो सकता है। समझौते का वर्णन रूसो निन्न शब्दों में करता है– 'हममें से प्रत्येक अपनी शरीर तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति को सबके साथ सामान्य रूप से सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन में रख देता है और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को सम्पूर्ण के एक अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करते हैं।' अचानक समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान में इस समूहीकरण से एक नैतिक और सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही घटकों से मिलकर बनता है जितने कि उसमें मत होते हैं। रूसों का समझौता यद्यपि समुदाय या राज्य का निर्माण करता है परन्तु यह इस समझौते को करने वाला पक्ष नहीं बनता प्रत्येक व्यक्ति समझौता करते हुए

दो प्रकार के सम्बन्ध उत्पन्न करता है – (1) सर्वोच्च प्रभुसत्ता का अंग होने से वह दूसरे व्यक्तियों से बंधा हुआ है। (2) राज्य का सदस्य होने के नाते वह प्रभु शक्ति के साथ कर्तव्यों से बंधा है।

रूसो के समझौता सिद्धान्त की निम्न विशेषताएं हैं–

1. समझौते के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने समस्त अधिकार अथवा शक्तियां सम्पूर्ण समाज को समर्पित कर देता है अतएव समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न समाज कभी भी दमनकारी या स्वतंत्रता विरोधी नहीं हो सकता।
2. समझौते के फलस्वरूप प्रत्येक को लाभ होता है हानि किसी को नहीं क्योंकि सम्पूर्ण के प्रति समर्पित करने से सम्पूर्ण का अविभाज्य अंग होने के कारण उसे वापस पा लेता है और जो अधिकार वह अपने ऊपर दूसरों को देता है वही अधिकार वह समाज के प्रत्येक सदस्य के ऊपर स्वयं प्राप्त कर लेता है।
3. मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी है और क्रियाशील सम्प्रभु भी।
4. समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले समाज का स्वरूप सावयविक होता है।
5. इस परिवर्तन में प्राकृतिक समानता, नैतिक और वैधानिक समानता में परिवर्तित हो जाती है और इन समानताओं के कारण उन सारी भौतिक समानताओं की क्षति पूरी हो जाती है जिससे मनुष्य पीड़ित रहता है।
6. समझौते के फलस्वरूप व्यक्ति के स्थान पर समष्टि और व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा आ जाती है।

रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की कतिपय विद्वानों ने आलोचना की है जो निम्नानुसार है–

1. रूसो का समझौता अधिकार का आधार नहीं बना सका है। अतः यह अवैधानिक है और इससे व्यक्तियों को कोई लाभ नहीं होता है।
2. रूसो द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था और मानव स्वभाव की धारणा निराधार एवं काल्पनिक है। यह कहना कि मनुष्य मौलिक रूप से श्रेष्ठ एवं गुणी है और उसके दोष केवल वाह्य परिस्थितियों से उत्पन्न हुए, उचित नहीं है। वस्तुतः मनुष्य अच्छाई व बुराई का सम्मिश्रण है। पुनश्च् यदि व्यक्ति मूलतः सर्वश्रेष्ठ है तो यह समझ नहीं आता कि केवल सम्पत्ति के प्रवेश से ही उसके समस्त गुण क्यों लुप्त हो गए।
3. रूसो के समझौते के मतानुसार व्यक्ति द्वारा समाज को प्रदत्त अधिकार सामूहिक रूप से पुनः प्राप्त कर लेता है पर अधिकारों और स्वतंत्रता की यह पुनः प्राप्ति आज एक सैद्धान्तिक कथन है। वास्तविकता तो यह है कि समझौते द्वारा उत्पन्न राज्य निरंकुश है जिसकी हर आज्ञा का पालन व्यक्ति का धर्म है।
4. रूसो के अनुसार व्यक्ति राज्य शक्ति का एक अंग होने के कारण नागरिक और राज्य की आज्ञाओं का पालन करने के कारण प्रजा है जिसका व्यवहारिक पक्ष यह बनता है कि यदि किसी व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है तो यह कहना चाहिए कि वह व्यक्ति स्वयं अपनी ही इच्छा से दण्ड प्राप्त करता है जोकि एक हास्यास्पद स्थिति है।

रूसो की सामान्य इच्छा की जो व्याख्या है वह राज्य को स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश बना देती है। चूंकि विधि–निर्माण इसी सामान्य इच्छा का अबाध अधिकार है अतः यह अन्याय भी कर सकती है।

रूसो के सामाजिक समझौता सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना हुई है परन्तु राजनीतिक विचारों को उसने आदर्शवादी विचारधारा प्रदान की। सामान्य इच्छा की सर्वोच्चता के कारण भले ही उसे अधिनायकवाद का समर्थक कहा जाये परन्तु उसने जनता की सहमति और लोकतंत्र पर आधारित शासन का समर्थन किया है। उससे प्रेरणा लेकर ही फ्रांस में 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व' के आधार पर क्रान्ति हुई।

5.5.4 रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक सिद्धान्त है। रूसो का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की इच्छाओं के समन्वय से सामान्य इच्छा का उदय होता है। सामान्य इच्छा क्या है? इस तथ्य का विवेचन करते हुए रूसो कहता है कि व्यक्ति की इच्छाओं के दो रूप होते हैं–(1) यथार्थ इच्छा (Actual will) (2) वास्तविक या आदर्श इच्छा (Real will) यथार्थ इच्छा स्वार्थी, अविवेकपूर्ण, व्यक्तिवादी तथा आत्मपरक होती है। इसके विपरीत वास्तविक या आदर्श इच्छा अपेक्षाकृत उच्चतर तथा श्रेष्ठतर होती है। वह आत्मपरक न होकर सामान्य हित को लेकर चलती है। इस प्रकार रूसो के अनुसार वास्तविक या आदर्श इच्छाओं के योग से सामान्य इच्छा का जन्म होता है अर्थात् सामान्य इच्छा आदर्श इच्छाओं का समन्वित रूप है। रूसो के अनुसार यथार्थ इच्छा व्यक्ति के निम्न 'स्व' पर आधारित है तथा वास्तविक इच्छा श्रेष्ठ 'स्व' पर। वास्तव में सामान्य इच्छा समान के व्यक्तियों की वास्तविक/आदर्श इच्छाओं का संगठन और समन्वय है। सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है कि मेरी सामान्य इच्छा के अनुबन्ध में सभी लोग अपना सर्वस्व राज्य को सॉंप देते हैं तथा राज्य का हित सभी नागरिकों का सर्वश्रेष्ठ हित है। इस प्रकार सामान्य इच्छा निष्काम होती है क्योंकि प्रथमतः इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है तथा द्वितीयतः सामान्य हित की बातों में यह जनसेवा से प्रेरित होती है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा न केवल अपने उद्देश्य की दृष्टि से वरन् अपनी रचना में भी सामान्य होनी चाहिए अर्थात इसे समाज के प्रत्येक सदस्य की इच्छा को ध्यान में रखना चाहिए।

इस आवश्यकता से यह प्रश्न उठता है कि क्या सामान्य इच्छा को उत्पन्न करने में सर्वसम्मपति की आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में रूसो का मानना है कि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति सामान्यतः पूर्ण मतैक्य में नहीं हो सकतीं। सामान्य इच्छा व समस्त की इच्छा में भेद करते हुए रूसो का कहना है कि समाज के समस्त सदस्यों की इच्छाओं का कुल योग सामान्य इच्छा कभी नहीं हो सकती क्योंकि समस्त सदस्यों की इच्छाओं में सदस्यों के व्यक्तिगत हितों का सम्मिश्रण होता है जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों का सम्मिश्रण होता है जबकि सामान्य इच्छा का सम्बन्ध केवल सामान्य हितों से ही होता है। सामान्य इच्छा एक सम्पूर्ण के रूप में समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है। सामान्य इच्छा एकात्मक होती है क्योंकि इसे अभिव्यक्त करने वाला सम्प्रभुताधारी निकाय एक नैतिक तथा सामूहिक निकाय होता है जिसका अपना जीवन, अपनी इच्छा व अपना उद्देश्य होता है।

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा संप्रभुताधारी है अतः इसमें सम्प्रभुता की सभी विशेषताएं, अविभाज्यता, अदेयता होनी चाहिए परन्तु रूसो का अदेय सामान्य

इच्छा का सिद्धांत आधुनिक राष्ट्र राज्य पर लागू नहीं हो सकता क्योंकि उनका आकार इतना बड़ा व उनकी जनसंख्या इतनी अधिक होती है कि उनमें प्रतिनिधि संस्थाओं के बिना काम नहीं चला सकता। सामान्य इच्छा की एक अन्य विशेषता यह है कि यह कार्यपालिका की इच्छा नहीं हो सकती। इसका कार्य कानून बनाना है उन्हें लागू करना नहीं, यह कार्य एक अन्य अभिकरण का है जिसे सरकार कहते हैं। रूसो का मत है कि जब तक सामान्य इच्छा सम्प्रभुता सम्पन्न रहती है तब तक इस बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता कि सरकार लोकतंत्री है या कुलीनतंत्री या राजतंत्री है। विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है अतः प्रत्येक मनुष्य हेतु उसकी आज्ञापालन आवश्यक है। चूँकि सामान्य इच्छा सदैव सद् होती है किन्तु उसका निर्देशन करने वाली निर्णयबुद्धि पूर्ण ज्ञानयुक्त नहीं होती अतः जनता का सद्–असद् या शुभ–अशुभ का ज्ञान कराने के लिए रूसो विधि निर्माता अर्थात विधायक की व्यवस्था करता है। संक्षेप में सामान्य इच्छा की निम्न विशेषताएँ हैं–

1. सामान्य इच्छा विवेक पर आधारित एक इच्छा है।
2. यह एकात्मक है अर्थात यह राष्ट्रीय चरित्र और संस्थाओं को स्थिरता प्रदान करती है।
3. यह स्थायी होती है और राष्ट्रीय संस्थाओं को स्थिरता प्रदान करती है।
4. यह असीमित और अदेय होती है।
5. सामान्य इच्छा कभी गलती नहीं कर सकती। सदैव सही रहती है क्योंकि यह सब लोगों के हित को ध्यान में रखती है। यह जितनी ही सामान्य होती है उतनी ही उचित होती है।
6. सामान्य इच्छा अप्रतिनिधि मूलक होती है अर्थात किसी अन्य के द्वारा प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता।
7. सामान्य इच्छा राज्य की आधारशिला होती है जिसका उद्देश्य जनकल्याण होता है।

रूसो की सामान्य इच्छा के उक्त सिद्धान्त में निम्न कठिनाइयाँ हैं–

1. रूसो विस्तृत रूप से यह नहीं बताता कि सामान्य इच्छा का निर्धारण किस प्रकार होगा। वैयक्तिक व सार्वजनिक हितों के संघर्ष में व्यक्ति के लिए सार्वजनिक हित को स्वीकार करना कठिन हो जाता है। रूसो यह मानता है कि जनता का बहुमत ऐसी सामान्य इच्छा का निर्धारण करने में असमर्थ है।
2. इससे व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन होता है। वह सामान्य इच्छा की अवज्ञा करने वाले को इसके पालन के लिए बाध्य कर सकता है।
3. यह मात्र छोटे राज्यों में ही संभव है तथा आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्यों की सफलता हेतु प्रतिनिधिमूलक शासन अनिवार्य है, रूसो इसका विरोध करता है।
4. यह अधिनायकवाद तथा सर्वाधिकारवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देता है।
5. कुछ विचारकों के अनुसार रूसो वैयक्तिकता का अन्त कर देता है और वह समष्टिवादी विचारक है परन्तु अल्फ्रेड केबन का मानना है कि रूसो व्यक्तिवाद का विरोधी हो सकता है वैयक्तिकता का नहीं।

रूसो के दर्शन में इतना विभ्रम मुख्यतः इसलिए है कि वह शक्ति अथवा रक्त सम्बन्ध की अपेक्षा सदस्यों की स्वतंत्र अनुमति को राजनीतिक संगठन का सच्चा आधार मानता है। राज्य की उत्पत्ति में समझौता सिद्धान्त की परम्परागत कल्पना करते हुए भी उसने सामान्य इच्छा सिद्धान्त की परम्परागत कल्पना करते हुए भी उसने सामान्य इच्छा सिद्धान्त का नवीन विचार दिया। उसने इन दोनों में समन्वय का असफल प्रयास किया। दो विरोधी अवधारणाओं को मिलाने के प्रयास में उसके दर्शन में भ्रान्तियाँ व असंगतियाँ घर कर गयीं।

उपर्युक्त असंगतियों के होते हुए भी रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त के महत्व को अनदेखा नहीं किया जा सकता। उसके इस सिद्धान्त ने आदर्शवादी विचारधारा की नींव डाली। अपने सिद्धान्त द्वारा रूसो ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामान्य हित को उभारा व बताया कि सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना ही समाज को स्वस्थ व परिष्कृत बनाती है। रूसो के सिद्धान्त ने कल्याणकारी राज्य सिद्धान्त में बड़ा योग दिया।

5.6 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक सही और वैज्ञानिक माना जाने वाला सिद्धान्त विकासवादी या ऐतिहासिक सिद्धान्त है। विकासवादी सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और एक लम्बे समय में क्रमिक व निरन्तर विकास का परिणाम है। इसके विकास में अनेक कारकों ने योगदान दिया है। ये विभिन्न कारक हैं–(1) रक्त सम्बन्ध (2) धर्म (3) सम्पत्ति या आर्थिक क्रियाएँ (4) शक्ति (5) राजनीतिक चेतना।

(1) **रक्त सम्बन्ध–** राज्य के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में रक्त सम्बन्ध सबसे महत्वपूर्ण कारक था। यह रक्त सम्बन्ध ही था जिसने लोगों को एक सूत्र में बाँधने में सफल योगदान दिया। मनुष्य का प्राथमिक संगठन परिवार था जिसने कालान्तर में विकसित होकर गोत्र और गोत्र से कबीले को जन्म दिया। रक्त सम्बन्ध ही वह कारक था जिसने एक वृहत्तर समाज और वृहत्तर समाज से राज्य के अस्तित्व में आने मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। परिवार के मुखिया की अपने सीमित दायरे में सत्ता थी जो आज्ञाकारिता एवं अनुशासन का पाठ पढ़ाने हेतु सक्षम थी, कालान्तर में यह कुल प्रमुख और फिर कबीले के प्रमुख द्वारा प्रयुक्त हुई। यही आज्ञापालन, अनुशासन और सामाजिकता की भावना ने राज्य के विकास में अपना योगदान दिया।

(2) **धर्म –** राज्य के विकास में धर्म ने दो तरह से अपना योगदान दिया। प्रथम स्थान पर धर्म ने लोगों में एकता की भावना उत्पन्न की, एक ही धर्म के अनुयायी होने के कारण लोगों के बीच स्वाभाविक संबंध उत्पन्न हुये। दूसरे स्थान पर राज्य, इसके विधि निर्माण और विधि प्रभावी मशीनरी की अनुपस्थिति में धर्म ही वह मूल कारक था जिसने असभ्य लोगों को अनुशासित और नियमबद्ध बनाया। प्राचीन समय में लोग अपने पूर्वजों और प्राकृतिक शक्तियों यथा पेड़, पहाड़, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, पवन की पूजा किया करते थे। पूर्वजों की पूजा ने विशेष रूप से कबीलों में भ्रातृभाव और एकता की स्थापना की। कबीलों के विकास ने यह संबंध कमजोर किये तब वृहत्तर कबीलों में लोगों में एकता स्थापित करने हेतु समान देवी देवताओं में विश्वास एक महत्वपूर्ण कारक बना। इसका यह अर्थ नहीं है

कि वृहत्तर कबीलों में रक्तसम्बन्ध एकता स्थापित करने में महत्वपूर्ण कारक नहीं था। रक्त सम्बन्ध कारक भी लोगों को एकता के सूत्र में बाँधे रखने में योगदान देता रहा यद्यपि थोड़े क्षीण प्रभाव में उसकी यह भूमिका थी। अनेक जातियों में जनजाति का मुखिया राजनीतिक तथा धार्मिक दोनों ही प्रकार के कर्तव्यों का पालन किया करता था। कहीं–कहीं जादूगर जो अपनी जाति के लिए जादू–टोना करने में सक्षम थे, मुखिया अथवा राजा का पद प्राप्त कर लेते थे और लोग उनसे भयभीत होने के साथ ही साथ उनका सम्मान व उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे। जब लोगों का इससे विश्वास उठने लगा तो पुरोहित या पुजारियों का आर्विभाव हुआ जिन्हें लोगों का अधिक से अधिक सम्मान एवं आज्ञाकारिता प्राप्त थी। प्राचीन काल में पुजारी राजा थे जो धार्मिक व राजनीतिक दोनों कार्यों को संपादित करते थे।

(3) **शक्ति** – यह कहना गलत होगा कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति ही त्वरित एवं अन्तिम उत्तरदायी कारक था परन्तु यह सत्य है कि शक्ति ने राज्य के विकास में कई रूपों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह शक्ति ही थी जिसने एक समुदाय को अपने सीमा क्षेत्र का विकास करने में योगदान दिया और यह शक्ति ही थी जिसने उसे अपने भूक्षेत्र में नियंत्रण बनाये रखने में सहयोग दिया। इस बात की सदैव संभावना थी कि पड़ोसी समुदाय किसी भी समय आक्रमण कर सकते हैं, सम्पत्ति से वंचित कर सकते हैं और इसी भय ने सामान्य सुरक्षा हेतु स्थायी शक्ति की आवश्यकता को जन्म दिया। समुदाय के अन्दर भी व्यक्तियों की रक्षा एवं सुरक्षा हेतु शक्ति की आवश्यकता थी। प्रत्येक कबीले का सैनिक सरदार होता था और शक्तिशाली कबीलों ने दुर्बल कबीलों पर अपना आधिपत्य जमाना शुरू किया और इस विजय के परिणामस्वरूप ही राज्य की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शक्ति राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारक नहीं है परन्तु उसने उसके विकास में अवश्य ही अपना योगदान दिया।

(4) **आर्थिक गतिविधियाँ** – सम्पत्ति का उदय धीरे–धीरे हुआ। आखेट युग में व्यक्ति के पास सम्पत्ति के नाम पर मात्र कुछ औजार थे जिन्हें वह जानवरों का शिकार करने में प्रयुक्त करता था। जब लोगों को यह ज्ञान हुआ कि जानवरों का प्रयोग खाने के अतिरिक्त भी हो सकता है तो उसने पशुपालन प्रारम्भ किया। इस युग में भी व्यक्ति भ्रमणशील था परन्तु आखेट युग की तुलना में यह भ्रमण क्षेत्र सीमित क्षेत्र में हो गया। इस तरह पशु व्यक्ति की सम्पत्ति बन गये। इसके आन्तरिक व वाह्य दो रूपों में समस्या को जन्म दिया। आन्तरिक युग में पशुपालक समुदाय में पशुओं के स्वामित्व को लेकर विवाद उत्पन्न होने लगे जिसने स्वाभाविक रूप से कुछ सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता को जन्म दिया। वाह्य रूप से ऐसे समुदायों पर पड़ोसी समुदायों द्वारा उनके जनवरों को छीनने के उद्देश्य से आक्रमण होने लगे जिसने स्वाभाविक रूप से एक संगठन की आवश्यकता को जन्म दिया जो ऐसे आक्रमणों को रोक सके। ऐसा संगठन जिसका एक नेता हो और उसमें कुछ गुण हों यथा उसमें संगठन की क्षमता हो, समुदाय के सभी लोगों से आज्ञा पालन कराने में सक्षम हो और पड़ोसी समुदायों के आक्रमणों को रोकने में सक्षम हो। जिस व्यक्ति में ये गुण थे वह समुदाय का मुखिया बन गया और यह पद वंशानुगत हो गया

क्योंकि उस समय यह विश्वास था कि नेतृत्व के गुण पिता व पुत्र में समान मात्रा में होंगे।

जब लोगों को यह ज्ञान हुआ कि पृथ्वी से अन्न उत्पन्न हो सकता है तो वे कृषक बन गये और वे अपनी कृषि भूमि के निकट एक स्थान पर निवास करने लगे। लोगों का अपनी कृषि भूमि और घर से भावनात्मक लगाव बढ़ गया। लोगों ने अपने पशुपालन आय को कृषि आय से सम्मिलित कर दिया। इससे राज्य के विकास का प्रारम्भ हुआ क्योंकि निर्धारित एवं निश्चित भूभाग के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। सम्पत्ति की रक्षा हेतु ही कानून, न्यायालय या राजनीतिक सत्ता का उदय हुआ। औद्योगिक युग आते–आते अन्तर्राष्ट्रीय राज्य की कल्पना की जाने लगी और इस प्रकार आर्थिक विकास के साथ ही साथ राजनीतिक विकास भी होता गया।

(5) **राजनीतिक चेतना–** राज्य के विभिन्न तत्वों के क्रमिक विकास के साथ ही साथ समुदाय के सदस्यों में राजनीतिक चेतना का भी विकास हुआ। अपने भू क्षेत्र की पड़ोसी समुदायों द्वारा अतिक्रमण से रक्षा की इच्छा ही व्यक्ति में राजनीतिक चेतना के उदय का लक्षण था। राजनीतिक चेतना के विकास का दूसरा सूचक व्यक्ति की वह इच्छा थी कि आन्तरिक रूप से मुखिया द्वारा कुछ शान्ति व्यवस्था स्थापित की जाये। एक समुदाय से सम्बद्धता और समान भू क्षेत्र पर निवास की भावना ने लोगों में राजनीतिक चेतना का विकास किया। इस प्रकार की भावना से विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं का जन्म होता है।

इस प्रकार राज्य की उत्पत्ति में विभिन्न कारकों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। किस कारक ने कितना योगदान दिया यह तो कहना कठिन कार्य है। विभिन्न समुदायों में राज्य के विकास में इन कारकों के भिन्न–भिन्न समूहों ने योगदान दिया क्योंकि प्रत्येक समुदाय की परिस्थितियों में अन्तर था। विकासवादी सिद्धान्त जिसे ऐतिहासिक सिद्धान्त भी कहा जाता है इस बात पर विशेष बल देता है कि राज्य के वर्तमान स्वरूप का अब तक विकास एक क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम है। कोई एक कारक इसके लिए उत्तरदायी नहीं है। विकासवादी सिद्धान्त यह भी मानता है कि राज्य न तो ईश्वर द्वारा बनाया गया है और न ही समझौते का परिणाम है। यह विकासशील परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ है।

आधुनिक समय में राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त सर्वाधिक स्वीकृत सिद्धान्त है क्योंकि यह मानता है कि राज्य का विकास किन्हीं एक दो नहीं वरन् कई कारकों के योगदान का परिणाम है। आज राज्य जिस रूप में अस्तित्व में है वह विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न कारकों के भिन्न–भिन्न समय व मात्रा में योगदान का परिणाम है। राज्य के विकास का अन्त नहीं हुआ है वरन् यह अभी भी विकास की प्रक्रिया में है और यह इस तथ्य से प्रमाणित हो जाता है कि पूंजीवादी राज्यों के स्थान पर समाजवादी राज्य और कल्याणकारी राज्य का विकास हुआ है।

5.7 राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त

मार्क्स, ऐन्जेल्स, लेनिन और ग्रामसी का मानना है कि पुरातनकाल से राज्य अस्तित्व में नहीं था। उनके अनुसार पुरातन काल में समाज थे जबकि राज्य नहीं था। उनके अनुसार राज्य अस्तित्व में तब आया जब समाज वर्ग में विभाजित हो गया। आर्थिक विकास के निश्चित क्रम पर समाज में वर्ग विभाजन हुआ।

आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों को राज्य की आवश्यकता थी। आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों को एक तंत्र या संस्था की आवश्यकता थी जो आर्थिक रूप से शक्तिहीन लोगों का दमन कर सके। इसलिए उन्होंने अपनी आर्थिक शक्ति की रक्षा हेतु राज्य का निर्माण किया। मार्क्सवादी विचारक इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि राज्य एक दैवी संस्था है या समझौते का परिणाम है। ये इस बात का भी खण्डन करते हैं कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है। उनका विश्वास है कि राज्य आर्थिक रूप से सम्पन्न लोगों द्वारा निर्धन लोगों के शोषण का साधन है। इसीलिए मार्क्सवादी इस विचार को अस्वीकार करते हैं कि राज्य एक निष्पक्ष संस्था है जो सभी वर्गों के हितों के संरक्षण का कार्य करती है। मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य सभी वर्गों के हितों के लिए नहीं वरन् उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व वाले वर्ग के हित साधन का कार्य करता है क्योंकि राज्य इसी वर्ग द्वारा निर्मित हैं। राज्य का निर्माण कर आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग राजनीतिक रूप से भी प्रभावी हो गया और सरकार के विभिन्न अंगों पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया।

अपने सिद्धान्त के समर्थन में मार्क्सवादी विचारकों का मानना है कि राज्य के उदय के पूर्व आदिम साम्यवादी अवस्था थी जिसमें कोई वर्गभेद नहीं था, सबका सब चीजों पर स्वामित्व था। कालान्तर में दास प्रथा आई वर्ग विभेद उत्पन्न हुआ और राज्य पर दासों के स्वामी वर्ग का नियंत्रण हो गया। मध्यकाल में राज्य –भू–स्वामियों के नियंत्रण में आया। भू–स्वामी अर्थात् सामंत जो बड़ी–बड़ी कृषि भूमि के स्वामी थे और स्वामित्व हीन वर्ग उस पर कृषि कार्य करता था। आधुनिक समय में राज्य पर पूँजी के स्वामियों का नियंत्रण हुआ। पूंजीपति वर्ग जिनका उत्पादन के साधन, वितरण एवं विनिमय पर पूर्ण नियंत्रण था। इस प्रकार राज्य आर्थिक रूप से सम्पन्न वर्ग द्वारा सम्पत्तिहीन वर्ग के शोषण का साधन था और इसके द्वारा पूंजीपतियों ने अपनी आर्थिक शक्ति को मजबूत करने और सम्पत्तिहीन वर्ग के शोषण का कार्य किया। इसी उद्देश्य से राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था, न्याय, कानून, शिक्षा व्यवस्था आदि जानबूझकर ऐसे निर्मित किये गये जिससे इस वर्ग की सत्ता बनी रहे। मार्क्सवादियों का मानना है कि पुनः वर्गविहीन समाज बनने पर राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। वर्गविहीन समाज, राज्यविहीन समाज की ओर भी अग्रसर करेगा। यह वर्गविहीन समाज राज्य के प्रयासों से नहीं बनेगा क्योंकि राज्य एक वर्ग का समर्थक है, अतएव वर्गों का अन्त नहीं करेगा। वर्गविहीन समाज के लिए मजदूर या सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति करनी पड़ेगी। सर्वहारा वर्ग के राज्य पर नियंत्रण द्वारा वर्गविहीन समाज की दिशा में कार्य होगा और जब यह कार्य सफल होगा अर्थात वर्गविहीन समाज स्थापित होगा, राज्य विलुप्त हो जायेगा।

राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त की अनेक आधारों पर आलोचना की गयी है। सर्वप्रथम पूंजी और श्रम के मध्य विरोध होता है, मार्क्सवादियों का यह कथन स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि इन दोनों के मध्य सामंजस्य न केवल संभव है वरन् आर्थिक विकास हेतु आवश्यक भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सत्य नहीं है कि सभी शासक, भूस्वामी और सम्पत्ति के स्वामी लोग क्रूर थे। इतिहास में अनेक उदाहरण हैं जहाँ इस वर्ग ने आर्थिक रूप से दुर्बल लोगों के हित हेतु कार्य किया। आज के समय में लोककल्याणकारी राज्य के उदय के पश्चात् राज्य वर्ग शोषण का साधन है, यह मानना उचित नहीं है। आज राज्यों द्वारा अनेक कानून, कार्यक्रमों और योजनाओं का निर्माण किया गया है और किया जा रहा है जो निर्बल वर्ग के हित में हों। प्रजातंत्र में कोई भी दल विजयी नहीं हो सकता जो बहुल निर्धन वर्ग के हित में कार्य न करे। इस सिद्धान्त की आलोचना का एक आधार यह भी है कि पूंजीवादी से समाजवादी राज्य की ओर

TESLA-024

परिवर्तन के लिए क्रान्ति ही आवश्यक नहीं है। राज्य विलुप्त हो जायेगा यह धारणा भी सत्य नहीं है क्योंकि राज्य दिन प्रतिदिन शक्तिशाली हो रहा है।

5.8 सारांश

राजनीति विज्ञान के अध्ययन के प्रमुख विषय राज्य की उत्पत्ति के विभिन्न विचारकों ने भिन्न–भिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं जिसमें सर्वाधिक प्राचीन सिद्धान्त दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त है जो राज्य को ईश्वर कृत संस्था मानता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों में जेम्स प्रथम व फिल्मर का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज शक्ति ईश्वर प्रदत्त है, राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है और ईश्वर का प्रतिनिधि होने के कारण वह ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है, राजतंत्र वंशानुगत है तथा राजा की आज्ञा की अवहेलना दण्ड के साथ–साथ पाप भी है। यह सिद्धान्त प्रमाण रहित है और इसके द्वारा राजा को निरंकुश शक्ति प्रदान कर व्यक्ति और उसकी स्वतंत्रता का अंत कर दिया गया है। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त में दूसरा सिद्धान्त शक्ति सिद्धान्त है जो राज्य को बल के द्वारा उत्पन्न संस्था बताया है। इस सिद्धान्त के समर्थकों में ओपनहीमर और जैंक्स का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य बल का परिणाम है और राज्य का आधार शक्ति ही है। शासन व्यवस्था व राज्य के प्रसार के लिए बल अनिवार्य है। इस सिद्धान्त की अस्वीकृति का प्रमुख कारण यह है कि इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति का एकमात्र कारक शक्ति है जबकि वास्तव में अन्य कारकों के साथ शक्ति भी एक कारक है। व्यक्ति केवल शक्ति के भय से कानूनों का पालन नहीं करता है। राज्य की उत्पत्ति का अन्य सिद्धान्त मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मातृप्रधान अथवा पितृ प्रधान परिवारों का ही विस्तृत स्वरूप है। मातृसत्तात्मक सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक मार्गन व मैक्लीनन तथा पितृसत्तामक सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हेनरीमेन हैं। राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में सामाजिक समझौता सिद्धान्त का विशेष महत्व है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक हॉब्स, लॉक एवं रूसो हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य व्यक्तियों द्वारा किये गये समझौते का परिणाम है। राज्य के उदय के पूर्व व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में रहते थे, उस अवस्था में व्यक्तियों के पास प्राकृतिक अधिकार थे और प्राकृतिक अवस्था की परेशानियों को दूर करने के लिए लोगों ने समझौता किया तथा प्राकृतिक अवस्था त्यागकर वे राजनीतिक अवस्था में आ गए। सामाजिक समझौता सिद्धान्त को अनैतिहासिक (ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध न होना), त्रुटिपूर्ण कानून अर्थात् राज्य में प्रवेश का अधिकार देता है, राज्य से बाहर आने की आज्ञा नहीं देता और दूषित दर्शन अर्थात् प्राकृतिक अवस्था के असभ्य लोगों में अचानक राजनीतिक चेतना जागृत होना, इन आधारों पर आलोचना की जाती है। सामाजिक समझौता सिद्धान्त के समर्थकों हॉब्स, लॉक एवं रूसो में महत्वपूर्ण मतभेद हैं। हॉब्स मानवीय स्वभाव को स्वार्थी व लोभी तथा प्राकृतिक अवस्था में मानव जीवन को एकाकी, लाचार, दूषित, पाश्विक एवं क्षणिक बताता है। लॉक मनुष्य को प्रकृति से विवेकयुक्त, सामाजिक व नैतिक मानता है। प्राकृतिक अवस्था लॉक के अनुसार शान्ति, सहयोग व शिष्टाचार की अवस्था थी। रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था आदर्श बर्बर अवस्था थी। प्राकृतिक अवस्था स्वर्ग अर्थात सम्पन्नता एवं पर्याप्तता की अवस्था थी। लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक कानून व नियम थे जबकि रूसो किसी कानून की आवश्यकता न होने की बात करता है। हॉब्स के समझौते में व्यक्ति अपने अधिकार व्यक्ति या व्यक्ति समूह को सौंपता है, लॉक के अनुसार जीवन, स्वतंत्रता एवं सम्पति के अधिकार का समर्पण नहीं होता और इसकी रक्षा

हेतु समझौता कर राज्य का निर्माण किया गया जबकि रूसो के अनुसार समस्त अधिकार सामान्य इच्छा को समर्पित कर दिये जाते हैं। हॉब्स के समझौते में सम्प्रभु समझौते का परिणाम है, पक्षकार नहीं। लॉक द्वारा सामाजिक समझौता समाज व राज्य के मध्य होता है जिसके अन्तर्गत राज्य व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा का दायित्व लेता है। रूसो सामान्य इच्छा को राज्य का आधार मान कल्पना करता है कि वह सदैव सर्वहित में कार्य करती है। हॉब्स कानूनी, लॉक राजनीतिक एवं रूसो लौकिक सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न राज्य हॉब्स के अनुसार निरंकुश राजतंत्र, लॉक के अनुसार सीमित शासन और रूसो के अनुसार लोकतंत्र होता है।

राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक सिद्धान्त ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त है जिसके समर्थक सभी उदारवादी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य क्रमिक विकास का परिणाम है जिसमें रक्त सम्बन्ध, धर्म, शक्ति, आर्थिक गतिविधियाँ एवं राजनीतिक चेतना जैसे अनेक कारकों ने अपना योगदान दिया है। यह सिद्धान्त सर्वाधिक उपयुक्त सिद्धान्त कहलाता है। राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धान्त मार्क्स, ऐजल्स एवं लेनिन के विचारों पर आधारित है। उनके अनुसार राज्य वर्गीय संस्था है जो वर्गीय समाज की उपज का परिणाम है। समाज में विरोधी वर्ग उत्पन्न होते हैं और राज्य सम्पन्न वर्ग द्वारा उनके हितों की रक्षा हेतु बनता है। वर्गविहीन समाज के विकास के साथ ही राज्य विलुप्त हो जायेगा।

5.9 शब्दावली

गणराज्य – ऐसा राज्य जहाँ सम्प्रभु शक्ति समस्त लोगों के समूह में निवास करे तथा वह शक्ति, लोगों द्वारा चुने प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग की जाए।

सम्प्रभु – शक्ति प्राप्ति की सर्वोच्च स्थिति, प्रायः अन्य सभी लोगों पर सर्वोच्च, अन्य अपने जैसे सर्वोच्च से स्वतंत्र तथा अलग अधिकार क्षेत्र को प्रारम्भिक रूप से प्राप्त करना, एक सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य, एक सम्प्रभु में निहित सर्वोच्च शक्ति।

व्यक्तिवाद – एक ऐसा सिद्धान्त जो व्यक्ति को महत्व देता है तथा उसकी स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता का गुणगान करता है, एक सीमित प्रकार के राज्य का प्रतीक।

निरंकुश – सर्वाधिकारवादी राज्य का सिद्धान्त व व्यवहार, ऐसी अवस्था जहाँ राज्य के पास असीमित अधिकार होते हैं तथा शासन करने का निरंकुश अधिकार।

5.10 उपयोगी पुस्तकें

1. ए0डी0 आशीर्वादम् एवं कृष्णकान्त मिश्र (2001) राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली।
2. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

3. संपादक ज्ञान सिंह संधु, राजनीति सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम, कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

5.11 सम्बन्धित प्रश्न

(1) दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

(ब) राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक उपयुक्त सिद्धान्त कौन सा है और क्यों? विश्लेषण कीजिए।

(स) राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिए।

(2) लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए।

(ब) राज्य की उत्पत्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

(स) राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धान्त क्या है बताइए।

(द) राज्य की उत्पत्ति के मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

(3) बहुविकल्पीय प्रश्न :

(1) राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौता सिद्धान्त में लोकप्रिय सम्प्रभुता सिद्धान्त का समर्थक निम्न में से कौन है।

(i) हॉब्स

(ii) लॉक

(iii) रूसो

(iv) उपर्युक्त सभी

(2) राज्य की उत्पत्ति का सर्वाधिक प्राचीन सिद्धान्त निम्न में से कौन है?

(i) शक्ति सिद्धान्त

(ii) दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त

(iii) विकासवादी सिद्धान्त

(iv) मातृसत्तात्मक एवं पितृसत्तात्मक सिद्धान्त

(3) दैवी उत्पत्ति के आधार पर इंग्लैण्ड में निम्न में से किस राजा अथवा रानी ने अपना शासन स्थापित किया।

(i) जेम्स प्रथम

(ii) महारानी ऐलिजाबेथ द्वितीय

(iii) जॉर्ज प्रथम

(iv) जॉर्ज द्वितीय

(4) निम्न में से कौन राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धान्त का समर्थक है?

(i) मैकाइवर

(ii) बुडरो विल्सन

(iii) कान्ट

(iv) नीत्शे

(5) हॉब्स ने निम्न में से किस पुस्तक में सामाजिक समझौता सिद्धान्त दिया है?

(i) रिपब्लिक

(ii) दि प्रिन्स

(iii) लेवायथन

(iv) ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स

(6) प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त का समर्थन किसने किया है।

(i) लॉक

(ii) हॉब्स

(iii) ग्रीन

(iv) मिल

(7) सीमित सम्प्रभुता सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया।

(i) हॉब्स

(ii) लॉक

(iii) रूसो

(iv) अरस्तू

(8) मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति का कारण–

(i) दैवीय है

(ii) क्रमिक विकास है

(iii) सामाजिक समझौता है

(iv) समाज में वर्गों के उदय का परिणाम है

5.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 05.5.1, 05.5.2, 05.5.3 अंश

(ब) देखिए इकाई का 05.6 अंश

(स) देखिए इकाई का 05.2 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 05.5.4 अंश

(ब) देखिए इकाई का 05.7 अंश

(स) देखिए इकाई का 05.3 अंश

(द) देखिए इकाई का 05.4 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(1) (iii)

(2) (ii)

(3) (i)

(4) (iv)

(5) (iii)

(6) (i)

(7) (ii)

(8) (iv)

इकाई–6

संम्प्रभुता की धारणा एवं विकास

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सम्प्रभुता की धारणा का विकास

6.3 सम्प्रभुता की परिभाषा

6.4 सम्प्रभुता के विभिन्न स्वरूप

- 6.4.1 सम्प्रभुता की कानूनी धारणा
  - ➢ प्रभुसत्ता की आस्टिन द्वारा प्रस्तुत व्याख्या
  - ➢ आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना
- 6.4.2 राजनैतिक प्रभुसत्ता
- 6.4.3 लौकिक प्रभुसत्ता (Popular Sovereigaty)
- 6.4.4 विधि सम्मत (Dejure) तथा तथ्य सम्मत (Defacts) सम्प्रभुता
- 6.4.5 प्रभुसत्ता का बहुलवादी सिद्धान्त
  - ➢ लास्की एवं मैकाईवर के विचार
  - ➢ बहुलवादी सिद्धान्त का मूल्यांकन

6.5 निष्कर्ष

6.6 अभ्यास प्रश्न

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देष्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त समझ पायेंगेः–

- ➢ सम्प्रभुता की अवधारणा के बारे में।
- ➢ सम्प्रभुता के विभिन्न स्वरूपों के बारे में।
- ➢ सम्प्रभुता के कानूनी दृष्टिकोण के बारे में।
- ➢ सम्प्रभुता की बहुलवादी धारणा के बारे में।

6.1 प्रस्तावना

प्रभुसत्ता राज्य का आवश्यक तत्व है जिसके बिना राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रभुसत्ता राज्य व समाज की सर्वोच्च शक्ति है। एक राजनीति समाज में प्रतिस्पर्धा व संघर्षों का समाधान बिना सर्वोच्च शक्ति के सम्भव नहीं है। जनसंख्या, भू–भाग एवं सरकार की तरह संप्रभुता राज्य का एक आवश्यक व अनिवार्य तत्व है। प्रभुसत्ताधारी राज्य के लिये न केवल यह आवश्यक है कि वह आंतरिक क्षेत्र में पूर्ण स्वतंत्र हो तथा लोग राज्य की आज्ञा का पालन करते हो बल्कि यह भी जरूरी है कि राज्य बाहरी क्षेत्र में स्वतंत्र हो तथा विदेश नीति के मामलों में भी राज्य को आजादी हो।

6.2 सम्प्रभुता की धारणा का विकास

सर्वोच्च सत्ता के रूप में प्रभुसत्ता की धारणा का विकास आधुनिक राष्ट्र राज्यों के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। प्राचीन युनान के नगर राज्यों तथा मध्यकालीन राज्यों के सन्दर्भ में भी संप्रभुता की धारणा का विकास देखा जा सकता है। प्राचीन युनान के नगर राज्य आत्म निर्भर तथा स्वंतत्र थे। अरस्तू ने तो राज्यों का वर्गीकरण इस आधार पर किया कि संप्रभुता या सर्वोच्च सत्ता एक व्यक्ति, कुछ व्यक्तियों में या फिर बहुसंख्यक वर्ग में निहित है। मध्यकाल में भी इस विषय पर व्यापक चर्चा हुई कि क्या संप्रभुता का विभाजन राज्य व चर्च के बीच होना चाहिए और यदि हो तो उसका आधार क्या हो? आधुनिक युग तक आते–आते संप्रभुता का विचार अधिकाधिक परिपक्व तर्कसंगत व सुस्पष्ट होता गया।

6.3 प्रभुसत्ता की परिभाषा

प्रभुसत्ता की निम्नांकित परिभाषायें अवलोकन योग्य है:–

- प्रभुसत्ता नागरिकों और शासितों के ऊपर ऐसी शक्ति है जिस पर कानून के बंधन नहीं होते–बोदां।
- प्रभुसत्ता उस व्यक्ति की सर्वोच्च शक्ति है जिसके कार्य किसी अन्य के अधीन नहीं होते और उसकी इच्छा कोई टाल नहीं सकता– ग्रोशियस।
- प्रभुसत्ता वह अनिवार्य सर्वोच्च और अनियंत्रित शक्ति है जिसमें सर्वोच्च कानूनी शक्ति निवास करती है– ब्लेक स्टोन।
- प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है– विलोबी।
- प्रभुसत्ता जनता तथा जनता के सभी संगठनों के ऊपर मौलिक निरंकुश तथा असीमित शक्ति है–बर्गेस।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च शक्ति है जो नागरिकों में आज्ञापालन के लिए बाध्य करती है तथा आन्तरिक व बाहरी क्षेत्र में राज्य की सर्वोच्चता को रेखांकित करती है। संप्रभुता के अभाव में राष्ट्र–राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती, यह राज्य के स्थायित्व व एकता के लिए आवश्यक है।

6.4 सम्प्रभुता के विभिन्न स्वरूप

सम्प्रभुता की प्रकृति के बारे में विभिन्न दृष्टिकोण रहे हैं। इन विभिन्न दृष्टिकोणों को हम निम्न प्रकार से देखने का प्रयास करेंगे।

6.4.1 प्रभुसत्ता की कानूनी अवधारणा

प्रभुसत्ता की कानूनी अवधारणा सबसे पहले बोदां व हाब्स द्वारा प्रस्तुत की गई तथा इसका विस्तार से वर्णन बेंचम तथा आस्टिन द्वारा किया गया। बोदां के अनुसार प्रभुसत्ता से तात्पर्य उस सत्ता से है जो कानून द्वारा बंधित नहीं होती, जो कानून का स्रोत है। यद्यपि बोदां के अनुसार प्रभुसत्ताधारी ईश्वरीय कानूनों प्राकृतिक कानूनों तथा अर्न्तराष्ट्रीय कानूनों के अधीन होता है। हाब्स ने प्रभुसत्ता को और अधिक निरंकुश स्वरूप प्रदान किया। उसके सामाजिक समझौते में प्रत्येक व्यक्ति अपने शासन करने के अधिकार को प्रभुसत्ता को सौंप देता है। अतः हाब्स का सामाजिक समझौता निरंकुश व अनुत्तरदायी प्रभुसत्ता की स्थापना करता है जो किसी ईश्वरीय या मानवीय कानून से बंधी हुई नहीं है। हाब्स की, प्रभुसत्ता अविभाज्य, अदेय तथा असीमित है। यह निरंकुश स्थायी तथा अहस्तान्तरणीय है। कुल मिलाकर हाब्स की प्रभुसत्ता की धारणा निरंकुशता का समर्थन करती है। अतःइसे प्रजातंत्र के आधारभूत सिद्धान्तों के विरूद्ध माना जा सकता है। प्रभुसत्ता का एकलवादी सिद्धान्त इसी के आधार पर खड़ा हुआ है जिसे परवर्ती राजनीति विचारकों द्वारा इसी आधार पर चुनौती दी गई कि राज्य में अनेक संगठन, हित समूह होते हैं तथा राज्य प्रभुसत्ता का एकाधिकार वादी दावा प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसी प्रकार अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभुसत्ता की निरंकुश धारणा विश्वशांति के विरोध में जाती है जो स्वीकार योग्य नहीं है।

❖ प्रभुसत्ता की आस्टिन द्वारा प्रस्तुत व्याख्या

जॉन आस्टिन ने अपनी पुस्तक Lectures on Jurisprudence में संप्रभुता की नैतिकता तथा ऐतिहासिक तत्वों से परे जाकर कानूनी व्याख्या प्रस्तुत की। आस्टिन के अनुसार यदि कोई निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति जो किसी अन्य श्रेष्ठ व्यक्ति की आज्ञापालन का आदी नहीं है समाज के बहुत बड़े भाग से अपनी आज्ञा का पालन सहज रूप से करवा लेता है तो वह निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति प्रभुसत्ताधारी है और वह समाज उस श्रेष्ठ व्यक्ति सहित राजनीति व स्वतंत्र समाज है। इस प्रकार कानून श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिया जाने वाला आदेश है और समाज के सभी सदस्य इस श्रेष्ठ व्यक्ति पर निर्भर करते हैं। समाज के अन्य सभी सदस्य इस संप्रभु व्यक्ति की तुलना में पराधीनता व पराश्रित स्थिति में है। इस प्रकार प्रत्येक कानून का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष निर्माता प्रभुसत्ताधारी होता है।

जॉन आस्टिन की उपरोक्त परिभाषा की व्याख्या करने से निम्न विशेषताएं स्पष्ट होती है–

1 प्रभुसत्ता के लिए समाज में निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति का होना जरूरी है। प्रभुसत्ताधारी निश्चित व मूर्तरूप होना चाहिये क्योंकि यह वह सर्वोच्च शक्ति है जो सभी व्यक्तियों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है। प्रभुसत्ता की व्याख्या दैवीय कानूनों, समान्य इच्छा व प्राकृतिक कानून की अमूर्त धारणाओं से नहीं की जा सकती है। प्रभुसत्ता स्पष्ट, मानवीय व मूर्त स्वरूप में लक्षित होनी चाहिये।

2 प्रभुसत्ता सर्वोच्च होनी चाहिये अर्थात् संप्रभु किसी अन्य शक्ति के अधीन नहीं हो सकता।

3 संप्रभु को समाज के आज्ञापालन की प्राप्ति होनी चाहिये। आज्ञापालन निरन्तर स्थायी तथा आदतन होना चाहिये। सभी लोग संप्रभु की आज्ञा का पालन करते हों तभी संप्रभुता की पुष्टि होती है।

4 संप्रभु का आदेश कानून होता है और समस्त कानूनों का स्रोत संप्रभुता है।

5 प्रभुसत्ता असीमित होती है और उस पर किसी प्रकार की सीमा व अवरोध नहीं होता है न ही प्रभुसत्ता पर आन्तरिक व बाहरी कोई प्रतिबन्ध होता है।

6 प्रभुसत्ता अविभाज्य अहस्तान्तरणीय, अदेय तथा एकीकृत सर्वोच्च शक्ति है।

प्रभुसत्ता पर इस प्रकार आस्टिन की धारणा स्पष्टतः निरंकुशवादी तथा एकाधिकारवादी प्रतीत होती है। प्रभुसत्ता की एकलवादी धारणा इसे अविभाज्य, अहस्तान्तरणीय, असीम, सर्वशक्तिमान, स्थायी मानती है। प्रभुसत्ता की यह कानूनीवादी व्याख्या मानती है कि प्रभुसत्ता का स्रोत कानून है न कि प्राकृतिक कानून या किसी प्रकार की नैतिकता। इस धारणा कि तार्किक परिणति अधिनायकवादी राज्यों के समर्थन में होती है और यह सिद्धान्त प्रजातांत्रिक मान्यताओं, समस्याओं और प्रजातांत्रिक विचारों का विरोधी है जिसे आधुनिक युग में स्वीकार नहीं किया जा सकता। बहुवादी विचारकों ने इसीलिये कई आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचनायें प्रस्तुत की है।

❖ आस्टिन के सिद्धान्त की आलोचना

1. यह सिद्धान्त अयथार्थवादी अर्थात् आधुनिक राज्यों की वास्तविकता से दूर है। ब्राइस ने इस सम्बन्ध में व्याख्या प्रस्तुत करते है कि आस्टिन की धारणा केवल दो प्रकार के राज्यों के लिए ही सही है एक अधिनायकवादी राज्य के लिए, दूसरे ब्रिटेन जैसे राज्य के लिए जहां कि प्रभुसत्ता को ढूंढा जाना संभव है। सर हेनरी मेन के अनुसार आस्टिन का सिद्धान्त विकासशील व विकसित देशों पर लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि इन राज्यों में कानून का आधार रीतिरिवाज व परम्परायें है और न ही निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि संप्रभुता सरकार के किस अंग में निवास करती है। वास्तव में कानून समाज की सामूहिक चेतना का परिणाम है अतः यह कहना कि कानून प्रभुसत्ताधारी का आदेश है, सही नहीं है। वस्तुतः प्रभुसत्ता को ऐतिहासिक व राजनीति सन्दर्भों में देखे जाने की आवश्यकता है।
2. एकलवादी सिद्धान्त द्वारा दी गई कानून की परिभाषा तर्कसंगत नहीं है। कानून की परिभाषा में शक्ति तत्व को अधिक प्रधानता दी गई है। डयूगो के अनुसार केवल राज्य कानून का निर्माण नहीं करता बल्कि कानून राज्य का निर्माण करता है। अतः कानून को सिर्फ सम्प्रभुताधारी का आदेश मानना कानून की संकुचित व्याख्या है। वास्तव में कानून सामाजिक आवश्यकता तथा सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है जिनका आधार समाज के रीति–रिवाज व ऐतिहासिक परम्परायें हैं।
3. जैसा कि पूर्व में इंगित किया गया है कि यह सिद्धान्त निरंकुश राज्यों का पक्षपोषण करता है। आस्टिन के अनुसार प्रभुसत्ता असीम तथा निरंकुश है जिस पर बाहरी व आन्तरिक प्रतिबन्धों का अभाव है जबकि वस्तुतः प्रभुसत्ताधारी राजनीति व ऐतिहासिक सीमाओं से बंधा रहता है। आन्तरिक रूप से संप्रभु जनता के अधिकारों से, रीति रिवाजों से, ऐतिहासिक परम्पराओं से सीमित होता है जब कि आस्टिन यह मानता है कि रीति

रिवाजों व दैवीय कानून राज्य द्वारा निर्मित कानून से न तो ऊपर होते हैं और न ही स्वंतत्र होते हैं।

4. आस्टिन की यह मान्यता है कि प्रभुसत्ता अविभाज्य है और इसके विभाजन का अर्थ है प्रभुसत्ता का समाप्त हो जाना। यह मान्यता भी अपने आप में त्रुटिपूर्ण है। आस्टिन के लिए विघटित या विभाजित संप्रभुता अपने आप में विरोधाभास है जबकि आधुनिक युग में यह एक राजनीति वास्तविकता है। बहुलवादी विचारकों ने यह स्पष्टतः माना है कि राज्य समाज में अनेक समुदायों की तरह एक समुदाय है अतः वह निरंकुश व अविभाज्य सत्ता का एक मात्र दावेदार नही माना जा सकता। अतः राज्य संप्रभुता का उपयोग समाज में अन्य समुदायों के साथ करता है। इसके अतिरिक्त राज्य में भी प्रभुसत्ता सरकार के तीन अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका में विभाजित प्रतीत होती है। अतः यह कहा जाना कि संप्रभुता अविभाज्य है राजनीति यथार्थ के परे की मान्यता है। राजनीति वास्तविकता ठीक इस मान्यता के विपरीत है और उस सीमा तक आस्टिन की व्याख्या एकांगी व त्रुटिपूर्ण मालूम पड़ती है।

6.4.2 राजनैतिक प्रभुसत्ता

आस्टिन की धारणा को कानूनी संप्रभुता माना जाता है लेकिन जैसा कि डायसी ने कहा है कानूनी संप्रभुता के पीछे एक अन्य प्रभुसत्ता होती है जिसे कानूनी प्रभुसत्ता को भी सिर झुकाना पड़ता है और वह है राजनीति संप्रभुता। राजनीति संप्रभुता (Political Sovereignty) की धारणा का उदय इग्लैण्ड की 1688 की गौरवपूर्ण क्रांति से होता है जिसकी अभिव्यक्ति लॉक के राजनीति चिंतन में देखने को मिलती है। अपनी पुस्तक "Two treatises on Government" में लॉक तीन सर्वोच्च शक्तियों का वर्णन करता है–

1. नागरिक समाज की सर्वोच्च सत्ता –यह सर्वोच्च शक्ति है।
2. विधान मण्डल की सर्वोच्च सत्ता।
3. कार्य कारिणी की सर्वोच्च सत्ता।

लॉक के अनुसार सर्वोच्च शक्ति दो प्रकार की होती है एक सरकार की और दूसरी जनता की। सामन्यतः सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग सरकार द्वारा किया जाता है, किन्तु यदि सरकार या जनप्रतिनिधि सर्वोच्च सत्ता का सही उपयोग नहीं करते या इसका दुरूपयोग करते हैं तो जनता अपनी सर्वोच्च शक्ति का उपयोग कर सरकार को बदल सकती है अतः सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और संप्रभुता का निवास जनता में अंतिम रूप से होता है। विधान मण्डल कानूनी संप्रभुता का निवास है जबकि वास्तविक या राजनीति संप्रभुता का स्रोत जनता है। लॉक के बाद माण्टेस्क्यू द्वारा शक्ति प्रथक्करण का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सरकार के तीनों अंगों द्वारा संप्रभुता के नियंत्रण व संतुलन परक उपयोग की बात की गई।

6.4.3 लौकिक प्रभुसत्ता (Popular Sovereigaty)

इस प्रकार कानूनी सम्प्रभुता के पीछे एक वास्तविक राजनीति सम्प्रभुता होती है। राजनीति सम्प्रभुता का अंतिम स्रोत है जो सर्वोच्च है और इसका प्रकटीकरण सार्वजनिक सभाओं, राजनीति दलों के प्रदर्शनों, दबाव समूहों में हो सकता है। इस प्रकार राजनीति सम्प्रभुता कानूनी सम्प्रभुता के पीछे का आधार है। रूसो अपने चिंतन से लौकिक सम्प्रभुता की बात करता है जिसका स्रोत 'जनता की सामान्य

TESL-024

ईच्छा' है। जनता का प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत स्तर पर एक नागरिक के रूप में प्रभुसता का प्रयोग करता है। सभी लोग मिलजुल कर एक नागरिक समाज (Civil Society)) की स्थापना करते हैं जिसका एक सार्वजनिक व्यक्तित्व होता है और सामान्य इच्छा ही रूसो के अनुसार प्रभुसताधारी है और इसे ही वह लौकिक सम्प्रभुता कहता है। रूसो की सामान्य इच्छा अदेय व अहस्तान्तरणीय है और सर्वोच्चता भी इसे प्राप्त है। लास्की के अनुसार लौकिक प्रभुसता का यह अर्थ लगया जा सकता है कि समाज में जनसाधारण के हित सर्वोपरि है न कि किसी विशेष वर्ग या भाग के हित। सरकार का अस्तित्व जनसाधारण की भलाई के लिये है और यदि जनसाधारण का हित सर्वोपरि नहीं रहता है तो जनता क्रान्ति भी कर सकती है। यद्यपि रूसो की लौकिक सम्प्रभुता की धारणा कई अर्थों में अस्पष्ट तथा अनिश्चित सी प्रतीत होती है किन्तु यह पूर्णतः स्थापित करती है कि जनता सम्प्रभुता का अंतिम स्रोत व निर्णायक है।

6.4.4 विधि सम्मत (Dejure) तथा तथ्य सम्मत (Defacto) संप्रभुता

युद्ध के समय विधि सम्मत तथा तथ्य सम्मत संप्रभुता में अन्तर पाया जाता है। विधि सम्मत संप्रभुता का अर्थ कानूनी संप्रभुता से है जबकि तथ्य सम्मत संप्रभुता से तात्पर्य वह संप्रभुता है जिसकी आज्ञा का पालन वास्तविक अर्थों में लोगों द्वारा किया जाता है। युद्ध अथवा क्रांति के समय यह दोहरी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। जनता क्रांति के समय कानूनी संप्रभुता को हटाकर नयी प्रभुसत्ता की स्थापना सामान्य तौर पर करती है तब कानूनी संप्रभुता की आज्ञा का पालन होना बन्द हो जाता है। उदाहरण के लिए रूस में साम्यवादी क्रांति होने के बाद जार की कानूनी संप्रभुता समाप्त हो गई तथा साम्यवादी दल लेनिन के नेतृत्व में वास्तविक संप्रभुताधारी हो गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है आस्टिन तथ्य सम्मत तथा विधि सम्मत संप्रभुता में कोई अन्तर नहीं करता है और वास्तव में जनता के लिये दोनों के बीच उहापोह की स्थिति नहीं होनी चाहिये क्योंकि जनता एक संप्रभुता की आज्ञा का पालन करती है। शांति व व्यवस्था के लिये जरूरी है कि दोनों संप्रभुता में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं करती है। जब भी तथ्य सम्मत तथा विधि सम्मत संप्रभुता में कोई भेद होता है वह युद्ध या क्रांति की स्थिति के समाप्त होने के बाद यह भेद शीघ्र समाप्त हो जाता है। क्रांति की अवस्था में दोनों में संघर्ष होता है और कालान्तर में तथ्य सम्मत संप्रभुता विधि सम्मत का रूप ले लेती है।

6.4.5 प्रभुसत्ता का बहुलवादी सिद्धान्त

20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजनीति चिंतन में बहुलवाद का उदय हुआ जिसने उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था का पक्ष पोषण किया। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राष्ट्रीय राज्यों के साथ–साथ अन्तरराष्ट्रीयतावाद का विकास भी देखने को मिलता है तथा व्यक्तिवाद के स्थान पर इस काल में लोकतांत्रिक व उदारवादी सिद्धान्त का विकास हुआ जिसने बहुलवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। बहुलवाद के विकास को कई लोग एकलवाद के विपरीत एक प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु बहुलवाद के आधार के रूप में निम्न मान्यतायें विशेष रूप से अवलोकन योग्य है–

1. मनुष्य के जीवन के र्स्वागींण विकास के लिये राज्य के अतिरिक्त समाज में अन्य संघों एवं संगठनों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है जिसे किसी भी परिस्थिति में अनदेखा नहीं किया जा सकता है। अतः संघों के प्रति भी व्यक्ति की निष्ठा होती है और जैसा कि लास्की ने लिखा है चूँकि समाज का स्वरूप संघीय है, अतः

सत्ता का स्वरूप भी संघीय होना चाहिये। अतः राज्य व्यक्ति से सर्वोच्च, असीम संप्रभुता की और आज्ञापालन की अपेक्षा नहीं कर सकता। अतः राज्य की निरकुंशता को कोई भी बात बहुलवादी विचारकों को स्वीकार्य नहीं हो सकती। राज्य भी अन्य संघों की तरह एक संघ है अतः उसे संघों के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिये।

2. अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी सर्वोच्च व असीमित संप्रभुता की एकलवादी धारणा विश्व शांति के विरूद्ध जाती है और अन्तरराष्ट्रीयता वाद का विरोध करती है अतः इसे किसी भी दृष्टिकोण से स्वीकार योग्य नहीं माना जा सकता।

जर्मन विचारक गीयर्के तथा ब्रिटिश विचारक मेटलैण्ड को आधुनिक राजनीति बहुलवाद का जनक माना जाता है। इन विचारकों ने अपनी कृतियों में समाज में आर्थिक संघों के महत्व पर विशेष बल दिया। इनके अनुसार प्रत्येक समाज में अनेक संघ होते हैं जो व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक होते हैं और राज्य न तो इन संघों को जन्म देता है और न ही वे अपने अस्तित्व के लिये राज्य पर निर्भर होते हैं। बहुलवाद एक राजनीति सिद्धान्त के रूप में इन संघों की भूमिका को मान्यता प्रदान करता है। बहुलवादी विचारकों में प्रमुख रूप से विलियम जेम्स, फिगिस, दुर्खाइम, फालेट लिण्डसे बार्कर, कोल, लास्की तथा मेकाइवर का नाम उल्लेखनीय है। इन विचारकों ने समाज में संघों व अन्य संगठनों के महत्व को रेखांकित किया है और यह माना है कि राज्य को इन संघों के क्रियाकलापों में सहयोग व संतुलन कर कार्य करना चाहिये किन्तु राज्य को इनके मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होना चाहिये। स्पष्टतः ये विचारक असीमित व अमर्यादित संप्रभुता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि राज्य की संप्रभुता न तो आन्तरिक क्षेत्र में असीमित हो सकती है और न ही बाहरी क्षेत्र में। असीमित व अमर्यादित संप्रभुता निरंकुश राज्यों का समर्थन करती है तथा विश्वशांति व अन्तरराष्ट्रीयतावाद के आदर्शों का विरोध करती है। यही कारण है कि एकलवादी संप्रभुता का सिद्धान्त लास्की के अनुसार एक हानिकारक सिद्धान्त है। लास्की के अनुसार यदि प्रभुसत्ता सम्बन्धी सम्पूर्ण विचार का त्याग कर दिया जावे तो यह राजनीति शास्त्र के लिये एक स्थायी लाभ होगा।

❖ लास्की एवं मैकाईवर के विचार

लास्की ने अपनी पुस्तक A Grammer of Politics में एकलवादी कानूनी संप्रभुता के सिद्धान्त की कड़ी आलोचना प्रस्तुत की है। लास्की एकलवादी सिद्धान्त को तर्क आधारित व विवेक सम्मत नहीं मानता बल्कि उसके अनुसार यह सिद्धान्त ऐतिहासिक विवशताओं का परिणाम है। लास्की के अनुसार एकलवादी प्रभुसत्ता की धारणा 16वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के बीच की ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज है किन्तु चूँकि 20वीं शताब्दी में ऐसी स्थितियाँ विद्यमान नहीं है अतः एकलवादी प्रभुसत्ता वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है और न ही इसे स्वीकार किया जा सकता है। 20वीं शताब्दी में राज्य का कार्यक्षेत्र उत्तरोतर बढता गया तथा उदारवादी लोकतांत्रिक समाज में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हो गई है जिससे संप्रभुता की कानूनी व्याख्या असीमितता, सर्वोच्च, अदेयता आदि को उपयोगी व सान्दर्भिक नहीं माना जा सकता। आज की परिस्थिति में कानून संप्रभुता का आदेश नहीं होकर जन कल्याण का साधन है। राज्य भी समाज का वर्तमान में पयार्यवाची नहीं है बल्कि राज्य समाज की व्यवस्था को बनाये रखने का एक उपकरण है। राज्य समाज के सामान्य हितों का रक्षक है किन्तु वह कभी भी समाज नहीं हो सकता। राज्य में समाज स्थापित अन्य संघों की तरह एक संघ है

TESLA-024

और ये संघ उतने ही स्वाभाविक है जितना कि राज्य। अपने–अपने क्षेत्रों में संघों की भूमिकाएं महत्वपूर्ण है और अन्य संघ की तरह राज्य की भी अपनी भूमिका है।

लास्की तो यहाँ तक मानता है कि अन्य संघ राज्य से किसी भी प्रकार कम प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं है। यद्यपि राज्य की सदस्यता अनिवार्य है और यह जबरदस्ती नागरिकों से आज्ञापालन करवाता है किन्तु नैतिक स्तर पर राज्य व संघों के बीच लास्की किसी प्रकार की भेदकारी रेखा नहीं खींचता है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में लास्की एकल संप्रभुता की धारणा को अनुपयोगी मानता है क्योंकि 20वीं शताब्दी में ऐसी स्थितियाँ नहीं है कि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य मनमाना अमर्यादित आचरण करे। स्वंय लास्की के शब्दों में अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि से स्वतंत्र व सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राज्य का विचार मानवता के कल्याण के लिये घातक है।

इस प्रकार लास्की 20वीं शताब्दी के सन्दर्भ में और उत्पन्न परिस्थितियों में एकलवादी संप्रभुता के सिद्धान्त को दोनों आधारों पर हानिकारक व अनुपयोगी मानता है। प्रथमतः आन्तरिक क्षेत्र में राज्य सर्वोच्च प्रभुसत्ता की मांग नहीं कर सकता क्योंकि वह न तो समाज का पर्याय है और न ही एक मात्र संगठन क्योंकि समाज में अन्य कई प्रकार के उपयोगी संघ/समुदाय/दबाव समूह वित्त समूह अस्तित्व में है और उनकी भूमिकाएं व्यक्ति के लिये उतनी ही आवश्यक व उपयोगी है। द्वितीयतः राज्य अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी सर्वोच्च संप्रभुता की मांग नहीं कर सकता क्योंकि यह विश्वशांति विश्व संगठन तथा अन्तरराष्ट्रीयवाद के सिद्धान्तों के विपरीत है।

बहुलवाद सम्बन्धी मैकाईवर के विचार उसकी पुस्तक The Modern State (1926) में देखने को मिलते है। मैकाईवर भी राज्य व समाज में अन्तर करता है। उसके अनुसार सामाजिक व राजनीति को एक दूसरे का पयार्य मानना गलत है। समाज में परिवार चर्च, क्लब न तो राज्य द्वारा निर्मित होते हैं और न ही राज्य से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार सामाजिक रीतिरिवाज परम्पराएं राज्य उत्पन्न नहीं करता है। अतः राज्य को किसी भी स्थिति में समाज का प्रतिरूप नहीं समझा जाना चाहिये। मैकाईवर के अनुसार राज्य समाज में स्थापित किसी संघ की तरह का ही एक संघ है। जैसे संघ व्यक्ति के विशेष उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं वैसे ही राज्य भी कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है। संघ भी अपने–अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये समाज में उत्पन्न होते हैं और राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करता है वैसे ही संघ अपने–अपने क्षेत्र में शक्तियों का प्रयोग करते हैं। राज्य की तरह संघों का पृथक जीवन व पृथक स्वायतता होती है। मैकाईवर के अनुसार राज्य संघों के आन्तरिक मामलों को निश्चित नहीं करता और न ही उनके उद्देश्यों तथा विधियों को निश्चित करता है बल्कि वह उन सीमाओं को निश्चित करता है तथा सामान्य व्यवस्था से उनका सम्बन्ध जोड़ता है। संघों की व्यवस्था, विविध रूप आदि से मिलकर ही समाज का निर्माण होता है। राज्य समाज का सेवक है। समाज पहले अस्तित्व में आता है और राज्य बाद में, अतः राज्य समाज से ऊपर नहीं हो सकता। मैकाईवर के अनुसार संप्रभुता की एकलवादी धारणा औपचारिक मात्र है और वह शक्ति को महत्व देती है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में भी मैकाईवर का एकलवादी प्रभुसत्ता का विचार स्वीकार्य नहीं है क्योंकि यह अन्तरराष्ट्रवाद के विपरीत जाता है।

इस प्रकार लास्की व मैकाईवर के विचारों में हमें एकलवादी संप्रभुता की धारणा की कमियां देखने को मिलती है। दोनों ही विचारक यह मानते हैं कि राज्य व समाज को एक नहीं माना जा सकता और समाज का अस्तित्व पहले आता है जबकि राज्य एक परवर्ती संगठन है जिसके उद्देश्य सीमित होते हैं। राज्य समाज

में विद्यमान अन्य संघों व समुदायों की तरह एक संघ है और वह समाज से ऊपर नहीं हो सकता। राज्य की असीमित शक्तियों को इसलिये स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि राज्य समाज का सेवक मात्र है और यह समाज से सर्वोपरि नहीं हो सकता।

❖ बहुलवादी सिद्धान्त का मूल्यांकन

बहुलवादी सिद्धान्त ने कानूनी दृष्टिकोण की सीमाओं से परिचित कराया। आस्टिन के एकलवादी कानूनी दृष्टिकोण की अपेक्षा प्रभुसत्ता की अधिक यथार्थवादी व्याख्या प्रस्तुत की। बहुलवाद ने उदारवादी लोकतांत्रिक समाज का समर्थन किया जबकि आस्टिन का कानूनी सिद्वान्त प्रभुसत्ता की निरंकुश व्याख्या का पोषण करता है। बहुलवाद ने खुलेतौर पर यह स्वीकार किया कि समाज में राज्य के अलावा अन्य संस्थाएं जैसे परिवार, चर्च, व्यावसायिक व अन्य हित समूह कार्य करते हैं और इनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार स्पष्टतः बहुलवादी व्याख्या व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा प्रजातांत्रिक समाज का समर्थन करती है।

बहुलवाद ने न केवल राज्य की आन्तरिक परिधि में सीमाएं स्वीकार की अपितु बाहरी क्षेत्र में भी प्रभुसत्ता पर अन्तरराष्ट्रीय कानून और नैतिकता के नियंत्रण की बात स्वीकार की जिसका परिणाम यह हुआ कि अन्तरराष्ट्रीय राज्य की अवधारणा के विकास व विश्व शांति की धारणा के विकास में बहुलवादी व्याख्या का महत्वपूर्ण योगदान रहा। बहुलवादी विचारधारा ने संप्रभुता की यथार्थपरक व्याख्या प्रस्तुत की तथा उदारवादी लोकतंत्र का समर्थन किया इसके अतिरिक्त विश्व शांति तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का भी यह सिद्धान्त समर्थन करता है अतः इसके ऐतिहासिक योगदान को नकारा नहीं जा सकता बल्कि राजनीति चिंतन में बहुलवाद का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

6.5 निष्कर्ष

इस तरह स्पष्ट है कि सम्प्रभुता राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग है। सम्प्रभुता के अभाव में राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। सम्प्रभुता की प्रकृति के सन्दर्भ में दो धारणायें प्रमुख रही है। प्रथम, सम्प्रभुता की कानूनी धारणा एवं सम्प्रभुता की बहुलवादी धारणा। सम्प्रभुता की कानूनी धारणा के अन्तर्गत सम्प्रभुता के निरपेक्षपा एवं एकल वादी स्वरूप की व्याख्या की जाती है। इसके अन्तर्गत सम्प्रभुता के अभिभाज्य स्वरूप को स्वीकार किया जाता है। सम्प्रभुता की दूसरी धारणा बहुलवादी है। इसके अन्तर्गत राज्य को भी अन्य संघों की भांति एक संघ माना जाता है। यहाँ सम्प्रभुता के विभाजित स्वरूप को स्वीकार किया जाता है। सम्प्रभुता के बहुलवादी धारणा को आधुनिक प्रजातंत्र के लिए उपयोगी माना जाता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत निरंकुश शक्ति की अपेक्षा विभाजित शक्ति की मान्यता को स्वीकार किया जाता है।

6.6 अभ्यास प्रश्न

1. सम्प्रभुता की अवधारणा से आप क्या समझते है?
2. सम्प्रभुता की अवधारणा के विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या कीजिए।
3. सम्प्रभुता की कानूनी धारणा का मूल्यांकन कीजिए।

4. सम्प्रभुता की बहुलवादी धारणा का मूल्यांकन कीजिए।

6.7 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. नूट्टिला एण्ड कुबिक, वेन्डी : स्टेट थ्योरी, फर्नवुड पब्लिशिंग, न्यूयार्क, 2000
2. आस्टिन, जेः दि प्रोविन्स ऑफ डूयरिसप्ररोडेंस डिटरमाइन्ड, लन्दन, 1832
3. बोदां : सिक्स बुक्स ऑफ ए कॉमनवेल, कम्ब्रिज, 1576
4. फिलपोट, डी. :''सावरेंटी'' : स्टेलफार्ड एनसाइक्लोपिडिया ऑफ फिलोसोफी
5. बिट्सटेकर, थामस एण्ड वेबर सिन्थिया : स्टेट सावरेंटी एवं सोशल कन्स्ट्रक्ट, कम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1996
6. कृष्णकान्त मिश्र : राजनीति सिद्धान्त और शासन, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 2001
7. बी.आर. पुरोहित : राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007

इकाई–7

शक्ति सत्ता और वैधता

इकाई की रूपरेखा

7.0 शक्ति

7.1 उद्देश्य एवं प्रस्तावना

7.1.1 परिभाषा एवम् व्युत्पत्ति

7.2 विषय एवं रूप रेखा

7.2.1 शक्ति के स्त्रोत

7.2.2 शक्ति प्रयोग के आयाम

7.2.3 शक्ति के प्रकार

7.3 शक्ति पर मार्क्सवादी विचारदृष्टि

7.4 बहुलवादी व सम्भ्रान्त वर्गीय अवधारणा

7.5 सारांश

7.6 सत्ता

7.6.1 प्रस्तावना

7.6.2 परिभाषायें

7.6.3 सत्ता के विभिन्न स्त्रोत :

7.6.3.1 संस्थात्मक शक्ति की दृष्टि से सत्ता के अन्य प्रकार

7.6.4 सत्ता का आधार

7.7 वैधता (Legitimacy)

7.7.1 अभिप्राय एवम् प्रकृति

7.7.2 वैधता के प्रकार

7.7.3 परम्परागत–करिश्माई एवं विधिक वैधताओं में परस्पर सम्बन्ध

7.7.4 राबर्ट डहल का वैधता पर मानदण्डः–

7.8 पारिभाषिक शब्द (की वर्ड्स)

7.8.1 उपयोगी पुस्तकें

7.9 बोध प्रश्न

TESLA-024

7.0 शक्ति

शक्ति किसी व्यक्ति या समूह द्वारा दूसरे व्यक्ति और समूह के व्यवहार को अपने अनुकूल परिवर्तित करने की क्षमता को कहते हैं।

7.1 उद्देश्य एवं प्रस्तावना

मानव के व्यवस्थित जीवन के आरम्भ के साथ ही शक्ति और उसके प्रभाव तथा उसके प्रयोंगों पर विमर्श प्रारम्भ हो गया शक्ति सत्ता और वैधता की त्रयी का सैद्धान्तिक विकास आधुनिक राष्ट्र राज्यों के आगमन के साथ ही होता है। यह एक पाश्चात्य अवधारणां है यह तीनों परस्पर सम्बद्ध आबद्ध और भिन्न भिन्न ही हैं। राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी को शक्ति और उसके विभिन्न स्वरूपों का ज्ञान आवश्यक है क्योंकी राजनीति के मूल में यह प्रश्न है कि राज्य क्या है और हम इसके आदेश को क्यों माने। शक्ति तथा उसके विभिन्न स्वरूप विभिन्न प्रयोग तथा स्त्रोंतों को समझ कर हम इस पहेली का समाधान कर सकते हैं। शक्ति सत्ता में अन्तर्निहित है तथा सत्ता बनने के लिये वैधता आवश्यक है। प्रत्येक की सम्यक अलग अलग चर्चा आवश्यक है अतः शुरूवात हम शक्ति के विचार से करेंगे।

7.1.1 परिभाषा एवम् व्युत्पत्ति

शक्ति किसी व्यक्ति या समूह द्वारा दूसरे व्यक्ति और समूह के व्यवहार को अपने अनुकूल परिवर्तित करने की क्षमता को कहते हैं।

पिफनर : शक्ति आदेश देने की क्षमता है।

वी रशेल : शक्ति परिणाम उत्पन्न करने की क्षमता है।

वायर्सेटेड : शक्ति समाज की आधारभूत संरचना का सहारा है... बिना शक्ति के कोई संगठन संभव नहीं है और नहीं बिना शक्ति के कोई सुव्यवस्था हो सकती है।

गोल्ड हैमर एवं शिल्स : एक व्यक्ति को उतना ही प्रभावशाली कहा जा सकता है जितना की वह अपने लक्ष्यों के अनुरूप दूसरों के व्यवहार को प्रभावित कर सकता है।

रोवे : शक्ति प्रभाव का पर्यायवाची है।

मार्गेन थाउ : शक्ति को एक क्षमता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिसके द्वारा दूसरों को नियंत्रित किया जा सके तथा उनसे अपने अनुकूल कार्य करवाना और यह भी देखना कि वे उस किसी भी कार्य को नकर सके जिसे वह (शक्ति का प्रयोग कर्ता) नहीं चाहता।

शक्ति शब्द की व्युत्पत्ति फ्रेंच तथा लैटिन भाषा के अनेंक समरूप शब्दों जिनका अर्थ सक्षम होना है, से हुई है।

7.2 विषय एवं रूप रेखा

उदारवादी दृष्टिकोणः– राजनीति विज्ञान में सर्वप्रथम जार्ज कैटलिन ने शक्ति को एक व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया। इनके अनुसार यदि सरकार का अर्थ नियंत्रण से हो तो राजनीति को 'सरकारों को अध्ययन' माना जा सकता है।

भारतीय मनीषी भी शक्ति को सार्थक जीवन के लिये आवश्यक मानती है 'नाय मात्मा बलहीनेन लेबियोथन शक्ति तो अत्यावश्यक है किन्तु इसका दुरूपयोग भी हो सकता है 'शक्तिं परेषाम परिपीडनाय'। इसलिये भारतीय चिन्तन इस शक्ति को समाज के निमित्त अर्पित करने की बात करता है– च रक्षणाय। यह बात लार्ड एक्टन की उस निश्चयात्मक उक्ति– 'शक्ति भ्रष्ट करती है और निरंकुश शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट कर देती है'– के लिये मानो एक समाधान प्रस्तुत कर रही हो। आचार्य काशी प्रसाद जायसवाल ने माना है कि प्राचीन भारतीय साहित्य दण्ड शक्ति के महत्व से भरा पड़ा है।

वर्तमान अध्ययन का बलाबल शक्ति के विभिन्न स्वरूपों में से एक किन्तु प्रमुख राजनीतिक शक्ति पर है। राजनीतिक शक्ति शेषान्य प्रकार की शक्तियों जैसे आर्थिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि की तुलना में प्रमुखतम हैं क्योकी डेविड ईस्टर्न भी मानते हैं कि केवल राज्य ही पूरें समाज के लिये मूल्यों का आधिकारिक वितरण करता है।

राज्य के भीतर एवं बाहर अर्न्तराष्ट्रीय जगत में शक्ति की भूमिका र्निविवाद है। हाब्स यह मानते है कि मानव के जैविक अस्तित्व रक्षण के बौद्धिक उपायों में शक्ति की प्राप्ति और उस हेतु निरन्तर प्रयास अपरिहार्य हैं। कर्टिस के अनुसार राजनीति शक्ति और उसके प्रयोग के प्रति एक संगठित विवाद है जिसमें मूल्यों की, विचारों की व्यतियों हितों और मांगो की प्रतिस्पर्द्धा होती है। राज्य एक राजनीतिक समुदाय है और प्रत्येक राजनीतिक समुदाय में सिसरों के शब्दों में कहे तो एक सर्वोच्च शक्ति सुम्मा पाटेस्टास (Summa Potestas) का वास होता है जिससे कानून का निर्माण होता है। इसे ही जॉन आस्टिन सम्प्रभुता कहते हैं। हाब्स जब लेबियाथन के माध्यम से शक्ति को संस्थाकृत करते है तो यह न केवल र्निवैक्तिक बल्कि शक्ति का विधि के शासन के रूप में परिवर्तन है। इसी आधार पर राज्य का आदेश कानून बन जाता है।

कैटलिन और लासवेल जैसे आधुनिक राजनीति शास्त्री भी राजनीति विज्ञान को शक्ति का विज्ञान मानते हैं। शक्ति सिद्धान्त का व्यवस्थित प्रतिपादन जर्मनी के दार्शनिक नीत्से ने 19 वीं सदी में किया। ऐरिक काफमैन ने तो राज्य के आस्तित्व को शक्ति के विकास, वृद्धि और प्रदर्शन (Machtenfultung) मैचटेन फालटन से जोड़ कर देखा है। मैकाइवर ने अपने शोध में दिखाया है कि ऐतिहासिक राज्य में शक्ति, सम्पत्ति और स्तर (स्टेटस) के माध्यम से एक दूसरे को प्रभावित करने तथा ये तीनों परस्पर सम्बल प्रदान करते हुये एक प्रकार के पद सोपान का निर्माण करते हैं। राबर्ट डहल भी शक्ति को प्रभाव और प्रभावशाली के अध्ययन के रूप में देखते हैं। शक्ति की महत्ता एवं केन्द्रीयता का गुणगान पूरा यथार्थवादी चिन्तन परम्परा करती है, जिसमें थ्यूसीडाइड्स, थ्रैसीमैकस, अरस्तू, आचार्य कौटिल्य, मैक्यावली, हाब्स से लेकर मार्गेनथाउ तक सभी ने एक स्वर में किया है। थ्यूसीडाइड्स का मेलियन डायलाग न्याय, नीति एवम् स्वतंत्रता आदि उच्चादर्शों को शक्ति के सम्मुख नतमस्तक एवं निस्सहाय होते दिखाया है, जहाँ

TESLA-024

प्रत्येक देश और समाज को शक्ति के प्रभावी वितरण को ध्यान में रखते हुये अपनी स्थिति बोध को विकसित करना होता है अन्यथा मेलियन गणराज्य की गति प्राप्त होती है। आधुनिक काल में मार्गेनथाउ ने इसी भाव को ग्रहण करते हुये राज्य का प्रमुख लक्ष्य शक्ति की साधना माना है।

कुछ प्राचीन दार्शनिको की भाँति हेगल भी शक्ति को सत्य का पर्याय मानते हुये इसे अमूर्त माना है। अर्नाल्ड ब्रेक्ट ने उस अमूर्तिकरण की प्रवृति को खतरनाक माना है। क्योंकी इससे अस्पष्टता का जन्म होता है। तथा इसका अनुचित लाभ लेते हुये शक्ति की मनमानी व्याख्या की जा सकती है।

7.2.1 शक्ति के स्त्रोत

शक्ति के अनेक स्त्रोत है जिनमें सम्पत्ति, परम्परा, धर्म, भौतिक एवं शारीरिक शक्ति आदि का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि मैक्सवेबर का सारा ध्यान सत्ता और वैधता पर था किन्तु जिन तीन स्त्रोंतो की वे चर्चा करते हैं वे प्रकारान्तर से प्रासंगिक हैं–

1. परम्परा **2.** विधि **3.** करिश्मा

अपने चर्चा के क्रम में हम शक्ति के मान्य स्रोतों पर विचार करेंगें–

सम्पत्ति :– सर्वप्रथम इसकी चर्चा इसलिये भी कि यह आधुनिक काल में सर्वाधिक प्रभावशाली स्रोत है। सम्पत्ति का प्रभाव भिन्न भिन्न संस्कृतियों में अलग अलग रहा है। मैकाइवर के अनुसार भारतीय संस्कृति अर्थ को बहुत महत्व न देने वाली मानी जाती है, शायद इसीलिये गाँधी बिना किसी सम्पत्ति के स्वामी हुये भी अपरिमित प्रभाव के स्वामी रहे है। कारण जन स्वीकर्यता। आरम्भिक उत्साह के बाद एंगेल्स ने भी यह स्वीकार किया– मैने और मार्क्स ने अर्थ की शक्ति को बढ़ा चढा के प्रस्तुत किया। अतः अर्थ की शक्ति का महत्व होते हुए भी इसकी एक सीमा भी है, जिसके आगे यह निष्प्रभावी हो जाती है। यह सही है कि आर्थिक शक्ति एक प्रमुख एवं प्रभावशाली स्त्रोत है जिसके बल पर एक छोटा सा देश जापान पूरी दुनिया की राजनीति को प्रभावित करता रहा है। पूरा मार्क्सवादी चिन्तन शक्ति की महत्ता का रेखांकन एवम् मूल्यांकन हैं। इसकी विस्तृत चर्चा आगे की जायेगी।

धर्म– यूरोप में 16वीं शदी में राष्ट्र राज्य की स्थापना के साथ धर्म अपनी पुरानी चमक खो चुका है। यद्यपि पूरे मध्य काल में धर्म का प्रभाव अतुल्य था। पूरा चर्च–राज्य विवाद का मूल, धर्म की शक्ति और राजा की शक्ति में आपसी संघर्ष था। यूरोप ही नही दुनिया के अन्य समाजों में भी धर्म और इससे सम्बन्धित लोग पर्याप्त शक्तिशाली रहे है। पश्चिम एशिया में एक बार फिर खलीफत स्थापित करने का जो प्रयास आई0 एस0 आई0 एस0 कर रहा है वह प्रकारान्तर से धर्म के माध्यम से शक्ति और शक्ति के माध्यम से सत्ता प्राप्त करने का प्रयास है।

अन्य स्रोतः–

यही स्थिति संस्कृति, कला, खेल, साहित्य, पत्रकारिता, तथा मनोरंजन जगत से जुड़े लोगो या संगठनों की शक्तियों के बारे में कहा जा सकता है। संस्कृति का नाम आते ही इसके प्रभाव की चर्चा, अपसंस्कृति के प्रसार की चर्चा सामने आती है। राजनीतिक संस्थाओं की विशेषज्ञता, पश्चिमी देशों खासकर यूरोप और अमेरिका से ही अन्यत्र फैली। इनके प्रसार तथा स्थायित्व के लिये भी एक राजनीतिक संस्कृतिक के विकास की आवश्यकता होती है। और यह भी संस्कृति

पश्चिम की ही है। यहा तक वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में जिन सर्वमान्य मूल्यों परम्पराओं संस्थाओं आदि की उपस्थिति को सामाजिक राजनीतिक वैज्ञानिक विकास के लिये आवश्यक माना जा रहा है वे सभी के सभी पश्चिमी हैं। अतः संस्कृति का प्रवाह भी एक तरफा है। ऐसे में यह चिन्ता स्वाभाविक है कि ग्राहक देशों की अपनी कोई सांस्कृतिक पूजी शेष ही न रहे। इण्टरनेट की प्रभावी भाषा अंग्रेजी है। जो शेषान्य भाषाओं के समक्ष अस्तित्वगत चुनौती बनती जा रही है।

विभिन्न काल खण्डों में शक्ति के स्त्रोंतों का महत्व घटता बढ़ता रहता है। और एक पावर पिरामिड का निर्माण होता है। जब कभी भी दो समाज में सामाजिक राजनीतिक आर्थिक परिवर्तन होते हैं तो यह पिरामिड भी बदल जाता है समाज में नये शक्ति केन्द्रों का उदय होता है। 21 वीं सदी में विज्ञान और तकनीकी से युक्त युवा वर्ग तीव्र शहरीकरण का लाभ उठाते हुये **'एकत्र एवम् एक होने का अवसर'** प्राप्त किया है। अतः एक युवा वर्ग अहिंसात्मक रहकर भी सरकारों कों पंगु बना सकता है। अरब स्प्रिंग* तथा पाकिस्तान में ब्लैककोट* क्रांति उल्लेख्य हैं। इतना ही नहीं अभी हाल में चीन में अम्ब्रेला रिवाल्यूशन इसके उदाहरण हैं। सोशल मीडिया ने बहुत तेजी से अपनी जगह बनायी हैं यह भी शक्ति का नवकेन्द्र बन गया है।

7.2.2 शक्ति प्रयोग के आयाम

विद्वानों का स्पष्ट मत है कि शक्ति किसी व्यक्ति विषेश में निहित नहीं होती है अर्थात व्युत्पन्न होती है। उसके आदेश देने की योग्यता दूसरे व्यक्ति के तत्पर अनुपालन पर निर्भर है। आदेश की योग्यता सामाजिक संरचना प्रदान करती है। इतना ही नहीं शक्ति और उसके उपकरणों में भी भेद होता है। उपकरण आदेशकर्ता व्यक्ति के पास नहीं, बल्कि समाज में निहित होते हैं। तथा वहीं इनके प्रयोग का पैमाना तय होता है। यह पैमाना नियमों कानूनों प्रथाओं परम्पराओं रूढियों सामुदायिक विश्वाओं आदि के मिश्रण से बनता है। जिसे मैकाइवर **मिथ आफ अथरिटी** कहते है। मैकाइवर की यह स्थापना बेहद महत्वपूर्ण हैं क्योंकी इसके माध्यम सें यह स्पष्ट होता है कि शक्ति या तत्सम्बन्धी सत्ता तो सबके लिये एक समान है किन्तु आदेशकर्त्ता की चारित्रिक विषेशतायें इस शक्ति के प्रयोग की प्रकृति को बदल देते हैं। धूर्त कपटी और अतिशय महत्वांकाछी व्यक्ति शक्ति को अपने स्वार्थ साधन में प्रयोग करते हुये आम जनता का उत्पीड़न करता है जैसे हिटलर सद्दाम पोलपोट इडी अमीन आदि। ऐसी विकट स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि जो समाज उस शक्ति का उत्स(स्त्रोत) है, वह स्वंय ही उससे कटा सिमटा महसूस करता है। नौकर शाही जिसका उदय शासन के सुचारू संचालन के लिये समाज ने संभव किया कालान्तर में शासन और समाज के पार्थक का कारण बने। किन्तु सौभाग्य से आधुनिक काल में कुछ ऐसी परतों का भी विकास हुआ है जो शक्ति के निरंकुश प्रयोग को रोकते भी हैं जैसे लोकमत और संवैधानिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त आदि।सामाजिक संरचना का वैविध्य और उसका महात्म्य निरंकुश शक्ति के विरूद्ध सर्वाधिक प्रबल प्रति रोध है। समाज के भीतर की नियंत्रित शक्ति स्पर्धा लोकतंत्र को सम्भव, इसका अधिकतमीकरण तथा किसी भी व्यवस्थ को उत्तरदायी बनाती है।

7.2.3 शक्ति के प्रकार

TESLA-024

1. **राजनीतिक शक्ति** – इस शक्ति की चर्चा शक्ति परिचय खण्ड में हो चुकी है। एलेन0बाल0 का मत उद्दरणीय है की राजनीतिक शक्ति राजनीति के अध्ययन

का मूल सिद्धान्त है क्योंकी राजनीति का सम्बन्ध सामाजिक संघर्षों को रोकने उनकें प्रशमन से तथा उनके समाधान से है। राजनीतिक शक्ति को यह देखना है कि मूल्यों को वितरण इस प्रकार से हो कि वह संघर्षों के समाधान में सहायक हो और यह समाधान सभी पक्षों को मान्य हो। राजनीतिक शक्ति के दो प्रकार है

अ औपचारिक शक्ति–विधायिका कार्यपालिका तथा न्यायपालिका।

ब अनौपचारिक शक्ति– नागरिक समाज (सिविल सोसाइटी) राजनीतिकदल दबाव–समूह हित–समूह गैरसरकारी संगठन गैर–राज्यतत्व आदि।

2. **वैचारिक शक्ति –** राबर्ट डहल ने इसे इनटेंजिबल प्रभावों में गिनाया है। विचारधारा का सम्बन्ध प्रायः ऐसे प्रश्नों जैसे उत्तम सरकार क्या है सुशाशन का मानदण्ड क्या है आदि पर आधारित होता है। इसी प्रकार राज्य का आस्तित्व आदर्श राज्य विहीनता अन्तहीन क्रान्ति आदि भी विचारधारा के क्षेत्र में हैं धर्म और संस्कृति का प्रसार तथा शीत युद्ध विचारधारा के विवादित प्रश्न हैं राजनीतिविज्ञान के शब्दकोश के अनुसार ''विचारधारा वर्तमान अथवा वांछित सामाजिक व्यवस्था के प्रति अनुस्यूत एक व्यवस्थित तर्क या विश्वास है।'' राजनीतिक विचारधारा शासकवर्ग को अपने शासन के औचित्य पूर्णता सिद्ध करने में सहायक होते हैं। लोग विचार धारा से सहमत होकर स्थापित सत्ता को उचित माने हुँ तथा अनुपालन स्वतः ही होने लगता है। विचारधारा कर्म प्रेरक भी होती है। यह समाज के सामने कुछ लक्ष्यों को रखती है तथा जनता को स्वतः त्याग के निमित्त तैयार कर लेती है। बहुत बार विचारधारा भावनाओं का दोहन भी करती है। और इसी कारण विद्वानों ने इसे स्वीकृति का स्वांग 'इलूजन आफ कंसेण्ट' कहते हैं यह विचारधारा का कपट पक्ष है माक्स ने यहाँ तक कह दिया 'हर युग की प्रचलित विचारधारा प्रभुवर्ग की विचारधारा रही है। ग्रामसी ने हेजमनी के तहत शासक वर्ग की संस्कृति एवं आध्यात्मिक श्रेष्ठता की बात का रेंखाकन किया है। इसीलिये वह समानान्तर सांस्कृतिक क्रान्ति की बात करता है। लोग बहुत बार आदर्शों को प्राप्त करने के लिये संज्ञेय आत्मउत्पीड़न का मार्ग भी अपनाते हैं। जिसे गाँधी सत्याग्रह कहते हैं तथा टी0एच0ग्रीन जिसे 'आत्मारूपित कर्त्तव्ययों का निष्काम भाव से निष्पादन करने की क्षमता कहते हैं। आदम स्मिथ ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक थ्योरी आफ मारल सेण्टीमेण्ट्स में विकासोन्मुख व्यक्ति के विकास को उसके पड़ोंसी की नियति से जोड़कर दिखाया है अतः विचारधारा में मूल्य का प्रश्न भी सम्बद्ध है केवल स्वार्थ के लिये ही शक्ति की साधना नहीं होती बल्कि इसमें आदर्श और मूल्य भी निहित हैं ।

7.3 शक्ति पर मार्क्सवादी विचारदृष्टि

मार्क्सवादी शक्ति को वर्ग शक्ति के रूप में देखते हैं और उत्पादन के साधन पर नियंत्रण को प्रमुख मानते हैं समाज वर्ग विभाजित है अतः इसमें अल्पसंख्यक किन्तु संगठित एवम् आत्मचेतस बुर्जुआ वर्ग राज्य पर नियंत्रण रखता है सर्वहारा वर्ग बहुसंख्यक होकर भी शोषित है क्योंकी यह आत्मचेतस न होने के कारण संगठित नहीं है। उसे चेतना एक नेता तथा एक दल प्रदान करेगा जो मार्क्सवादी विचारधारा से ओतप्रोत होगा और वह क्रान्ति की चेतना प्रदान कर राज्य पर नियंत्रण प्राप्त करेगा। इसे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व कहते हैं जिसका प्रमुख कार्य उत्पादन के साधन पर नियंत्रण कर समाज को वर्ग विहीन बनाना है। तथा सर्वत्र समानता स्थापित करना है। चूंकि वास्तविक शक्ति सर्वहारा की थी और जब उसके पास पहुच जायेगी तो वह समाज को समता पूर्ण करेगा।

उसके बाद राज्य की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी इस सन्दर्भ में एलेन स्विगवुड का यह कथन उल्लेखनीय है कि ''मार्क्सवादी सिद्धान्त एक मशीनी सिद्धान्त की तरह है जिसमें अर्थ व्यव्यवस्था द्वारा राजनैतिक संरचना का पूर्णतया निर्धारण किया जाता है।'' इससे पृथक शक्ति हेतु मार्क्सवाद जिस वर्ग युद्ध आळवाहन कर रहा है वह भी कम विवादास्पद नही है।

7.4 बहुलवादी व सम्भ्रान्त वर्गीय अवधारणा

बहुलवादी लेखको में बेण्टले, ट्रूमैन, वीओके जूनियर आदि यह सिद्ध करते हैं कि किसी खुले और स्वतंत्र समाज में सत्ता विसरित होती है क्योंकी असंख्य हित बद्ध समूह राजनैतिक प्रक्रिया में भागीदारी करते हैं और सत्ता संघर्ष में लिप्त रहते हैं। इस संघर्ष के कारण सत्ता का केन्द्रीयकरण नहीं होने पाता और लोकतंत्र बहुल तंत्र(पॉलीआरकी) बन पाता है। असंख्य संस्थाओं की प्रतिबद्धता शासकों को बाध्य कर देती है। कि वे अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी बने इस स्पष्ट बहुल वादी समाज में सत्ता विकेन्द्रित ही रहती है।

शक्ति सिद्धान्त के क्षेत्र में संभ्रान्त वर्ग का उदय मार्क्स वादी सिद्धान्त के प्रति उत्तर में हुआ। इसके अनुसार संगठन का मूल नियम है कि शक्ति सर्वदा चुने हुये लोंगों के छोटे से वर्ग में निहित होती है। सत्ता का संघर्ष वास्तव में प्रतिरोधी संभ्रान्त वर्गों के बीच होता है। परेटों ने सत्तायुक्त प्रभुवर्ग और सत्ता मुक्त प्रभुवर्ग (एलीट क्लास) के बीच सत्ता की प्रतिस्पर्द्धा तथा आदान प्रदान (सर्कुलेशन ऑफ एलीट क्लास) की बात कही जिसमें मुख्यतया शक्ति और कपट अथवा शेर और लोमड़ी वृत्तियों का मेल होता है। मोस्का ने लोकतंत्र को एक संगठित अल्पसंख्यक वर्ग का शासन माना है। वहीं पर राबर्ट मिचैल्स ने इसे आयरन लॉ ऑफ आली गारकी कहा है सी राइट मिल्श संभ्रान्त वर्ग को समाज की संस्थागत संरचना का उत्पाद माना है। आधुनिक समाज का शक्ति का संस्थानीकरण हो जाता है। इसीलिये शक्ति किसी वर्ग की नहीं बल्कि संस्था की विशेषता बन जाती है। जेरीयण्ट पैरी ने अपनी पुस्तक पालिटिकल एलीट में लिखा है ''संभ्रान्त वर्ग के पास इतिहास निर्माण और समाज के मनचाहे बदलाव की क्षमता होती है। वे अपने साथ साथ अन्यों की भूमिका का निर्धारण करते हैं अगर ध्यान से देखें तो वर्ग संघर्ष के बाद का समाज शास्त्रीय लोकतंत्र के काफी निकट है क्योकी यहाँ भी जनता शक्ति का स्त्रोत एवं धारक है तो उदारवाद के जनक जान लाक ने जन समुदाय को वास्तविक संप्रभू माना तो रूसो भी सामान्य इच्छा के नाम से संप्रभुता को या शक्ति को जनता की विशेषता माना है।

7.5 सारांश

1. शक्ति सिद्धान्त राजनीति विज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों में से एक है।
2. यह एक मूल्य आदर्श तथा आवश्यकता भी है। यह मानकात्मक और व्यवहारात्मक दोनों आयामों से युक्त है। इसके गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दोनों पहलू हैं।
3. शक्ति एक विशद शब्द है जिसे हम अन्य सम्बन्धित शब्दों प्रभाव नियंत्रण प्रभुत्व दमन प्राधिकार आदि का समानार्थी समझते हैं। इसमें सत्यांश भी है किन्तु पर्याप्त अन्तर भी है।

4. शक्ति सत्ता और वैधता में गहन अन्तर सम्बन्ध है।

5. निर्णय निर्माण, संगठन निर्माण तथा विधि के शासन को सुनिश्चित करने के लिये शक्ति की भूमिका स्तूत्य है।

यद्यापि अनेक सामाजिक राजनैतिक संकल्पनाओं की भाँति शक्ति भी बहुअर्थी है। इसलिये कोई एक सर्वमान्य परिभाषा सम्भव नहीं है। समसामयिक राजनीतिक सिद्धान्त की यह चुनौती है कि राजनीतिक शक्ति के उपयुक्त प्रयोग के लिये आवश्यक परिस्थितियां कैसे पैदा की जाय जिससे लोक तंत्र का अधिकतमीकरण हो सके।

7.6 सत्ता

7.6.1 प्रस्तावना

शक्ति के साथ सत्ता का अध्ययन भी आवश्यक है। शक्ति और सत्ता परस्पर आधारित विचार हैं। ये कभी समरूप तो कभी भिन्न हैं। टी0डी0 वैलडन अपनी पुंस्तक 'वैक्वुनरी ऑफ पालिटिक्स' में इन दोनों को काफी सन्निकट मानते हैं। रोम में इनके परस्पराश्रय तथा भिन्नता का ज्ञान बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था। तभी तो सिसरों ने इन्हे पाटेस्टास तथा आक्टोरिटास नाम से अभिहित किया था।

राज्य को अपनी विशिष्ट शक्ति को न्यायोचित सिद्ध करना पड़ता है क्योंकी सिर्फ शक्ति के भय से लोग आज्ञा पालन नहीं कर सकते। प्लेटों ने राज्य द्वारा न्याय साकार कराने की क्षमता को व्यक्ति के आज्ञा पालन का आधार माना, वहीं जॉन लॉक ने आम सहमति का आधार ग्रहण किया। राज्य अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति आम तौर पर विधि द्वारा करता है और लोगों द्वारा स्वतः विधि का पालन सत्ता है।

अतः सत्ता वह शक्ति है जिसके प्रयोग की योग्यता और प्रयोग की प्रक्रिया को जनता स्वयं उचित एवं आवश्यक मानती है। इसमें मूल्य बोध भी समाहित होता है। – जैसे राज्य का न्याय, समता, स्वतंत्रता का संरक्षक एवं जनक होना आदि।

सत्ता सिर्फ शक्ति का विशिष्ट एवं वैध स्वरूप नहीं है। बल्कि यह प्रभाव का स्वरूप भी है तो कहीं यह परम्परा की अभिव्यक्ति भी है।

शक्ति और सत्ता में अन्तरः– शक्ति दूसरे को दिये गये आदेश के अनुपालन की सफलता है तथा अवज्ञा की स्थिति मे दण्ड/ क्षति पहुचाने की क्षमता है। आदेश कर्त्ता के आदेश देने और अनुपालन प्राप्त करने की योग्यता को जब जनता स्वयं आवश्यक मानते हुये अपनी स्वीकृति प्रदान करती है या आज्ञा पालन स्वतः स्फूर्ति क्रिया बन जाती है तो यह शक्ति का सत्ता में रूपांतरण है।

, प्रो0 डी0डी0 रफेल ने सत्ता को अधिकार एवं स्वतंत्रता से समीकृति किया है जिसमें चार तत्व समाहित हैं– 1. कार्य करने की स्वतंत्रता का अधिकार 2. सेवा प्राप्ति की अपेक्षा का अधिकार 3. आदेश देने का अधिकार 4.अनुपालन प्राप्त करने का अधिकार। अर्थात हम उन समस्त कार्यों को करने के लिये स्वतंत्र है जिनका हमें विधिक अधिकार प्राप्त है। दूसरे स्तर पर नागरिकों को सेवाओं को प्राप्त करने का अधिकार है। प्राप्ति के क्षेत्र में केवल भौतिक ही नहीं अपितु

वैचारिक स्वातंत्र्य भी सम्मिलित है जिसे बर्लिन ने 'हस्तक्षेप और उत्पीड़न से मुक्ति' की अवस्था कहा है।

प्रो0 डी0डी0 रफेल ने शक्ति के तीन अर्थों पर विचार किया है–

1. क्षमता : जैसे किसी यन्त्र(डायनमो) आदि की क्षमता– हार्स पावर आदि। मानव के स्तर पर इच्छाशक्ति संकल्प शक्ति आदि ।
2. सक्षमता : शारिरीक या पद की शक्ति के आधार पर किसी व्यक्ति को आदेश देने तथा अवज्ञा की स्थिति में कष्ट अथवा दण्ड देने और तत्सम्बन्धी पीड़ा के भय से या कष्ट अथवा हानि के भय से आज्ञा का पालन।
3. उत्पीड़क–शक्ति– बिना सत्ता के भी शक्ति रह सकती है किन्तु बिना शक्ति के सत्ता क्षण भंगूर है। उत्पीड़न की शक्ति बिना सत्ता वाली शक्ति की श्रेणी में आती है। दुनिया की अनेंकों निरंकुश और सर्वाधिकारवादी सरकारें इसका उदाहरण है।

बहुत बार देखा गया है कि शक्ति और सत्ता के बीच में एक संक्रमण कालीन स्थिति आती है जिसे न तो केवल शक्ति कह सकते हैं ओर नही केवल सत्ता। क्रान्ति के बाद और जन समर्थन प्राप्ति के बीच का अन्तराल, तख्ता पलट और चुनाव अथवा जनमत संग्रह के बीच का समय, सत्याग्रह और अहिंसात्मक आन्दोलन से सत्ता परिवर्तन के बीच का समय जैसे अभी हाल में अरब स्प्रिंग के दौरान ट्यूनीशिया मिश्र तथा लीबिया में हुआ था, आदि अनेक उदाहरण हैं जो इस श्रेणी में आते हैं।

आदेश और अनुपालनः–

सत्ता द्वारा दिये गये आदेशों को बहुत बार जनता अनिच्छा से ही अनुपालन करती है। क्योंकी सत्ता की दण्डात्मक शक्ति से भय होता है एवम् अवज्ञा अप्रीतिपूर्ण परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं। सत्ता के साथ जुडा है उत्तरदायित्व या आबलीगेशन का सिद्धान्त जिसका तात्पर्य है अनुपालन के चयन की अपेक्षायें तथा अनिवार्यतायें। जहाँ तक सत्याग्रहियें का प्रश्न है वे किसी कानून की अवज्ञा नैतिक मान मूल्यों की प्रतिकूलता के आधार पर या अपनी अन्तर आत्मा की आवाज पर करते हैं। किन्तु ऐसा करते समय वे इससे उपजने वाले अप्रीतपूर्ण परिणामों को जान बूझकर सहने के लिये पहले से ही तैयार रहते हैं।

सत्ता शक्ति का वैध, उचित और नैतिकीकृत स्वरूप है। शक्ति के दुरूपयोंगों को रोकने के लिये ही लिखित संविधान की व्यवस्था की जाती है जो शक्ति के प्रयोंगों को विनियमित करता है।

7.6.2 परिभाषायें

1. फ्रायडरिच : सत्ता विवेक का मूर्त रूप है जो विश्लेशण पर आधारित होता है।
2. टी0डी0 वैलडन : प्रधिकार वह शक्ति है जिसका सम्बन्धित लोगों की सामान्य सहमति से प्रयोग किया जाता है।
3. वायर्सटेड : सत्ता शक्ति के प्रयोग का संस्थात्मक अधिकार है।
4. वर्नाड बारबर : सत्ता एक औचियपूर्ण प्रभाव है।

5. अमिताय इरजियोनी : सत्ता औचित्यपूर्ण शक्ति है।

6. अर्न्तराट्रीय समाज विज्ञान बुलैटिन में इसे ऐसी शक्ति बताया गया है जिसे स्वीकृत किया जाता है, प्रतिष्ठित समझा जाता है, अनुमोदित किया जाता है तथा औचित्यपूर्ण समझा जाता है।

7. कार्ल जे फ्रैडरी : जिसे केवल संकल्प, इच्छा या प्राथमिकता के आधार पर चाहा जाता है, उसके औचित्य को तार्किक प्रक्रिया के द्वारा सिद्ध करने की क्षमता को सत्त कहते हैं।

7.6.3 सत्ता के विभिन्न स्त्रोत

मैक्सवेबर ने स्त्रोतों की भिन्नता के आधार पर सत्ता के तीन भेद किये हैं।

1. बैद्धिक या कानूनी सत्ता– अधुनिक काल में यह सर्वमान्य प्रकार है। संविधान प्रदत्त शक्तियों तथा व्यक्ति के स्थान पर यह विधि का शासन है। शासन और प्रशासन (नौकरशाही) इसके अन्यतम उदाहरण हैं।

2. परम्परा : परम्पराओं, प्रथाओं तथा धर्म आदि के समंजन से निःसृत विश्वास ही इस सत्ता का शक्ति है। इसमें जनता सत्ता की शक्ति को अपनी नियति मानती है तथा सामाजिक व्यवस्था के लिये इसे आवश्यक भी मानती है। राजशाही, पहरवार के मुखिया का शासन, ज्येष्ठ उत्तराधिकार, पुरोहितों का अधिकार तथा सामाजिक श्रेणियां वर्ग या वर्ण आदि इस प्रकार की सत्ता के उदाहरण हैं।

3. करिश्माई सत्ता :– जन सामान्य से अलग किसी व्यक्ति विशेष का अद्भुत गुण। जब जन सामान्य इस आधार पर किसी का नेतृत्व या सत्ता स्वीकार करता है तो वह इस वर्ग में आती है। इन गुणों में कुछ इस प्रकार है– त्यागी व्यक्तित्व, ईमानदार, साहसी, दानशील, धर्मपरायण, साहित्य संगीत तथा कलाओं में दक्ष, कुशल वक्ता, अग्रगण्य खिलाड़ी। इन विशिष्टताओं के कारण उस व्यक्ति विशेष के प्रति जनता में श्रद्धा भाव जागृति होता है किन्तु साथ में बहुत अपेक्षायें भी जन्मती हैं। मैक्सवेबर यह मानतें हैं कि करिश्मा पर आधारित सत्ता बहुत स्थायी नहीं होती क्योंकी इसमें शीघ्र ही मोह भंग की भी आंशंका रहती है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि कुछ महत्वाकांक्षी व्यक्ति करिश्मा से प्राप्त सत्ता का दुपयोग करने लगते है जैसे हिटलर, मुसोलिनी तथा एक हद तक माओत्से तुंग। वहीं पर इस शक्ति के सकारात्मक प्रयोग के अनेकों उज्जवल उदाहरण भी हैं। जिसमें लोक मान्य तिलक, विल्सन, महात्मा गाँधी, रूजवेल्ट, मार्टिन लूथर किंग जूनियर तथा नेल्सन मण्डेला आदि। जनता इस सत्ता से अपना स्वाभाविक तादात्म स्थापित कर लेती है तथा आदेश का अनुपालन स्वैच्छिक एवं स्वतः स्फूर्त होता है।

7.6.3.1 संस्थात्मक शक्ति की दृष्टि से सत्ता के अन्य प्रकार

1. क्षेत्रीय एवं अर्न्तराष्ट्रीय

2. राजनीतिक प्रशासनिक संवैधानिक एवं विधिक

3. कार्यपालिका व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका

4. एकल तथा बहुल
5. निगमात्मक आयोगात्मक
6. मण्डलात्मक
7. समारोहात्मक (टिटुलर) तथा वास्तविक (रियल)
8. सामाजिक अर्थिक, सांस्कृतिकएवं धार्मिक
9. तकनीकी
10. डी फैक्टो एवम् डी ज्योर

7.6.4 सत्ता का आधार

दुनिया में किसी भी प्रकार की सत्ता का आधार उसकी औचित्यपूर्णता होती है। अन्य आधारों में हम वैचाारिकता, सुशासन, लोकमत, के प्रति समर्पण आदि का उल्लेख कर सकते है।

सीमायें:– शक्ति की तरह सत्ता की भी सीमा होती है। जिस जन स्वीकृति के आधार पर सत्तायें खड़ी होती है वहीं जनता का मोह भंग उसकी सबसे बड़ी सीमा होती है विधिक एवं परम्परागत दोनो प्रकार की सत्ताओं को देश की सीमा के बाहर भी कार्य करना पड़ता है। इसके साथ अन्राट्रीय विधि एवं संगठनों तथा महाशक्तियों के घात प्रतिघात भी देश की सत्त की सीमा को निर्धारित करते हैं। देश के भीतर विभिन्न संगठनों, कर्मचाारियों किसानों कामगारों आदि के हितों का टकराव भी इसकी सीमा है। मानवीय दुर्बलता इसकी सीमा है ही शक्ति सत्ता एवं प्रभाव का अर्न्तसम्बन्ध :– ये तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध एवं भिन्न हैं तिलक एवं गाँधी के पास सत्ता नहीं थी किन्तु व्यापक, गहरा और सकारात्मक प्रभाव था । हिटलर मुसोलिनी के पास सत्ता थी और शक्ति किन्तु उनका प्रभाव नकारात्मक स्तर का था। उनकी शक्ति की प्रचुरता पूरी मानवा के लिये खतरा बन गयी माओ और स्टालिन के पास भी शक्ति एवं सत्ता दोनों ही थे किन्तु वे भी सकारात्मक प्रभाव स्थापित नहीं कर पाये गोर्वाचोव के पास सत्ता थी किन्त पर्याप्त शक्ति न थी इसलिये वे भी प्रभावहीन थे। नेहरू का उदाहरण अनोखा एवं अद्भुत है। सत्ता प्राप्ति से पहले ही उनके पास जनता में पर्याप्त प्रभाव था तथा सत्त प्राप्त होने के बाद इससे उपजी शक्ति से उन्होने देश में लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की। नेहरू ने भारत के व्यक्ति आधारित सत्ता की परम्परा जिसे हम सामन्तवाद के नाम से भी जानते हैं को निर्मूल करते हुये भारत की जनता को एक नयी लोक तांत्रिक शक्ति से अभ्यस्त कराया। उन्होने सत्ता का निवैयक्तिकरण करते हुये इसका संस्थानीकरण किया।सत्ता इतिहास में बहुत सारे एसे शासकों के हाथ में रही जिन्होने दण्ड और भौतिक शक्ति की प्रचुरता से उत्पन्न भय से आम जनमानस को उत्पीड़ित किया जैसे ई0डी0 अमीन, कर्नल गद्दाफी और पोलपोट आदि। जन विरोधी होने के कारण ये वैश्विक स्तर पर अवैध सिद्ध हुये और जनता ने इन्हे उखाड़ फेंका। राबर्ट डहल ने जिस प्रभाव को अपने अध्ययन का केन्द्रीय विषय बनाया, वे भी प्रभाव का आधार लोक स्वीकृति ही मानते हैं। अतः सत्ता शासक की शक्ति न होकर शासन और जनता के मध्य सेतु है।

TESLA-024

7.7 वैधता स्महपजपउंबलद्ध

7.7.1 अभिप्राय एवम् प्रकृति

वैधता राजनीतिक व्यवस्था का गुण एवं विशेषता दोनों है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध उसके प्रदर्शन से जुड़ा है। अतः व्यवस्था की क्षमता कें निर्धारण का मूल तत्व भी वैधता है। वैधता लोक स्वीकृति से प्राप्त होती है। और यह स्वीकृति जनता उस विश्वास पर प्रदान करती है जब उसे प्रतीत होता है कि व्यवस्था का संचालन समतापूर्ण एवं न्यायपूर्ण है तथा वर्तमान राजनीतिक संस्थायें उस समाज विशेष के संचालन में सर्वाधिक उपर्युक्त हैं।

राजनीतिक वैधता और प्रभावशीलता का विचार राजनीतिक परिवर्तन की समस्या से भी अभिन्न रूप से जुड़ा है। वैधता का संकट परिवर्तन का संकट है। डेविड ई0 ऐप्टर ने किसी भी संस्था की सबलता के लिये वैधता को आवश्यक माना है। उनके अनुसार वैधता के अभाव में सरकारें कमजोर हो जाती हैं। इसीलिये टी0एच0ग्रीन ने भी जनता की स्वीकृति, न कि शक्ति, को राज्य का आधार माना। यह स्वीकृति जनता की सद्देच्छा से प्राप्त होती है। जो प्रकारान्तर से वैधता ही है। राज्य मानव चेतना की मूल माँग स्वतंत्रा को प्रशस्त करने हेतु अधिकारों की उपलब्धता सुनिश्चित करता है और यह क्षमता ही उसकी वैधता का आधार है। मैक्स वेबर ने सत्ताओ की वैधता के जिन तीन स्रोतों की चर्चा की है उनमें प्राचीनतम स्रोत परम्परा आधृत सत्ता है। यहॉ पर वैधता का आधार परम्पराओ के नैरन्तर्य के प्रति जन मन में चिर विस्वास है। एडमंड बर्क ने इस सत्ता का समर्थन करते हुए अपनी पुस्तक रिफलेक्सन आन रिवोल्यूसन इन फ्रांस ने लिखा है ''राजनीतिक संस्थायें इतिहास की लम्बी अवधि में उपजती हैं और विकसित होती रहती हैं। इस नाते लोंगो के जिलये उनकी स्वीकार्यता का स्रोत उस देश की सुस्थापित परम्पराओं में पाया जाता है।'' इसी आधार पर बर्क ने फ्रांस की क्रान्ति का विरोध किया और कमोवेष यही स्थिति उन तमामों नयी राजनीतिक व्यवस्थाओं के सामने होती हैं जो एक नयी पारी की शुरूवात करतें हैं। जैसे अभी हाल में पाकिस्तान ने प्रतिनिधि लोक तंत्र का संघर्ष और सेना की विकट चुनौती के समक्ष वैधता की तलाश। यही वह वैधता की कमी है जो एक कमजोर नश की तरह पाकिस्तानी सेना द्वारा बार–बार दबाया जाा है। बर्क के कथन में निहित सत्यांश को हम नकार नहीं सकते, भले ही वह घटना विशेष के सन्दर्भ में सही सिद्ध न हुआ हो ..'. 'एक नयी स्थापित व्यवस्था जिसकी अतीत में जड़ें नहीं हैं, कार्य योग्य नहीं होती और इसलिये लोग उसे स्वीकार नहीं करेंगे।' समसामयिक विचारकों में माइकल ऑकशाट ने सरकार की वैधता के लिये उसके आकार एवं प्रसार के छोटा होना आवश्यक माना। वे सकारात्मक उदारवाद द्वारा समर्थित लोक कल्याणकारी राज्य के विस्तार को उचित नहीं मानते हैं।

राजनीतिक वैधता पर मार्क्सवादी विचार.. मार्क्स बुर्जुआ शासन को आरम्भ से ही अवैध मानता है। क्योंकी यह जन सहमति पर नहीं दमन पर आधारित होता है। इतना ही नहीं यह वर्ग समाज का अल्पसंख्यक भी होता है। जितने भी शासन के ऊपरी हिस्से हैं जिसमें राजनीतिक संस्थायें राजनीतिक दल तथा विचारधारा भी शामिल है अर्थात सुपर स्ट्रक्चर वह सबकुछ सबस्ट्रचर अर्थात अर्थ व्यवस्था पर आधारित है। अतः वैधता नहीं बल्कि उत्पादन के साधन पर नियंत्रण शासन का आधार है। बाद में ग्राम सी ने वैधता के प्रश्न का समाधान अपने सुप्रसिद्ध सिद्धान्त हैजेमनी के माध्यम से किया ''बुर्जुआ शासन सिर्फ दमन पर आधारित नहीं होता बल्कि उसके पास संस्कृति और परम्परा से अर्जित ज्ञान एवं तर्क की एसी पूजी भी

है जिसके आधार पर वह अपने शासन के औचित्य को सिद्ध कर लेता है। उसे बार बार बल प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शासित सर्वहारा वर्ग पर बुर्जुआ वर्ग का मनोवैज्ञानिक प्रभाव रहता है। अतः बिना एक वैकल्पिक वैचारिक विमर्श के हम सही तौर पर बुर्जुआ शासन को प्रतिरूथापित नहीं कर सकते हैं।'' जुर्गेन हेबर मास ने अपनी पुस्तक लेजिटिमाइजेशन क्राइशिश ने कहा है कि ''पुजीवादी व्यवस्था कभी भी वैध नहीं हो सकती, यह सिर्फ लोक सहमति का स्वांग करती है... इस व्यवस्था में संकट ग्रस्त प्रवृतियों की श्रंख्ला अर्न्तनिहित है। यह पूंजीवादी संग्रहण के तर्क तथा लोकतांत्रिक वितरण के दबाओं के बीच अर्न्तविरोधों और संघर्षों को दूर नहीं कर सकती। इसलिये पूजीवादी व्यवस्था में संकट विद्यमान रहता है। वर्गविहीन होने के कारण समाजवादी राज्य सबका है इसलिये यह एकमात्र वैध राज्य है। यह एक नये प्रकार का लोकतांत्रिकरण है जिसमें मुक्त मानव के पूर्ण और सक्रिय भागीदारी की बात कही गयी है। राल्फ मिलीबैण्ड (मार्क्सीजम एण्ड पालिटिक्स) का कथन रोचक और उद्धरणीय है ''मार्क्सवाद की प्रतिबद्धता पूर्ण राजनीतिक लोकतांत्रिकरण और तथा कथित राजनीति के वि–लगाव के प्रति है।''

वैधता और विरोध

वैधता एक विश्वास का प्रश्न है। हर समाज प्रतीकों, मिथकों और विचारों की जीवन्त परम्परा को पोषित करता है और यह पोषण उसे गतिमान रहने की ऊर्जा प्रदान करता है। शासन व्यवस्थायें अपने को इन जीवित तत्वों से जोंड़नें का प्रयास करती हैं। तथा इसमें प्राप्त सफलता का स्तर उनकी वैधता और स्थायित्व का आधार होता है। प्राचीन काल में भारत में होने वाले अश्वमेघ, राजसूय तथा विशेषतः 'बाजपेय यज्ञ, राजा के द्वारा यह सुनश्चित करने के लिए किया जाता था कि जनता की आस्था उनके प्रति कितनी है। दूसरे शब्दों में यह निहित आस्था की पड़ताल करने के सामान था। वर्तमान काल में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव वैधता को मापने तथा प्रदान करने का सबसे विश्वसनीय तथा सर्वमान्य आधार है। कुछ लोगों खासकर माओत्सेतुंग आदि के अनुसार शक्ति और तद्जन्य सत्ता बन्दूक की नली से निकलती है। हमने देखा कि बन्दूक की नाल से प्राप्त सत्ता के बावजूद जनरल जियाउल हक तथा उनके पूर्ववर्ती अयूब खान तथा याहिया खान अपनी सत्ता की सुरक्षा के लिए किस तरह धर्म वह भी शरीयत और कठमुल्ला वाद की आड़ लेते हैं तथा इस बिना पर पाकिस्तानी जनता का विश्वास जीतना चाहते थे।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैधता के नियम हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था पर लागू होते हैं। केवल अनुदार राजशाही,तानाशाही जैसे कुछ व्यवस्थायें हैं जो वैधता प्राप्त करने का प्रयास नहीं करती। बहुत सारे अरब देश और उत्तरी कोरिया को हम क्रमशः इस वर्ग में रख सकते हैं।

हर लोकतांत्रिक व्यवस्था को विरोध और विप्लव का सामना करना पड़तया है। व्यवस्था को यह सुनिश्चित करना होतो है कि ये विरोध उसकी स्थिरता ध्वस्त न कर दे। विरोधों का सामना पश्चिमी देशों में कान्फिल्क्ट मैंनेजमेण्ट अर्थात संघर्ष प्रबन्धन की तर्ज पर होता है जबकि गाँधी जी ने इसमें एक नया आयाम जोड़ा विरोधों को एक उच्चतम सीमा तक उभारा जाय कि एक व्यापक तनाव उत्पन्न हो। समाज तनाव की स्थिति में आने पर अपनी रक्षा को तत्पर होगा। और यह रक्षा बिना तनाव दूर किये सुनिश्चित न हो सकेगी। अतः तनाव प्रबन्धन नहीं बल्कि पूर्ण समाधान से ही विरोध का प्रशमन हो सकता है। गाँधी जी ने ब्रिटिश अन्याय और शोषण से उपजे तनाव को या फिर भारतीय समाज की आन्तिरिक बुनावट में आयी विकृतियों जैसे जातिवाद, छुआ–छूत तथा सांम्प्रदायिकता आदि को कभी स्वतंत्रता

TFSLA-024

आन्दोलन के व्यापक फलक में छुपानें का प्रयास नहीं किया बल्कि उसे भी पूरी सिद्दत से सामने ले आये। इसी दृष्टिकोण का लाभ भारत को मिला जबकि पााकिस्तान को अन्तर्विरोधों को दबाने का खामियाजा आज तक भुगतना पड़ रहा है। व्यवस्था की वैधता के लिये परम आवश्यक जनता के मन में अन्याय बोध को न होना है। समाज के सभी वर्गों को शान्ति पूर्ण एवं संवैधानिक साधानों की समान उपलब्धता आवश्यक शर्त है। दुनिया के किसी भी काल में तथा क्षेत्र में जब भी विरोध उत्पन्न हुआ है तो विरोध का लक्ष्य वैधानिकता (लीगलिटी) नहीं अपितु वैधता (लेजिटीमेसी) रही है। वैधता में विधिक तथा मूल्य अर्थात नैतिक दोनों ही तत्वों का समावेश होता है। वैधता का संकट लोक विरूवास का संकट है। अतः विद्वान डाल्क ईस्टर्न बर्गर ने वैधता को राजनीतिक सत्ता की आधारशिला माना है। मैक्सवेबर भी वैधता के लिये विश्वास को आवश्यक मानते हैं। आज्ञा पालन एक भाव या धारणा है जो व्यक्ति के प्रति नहीं व्यवस्था के प्रति होता है। राज्य एक विधि व्यवस्था है और यह एक मूल्यबद्ध वैधानिकता की रक्षा हेतु समर्पित है जहाँ विधि स्वयं में एक मूल्य है। वेबर ने माना कि आधुनिक राज्यों में आदेश निर्वेयक्तिक मानक है न कि स्वेछाचारी निर्णय पक्षपात या विषेशाधिकार। इसी लिये वेबर ने अपने तीन प्रकार के विभाजनों में केवल विधिक बौद्धिक वर्ग को ही आधुनिक काल में स्वीकार माना।

7.7.2 वैधता के प्रकार

1. परम्परागत वैधताः– यह स्रोत प्राचीन होते हुए भी आज तक महत्वहीन नही हुआ है। ब्रिटेन का उदाहरण तो सर्वविदित है किन्तु अमेरिका में भी सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों के पीछे परम्परा का आग्रह देखा जा सकता है। 'दिस इज द वे इट हैज आलवेज बीन' यह हमेशा से ऐसे ही चला आ रहा है, के आदर्श वाक्य पर अमेरिकी न्याय पालिका चलती है।

   गीता में योगेश्वर कृष्ण जब योग की प्रभावी परम्परा का उल्लेख करते हैं तो वे सृष्टि के आदि में पहुच जाते हैं– एवं परम्परा प्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः (अ04 गीता,02) स एवायं मयः तेउद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः (अ003 पृ0 104) और इस प्रकार यह सिद्ध करने का प्रयास करते है कि योग भी परम्परा से प्राप्त प्राचीनतम एवं अपनी निरन्तरता के कारण शाश्वत है।

2. विधिक वैधता

3. करिश्माई वैधता

विधिक एवं करिश्माई वैधता पर सत्ता शीर्षक खण्ड में चर्चा हो चुकी है। अतः उसकी पुनरावत्ति आवश्यक नहीं है।

7.7.3 परम्परागत करिश्माई एवं विधिक वैधताओं में परस्पर सम्बन्ध

ये तीनों ही वैधता के आधार या स्त्रोत हैं। ये अपने आप में शुद्धतम स्वरूप हैं जिसके स्वतंत्र पाये जाने की संभावना कम होती है। अधिकतर इनका मिश्रित रूप ही उपलब्ध होता है। रूजवेल्ट इस मिश्रण के प्रमुखतम उदाहरण हैं कि कैसे एक करिश्माई नेता जो विचधिक रूप से चुना गया तथा जो लोंगों से परम्पराओं के समर्पण से जुड़ा हुआ था। रूजवेल्ट की शक्ति का आधार इन तीनों स्रोतों की त्रिवेणी थी। इसके प्रभाव से वे अपनी योजनाओं को आसानी से लागू करा सके एक नये प्रकार की नौकरशाही का गठन किये जिसके माध्यम से नये

कानूनों को लागू किया जैसे सामाजिक सुरक्षा अधिनियम श्रम कानून अधिनियम आदि। वैधता के इस स्तर के कारण ही जनता ने इसे उत्साह पूर्वक स्वीकार किया। यही बातें प0 जवाहर लाल नेहरू के सन्दर्भ में जा सकती हैं। सुनील खिलनानी ने भारत को प्राचीन प्रवृत्तियों तथा नयी आंकाक्षाओं का देश माना है। ऐसे में यहाँ लोक तांत्रिक संस्थाओं की स्थापना तथा विकास के आधुनिक पैमानों को अपनाने का श्रेय प0 नेहरू को जाता है। आज भारत में इनकी सफलता पं0 नेहरू के व्यक्तित्व का रेखांकन भी है और मूल्यांकन भी है।

राबर्ट डहल ने वेबर द्वारा मूल्यों के सन्दर्भ में राजनीतिक व्यवस्थाओं के मध्य भेद न करने के कारण आलोचना की है। वेबर के लिये यह पर्याप्त था कि कोई व्यवस्था वैध है और यह वैधता ही उसकी अच्छाई है। बहुत बार देखा गया है कि किस तरह वैध सरकारें जनता के दमन पर उतारू होजाती है। हिटलर मुसोलिनी माओ सटालिन आदि इसके उदाहरण है। वेबर ने अपनी योजना में अवैधानिक सरकारों को न शामिल कर एक भूल ता अवश्य ही की।

7.7.4 राबर्ट डहल का वैधता पर मानदण्ड

राजनीतिक व्यवस्थायें एक दूसरे से काफी भिन्न होती हैं तथा वे आज्ञा पालन हेतु भी अलग तरीके अपनाती हैं जैसे धन लाभ, पद लाभ, प्रतिष्ठा लाभ, तो कुछ सरकारें पुलिस और सेना के माध्यम से। कुछ सरकारें अवज्ञा की परिस्थितियों को इतना विकट कर देती हैं कि लोगों द्वारा आदेश पालन एक मात्र विकल्प बचता है। स्टालिन को ध्यान में रखकर डहल कहते है '' माना कोई शासन सामूहिक कृषि का आह्वान करे और कृषकों को अपनी जमीनें देने की शर्त रखे। वह सरकारी साधनों का इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि जो किसान जमीन दे उसे पुरस्कृत किया जाये और जो न करे उन्हे काफी हानि उठानी पड़गी। किन्तु पुरस्कार व दण्ड की नीति के आधार पर नीतियों का अधिक समय तक पालन सम्भव नहीं है। क्योंकी संसाधनों की सीमा होती है। अतः जो नेतृत्व जनता से भावात्मक तादात में सीापित कर लेता है उसे आज्ञापालन सुनिश्चित कराना आसान होता है। डहल के अनुसार लोकतांत्रिक सरकारों को अनय शासन व्यवस्थाओं की अपेक्षा वैधता की अधिक आवश्यकता होती है। डहल ने यह भी दिखाया कि जो समाज परिवर्तन शील है जैसे नवोदित एशिया और अफ्रीका के देश वहाँ पर वैधता का संकट आम बात है। विकास के नये लक्ष्य प्राप्त करने के लिये समाज एक संक्रमण से गुजरता है। इस दौरान समाज में आन्तरिक तनाव और विरोधाभास उत्पन्न होते है। और यही पर नेतृत्व तथा व्यवस्था की क्षमता का परीक्षण होता है।विकास का सिद्धान्त इसीलिये क्षमता समानता तथा विभेदीकरण के सन्तुलन को ही विकास के पहिये के घूमने के लिये आवश्यक मानता है। आपसी असंतुलन की स्थिति में व्यवस्था गर्त (डिके) में जा सकती है। जिसे दूसरे शब्दों में विकास की संजाल(डेवलेपमेण्टल ट्रैप) भी कहते हैं यही से वैधता का संकट शुरू होता है। राष्ट्र निर्माण में बाधा के कारण समाज में तनाव व अर्न्तविरोधों का जन्म होता है जिसे विद्वान व्यक्ति के सामने पहचान का संकअ कहते हैं जिसे दूसरे शब्दों में हम व्यवस्था कें साथ अपने तादात्म का संकट कह सकते हैं जो व्यवस्थ में भागी दारी को प्रभावित करता है। ल्यूसियन पाई ने अपने आलेख 'वैधता का संकट' में वास्तविक संकट को संवैधानिक व्यवस्था के असफल हो जाने तथा नेतृत्व संकट से जोड़ कर देखा है यह स्वाभाविक भी है कि जहाँ संवैधानिक ढाँचा भंग हो जायेगा जैसे कम्बोडिया और पाकिस्तान या जहाँ यह रूपहीन हो जायेगा जैसे नेपाल, तो वहाँ की जनता का भरोसा वहाँ के नेतृत्व और उसकी सत्ता से उठना स्वाभाविक है। वैधता का संकट वहाँ भी उठेगा जहाँ ढाचा अचानक चरमरा जायेगा या फिर

TESLA-024

क्रान्ति या अन्य कारणों से बदल दिया जायेगा। सत्ता अपने शक्ति के स्रोत को ही मन्द या बन्द करने का प्रयास करे या फिर मान्य राट्रीय लक्ष्यों को बदलने का प्रयास करे तो वहाँ भी यह संकट उठना स्वाभाविक है। अतः शक्ति सत्ता और वैधता के मध्य आपसी सन्तुलन ही श्लाघनीय है।

7.8 पारिभाषिक शब्द (की वर्ड्स)

1. सुम्मा पोटेस्टास(सर्वोच्च शक्ति)
2. मैचटेनफुल्टंग (शक्ति का प्रदर्शन एवं विस्तार)
3. पावर पिरामिड
4. मिथ आफ अथारिटी

अरब स्प्रिग– सन 2010 में ट्यूनीशिया में अन्याय के विरोध में युवा वर्ग में क्रान्ति की जो ज्वाला फैलायी वह मिश्र सीरिया लीबिया बहरीन सहित अन्य अरब देशों में फैल गयी।मूल रूप से यह तानाशाही का विरोध लोकतंत्र समर्थक आन्दोलन है।

7.8.1 उपयोगी पुस्तकें

1. काशी प्रसाद जायसवाल : द हिन्दू पालिटी
2. जेनेसार्प : द पालिटिक्स आफ नानवायलेण्ट एक्शन पार्ट 1 पावर एण्ड स्ट्रगल
3. रिचर्ड ग्रेग : द पावर आफ नान वायलेन्स
4. मार्गेन थाऊ : पालिटिक्स एमंग नेशन्श
5. राबर्ट डहल : हू गवर्न्स
6. प्रो0 एस0पी0वर्मा : द मार्डन पालिटिकल थ्योरी
7. जे0सी जौहरी : आधुनिक विचारधारायें
8. चार्ल्स ईमेरियमः पॉलिटिकल पावर
9. जार्ज कैटलिनः साइंस एण्ड मैथर्ड ऑफ पॉलिटिक्स

7.9 बोध प्रश्न

1. शक्ति की अवधारधा को स्पष्ट कीजिये तथा इसके विभिन्न आयामों पर विचार कीजिये?
2. शक्ति की परिभाषा दीजिये तथा इसके विभिन्न स्त्रोतों का वर्णन कीजिये?
3. शक्ति पर मार्क्सवादी विचार क्या है?
4. शक्ति पर सम्भ्रान्त वर्गीय तथा बहुल वादी विचारधारा स्पष्ट करो?

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–3

व्यक्ति और राज्य

इकाई – 8 विधि और न्याय	**106–121**
इकाई – 9 स्वतंत्रता	**122–129**
इकाई – 10 समानता	**130–140**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

17. प्रो. एल. आर. गुर्जर

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

18. डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच

19. डॉ के. डी. सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया

20. डॉ नीलिमा सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

21. डॉ एच. के. शर्मा, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

22. डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज

23. डॉ ए. पी. सिंह, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

24. डॉ मोहम्मद शाहिद, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN- 979-93-83328-35-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
प्रकाशक–कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–2020
मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

यू.जी.पी.एस.–101

खण्ड परिचय

खण्ड–03 'व्यक्ति और राज्य' के अन्तर्गत

इकाई–08 में विधि और न्याय के विषय में जानकारी प्रदान की गई है। विधि के अर्थ, परिभाषा, प्रकृति को समझ सकेंगे। न्याय के विविध प्रकारों और न्याय की प्राप्ति के साधनों की जानकारी कर सकेंगे।

इकाई–09 के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के विषय में तथा स्वतन्त्रता के प्रकार और सुरक्षात्मक उपायों के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

इकाई–10 के अन्तर्गत समानता की संकल्पना का अध्ययन किया गया है। समानता के विभिन्न रुपों की व्याख्या की गई है। समानता के विभिन्न प्रकारों तथा स्वतन्त्रता, समानता के बीच सम्बन्धों पर भी विचार किया गया है।

इकाई–8

विधि और न्याय

इकाई की रुपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 विधि का अर्थ और परिभाषा

8.3 विधि के स्रोत

8.4 अच्छी विधि के लक्षण

8.5 विधियों का वर्गीकरण

8.6 विधि और नैतिकता में सम्बन्ध

8.7 विधि और स्वतंत्रता में सम्बन्ध

8.8 विधि की प्रकृति

8.9 विधि का पालन क्यों किया जाता है

8.10 न्याय का अर्थ

8.11 न्याय के प्रकार

8.12 कानूनी न्याय प्राप्ति के साधन

8.13 जान राल्स के न्याय विषयक विचार

8.14 विधि और न्याय में सम्बन्ध

8.15 सारांश

8.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आपः

- विधि का अर्थ समझ सकेंगे।
- विधि के स्रोत और प्रकार समझ सकेंगें
- अच्छी विधि की पहचान कर सकेंग और विधि और नैतिकता के सम्बन्ध की जानकारी कर सकेंगें।
- न्याय का अर्थ और परिभाषा को समझ सकेंगे।

- ➢ न्याय के विविध प्रकारों और न्याय प्राप्ति के साधनों की जानकारी कर सकेंगे।
- ➢ जान राल्स के न्याय विषयक विचार को समझ सकेंगे।
- ➢ विधि और न्याय में सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

मानव जीवन के सुचारु संचालन के लिये कुछ नियमों की आवश्यकता होती है। जैसे सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में सामाजिक नियम या धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक नियम। इन नियमों को तोड़ने से आलोचना, बदनामी, जैसे दण्ड तो मिलते हैं किन्तु किसी निश्चित दण्ड की व्यवस्था नही होती। इस तरह के निश्चित दण्ड की व्यवस्था तभी सम्भव होती है जब उन्हे राज्य बनाता है। राज्य ऐसी विधियों को बनाता क्यों है? इसकी वजह है कि राज्य सभी के व्यक्तित्व का विकास करना चाहता है। इस तरह राज्य द्वारा निर्मित और लागू किये जाने वाले इन नियमों को ही विधि कहते हैं। जैसे मानव जीवन के सुचारु संचालन के लिये विधियां महत्वपूर्ण होती हैं उसी तरह न्याय की भी आवश्यकता है। मानव सभ्यता के आरम्भिक समय से मनुष्यों के लिये न्याय की समस्या रही है। आज तो यह समस्या और भी गम्भीर बन गयी है क्योंकि बिना न्याय के मानव समाज का अस्तित्व ही सम्भव नही है।

8.2 विधि का अर्थ और परिभाषा

विधि या कानून को अंग्रेजी में लॉ (Law) कहतें है। लॉ की उत्पत्ति ट्यूटॉनिक 'लैग' (Lag) से हुयी है। लैग का अर्थ है ऐसी वस्तु से, जो सदैव स्थिर निश्चित और समान रहती है। इस दृष्टि से इसका आशय है वह जो एक रुप में बना रहे। आक्सफोर्ड शब्दकोश में इसका आशय सत्ता द्वारा आरोपित आचार–व्यवहार का नियम बताया गया है। इस दृष्टि से राजनीति विज्ञान में इसका तात्पर्य उस विशेष नियम से है जो राज्य द्वारा निर्मित है और जिसे राज्य द्वारा लागू कराया जाता है।

आस्टिन के अनुसार ''विधि सम्प्रभु की आज्ञा है।''

हालैण्ड के अनुसार ''कानून मनुष्यों के बाह्य कार्यो के साधारण नियम हैं जो राज्य सत्ता द्वारा कार्यान्वित किये जाते है।''

वुडरो विल्सन के अनुसार ''कानून प्रचलित विचार और व्यवहार का वह अंश है जिसे एक समान नियमों के रुप में स्पष्ट और औपचारिक मान्यता दी गयी हो और इन नियमों को शासन की सत्ता और शक्ति का समर्थन प्राप्त हो।''

साल्मंड के अनुसार ''विधि नियमों का वह समूह है जिसे राज्य मान्यता देता है और न्याय व्यवस्था के प्रशासन में लागू करता है।''

इन परिभाषाओं से विधि के निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट होतें हैं –

1. विधियाँ नागरिक समाज के लिये आवश्यक होतें हैं क्योंकि नागरिक समाज सुव्यवस्थित संगठन है' और उसके लिए आचरण के सुव्यवस्थित नियमों की आवश्यकता है।

2. विधियों का निर्माण सम्पूर्ण समाज के हित को ध्यान में रखकर होता है।

3. विधि का सम्बन्ध आन्तरिक भावनाओं से न होकर बाह्य आचरण से होता है।

4. विधि का निर्माण राज्य द्वारा होता है क्योंकि राज्य ही सम्प्रभु शक्ति है। परम्पराओं को स्वीकृति प्रदान कर वही विधि का रुप प्रदान करता है।

5. विधि का पालन नागरिकों को अनिवार्य रुप से करना होता है, नही तो राज्य उन्हें दंडित करता है।

6. विधियां निष्पक्ष होती हैं, क्योंकि उसका उद्देश्य सार्वजनिक हित होता है।

8.3 विधि के स्रोत

स्रोत का आशय उन साधनों से है जो कानून के निर्माण में सहयोग देते हैं। इन स्रोतों में हैं–

1. **रीति–रिवाज** – रीति–रिवाज समाज में प्रचलित नियम हैं, जो धीरे–धीरे विकसित हुये हैं। इनके साथ समाज का नैतिक बल होता है और इन्हीं से सामाजिक संगठन नियंत्रित होता रहा है। जब राज्य इन्हें वैधानिक मान्यता प्रदान करता है तब ये विधि का रुप ग्रहण करतें हैं। यह विधि का सबसे प्राचीन स्रोत है।

2. **धर्म –** यह कानून का महत्वपूर्ण स्रोत रहा है क्योंकि धर्म और रीति–रिवाज का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। सामाजिक व्यवहार धर्म पर निर्भर होते रहें है। जैसे कुरान मुसलमानों के और बाइबिल ईसाईयों के सामाजिक जीवन को व्यापक रुप में निर्देषित करता रहा है। इन धार्मिक नियमों को अधिक प्रचलन में देखकर आरम्भिक समय में लिपिबद्ध किया जाता रहा है जैसे प्राचीन रोमन कानून धर्म पर निर्भर थे।

3. **न्यायालयों के निर्णय –** जब रीति–रिवाजों और धार्मिक परम्पराओं से लोगों के विवादों का समाधान नहीं हो पाता तब न्यायालयों की बुद्धि की आवश्यकता पड़ी। उनके द्वारा लिये गये निर्णय–न्यायिक दृष्टांत बन गये। इन नियमों के कारण कभी–कभी पुराने कानूनों का संशोधन भी करना पड़ा है। इस तरह विधि के निर्माण में इनकी भी भूमिका है।

4. **न्यायानुकरण (Case Laws) –** जब कानून अस्पष्ट और संदिग्ध होता है। तब अपने स्वविवेक से न्यायाधीश उसका भाष्य करते हुये निर्णय देते हैं, इस तरह के निर्णय भविष्य के लिये उदाहरण बन जाते है और न्यायाधीश उनका अनुकरण करते है। इन्हें मुकदमें के कानून कहा जाता है। इस तरह यह भी विधि के स्रोत हैं।

5. **वैज्ञानिक टीकायें (Scientific Commentaries) –** देश के विख्यात विधि वेत्ता जब प्रचलित रीति–रिवाजों की शास्त्रीय और तात्विक विवेचना कर किसी निष्कर्ष को निकालते हैं तब उसे वैज्ञानिक टीका कहा जाता है। इन वैज्ञानिक टीकाओं से विभिन्न मामलों में व भावी जीवन के लिए उचित मार्गदर्शन मिलता है। अतः न्यायलय भी उन्हें मान्यता प्रदान करने लगते हैं। वैज्ञानिक टीकायें न्यायिक निर्णय से इसलिये भिन्न हैं, क्योंकि न्यायिक निर्णय किसी विषय विशेष से सम्बन्ध रखते हैं। जबकि वैज्ञानिक टीकाओं का सम्बन्ध सूक्ष्म सिद्धान्तों से होता है।

6. **औचित्य (Equity) –** का अर्थ समानता से है। इस दृष्टि से जब न्याय का समान पालन होता है तब उसे औचित्य कहा जाता है। यह यद्यपि न्यायिक निर्णय का ही एक रुप होता है किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि जहां न्यायिक निर्णय में विद्यमान कानून की व्यवस्था का भाव होता है वहीं औचित्य के द्वारा विद्यमान कानून की कमियों को दूर किया जाता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि कभी–कभी मौजूदा कानून को प्रासंगिक बनाने की आवश्यकता पड़ जाती है।

7. **विधायन (Ligislation) –** यह विधि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत है। इसके द्वारा विधायिका की भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है। चूँकि विधायिका का गठन जनता के मतदान द्वारा होता है। अतः यह जन भावना को प्रदर्षित करता है। वर्तमान में न्यायालय इन्हें सबसे अधिक मान्यता देतें हैं।

8.4 अच्छी विधि के लक्षण

अच्छी विधि के निम्नलिखित लक्षण हैं–

1. **स्थायित्व (Permanence) –** जो विधियां सामान्य कल्याण की भावना से बनायी जाती है। उनमें स्थायित्व होता है।

2. **सर्वव्यापकता (Universality) –** अच्छी विधि सभी को समान दृष्टि से देखने वाली होने के कारण सर्वव्यापकता होती है।

3. **सर्वोच्चता (Supremacy) –** अच्छी विधि शासक और शासित पर समान रुप से लागू होने के कारण सर्वोच्च होती है।

4. **सरलता (Simplicity) –** कानून की भाषा ऐसी होनी चाहिये जो न केवल न्यायलय वरन सामान्य जन की समझ में आने वाली हो।

5. अच्छी विधियों का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्त्वि का विकास होता है।

6. अच्छी विधियां व्यवहारिक अनुभव पर आधारित होती हैं। ऐसी विधियों से समाज की भलाई अच्छी तरह से होती है।

बोध प्रश्न 1–

1. कानून का निर्माण कैसे होता है?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

.....

.....

2. अच्छी विधि के लक्षण बताइयें?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

8.5 विधियों का वर्गीकरण

प्रसिद्ध विद्वान मैकाइवर ने अपने ग्रन्थ Modern Slate में कानून का वर्गीकरण निम्न तरह से किया है–

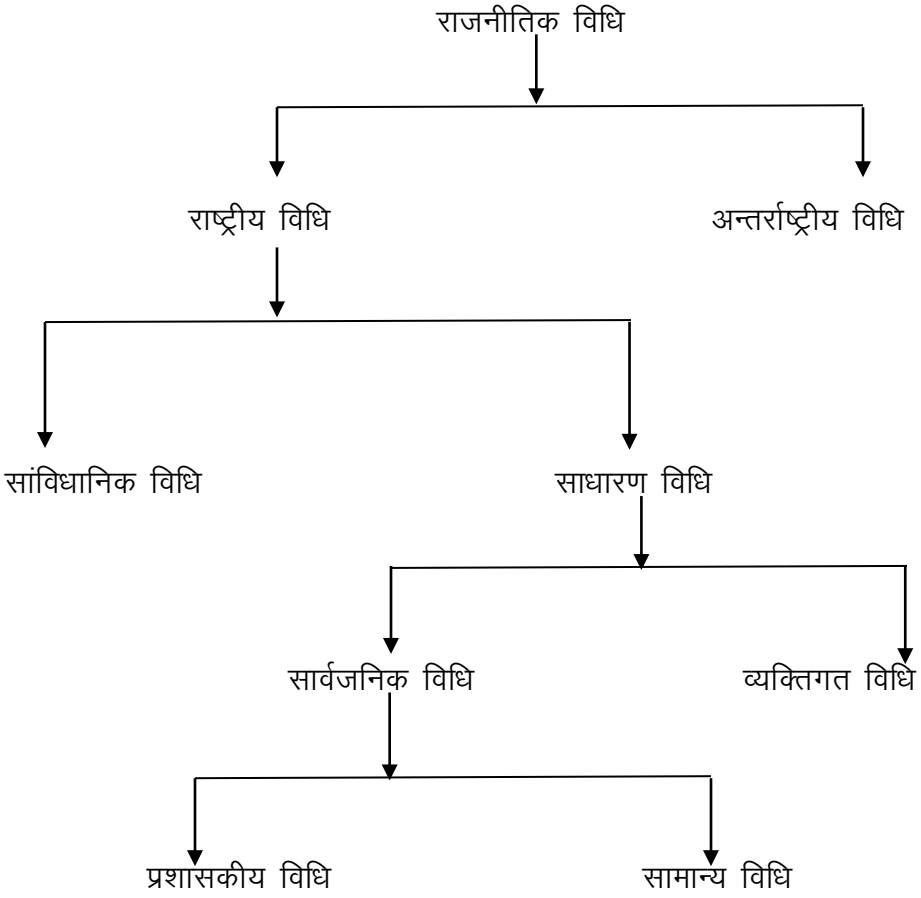

1. **राष्ट्रीय विधि (National Laws)** – इनका सम्बन्ध राज्य के भू–भाग, निवासियों तथा समुदायों से होता है अर्थात ये विधियां समस्त राष्ट्रीय जीवन को नियमित करतीं हैं। अतः इनका पालन सभी व्यक्तियों के लिये अनिवार्य होता है।

2. **अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Laws) –** ये वे विधियां जो स्वतंत्र राष्ट्रों के पारम्परिक सम्बन्धों का संचालन करतीं हैं। चूँकि राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग और मैत्री की आवश्यकता हैं अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधियों की जरुरत पड़ी। ऐसी विधियां किसी राज्य की विधायिका द्वारा निर्मित न होकर परस्पर समझौते और अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं पर आधारित होती है।

3. **संवैधानिक विधि (Constitutional Laws)** – ये ऐसी विधियां है जो सरकार के ढांचे और नागरिकों के अधिकारों की व्यवस्था करती है। इन विधियों से सरकार की शक्ति का निश्चिय होता है। ब्रिटेन में संवैधानिक विधि अभिसमयों पर आधारित है जबकि अन्य सभी देशों में ये लिखित हैं।

4. **साधारण विधि (Ordinary Laws)** – संवैधानिक विधियों के अलावा सभी विधियां साधारण विधि कहलाती है। इनसे राज्य और नागरिकों के सम्बन्धों का निर्धारण होता है। साधारण विधियां ऐसी विधियां हैं जो विधायिका द्वारा निर्मित होती हैं।

5. **व्यक्तिगत विधियां (Private Laws) –** ऐसी विधियां है जो मनुष्यों के पारम्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करतीं हैं। उदाहरण के लिये मनुष्यों के क्रय–विक्रय सम्बन्धी विधियां।

6. **सार्वजनिक विधियां (Public Laws) –** ये वे विधियां है जो व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध का निर्धारण करती हैं। इन विधियों से सार्वजनिक जीवन में नागरिकों के कार्यो को नियंत्रित किया जाता है। इसमें स्वंय राज्य एक पक्ष होता है। मार–पीट, चोरी–डकैती जैसे मामलों को इनके माध्यम से नियंत्रित किया जाता है।

7. **प्रशासकीय कानून (Administrative Laws)–** इन विधियों का सम्बन्ध प्रशासन से होता है। इनसे सरकारी कर्मचारियों के उत्तरदायित्वों और अधिकार का निश्चय होता है तथा नागरिकों व प्रशासकीय कर्मचारियों के अधिकार की रक्षा होती है। इन्हें क्रियान्वित करने के लिये प्रशासकीय न्यायालय होते हैं।

8. **सामान्य विधि (General Laws)** – इन विधियों से राज्य और व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध निश्चित होते हैं। इनके निम्नलिखित प्रकार हैं–

   I. संविधि **(Status)** ये विधायिका द्वारा दैनिक प्रशासन के लिये बनाया जाता है।

   II. अध्यादेश **(Ordinance)** विषम परिस्थिति में इन्हें कार्यपालिका जारी करती है। ये अस्थायी प्रकृति के होतें हैं। विधायिका की स्वीकृति के पश्चात् ये स्थायी कानून बन सकते हैं। भारत में राष्ट्रपति इसे जारी करता है।

   III. दृष्टांत **(Case Laws)** इन्हें नजीर भी कहा जाता है। कानून के अस्पष्ट होने पर न्यायाधीश अपने विवेक से कानून की व्याख्या करते हैं। यही भविष्य के लिए नजीर या दृष्टांत का कार्य करते हैं।

IV. प्रथागत कानून **(Customary Laws)** इनका आधार देश की परम्परायें होती हैं। अर्थात इनकी उत्पत्ति प्रथाओं के आधार पर होती है।

8.6 विधि और नैतिकता में सम्बन्ध (Relation Between Law and Morality)

प्रारम्भिक समय से ही विधि और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता रहा है। इसकी वजह यह रहा है कि दोनों का उद्देश्य मानव के लिये एक अच्छा जीवन प्रदान करना है। दोनों मनुष्य के आचरण व व्यवहार को नियमित करना चाहतें हैं। नैतिकता कानून का भी स्रोत है क्योंकि समाज में प्रचलित नियम ही कानून का रुप ग्रहण कर लेते हैं। जैसे चोरी करना नैतिक दृष्टि से गलत है वहीं कानून की दृष्टि से भी अपराध है। इसी तरह कानून नैतिक भावना को जगाता है। जैसे सतीप्रथा को रोकने के लिये जो कानून बने उससे लोगो में नैतिक भावना जगी और लोगों ने उसे स्वीकार कर लिया। इसके अलावा पूर्व और पश्चिम के विचारक मानते रहें है कि राज्य मनुष्य के नैतिक गुणों के विकास में सहायक होता है। इस तरह नैतिकता और विधि परस्पर पूरक हैं।

अनेक समानताओं के बावजूद दोनों में निम्नलिखित अंतर भी है–

1. नैतिकता आंतरिक भावना से जुडी हैं और लोगों द्वारा इसका पालन सहज रुप से किया जाता है, किन्तु विधि का पालन लोग भय के कारण करतें हैं। वे सोचते हैं कि अगर विधि का पालन नहीं करेगें तो दण्डित किये जायेगें।

2. नैतिकता व्यक्तिगत है जबकि विधि सभी के लिए समान होती है।

3. नैतिकता का सम्बन्ध नीतिशास्त्र से है जबकि विधि का सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र से है।

4. नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के वाह्य और आन्तरिक आचरण से है, जबकि विधि का सम्बन्ध मनुष्य के बाह्य आचारण से है।

5. नैतिकता के पीछे सामाजिक निंदा व तिरस्कार का भाव है, कानून के पीछे राज्य की शक्ति है।

8.7 विधि और स्वतंत्रता में सम्बन्ध

विधि और स्वतंत्रता के सम्बन्ध में 2 तरह की धारणायें हैं। एक धारणा के समर्थकों में व्यक्तिवादी आराजकतावादी और श्रम संघवादी हैं। इनके अनुसार कानून स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक है। व्यक्तिवादी धारणा के समर्थक व्यक्तियों की स्वतंत्रता के समर्थक है, इसलिये राज्य के अत्यधिक सीमित कार्यक्षेत्र को ही स्वीकार करते हैं। अराजकतावादी विचारक तो राज्य सत्ता को ही अवांछनीय मानते हैं। गाडविन जैसे विचारक विधि को सर्वाधिक हानिकारक संस्था मानते हैं। उसी तरह श्रमसंघवादियों ने राजसत्ता और कानून को स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक बताया है।

दूसरी धारणा के समर्थक विधि को स्वतंत्रता के लिये आवश्यक मानते हैं। इस वर्ग में अरस्तू सिसरों जैसे विचारक तथा अनुबन्धवादी और आदर्शवादी विचारक आतें है। अरस्तू का मत है कि मनुष्य सभी जीवों में भले ही श्रेष्ठ हो किन्तु जब वह कानून और न्याय से अलग हो जाता है तब सबसे निकृष्ट प्राणी होता है। सिसरो के विचार में हम स्वतंत्र रहने के लिए कानून के बंधन में रहते हैं। लॉक का मत है कि राज्य स्वतंत्रता का मूर्त रुप है।

उपर्युक्त दोनों धारणा भ्रामक हैं। पहली धारणा इसलिये त्रुटिपूर्ण है क्योंकि उसने विधि और स्वतंत्रता का नकारात्मक अर्थ लिया है। अगर विधि नही होगी तो मनमानापन होगा, स्वच्छन्दता का वातावरण होगा और संघर्ष, कलह और द्वेष का वातावरण चारों तरफ फैल जायेगा। इस तरह कानून द्वारा ही शांति व्यवस्था बनी रह सकती है। इसके माध्यम से अपराधियों को दंडित कर उपयुक्त जीवन यापन के वातावरण की स्थापना हो सकती है। विधि के माध्यम से ही लोगों के अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं, और शासन सत्ता को भी नियंत्रित किया जा सकता है। इसी तरह दूसरी धारणा भी त्रुटिपूर्ण है। हर तरह की विधियां स्वतंत्रता में सहायता नही देती जैसे वर्नाकूलर प्रेस एक्ट (1878) द्वारा भारतीय प्रेस की स्वतंत्रता को कुचलने का प्रयास किया गया। इसी तरह का कार्य 1919 के रौलट एक्ट द्वारा किया गया।

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है जो कानून निष्पक्ष, समान और व्यक्तित्व–विकास का अवसर प्रदान करते हैं वे स्वतंत्रता में सहायक हैं।

बोध प्रश्न 2–

1. सार्वजनिक विधियों और प्रशासकीय विधियों में अन्तर स्पष्ट कीजिये?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

2. व्यक्तिवादी और अराजकतावादी विचारक विधि और स्वतंत्रता के बारे में किस तरह की धारणा रखते हैं?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

3. नैतिकता और विधि के सम्बन्ध को स्पष्ट करें?

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.8 विधि की प्रकृति (Nature of the Law)

विधि की प्रकृति के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार धारायें हैं–

1. विश्लेषणात्मक विचारधारा (The Analytical School) इस अवधारणा का समर्थन बोदा, हाब्स बेथंम विलोबी, हालैण्ड और मुख्य रुप से ऑस्टिन के विचारों में मिलता है। इस विचाराधारा के अनुसार विधि का पालन लोग इसलिये करते हैं, क्योंकि उसे प्रभुसत्ता की मान्यता प्राप्त होती है। इस तरह यह अवधारणा मानती है कि– i. विधि सम्प्रभु का आदेश है, ii. विधि का पालन बल के प्रयोग पर निर्भर है अर्थात उसके आदेश की अवज्ञा करने पर दण्डित किया जायेगा और iii. विधि का सम्बन्ध मानव की आन्तरिक भावना से न होकर बाह्य आचरण से होता है। परन्तु इस विचारधारा में अनेक कमियां हैं। प्रथमतः इसमें परम्पराओं को कोई महत्व नहीं दिया गया है। गैटेल के अनुसार इस विचारधारा के समर्थक विधि के ऐतिहासिक विकास की ओर कोई ध्यान नही देते। द्वितीयतः यह विचारधारा सम्प्रभु को विधि के बाहर मानती है जबकि विधियां चाहे सामान्य जन हो या विधि निर्माता सभी पर समान रुप से लागू होती हैं। तृतीयतः इस विचारधारा में विधियों को जनभावना की अभिव्यक्ति न मानकर जनमत की उपेक्षा की गयी है। इसके बावजूद यह विचारधरा यथार्थवादी है और विधियों को लिखित मानने से बड़ी स्पष्ट है।

2. ऐतिहासिक विचारधारा (Historical School) इस अवधारणा का समर्थन मांटेस्क्यू, बर्क, सरहेनरीमेन, फ्रेडरिकपोलक और मेटलैण्ड आदि के विचारों में होता है। यह विचारधारा मानती है कि अतीतकाल से प्रचलन में रहने वाली परम्परायें राजसत्ता की मान्यता प्राप्त कर विधि का रुप ग्रहण करतीं हैं। इस तरह विधियां जनसामान्य द्वारा स्वीकृति होती हैं, किसी विशिष्ठ विधि निर्मात्री संस्था द्वारा निर्मित न होकर जनसामान्य के विचार पर आधारित होती है, औचित्यपूर्ण होती है, क्योंकि इनका आधार व्यापक रुप से स्वीकृत सामाजिक आचार–विचार के नियम होते हैं। इस तरह विधियां क्रान्तिकारी भी नही होती क्योंकि इनका आधार परम्परायें हैं। यह विचारधारा भी त्रुटिपूर्ण है क्योंकि यह भूतकालिक स्थिति पर ध्यान देने के कारण रुढ़िवादी है और कानून के दर्शन की उपेक्षा कर उसकी ऐतिहासिकता पर बल देती है। गैटेल के अनुसार इसमें भूत के लिये प्रवृत्ति होती है। इसी तरह इस विचार धारा को मानने से राज्य का काम विधि का निर्माण न होकर केवल उसे लागू करना मात्र हो जाएगा। इस तरह यह विचार धारा अनुदारवादी है आलोचनाओं के बावजूद यह विचार धारा समाज की बदलती परिस्थितियों के अनुसार विधि को भी गतिशील बनाने की बात करती है।

3. दार्शनिक विचारधारा (The Philosphical School) इस विचारधारा के प्रमुख समर्थकों में रुसो, हीगल और काण्ट हैं। ये विचारक कानून के नैतिक पक्ष पर बल देते हैं और तार्किक दृष्टिकोण से कानून के औचित्य पर जोर देते हैं। गैटेल के अनुसार इनका सम्बन्ध नैतिक सिद्धान्त के रुप में न्याय सम्बन्धी विचारों के विकास तथा एक आदर्शवादी कानूनी व्यवस्था के निर्माण से है।

इस विचारधारा में कमी यह है कि यह केवल कानून के नैतिक पक्ष जोर देती है। इस तरह इसमें कानून के अमूर्त पक्ष पर बल दिया गया है। इसके बावजूद यह धारणा विधि व न्याय घनिष्ठ सम्बन्ध मानकर विधि को न्यायपूर्ण बनाना चाहती है।

4. तुलनात्मक विचारधारा (Comparative School) इस विचारधारा के प्रमुख समर्थक हर्बर्ट स्पेन्सर मॉर्गन और ब्राइस हैं। इस विचारधारा के समर्थकों का विश्वास है कि अतीत और वर्तमान की सभी कानूनी पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद कानून के स्वरुप का निर्धारण किया जाता है। यह विचारधारा उचित विधियों के निर्माण के लिये प्राचीन और आधुनिक विधियों की तुलना पर तो ध्यान देती है। साथ ही अन्य सामाजिक विज्ञानों से भी सहायता लेती है। परन्तु किसी देश के कानूनों की तुलना करने के लिये वहां के वातावरण, संस्कृति, परम्परा जलवायु और राष्ट्रीय चरित्र आदि का भी उतनी उपयोगी हों। इसके बावजूद कानून की व्यवहारिक कठिनाईयों को दूर करने में यह विचारधारा सहायक है।

5. समाज शास्त्रीय विचारधारा (Sociological School) इस विचारधारा के प्रमुख समर्थकों में ड्यूगी (Duguti) क्रैब (Krabbe) और लास्की (Laski) हैं। यह विचारधारा विधि और समाज में प्रगाढ़ सम्बन्ध मानती है और विधि का मंतव्य सामाजिक हित–साधन मानती है। अर्थात जो नियम सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक है राज्य उन्हें ही कानूनी स्वरुप देता है। इस तरह यह धारणा विधियों को सामाजिक जीवन की आवश्यकता मानती है। अर्थात विधियों की मान्यता का आधार उसका सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति है। परन्तु यह धारणा समाज को तो महत्वपूर्ण मानती है। किन्तु राज्य को उपेच्छित करती है।

उपर्युक्त विचारधाराओं में कोई भी एक विचारधारा पूर्ण नहीं है। सभी विचारधाराओं में कुछ न कुछ त्रुटियां हैं। कोई भी एक विचारधारा कानून के वास्तविक स्वरुप को स्पष्ट नहीं कर पाती है परन्तु इनमें सत्यांश अवश्य है। विश्लेषणात्मक विचारधारा स्पष्ट करती है कि कानून के पीछे राज्य सत्ता की मान्यता आवश्यक है। ऐतिहासिक अवधारणा इस तथ्य का बोध कराती है कि कानून स्थायी रुप के ही नहीं होते, वे प्रगतिशील भी होते हैं। इसी तरह समाजशास्त्रीय विचार धारा बताती है कि राज्य का सामाजिक हित की पूर्ति करने वाले नियमों को विधिक मान्यता प्रदान करनी चाहिये। इसके अलावा दार्शनिक विचार धारा विधि के नैतिक पहलू पर ध्यान देने की बात करती है और तुलनात्मक विचार धारा कानूनी पद्धतियों के तुलनात्मक अध्ययन पर ध्यान आकृष्ट करती है।

8.9 विधि का पालन क्यों किया जाता है?

विधि का पालन राज्य के नागरिक सामान्यतः क्यों करते हैं? इस प्रश्न पर पहले भी विचार किया जाता रहा है, और आज भी यह प्रश्न विचारणीय बना है अरस्तू ने विधि को विवेक की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति माना है, प्राचीन और मध्ययुगीन विचारकों ने ईश्वरीय विधान बताया जबकि हाब्स और ऑस्टिन ने प्रभुसत्ता सम्पन्न

TESLA-024

शक्ति का आदेश कहा है। संक्षेप में विधि के पालन के कई कारण है। इनमें प्रमुख निम्नवत हैं–

1. बोदां हाब्स बेथंम, ऑस्टिन, हालैण्ड, विलोबी आदि के अनुसार विधि का पालन दण्ड–भय से होता है।
2. विधियां मानवीय आवश्यकता की पूर्ति में सहायक है इसलिये लोग इनका पालन करते हैं। लास्की ने इसीलिये विधियों की उपयोगिता को इनके पालन का कारण माना है।
3. विधियों का पालन लोग स्वभाववश करते हैं।
4. विधियां लोगों में सुरक्षा की भावना का विकास करती हैं।
5. विधियां अधिकारों के उपयोग में सहायक हैं।
6. लोग विधियों का पालन इसलिये करते हैं क्योंकि उनकी मान्यता है कि विधियों के निर्माण में जनता की सहमति ली गयी है।
7. विधियों का पालन कर्त्तव्य भावना की प्रबलता से होता है।
8. विधियों का पालन इसलिये होता है क्योंकि उनका आधार विवेक होता है अर्थात पर्याप्त विचार–विमर्श और विभिन्न चरणों के माध्यमों से होता है।
9. कुछ लोग कठिनाईयों से बचने के लिये विधियों का पालन करते हैं।

8.10 न्याय का अर्थ

न्याय राजनीतिक चिंतन की बुनियादी धारणा है जिस पर प्रारम्भ से ही विचार होता रहा है। प्लेटो के प्रसिद्ध ग्रन्थ रिपब्लिक का सबसे महत्वपूर्ण विषय न्याय की प्रकृति और उसके निवास की खोज करता ही है। प्लेटो ने इस ग्रन्थ में विभिन्न धारणाओं के अनुसार न्याय के प्रचलित अर्थ को स्पष्ट किया है। उसने परम्परावादी धारणा के अनुसार सेफलस के मत को बताया है, जिसने कहा है कि ''सत्य बोलना और अपने फर्ज को चुका देना ही न्याय है।'' उसने उग्रवादी धारणा के प्रतिनिधि थ्रेसीमेकस के विचार को बताया है। थ्रेसीमेकस के अनुसार 'शक्तिशाली का हित साधन की न्याय है।' इसी तरह प्लेटो ने यर्थाथवादी विचारधारा से सम्बद्ध ग्लांका (Glaucon) के मत को प्रस्तुत किया है। ग्लांका के अनुसार 'न्याय–भय' का शिशु है। उसके अनुसार न्याय मानव आत्मा की उचित व्यवस्था और मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक मांग है। उसने मानवीय आत्मा की तीन तत्व बुद्धि (Wisdom) शौर्य (Sprit) और क्षुब्धा (Appetite) बताया है। प्लेटो ने 'स्वकर्तव्य पालन' के रुप में न्याय को परिभाषित किया है।

सिसरो ने प्राकृतिक विधि को न्याय का मापदंड माना है। सिसरो के अनुसार न्याय सभी को अवसर की समानता प्रदान करने और प्रत्येक को उसका अधिकार देने में निहित है। इसी तरह सन्त आगस्टाइन के अनुसार प्रत्येक समाज की अपनी व्यवस्था होती है और उस व्यवस्था के अनुरुप व्यवहार ही न्याय है।

आधुनिक युगतक आते–आते न्याय की संकल्पना में बुनियादी परिवर्तन आ गया है। परम्परागत दृष्टिकोण के अन्तर्गत मुख्यतः न्यायपूर्ण व्यक्ति के स्वरुप पर विचार किया जाता था, जबकि आधुनिक युग में न्यायपूर्ण समाज कैसा होना चाहिये

के बारे में सोचा जाता है। दूसरे परम्परागत न्याय एक बनी बनायी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सर्वथा उपयुक्त था, जबकि आधुनिक दृष्टिकोण का लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन को बढ़ावा देना है। तीसरे परम्परागत दृष्टिकोण का सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से होता था जबकि आधुनिक दृष्टिकोण सामाजिक न्याय से मुख्यरुप में सम्बद्ध है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि सामाजिक जीवन में न्याय किस रुप में स्थापित किया जाय? इस प्रश्न पर आज प्रक्रियात्मक न्याय और वितरण न्याय के समर्थकों में गहरा मतभेद है। पहले मत के समर्थको का मानना है कि सामाजिक जीवन से प्राप्त होने वाले लोभों के वितरण की प्रक्रिया न्यायपूर्ण होनी चाहिये, फिर किसको कितना मिलता है इस पर नही, सोचना चाहिये। दूसरी तरफ वितरण न्याय के समर्थक मानते है कि लाभों का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिये। प्रक्रियात्मक न्याय के समर्थकों में एफ0ए0 हेयक, मिल्टन फ्रीडमैन और रार्बट नोजिक हैं। जबकि वितरण न्याय का विचार समाजवाद से सम्बन्धित है।

इस तरह न्याय की परिभाषा करना अत्यधिक कठिन है। क्योकि समय के साथ इसका अर्थ बदलता रहा है। फिर भी एक बात स्पष्ट है कि न्याय की संकल्पना न्यायपूर्ण स्थिति से परिचित होने की अपेक्षा करती है। बिना परिस्थिति को समझे न्यायोचितता स्पष्ट नही की जा सकती दूसरे इस संकल्पना में नैतिकता का पहलू निहित है तथा इसमें गतिशीलता है अर्थात समय के साथ इसका अर्थ बदलता रहता है।

8.11 न्याय के प्रकार

आधुनिकयुग में विद्वानों ने न्याय के निम्नलिखित प्रकार बताये हैं–

1. सामाजिक न्याय– सरल शब्दों में सामाजिक न्याय का तात्पर्य है समाज में व्यक्ति का सम्मान व्यक्ति होने के नाते होना है। अर्थात समाज में किसी तरह का भेद–भाव न होना है। सभी व्यक्तियों और वर्गो को विकास के समुचित अवसर का होना है। समाज में विभिन्न धर्मो जातियों और वर्गो के लोग रहते है। अतः यह आवश्यक है कि उनमें सामाजिक समानता का भाव हो। भारत में इसी दृष्टि से अस्पृश्यता के अंत की व्यवस्था की गयी है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15 से 18 29 व 30 में सामाजिक न्याय की प्राप्ति का भाव है।

2. राजनीतिक न्याय का आशय है सभी को राजनीतिक सहभागिता का समान अवसर प्राप्त होना। राजनीतिक न्याय की प्राप्ति के लिये ही वयस्क मताधिकार, निष्पक्ष चुनाव, सार्वजनिक पदों पर सभी को नियुक्त होने व चुने जाने का अवसर प्रदान किया जाता है। इसी दृष्टि से भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता संघ व समुदाय तथा राजनीतिक दल गठित करने का और प्रचार की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है। राजनीतिक न्याय में स्वतंत्रता व समानता के मूल्य समाहित है।

3. आर्थिक न्याय– इसका आशय है सभी को आर्थिक अवसरों की समानता हो ताकि व्यक्ति अपना–अपना आर्थिक विकास समुचित ढंग से कर सकें। आर्थिक न्याय को ध्यान में रखते हुये शोषण की मनाही और न्यायोचित पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाती है। इसी भावना से सम्पत्ति के समान और समाजवादी दृष्टिकोण के प्रति झुकाव बढ़ा है और कल्याणकारी राज्य की विचारधारा का विकास हुआ है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 38,39,41 व 43 आर्थिक न्याय की

TESLA-024

प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। अर्थात निदेशक तत्वों वाले अध्याय में इसकी प्राप्ति की बात उल्लिखित है।

न्याय के उपर्युक्त प्रकारों का भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भी उल्लेख किया गया है। इसके अलावा न्याय का एक अन्य प्रकार है। 'कानूनी न्याय'। कानूनी न्याय का आशय है कानून के सामने सबको समान माना जाय और सबकों कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो। इसके अन्तर्गत व्यक्तियों की योग्यता, क्षमता, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार कानून बनाये जाने की व्यवस्था होती है, क्योंकि असमानों के साथ समान व्यवहार करने से अन्याय ही बढ़ता है। भारतीयय संविधान में इसी भावना से अनुसूचित जातियों, जनजातियों, पिछड़े वर्गो व महिलाओं के लिये विशेष प्रावधान है।

बोध प्रश्न 3–

1. न्याय के सम्बन्ध में प्रक्रियात्मक न्याय के समर्थक और वितरण न्याय के समर्थक किन बातों में भिन्न दृष्टिकोण रखतें हैं।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

2. समाजिक न्याय और आर्थिक न्याय का तात्पर्य स्पष्ट करें।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

8.12 कानूनी न्याय प्राप्ति के साधन

हेराल्ड जे0 लास्की ने अपनी पुस्तक 'ग्रामर ऑफ पालिटिक्स' में कानूनी न्याय की प्राप्ति के साधनों पर विचार किया है। कुछ प्रमुख साधन निम्नलिखित हैं–

1. न्यायपलिका कार्यपालिका और विधायिका के प्रभाव से मुक्त हो।
2. न्यायाधीशों के लिये उच्च योग्यतायें निश्चित हों।
3. न्यायाधीशों की नियुक्ति हो न कि निर्वाचन हेा।

4. न्यायाधीशों को अच्छा वेतन दिया जाय और पदोन्नति के समुचित अवसर हों।

5. न्यायाधीशों का लम्बा कार्यकाल है और पद की सुरक्षा प्रदान की जाय।

6. विवादों के समाधान के लिये जूरी व्यवस्था हो।

8.13 जान राल्स के न्याय विषयक विचार

जॉन राल्स ने अपनी पुस्तक में 'A theory of justice (1971)' में न्याय की समस्या को प्राथमिक वस्तुओं के न्यायपूर्ण वितरण की समस्या बताया है। इन प्राथमिक वस्तुओं में है– अधिकार और स्वतंत्रता, शक्तियों और अवसर, आय और सम्पदा तथा आत्म सम्मान के साधन। राल्स का विचार है कि बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त को अस्वीकार किया जाए क्योंकि वहां व्यक्ति के हित को अधिकतम लोगों के अधिकतम हित के अधीन किया गया है। हो सकता है यह स्थिति अन्याय का कारण बने। क्योंकि व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाय और शासन से यह आग्रह किया जाय कि ऐसी व्यवस्था अधिकतम लोगों के अधिकतम हित के अनुकूल है। राल्स का यह विचार है कि समाज ऐसा खुला व स्वतंत्र हो जिसमें कम से कम लाभन्वित व्यक्ति भी अपनी स्वतंत्रता का लाभ उठाकर अधिकतम विकास कर सके। ऐसी सुविधा हर को उपलब्ध हो।

सामाजिक अनुबन्ध की तक्र प्रणाली का अनुसरण करते हुये राल्स ने ऐसी मूल स्थिति (Original Position) की कल्पना की है, जिसमें पृथक–पृथक व्यक्ति की हैसियत से लोग अज्ञान के पर्दे के पीछे बैठें हैं अर्थात अपनी योग्यताओं व आवश्यकताओं से एकदम अनजान हैं और अपने लिये प्राथमिक वस्तुओं को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने का उपाय खोजने के इच्छुक हैं किन्तु कोई भी जोखिम नहीं उठाना चाहते। राल्स के अनुसार ऐसी हालात में लोग कम जोखिम वाला रास्ता अपनायेंगे। इसका मतलब यह हुआ कि हर व्यक्ति अपने को सबसे कमजोर स्थिति में समझते हुए यही कहेगा कि जो सबसे कमजोर स्थिति में है। उसके लिये ज्यादा से ज्यादा लाभ की व्यवस्था हो।

राल्स के अनुसार इस स्थिति में लोग न्याय के निम्नलिखित नियम स्वीकार करेंगे–

1. हर व्यक्ति को व्यापक स्वतंत्रता के ऐसे समान अधिकार प्राप्त हों जैसे उदार लोकतंत्रीय प्रणालियों में पाये जाते हैं। इनमें राजनीतिक सहभागिता का समान अधिकार, विचाराभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता विधि के समझ समानता आदि आते हैं। इसे समान स्वतंत्रता का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

2. इसे पूरा हो जाने के बाद लोग चाहेंगे कि समाजिक और आर्थिक अन्तर के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था की जाय कि–

(अ) प्रारम्भिक वस्तुओं का समान वितरण हेा किन्तु इसमें छूट तभी दी जाय जब यह सिद्ध हो जाय कि सबसे कमजोर स्थिति वाले व्यक्ति को अधिकतम लाभ होगा। इसे भेद मूलक सिद्धान्त कहा जा सकता है।

(ब) ये विषमतायें उन पदों और स्थितियों के साथ जुड़ी हो जो अवसर की उचित समानता की शर्तों पर सबके लिये सुलभ हो। इसे अवसर की उचित समानता का सिद्धान्त कहा जा सकता है।

इन सिद्धान्तों को एक विशेष पूर्वताक्रम (Priority) से रखना आवश्यक है। सिद्धान्त (1) को (2) से प्राथमिकता दी जायेगी और सिद्धान्त 2 के अन्तर्गत धारा (ब) का (अ) से प्राथमिकता दी जायेगी अर्थात प्रस्तुत स्थिति में इन सिद्धान्तों का प्रयोग करने पर कई परस्पर विरोधी विकल्प सामने आने पर उपयुक्त विकल्प का चयन इसी क्रम से किया जाय। परन्तु राल्स ने हीनतम लोगों की पहचान का मापदण्ड अपने सिद्धान्त में नहीं बताया है। क्या यह मापदण्ड आय व संपदा को माना जाय या भावनात्मक असुरक्षा को राल्स ने समानता पर अत्यधिक बल देते हुए स्वतंत्रता की अनदेखी कर दी है। विषमता तो बनी ही रहेगी। उसने विषमता से उत्पादन बढ़ाने की बात की है। फिर अगर विषमता रहेगी तब स्वतंत्रता और अधिकारों की समानता कैसे सम्भव होगी? और कैसे सामाजिक कल्याण सम्भव है? इसके बावजूद राल्स ने बाजार के नियमों को सदैव न्याय के सिद्धान्तों के नियंत्रण में रखे जाने का समर्थन किया है, और हीनतम व्यक्तियों का पक्ष लेकर सामाजिक न्याय के दर्शन की तरफ झुकाव प्रदर्शित किया है। इस तरह उसके विचार उदारवादी दर्शन के लिये महत्वप्रद देन हैं। अपने न्याय–विषयक विवेचन से उसके उदार लोकतंत्र का समर्थन किया और समाज के दुर्बल लोगों के हितों का संरक्षण प्रदान किया।

8.14 विधि और न्याय में सम्बन्ध

विधि और न्याय में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैधानिक न्याय की तो मान्यता है कि तो राज्य की विधि ही न्याय प्रदान करती है। इस धारणा के अनुसार कानून के माध्यम से ही न्याय की प्राप्ति में मदद मिलती है, और न्याय प्रदान करने के लिए विधियां बनायी जाती हैं। अगर ऐसा न हो तो समाज में अव्यवस्था फैल जायेगी। मनमानी विधियों या अन्यायपूर्ण विधियों को समाज स्वीकार नही करता और उसका विरोध करता है। सर जॉन सालमण्ड ने इसीलिये कहा हैं– ''न्याय कानून का अंतिम पथ प्रदर्शक है और कानून वह बुनियादी तकनीक है, जिसके द्वारा न्याय की उपलब्धि हो सकती है।''

इस तरह समानताओं के बावजूद दोनों में निम्नवत् अंतर है–

1. विधि एक साधन है, जिसका उद्देश्य न्याय प्राप्त करना है, जबकि न्याय एक साध्य है।
2. विधियां सदैव न्याय नही होती, जबकि न्याय तो हमेशा न्याय ही होता है।
3. विधियां राज्य द्वारा निर्मित होती हैं, जबकि न्याय राज्य के ऊपर हैं। हाँ! वैधानिक न्याय, सार्वजनिक आदि इसके अपवाद अवश्य हैं।
4. विधियों का स्वरुप परिवर्तनशील होता है। समय के साथ उनमें परिवर्तन होता रहता है, किन्तु न्याय का मौलिक स्वरुप एक सा होता है।

8.15 सारांश

मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहता है। समाज में कमजोर भी हैं और ताकतवर भी हैं। ऐसी स्थिति में राज्य की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि राज्य सबसे ऊपर है। उसके पास दण्डात्मक शक्ति होती है। बिना उसके सहयोग के न तो कानून की व्यवस्था की जा सकती है और न ही न्याय की। कानून वस्तुतः राज्य द्वारा निर्मित और लागू किये जाने वाले नियमों की व्यवस्था है।

यद्यपि उसके अनेक स्रोत हैं फिर भी राज्य को अच्छे कानूनों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसी तरह सभ्य समाज के लिये न्याय भी आवश्यक है और राज्य को विभिन्न तरह के न्याय के लिये सचेष्ट रहना पड़ता है। आधुनिक युग के विद्वानों ने मान लिया है कि राज्य को ऐसे कानून बनाने पड़ेगे जिससे कमजोरों का शोषण न हो और सभी लोगों को विकास के अवसर प्राप्त हों तभी न्यायसंगत व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी।

8.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

I. 8.3

II. 8.4

बोध प्रश्न 2

I. 8.5

II. 8.6

III. 8.7

बोध प्रश्न 3

I. 8.8

II. 8.9

बोध प्रश्न 4

I. 8.10

II. 8.11

III. 8.12

इकाई–9

स्वतंत्रता

इकाई की रुपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 स्वतंत्रता का अर्थ और परिभाषायें

9.3 स्वतंत्रता के तत्व व विशेषतायें

9.4 स्वतंत्रता के प्रकार

9.5 स्वतंत्रता का संरक्षण

9.6 स्वतंत्रता और विधि का सम्बन्ध

9.7 सारांश

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप

- स्वतंत्रता का अर्थ समझ सकेंगे।
- स्वतंत्रता के प्रकार की जानकारी कर सकेंगे।
- स्वतंत्रता की सुरक्षा के उपाय जान सकेंगे
- स्वतंत्रता और विधि के सम्बन्ध की जानकारी कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

मानव एक सामाजिक प्राणी है जिसके चलते वह अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहता है। व्यक्तित्व का विकास तभी सम्भव है जब उसके पास कुछ अधिकार हो किन्तु इन अधिकारों का उपभोग तभी सम्भव है, जब इन अधिकारों के उपभोग में किसी प्रकार की बाधा न हो अर्थात स्वतंत्रता हो। इस तरह स्वतंत्रता का महत्व मानव जीवन में धनिष्ठता से जुड़ा है। मानव के मानसिक नैतिक और भौतिक विकास के लिये स्वतत्रंता की अत्यधिक उपयोगिता है। सामान्य जीवन में भी देखा गया है कि अगर किसी व्यक्ति पर अत्यधिक रोक–टोक लगायी

जाय तो वह व्यक्ति निराश और हताश हो जाता है। अतः आवश्यक है कि उसे कार्य करने की उचित स्वतंत्रता प्रदान की जाय। यह शब्द व्यक्ति के जीवन में इतनी अभिन्नता से जुड़ा है कि हर व्यक्ति अपने–अपने ढंग से इसका उपयोग करता है, फिर वह चाहे संत महात्मा हों या जन समामान्य व्यक्ति। आध्यात्मिक सोच वाले इसका आशय मोक्ष प्राप्ति से लेते हैं तो पराधीन देश के लोग विदेशी गुलामी से मुक्ति के अर्थ में लेते हैं। आखिर स्वतंत्रता का सही अर्थ है क्या?

9.2 स्वतंत्रता का अर्थ और परिभाषायें

स्वतंत्रता के अंग्रेजी पर्याय लिबर्टी (Liberty) कि उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'लिबर' (Liber) से हुयी है जिसका 'आशय बन्धनों का अभाव' होता है। इस आधार पर सामान्य बोल–चाल की भाषा में भी इसका तात्पर्य किसी भी प्रकार के बन्धनों के न होने से समझा जाता है। इस आधार पर वही व्यक्ति स्वतंत्र माना जायेगा जो मनमाना कार्य करता हो और किसी तरह की रोक–टोक को स्वीकार न करता हो। इसतरह की सोच हमें स्वच्छन्दता की ओर ले जाती है न कि स्वतंत्रता की ओर। चूँकी मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज का आधार सहयोग है इसलिए आवश्यक है कि वह अन्य व्यक्तियों स्वीकार करें। बार्कर ने इसीलिये कहा है कि ''जिस प्रकार बदसूरती का न होना सुन्दरता नही है, उसी प्रकार बन्धनों का न होना स्वतंत्रता नहीं है।'' इसी तरह गैटल ने कहा है कि स्वतंत्रता का समज में केवल नकारात्मक स्वरुप ही नही है वरन् सकारातमक स्वरुप भी है। अर्थात यह केवल बन्धनों का अभाव ही नही है वरन उन दशाओं की प्राप्ति भी है जो व्यक्ति के विकास के लिये आवश्यक है। वर्तमान में नकारात्मक स्वतंत्रता के स्थान पर सकारात्मक स्वतंत्रता को ही अपनाया जाता है। यद्यपि लॉक एडम स्मिथ, पेन, स्पेन्सर और मिल आदि का झुकाव नकारात्मक स्वतंत्रता की ओर हैं।

स्वतंत्रता विषयक कुछ परिभाषायें निम्नवत हैं–

स्पेन्सर के अनुसार– ''प्रत्येक मनुष्य वह करने को स्वतंत्र है जिसकी वह इच्छा करता है, यदि वह किसी अन्य मनुष्य की समान स्वतंत्रता का हनन नही करता हो।''

पेन के अनुसार – ''स्वतंत्रता उन बातों को करने का अधिकार है जो दूसरों के विरुद्ध नहीं है।''

सीले के अनुसार– ''स्वतंत्रता अति शासन की विरोधी है।''

ग्रीन के अनुसार– ''स्वतंत्रता ऐसे कार्य करने और उपभोग करने की शक्ति का नाम है, जो करने योग्य या उपभोग करने के योग्य हो।

लास्की के अनुसार– ''स्वतंत्रता उस वातावरण को बनाये रखना है, जिसमें व्यक्ति को अपने जीवन का सर्वोत्तम विकास करने की सुविधा प्राप्त हो।''

उपर्युक्त परिभाषाओं में प्रथम तीन परिभाषायें नकारात्मक स्वतंत्रता का प्रतिनिधित्व करती है, जबकी बाद की दो परिभाषायें सकारात्मक स्वतंत्रता का प्रतिनिधित्व करती है। आधुनिक युग में मान्यता सकारात्मक स्वतंत्रता की है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता में दो बुनियादी बातें आती हैं–एक शासन और समाज की ओर

से न्यूनतम प्रतिबन्ध होने चाहिये और दो समाज तथा राज्य की तरफ से व्यक्तियों के व्यक्तित्व के विकास हेतु अधिक से अधिक सुविधायें दी जानी चाहियें।

9.3 स्वतंत्रता के तत्व व विशेषतायें

स्वतंत्रता के निम्न तत्व हैं–

1. स्वतंत्रता के लिये न्यूनतम प्रतिबन्ध होने चाहिये क्योंकि तभी व्यक्ति अपने विचार और कार्य व्यवहार में अधिकाधिक स्वतंत्रता का उपभोग करने की स्थिति में रहेगा।
2. व्यक्तित्व के विकास के लिये अधिकतम सुविधायें दी जानी चाहिये।
3. सभी व्यक्तियों को समान स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिये।
4. स्वतंत्रता की सार्थकता के लिये कर्तव्य पालन की आवशयकता है। ऐसा इसलिये क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है अतः उनकी स्वतंत्रता के लिये मेरी स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध आवश्यक है।
5. स्वतंत्रता और कानून में सामंजस्य हों जैसे आत्महत्या रोकने का कानून स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध नही है। इसी तरह हर कानून स्वतंत्रता का पोषक नही होता।
6. स्वतंत्रता बहुआयामी संकल्पना है। इसके आर्थिक सामाजिक व राजनीतिक आदि अनेक पहलू हैं।

बोध प्रश्न 1–

1 नकारात्मक स्वतंत्रता और सकारात्मक स्वतंत्रता में अन्तर बताइये।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2 स्वतंत्रता की विशेषतायें स्पष्ट कीजिये।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

9.4 स्वतंत्रता के प्रकार

स्वतंत्रता के निम्नलिखित प्रमुख प्रकार हैं–

1. **नागरिक स्वतंत्रता** (Civil Liberty) इसका तात्पर्य उन स्वतंत्रताओं से है जो व्यक्ति राज्य का नागरिक होने के नाते प्राप्त करता है। नागरिक स्वतंत्रता सभी नागरिकों के लिये समान है। अतः असीमित नहीं है। समाजहित में इन पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। इन अधिकारों की सुरक्षा राज्य करता है। प्रायः नागरिक स्वतंत्रता विभिन्न देशों में भिन्नता लिये हुये होती है। नागरिक स्वतंत्रता शासन के विरुद्ध भी हो सकती है जो से विधान या मौलिक अधिकार में उल्लिखित होती है। यह दूसरे व्यक्तियों या समुदाय के विरुद्ध भी हो सकती है।

2. **राजनीतिक स्वतन्त्रता** (Political Liberty) ये वे स्वतंत्रतायें है जो नागरिकों को शासन कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान करती हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता प्रजातंत्र का पर्याय मानी जाती है। लास्की राज्य के मामलों में सक्रिय रुप में भाग लेने की शक्ति को राजनीतिक स्वतंत्रता कहते है। इसके अन्तर्गत मतदान का अधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, सार्वजनिक पद प्राप्त करने का अधिकार, और राजनीतिक दलों के गठनों का अधिकार तथा सरकार की आलोचना का अधिकार आदि आते हैं।

3. **आर्थिक स्वतंत्रता** (Economic Liberty) आर्थिक स्वतंत्रता मनुष्य की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से सम्बद्ध हैं। लास्की के अनुसार आर्थिक स्वतंत्रता का अर्थ है प्रत्येक प्राणी को अपनी जीविका कमाने के लिये समुचित सुरक्षा प्राप्त हो। आर्थिक स्वतंत्रता वस्तुतः बहुआयामी है। मानव अधिकारों की घोषणा में इसके अन्तर्गत काम पाने का अधिकार और आराम व विश्राम का अधिकार सम्मिलित है। आर्थिक स्वतंत्रता को उद्योग में प्रजातंत्र के रुप में भी देखा गया हैं। इसी तरह लास्की आर्थिक स्वतंत्रता को औद्योगिक स्वशासन (Industrial Self-Government) के साथ सम्बद्ध करते हैं।

4. **राष्ट्रीय स्वतंत्रता** (National liberty) इसका तात्पर्य है कि कोई राष्ट्र अन्य किसी राष्ट्र के अधीन न हो। यह सम्प्रभुता के बाह्य पक्ष से सम्बद्ध है। फ्रांस की क्रान्ति के बाद राष्ट्र–राज्य का विचार तीव्रता से प्रचलित हुआ जिसके चलते 1830 में बेल्जियम और 1831 में यूनान स्वतंत्र राष्ट्र बना। एक राज्य एक राज्य एक राष्ट्र का सिद्धान्त तो प्रथम महायुद्ध से पूर्व विकसित हुआ था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात कई देशों को स्वाधीनता प्राप्त हुयी।

5. **सामाजिक स्वततंत्रता** (Social liberty) इसका तात्पर्य है सामाजिक प्रतिबन्धों के बिना समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने का समान अवसर प्राप्त होना। इस दृष्टि से जाति व्यवस्था सामाजिक दृष्टि से उन सबको सामाजिक समानता प्राप्त हो यही स्वतंत्रता के विरुद्ध मानी जायेगी। वस्तुतः समाज में अनेक जाति, नस्ल भाषा रंग व सम्प्रदाय के लोग रहते हैं सामाजिक स्वतंत्रता का मंतव्य है।

6. **नैतिक स्वतंत्रता** (Moral liberty) का सम्बन्ध व्यक्ति के सदाचरण से है। जैसे अनुचित लोभ–लालच के बिना अपना सामाजिक जीवन व्यतीत करने की योग्यता रखना। वास्तव में यह विवेकपूर्ण इच्छा शक्ति है, जिसके कारण व्यक्ति अनुचित दबाव से मुक्त रहते हुये कार्य करता है। नैतिक स्वतंत्रता अन्य सभी स्वतंत्रताओं से उच्च है। आदर्शवादी विचारको ने नैतिक स्वतंत्रता में ही मनुष्य का विकास सम्भव माना है।

TESLA-024

7. **धार्मिक स्वतंत्रता** (Religious liberty) चूँकी धर्म व्यक्तिगत मामला है अतः धार्मिक स्वतंत्रता की मांग है कि व्यक्तियों को किसी भी धर्म को अपनाने, पालन करने आदि की स्वतंत्रता हो तथा राज्य व व्यक्ति उसमें हस्तक्षेप न करे। राज्य

सामान्यः ऐसा करते हैं, किन्तु धर्म के नाम पर दुष्प्रचार हो, समाज को दूषित किया जाय, अनैतिक साधनों को अपनाया जाय तब राज्य नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है।

8. **निजी स्वतंत्रता** (Personal liberty) इसका तात्पर्य निजी जीवन में अहस्तक्षेप है। विवाह, भोजन, पहनावा शिक्षा जैसे विषय इसके अन्तर्गत है। परन्तु सामाजिक कुरीतियों को रोकने का अधिकार राज्य को है।

9.5 स्वतंत्रता का संरक्षण (Safeguards of libery)

स्वतंत्रता की सुरक्षा के निम्नलिखित उपाय हैं–

1. नागरिकों की जागरुकता–नागरिक जितना अधिक जागरुक रहेंगे उतना ही अधिक वे स्वतंत्रता को सुरक्षित रख सकेगें। लास्की और जेफरसन ने इस उपाय के महत्व को स्वीकार किया है। जेफरसन ने इस सम्बन्ध में कहा है ''कोई भी देश तब तक अपनी स्वतंत्रता की रक्षा नही कर सकता जब तक कि समय–समय पर वहां की जनता अपनी विरोध भावना का प्रदर्शन करके अपने शासकों को सजग न करती रहे।''

2. नागरिक अधिकारों की समुचित व्यवस्था स्वतंत्रता की सुरक्षा में सहायक है। भारतीय संविधान में इसीलिये मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है।

3. शक्तियों का पृथक्करण नागरिकों की स्वतंत्रता की सुरक्षा में सहायक है। इसके चलते शासन के अंग उत्तरदायी रहते है, किन्तु यदि विधायी, कार्यपालकीय और न्यायिक शक्तियां एक स्थान में केन्द्रित हो जायं तो अत्याचार की संभावना बढ़ जाती है। मांटेस्क्यू और मेडिसन ने इस उपाय पर विशेष बल दिया है।

4. स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये विशेषाधिकारों का अंत भी आवश्यक है। समाज के किसी वर्ग को विशेषाधिकार प्रदान करने से जन सामान्य स्वतंत्रता का उपयोग नही कर सकता।

5. निष्पक्ष और स्वतंत्र न्यायालिका स्वतंत्रता के संरक्षण में सहायक है। न्यायापालिका के कार्य में विधायी और कार्यपालिकीय हस्तक्षेप स्वतंत्र के मार्ग में बाधक हैं।

6. स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिये निर्धनता का निवारण अति आवश्यक है। निर्धनता के वातावरण में स्वतंत्रता की अनुभूति असम्भव है।

7. निष्पक्ष कानून और विधि के शासन से स्वतंत्रता की सुरक्षा की सम्भावना बढ़ती है।

8. स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिये लोकतंत्रीय शासन उपयुक्त माना जाता है।

9. स्वतंत्र प्रेस शासन और प्रशासन को यर्थादित करके ऐसा वातारण बनाते हैं जिससे जनता की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है।

10. स्थानीय स्वशासन संस्थाये भी स्वतंत्रता के प्रति जनता को जागरुक रखती हैं। लास्की का मत है कि ''राज्य में सत्ता का जितना अधिक विस्तृत वितरण होगा जितना विकेन्द्रित उसकी प्रकृति होगी मनुष्य में अपनी स्वतंत्रता के प्रति उतना ही अधिक उत्साह होगा।'' वस्तुतः स्थानीय स्वशासन संस्थाये

राजनीतिक जागरुकता बढ़ाती है और लोगो को उनके अधिकारों के प्रति सजग करती है।

बोध प्रश्न 2–

1. नगरिक स्वतंत्रता और राजनीतिक स्वतंत्रता में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

2. स्वतंत्रता का सुरक्षित करने के उपाय बताइये।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

9.6 स्वतंत्रता और विधि का सम्बन्ध

लोगों की स्वतंत्रता को बनायें रखने का दायित्व राज्य का है और विधि के निर्माण, व क्रियान्वयन का दायित्व भी राज्य पर है, किन्तु स्वतंत्रता प्रतिबन्धों की न्यूनता की ओर आग्रहशील है और विधि नियंत्रण के रुप में है। अतः स्वाभाविक रुप से यह प्रश्न पैदा होता है कि स्वतंत्रता और विधि एक दूसरे के विरोधी है या एक दूसरे के सहयोगी? इस प्रश्न का उत्तर देने में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ कहते हैं कि विधियां स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं जबकि कुछ का मनना है कि विधियां स्वतंत्रता की साधक हैं।

1. व्यक्तिवादी, आराजकतावादी और श्रम संघवादी विचारक विधियों को बाधा के रुप देखते हैं। व्यक्तिवादी राज्य के सीमित कार्यक्षेत्र की बात करते हैं वे पुलिस, रक्षा, शान्ति जैसे कार्य ही राज्य को करने देना चाहते हैं, ताकि व्यक्ति स्वतंत्रतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। अराजकतावादी और भी आगे बढ़कर राज्यविहीन समाज (State less Society) की वकालत करते हैं। इस तरह जब राज्य नही रहेगा तब विधियां भी नही रहेंगी। गॉडविन जैसे आराजकवादी इसीलिये विधियों को हानिकारक संस्था कहते हैं। इसी तरह श्रम संघवादी विचारक भी विधियों को स्वतंत्रता के मार्ग में बाधा मानते हैं।

2. आदर्शवादी और अनुबन्धवादी विचारक उपर्युक्त मत से सहमत नही है। उदाहरण के लिये हाब्स जैसे अनुबन्धवादी विचारक कहते हैं कि विधियों

के अभाव में मनुष्य हिंसक पशुओं के समान है। एक अन्य अनुबन्धवादी लॉक तो यहां तक कहते हैं कि 'जहां विधियां नहीं वहां स्वतंत्रता भी नही।' इसी तरह का दृष्टिकोण आदर्शवादियों का है। उदाहरण के लिये हीगल कहते हैं कि 'राज्य स्वतंत्रता का मूर्त रुप है।'

इसी प्रकार आधुनिक विद्वान जैसे विलोबी रिची और हाकिंग आदि दूसरे मत के समर्थक है। जैसे हाकिंग का मानना है कि व्यक्ति जितनी अधिक स्वतंत्रता का इच्छुक है उतनी अधिक सीमा तक उसे शासन की अधीनता स्वीकार करनी चाहिये।

दूसरे वर्ग के विचारक अपने मत की पुष्टि में कहते हैं कि विधियां न हो तो शक्तिशालियों से दुर्बलों की रक्षा नहीं हो सकती। दूसरे राज्य द्वारा निर्मित विधियां स्वयं राज्य को नियंत्रित करती है। इसके चलते व्यक्तियों की स्वतंत्रता राज्य के हस्तक्षेप से सुरक्षित रहती है। तीसरे राज्य अपनी विधियों के माध्यम से ऐसा वातावरण व सुविधायें प्रदान करता है जिससे स्वतंत्रता में वृद्धि होती है।

वास्तव में दोनो ही दृष्टिकोण अतिवादी हैं। प्रथम दृष्टिकोण आमान्य है क्योकि वे विधि और स्वतंत्रता के नकारात्मक अर्थ को ग्रहण करते हैं। दूसरा दृष्टिकोण अस्वीकार्य है क्योकि सभी विधियां स्वतंत्रता की साधक नहीं हैं। राज्य द्वारा निर्मित अनेक विधियां त्रुटिपूर्ण भी होती हैं । फासीवादी और नाजीवादी कानून इसकी पुष्टि करती हैं। अति संक्षेप में विधि और स्वतंत्रता एक दूसरे की पूरक हैं। लास्की ने इस सम्बन्ध में कहा है कि विधियां मेरी स्वतंत्रता में साधक हैं, जो मेरी आत्मोन्नति में बाधक न हो।

बोध प्रश्न 3–

1. स्वतंत्रता और विधि एक दूसरे के विरोधी हैं या सहयोगी–

.....
.....
.....
.....
.....
.....

9.7 सारांश

स्वतंत्रता की संकल्पना मानव के व्यक्तित्व के विकास से जुड़ी है। इसका गलत अर्थ यही है कि मनुष्य जो चाहे करे। उसके कार्यों पर कोई नियंत्रण नही होना चाहिये। जन सामान्य के लिये इसका कोई महत्व नही है, क्योंकि जो स्वतंत्रता सबल और निर्बल, धनवान और निर्धन सब को खुला छोड़ देती है, उसकी आड़ में बलवान निर्बल को और धनवान निर्धन को निश्चित रुप से सतायेगा। अतः राज्य के माध्यम से यह मांग की जाने लगी कि गरीब और कमजोर को सच्ची स्वतंत्रता दिलाने के लिये धनी और बलवान पर प्रतिबन्ध को लगाना चहिये। कमजोर को सुरक्षा प्रदान करनी होगी और गरीबों की अर्थिक दशा सुधारनी होगी। यहीं से सकारात्मक स्वतंत्रता की मांग शुरु हो जाती है। अतः आज यह माना जा चुका हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता प्रतिबंधों के भीतर रहती है।

राज्य जन साधारण के हित को देखते हुए उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था कर सकता हैं।

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. क्रोसे,बी : 'हिस्ट्री ऐज द स्टडी आफ लिबर्टी, जी एलन अनविन, लंदन 1941
2. कोलिंगबुड आर.जी. 'दि आइडिया आफ हिस्ट्री' आ. यू. पी. 1946
3. बल्टेस्की, एफ. 'दि मार्डन स्टेट एण्ड पोलिटिक्स' प्रोग्रेस मास्को 1978
4. मारटान आर.डी. एण्ड वॉन ए.एल. 'मॉडल्स ऑफ पोलिटिकल सिस्टम' विकास न्यू देलही 1971
5. पोगी, 'दि डेवलप मेंट आफ दि माडर्नस्टेट', हचिन्सन, लन्दन 1978
6. जे.के. गिलब्रैथ 'एन एनाटोमी ऑफ पॉवर' हार्यर 1979
7. लास्की एच.जे., 'ए ग्रामर ऑफ पोलिटिक्स' एलन एण्ड अनविन 1926
8. संधु ज्ञान सिंह (सं.) 'राजनीति सिद्धान्त' हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय 1983
9. गाबा ओ.पी. 'राजनीति सिद्धान्त की रुपरेखा', मयूर पेपर बैक्स दिल्ली

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

I. 9.2

II. 9.3

बोध प्रश्न 2

I. 9.4

II. 9.5

बोध प्रश्न 3

I. 9.6

इकाई–10

समानता

इकाई की रुपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 समानता का अर्थ और परिभाषायें

10.3 नकारात्मक और सकारात्मक समानता

10.4 समानता के विभिन्न रुप

10.5 स्वतंत्रता और समानता में सम्बन्ध

10.6 सारांश

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.8 बोध प्रश्न के उत्तर

10.0 उद्देश्य

- इस इकाई को पढ़कर आप समानता का अर्थ और परिभाषा जान सकेंगें।
- नकारात्मक और सकारात्मक समानता में अन्तर कर सकेंगे।
- समानता के विभिन्न प्रकार को समझ सकेंगे।
- स्वतन्त्रता और समानता में सम्बन्ध जान सकेगें।

10.1 प्रस्तावना

मानव का समाजिक जीवन विभिन्नताओं से भरा है। कोई लम्बा है तो कोई ठिगना, कोई गोरा है तो कोई काला। सच कहा जाय तो स्वभाव, रंग–रुप और बुद्धि की दृष्टि से कोई भी व्यक्ति दूसरे के समान नही है यही कारण है कि लम्बे समय तक इस संकल्पना पर ध्यान नही दिया गया और विचारको ने भी इसके पक्ष में आवाज नहीं उठायी। परिणामतः कुलीनतांत्रिक धारण चलन में रही और लोग मानतें रहें की समाज के उच्च वर्ग को जो विशेषाधिकार प्राप्त है वे सभी लोंगो प्राप्त नहीं होने चाहिए। प्लेटों ने इसी भावना से दार्शनिको के शासन की बात कही थी। अरस्तू ने तो असमानता का सिद्धान्त ही प्रतिपादित कर दिया। उसने बताया की प्रकृति ने कुछ लोगों को ही उत्तम बनाया है। इसी आधार पर उसने दासता का समर्थन तक कर दिया। उसके बहुत बाद के विचारको ने भी इसे महत्व नहीं दिया। जॉन लाक ने जिन तीन प्राकृतिक अधिकारों जीवन, स्वतन्त्रता व सम्पत्ति की बात कही उसमें समानता को स्थान नहीं मिल सका। पुनर्जागरण काल में जब मानववाद पनपा तब कहीं जाकर यह संकल्पना विचारणीय बनी। इसके बाद

अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा और (1776) और फ्रेन्च क्रान्ति (1776) ने समानता की जोरदार वकालत की। 19वीं शताब्दी के शुरु में समानता के आदर्श ने जो पकड़ा और यह विचार सामने आया कि कानून के समक्ष सभी समान है अतः सभी स्त्री–पुरुष के काम के फटे निर्धारित होने चाहिये और आर्थिक विषमताओं का दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिये। राज्य ने अमीरों पर टैक्स लगाने और मजदूरी बढ़ने जैसे विषय पर चिंतन शुरु किया। हालाकि बहुल मतदान की व्यवस्था भी जारी रही। लेकिन इस चिंतन और सुधार प्रक्रिया से विचारकों ने इस तथ्य को आगे बढ़ाया कि एक विषमता तो प्रकृति जन्य है किन्तु दूसरी समाज की देन। इसमें प्रकृतिजन्य विषमता तो दूर नहीं हो सकती हां समाज जनित विषमता को दूर करने का प्रयास किया जा सकता है। समाजवादी और मार्क्सवादी विचारकों ने इसे गम्भीर चिंतन का विषय बना दिया। इस तरह समानता की संकल्पना का विकास हुआ और इसे लोकप्रियता प्राप्त हुयी।

10.2 समानता का अर्थ और परिभाषायें

लास्की ने माना है कि समानता शब्द की परिभाषा अत्यधिक कठिन है। उनके अनुसार राजनीतिक सिद्धान्त में इससे कठिन कोई अन्य संकल्पना नहीं है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुये उन्होंने इसे परिभाषित करते हुये लिखा है कि ''समानता मूल रुप में समाजीकरण की एक प्रक्रिया है। इसलिये प्रथमतः समानता का आशय विशेषाधिकारों के अभाव से है। द्वितीय रुप में इसका आशय यह है कि सभी व्यक्तियों को विकास हेतु पर्याप्त अवसर प्राप्त होने चाहिये।

समानता को बहुरुपीय और शीघ्र अपना रुप बदलने वाली संकल्पना बताते हुए बारकर ने कहा है कि समानता का अर्थ है कि मुझे अधिकारों के रुप में जो भी सुविधायें प्राप्त हैं, उसी तरह से दूसरो को भी दी जाय और दूसरों को जो सुविधायें प्राप्त हैं, वह मुझे भी मिले।

इस तरह लास्की ने समानता के अन्तर्गत एक ओर विशेषाधिकारों की समाप्ति और दूसरी ओर विकास के लिए उचित अवसर की प्राप्ति पर बल दिया है जबकि बारकर ने अधिकारों व अवसरों की समानता के रुप में इसे परिभाषित किया है। इस प्रकार समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से है जिसके कारण विधि की दृष्टि से सभी समान माने जाय, तथा व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सके, तथा उस असमानता का अन्त हो सके जिसका मूलकारण सामाजिक वैषम्य है।

10.3 नकारात्मक और सकारात्मक समानता

नकारात्मक समानता का आशय यह है कि ऐसे कृत्रिम भेद–भाव न हो जिससे लोगों में ऊँच–नीच की स्थिति पैदा होती है। उदाहरण के लिये जातिवादी व्यवस्था जहा जन्म के आधार पर किसी व्यक्ति को जाति व समाज में स्थान मिलता है को समाप्त किया जाय। यही बात धर्म व रंग को लेकर कही जा सकती है जो, कुछ विशिष्ट वर्गों व व्यक्तियों को प्राप्त होती है। इस तरह नकारात्मक समानता इन सब विशेषधिकारों को समाप्त करने पर बल देती है। किन्तु प्रकृति ने कुछ लोगों को शारीरिक व मानसिक रुप से भिन्न–भिन्न बनाया है उसे कैसे समाप्त किया जाय? नकारात्मक अर्थ लेने पर इसे समाप्त तो नही किया जा सकता।

सकारात्मक समानता का अर्थ यह है कि जीवन को उन्नतिशील बनाने के लिये सभी को उन्नति के समान अवसर प्रदान किये जाये अर्थात प्रत्येक समान योग्यता रखने वालों को समान सुविधायें उपलब्ध हों। लास्की ने दोनो तरह की समानताओं का समन्वय करते हुये इसीलिये कहा है कि समानता का वास्तविक अर्थ है कि एक ओर सभी विशेषाधिकारों को समाप्त किया जाय तथा दूसरी तरफ सभी को समान रुप से विकास के उचित अवसर दिलायें जाय।

बोध प्रश्न 1–

1. समानता की संकल्पना का विकास कैसे हुआ ?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

2. नकारात्मक समानता और सकारात्मक समानता में अन्तर स्पष्ट करें।

.....
.....
.....
.....
.....
.....

10.4 समानता के विभिन्न रुप

समानता के निम्नलिखित रुप है–

1. **कानूनी समानता** (Legal Interpretation of Equalityl) कानूनी समानता का अर्थ है कि देश के कानून की दृष्टि में सब बराबर हैं और राज्य अपने नागरिकों के बीच कोई भेद–भाव नहीं करेगा। इसका मुख्य आधार इग्लैण्ड में स्थापित विधि का शासन है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि भारत राज्य क्षेत्र में राज्य किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता अथवा कानून द्वारा समान संरक्षण से वंचित नही करेगा। कानूनी समानता में निम्नलिखित बातें आती है–

   i कानून के समक्ष समता (Equality Before Law) इसका आशय है कि कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान है। जेनिंग्स के अनुसार इसका यह अर्थ है कि समान परिस्थितियों में सभी व्यक्तियों के समान कानून का व्यवहार एक समान होगा।' इसे स्पष्ट करते हुए डायसी ने कहा है कि हमारे देश में प्रत्येक प्राधिकारी चहे वह प्रधानमंत्री हो या पुलिस का सिपाही या कर वसूल करने वाला, अवैधानिक कार्यों के लिये उतना ही दोषी माना जायगा जितना अन्य कोई साधारण नागरिक।

   ii कानून का समान संरक्षण (Equal Protection of Law) कानून के समक्ष समता राज्य पर बंधन लगाना है। अर्थात नकारात्मक पहलू का बोध

कराना है, जबकि कानून का समान संरक्षण सकारात्मक पहलू है। यह अमेरिकी व्यवस्था की देन है। इसके द्वारा अपने अधिकारों के संरक्षण के लिये प्रत्येक व्यक्ति समान रुप से न्यायालय की शरण ले सकता है।

iii विवकेसंगत आधार पर इसके अन्तर्गत भेद–भाव किया जा सकता है। अर्थात विवेक संगत व तर्कयुक्त आधार पर यदि किसी वर्ग विशेष को राज्य कुछ सुविधायें प्रदान करता है तो उसे कानूनी समानता का उलंघन नही माना जा सकता। जैसे इस आधार पर राज्य अत्यधिक निर्धन वर्ग के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था कर सकता है।

iv इसके अन्तर्गत वैसे तो राज्य कर के निर्धारण में समानता की व्यवस्था करता है किन्तु कर देने की क्षमता के आधार पर भेद–भाव कर सकता है।

v इसके साथ कर्तव्य का पहलू भी जुड़ा है अर्थात अधिकारों के साथ सभी के कर्तव्य भी समान होंगे।

2. **राजनीतिक समानता–** इसका अर्थ यह है कि सभी नागरिकों को बिना किसी भेद–भाव के शासन कार्य में भाग लेने का अधिकार प्राप्त हो। राजनीतिक समानता के अन्तर्गत निम्नलिखित समानतायें आती हैं

i धर्म, जाति लिंग सम्पत्ति या शिक्षा के आधार पर बिना भेद–भाव के सभी व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्राप्त होना चाहिये।

ii सभी नागरिकों को चुनाव में प्रत्याशी बनने का अधिकार समान रुप से प्राप्त होना चाहिये।

iii नागरिकों का प्रार्थनापत्र देने और इस माध्यम से अपनी समस्याओं को शासन तक पहुँचने का समान अधिकार प्राप्त होना चाहियें।

iv सभी को समान रुप से राजकीय नियुक्तियाँ और सम्मान प्राप्त करने का अधिकार हो।

v विचारों की अभिव्यक्ति और दलीय संगठनों के निर्माण का अधिकार सभी व्यक्तियों को समान रुप से प्राप्त होना चाहिये।

3. **सामाजिक समानता–** इसका तात्पर्य ऐसे समाज की स्थापना से है जिसमें समाज के सभी वर्गों के आपसी सम्बन्ध समानता पर आधारित हों। U.N.O. के 1948 के मानव अधिकारों सम्बन्धी घोषणा द्वारा सामाजिक समानता पर जोर दिया गया है। भारतीय संविधान में भी इस पर बल दिया गया है। सामाजिक समानता के अन्तर्गत निम्न बातें आती हैं–

i जाति धर्म भाषा रंग व रुप आदि के आधार पर कोई भेद–भाव न किया जाय।

ii व्यवहार में स्त्री और पुरुषों की सम्मनजनक स्थिति समान हो।

iii वैवाहिक सम्बन्धों व खान–पान के क्षेत्र में प्रतिबन्धों का अभाव हो।

सामाजिक समानता के अन्तर्गत राज्य निर्बल वर्गों के लिये विशेष सुविधाओं की व्यवस्था पर सकता है।

4. **आर्थिक समानता–** इसका तात्पर्य है कि सभी की बुनियादी जरुरतें (रोटी कपड़ा मकान आदि) की पूर्ति होनी चाहिये और सम्पत्ति की दृष्टि से समाज में भारी विषमतायें नहीं होनी चाहियें। इसके अन्तर्गत निम्न बाते आती है।

   i सभी की न्यूनतम भौतिक आवश्यकताएँ पूरी हों।

   ii सभी को पर्याप्त मजदूरी, उचित अवकाश और रोजगार की प्राप्ति हो

   iii राज्य की ओर से बेकारी, बीमारी की स्थिति में आर्थिक सहायता की व्यवस्था हो।

   iv सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित और निर्बल वर्ग के बच्चों को व्यवस्थित विकास की सुविधा दी जाय।

   v स्त्री को पुरुषों के समान वेतन या मजदूरी देने की व्यवस्था हो।

   vi उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न हो।

   vii गरीब व अमीर के बीच असमानता के अन्त का प्रयास हो।

   viii प्रत्येक व्यक्ति को कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये नैतिक साधन और रहन सहन के उचित अवसर की प्राप्ति अवसर की प्राप्ति हो।

आर्थिक समानता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्तिगत स्वामित्व और संचित सम्पत्ति का गलत तरीके से उपयोग जिससे दूसरों का शोषण होता है। इसको समाप्त करने के लिये समजवादी समाजीकरण की तरफ झुकाव रखते है जबकि आधुनिक समय के उदारवादी लोककल्याणकारी राज्य की धारणा का समर्थन करतें है। कुछ देशो ने इसीलिये मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति अपने यहां अपनायी है।

उपयुर्क्त के अतिरिक्त समानता के अन्य प्रकार भी है। जैसे नागरिक समानता। इसका तात्पर्य है बिना भेद–भाव के सभी नागरिकों को समान रुप से नागरिक अधिकार प्रदान करना तथा उन सबको विधि का समान संरक्षण प्राप्त होना। इसी तरह सांस्कृतिक समानता का आशय है प्रत्येक को बिना भेद–भाव के अपनी संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन का समान अधिकार प्राप्त होना।

बोध प्रश्न 2

1. कानूनी समानता का आशय स्पष्ट करें। उसमें कौन–कौन सी बातें समाहित हैं?

   .....
   .....
   .....
   .....
   .....
   .....

2. आर्थिक समानता का अर्थ स्पष्ट करें। आर्थिक समानता की प्राप्ति में कौन–कौन सी बाधायें है?

.....
.....
.....
.....
.....
.....

10.5 स्वतंत्रता और समानता में सम्बन्ध

स्वतंत्रता और समानता में किस तरह का सम्बन्ध है। इस विषय पर राजनीतिशास्त्री दो भागों में बंटे हैं–

प्रथम धारणा के अनुसार दोनों संकल्पनायें परस्पर विरोधी हैं और उनमें सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सकता। अरस्तू जैसे प्रारम्भिक युगीन विचारकों की मान्यता रही है कि प्रकृति ने ही कुछ लोगों को उच्च और अधिकांश को निम्न बनाया है। मध्यकाल में सामंतो को विशेषाधिकार प्राप्त रहे है। आधुनिक युग में भी कुछ लोग इसी धारणा पर चलते रहें हैं। डी टॉकविले और एक्टन इसी धारणा के हैं। कारलायल और हिटलर भी इसी सोच के है। एक्टन ने कहा है कि समानता की उत्कृष्ट अभिलाषा ने स्वतन्त्रता को बेकार कर दिया है। कारलायल का कहना था कि ऐसा कोई समाज नही हो सकता और आगे भी नही हो सकेगा जिसमें कुलीन वर्ग को हटा दिया जाय। मैथ्यू अर्नाल्ड (Arnold) ने कहा है कि समानता के सिद्धान्त से भद्दे व पवित्र तरीकों को बल मिलता है। ऐसी व्यवस्था प्रकृति के खिलाफ है, और अधिक नहीं चल सकती। लार्ड बर्केनहेड (Birkenhead) ने कहा है कि यह अत्यन्त विषैला विचार है कि सबको बराबर मान लिया जाय। अर्नेस्ट बेन (Ernest Benn) और परेटो (Pereto) भी इसी मत के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः यह धारणा नकारात्मक है जो मानती है कि स्वतंत्रता प्रतिबन्धों का अभाव है जबकी समानता में बंधनों का होना अनिवार्य है।

द्वितीय धारणा के अनुसार स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के पूरक हैं न कि विरोधी। यह विचार उन्नीसवीं शताब्दी से तीव्र हुआ कि समाज में किसी भी वर्ग के पास ऐसे विशेषाधिकार नही होना चाहिए जो अनुचित, हो या कृत्रिम आधारों पर बने हों। हाब हाउस ने लिखा कि समानता के बिना स्वतंत्रता एक ऊँची आवाज का शोर है, जिसके गन्दे परिणाम होते है। आर0एच0 टॉनी (Towney) ने लिखा है कि समानता की बहुत बड़ी मात्रा स्वतंत्रता की शत्रु नही अपितु उसके लिये अत्यन्त आवश्यक है। बार्कर और लास्की भी इसी मत के हैं। लास्की ने तो लिखा है कि ''डी टाकविले और लार्ड एक्टन के मस्तिष्क में स्वतंत्रता के प्रति उत्कट अभिलाषा होने के कारण ही उनके द्वारा स्वतंत्रता और समानता को परस्पर विरोधी समझा गया किन्तु यह एक गलत निष्कर्ष है और उनके द्वारा समानता का तात्पर्य गलत रुप से लेने के कारण ही ऐसा किया गया।

आज यह दृष्टिकोण सर्वमान्य हो चुका है कि स्वतंत्रता व समानता में सामंजस्य हो सकता है। इसके पीछे मूल कारण यह है कि आज लोकतंत्र सर्वोत्तम व्यवस्था है और स्वतंत्रता व समानता उसके दो स्थायी आधार हैं। वस्तुतः समानता ही स्वतंत्रता का आधार है। राजनीतिक समानता न होने पर स्वतंत्रता अर्थहीन हो जायेगी क्योकि जनता का बड़ा भाग शासन में भागेदारी नहीं कर सकेगा। सामाजिक समानता नही होने पर स्वतंत्रता कुछ ही व्यक्तियों का विशेषाधिकार रह

TESLA-024

जायेगा। इसी तरह आर्थिक समानता न होने पर धन का केन्द्रण होगा और केवल धनी वर्ग ही स्वतंत्रता का लाभ उठा सकेगा।

बोध प्रश्न 3

1. स्वतंत्रता और समानता के सम्बन्ध के विषय में कौन सी धारणायें प्रचलित

.....
.....
.....
.....
.....
.....

10.6 सारांश

समानता प्रजातंत्र का आधार है। फ्रांस की क्रांति और अमेरिकी स्वतंत्रता सम्बन्धी घोषणापत्र और भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यही प्रकट होता है। यदि स्वतंत्रता के सिद्धान्त ने सम्पूर्ण विश्व को प्रजातंत्र प्रदान किया और समानता के सिद्धान्त ने समाजवाद को जन्म दिया। समानता के सिद्धान्त का जन्म उस समय हुआ जब विषमताओं के कारण मानव के विकास मे बाधा पड़ी। परन्तु इतना महत्वपूर्ण प्रत्यय लम्बे समय तक अपने सही आशय की तलाश में भटकता रहा। इसके अनेक प्रकार है। इसके नकारात्मक और सकारात्मक अर्थ को लेकर भिन्नता है। इसी तरह यह प्रश्न लम्बे समय तक विवादग्रस्त रहा कि स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के विरोधी हैं या पूरक। अब जाकर विद्वान इस पर सहमत है कि दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। समानता का अर्थ विशेषाधिकारों के अन्त से है। अतः इस कारण प्रत्येक वह व्यवस्था, जो विशेषाधिकारों को जन्म देती है समानता उसका विरोध करती है। इसमें यह भाव भी निहित है कि सबको समान अवसरो की प्राप्ति हो ताकि वे अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकें।

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बार्कर, अर्नेस्ट : प्रिसिपल्स ऑफ सोशल एण्ड पोलिटिकल थ्योरी आक्सफोर्ड 1951

बाल, ए.आर. : माडर्न पॉलिटिक्स एण्डगवर्नमेंट, लंदन 1971

कैटलिन जार्ज : 'सिस्टमेटिक पॉलिटिक्स' यूनिवर्सिटी ऑफ टोरन्टोप्रेस 1962

जेम्स, सी. (सं.) : कन्टेम्पोरेरी पोलिटिकल एनलिसिस न्यूयार्क 1967

लेफ्टविच, ए. (सं.) व्हाट इज पोलिटिक्स, बासिल ब्लेकवेल लंदन 1984

फ्रीमैन एण्ड राबर्ट्सन (सं.) फ्रेंटियर्स आफ पोलिटिकल थ्योरी हार्वेस्टर प्रेस 1980

विलिएम पेज (सं.) दि फ्यूचर आफ पोलिटिक्स, फ्रेंसिस प्रिंटर लंदन 1983

ओ.पी. गाबा, राजनीति सिद्धान्त की रुपरेखा मयूर पेपरबैक्स दिल्ली 1994

ज्ञान सिंह संधु, राजनीति सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय 1983

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i 10.1

ii 10.3

बोध प्रश्न 2

i 10.4

ii 10.4

बोध प्रश्न 3

i 10.5

खण्ड 3 के प्रश्न

अ) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विधि का अर्थ बताइये और उसके स्रोतों का विवेचन कीजिये।
2. अच्छी विधियों के लक्षण बताइये तथा उनके प्रकार स्पष्ट कीजिये।
3. विधि से आप क्या समझते है? विधि और नैतिकता में क्या सम्बन्ध है?
4. विधि और स्वतंत्रता में सम्बन्ध स्पष्ट करिये तथा विधि की प्रकृति स्पष्ट कीजियें।
5. विधि किसे कहते हैं? विधियों के पालन का कारण बताइयें।
6. न्याय की परिभाषा दीजिये। विधि और न्याय में सम्बन्ध बताइयें।
7. न्याय से आप क्या समझते हैं? न्याय के प्रकार बताइयें।
8. समाजिक न्याय क्या है? जान राल्स के न्याय को समझाइये।
9. स्वतंत्रता का अर्थ समझाइये। क्या स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के पूरक है?
10. स्वतंत्रता के प्रकार बताइये। स्वतंत्रता को सुरक्षित करने से क्या उपाय है।
11. स्वतंत्रता का तात्पर्य बताइये। स्वतंत्रता और विधि में क्या सम्बन्ध है?

12. समानता से क्या अभिप्राय है? समानता कितने प्रकार की होती है।

13. नकारात्मक और सकारात्मक समानता का तात्पर्य स्पष्ट करें तथा स्वतंत्रता व समानता में सम्बन्ध बताइये।

ब) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विधि की प्रकृति के सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक विचारधारा क्या है?
2. विधि का पालन हम क्यों करते है?
3. विधि और नैतिकता में अन्तर स्पष्ट करें।
4. संवैधानिक विधि और प्रशासकीय विधियों में अन्तर स्पष्ट करें
5. 'स्वतंत्रता नियंत्रण का अभाव है।' व्याख्या करें।
6. स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक परिस्थितियां क्या हैं?
7. समानता के प्रमुख प्रकार क्या हैं?
8. स्वतंत्रता और समानता क्यों एक दूसरे के पूरक हैं?

स) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये

1. विधियां व्यक्ति के ..... को प्रभावित करती हैं।
2. पुरातन काल में धर्म और ..... का अटूट सम्बन्ध था।
3. विधि की व्याख्या ..... के द्वारा की जाती है।
4. विधि के द्वारा लोंगो के ..... की रक्षा होती है।
5. स्वतंत्रता के लिय ..... आवश्यक होते है।
6. जहां विधियां नही ..... भी नही।
7. नकारात्मक स्वतंत्रता ..... है।
8. स्वतंत्रता का मुल्य ..... है।
9. समानता के लिये ..... को समाप्त किया जाना चाहिये।
10. सामाजिक समानता द्वारा ..... का अन्त होता है।
11. बिना आर्थिक समानता के ..... स्वतंत्रता महत्वहीन है।
12. स्वतंत्रता और समानता .....है।

उत्तर–1. बाह्य आचरण, 2. विधियों, 3. न्यायालय, 4. अधिकार, 5. अधिकार, 6. स्वतंत्रता, 7. प्रतिबन्धों का अभाव, 8. सतत जागरुकता, 9. विशेषाधिकार, 10. अस्पृश्यता 11. राजनीतिक, 12. परस्पर पूरक।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'जहां विधि नही वहां स्वतंत्रता भी नही हो सकती' यह कथन किसका है?

A हाब्स

B लाक

C हालैण्ड

D क्रैब

2. निम्न में से कौन सा कथन सही है?

A विधि का पालन करना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है

B अनिश्चित होती है

C विधि अस्पष्ट होती है

D विधि सम्प्रभु का आदेश है

3. विधि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत है–

A विधायक

B औचित्य

C वैज्ञानिक टीकायें

D रीति–रिवाज

4. अच्छी विधियों का लक्षण क्या नही है?

A दण्डात्मक शक्ति

B स्थायित्व

C सर्वव्यापकता

D सर्वोच्चता

5. किस विचारक ने विधि को सर्वाधिक हानिकारक संस्था कहा है?

A अरस्तू

B सिसरो

C गॉडविन

D ऑगस्टाइन

6. प्रक्रियात्मक न्याय का समर्थक कौन नही है

A एफ. ए. हेयक

B मिल्टन फ्रीडमैन

C राबर्टनोजिक

D सिसरो

7. किसने कहा है कि ''न्याय विधि का अन्तिम पथ प्रदर्शक है, और विधि वह बुनियादी तकनीक है, जिसके द्वारा न्याय की उपलब्धि हो सकती है।''

A जान राल्स

B सर जान साल्मंड

C सरहेनरी मेन

D हेराल्ड जे. लास्की

8. निम्न में से कौन स्वतंत्रता का संरक्षक नहीं है

A विधि का शासन

B स्वतंत्र प्रेस

C अधिनायकवाद

D न्यायपालिका

9. 'आर्थिक स्वतंत्रता के अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता एक भ्रम है।' यह कथन किसका है?

A बार्कर

B मेटलैण्ड

C लार्ड एक्टन

D जी.डी.एच.कोल

10. किसने कहा है कि 'राज्य स्वतंत्रता का मूर्त रुप है'–

A हीगल

B प्रूघां

C गॉडविन

D टालस्टाय

उत्तर–(1) B (2) D (3) A (4) A (5) C (6) D (7) B (8) C (9) D (10) A

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–4

सरकार के अंग और शासन प्राणालिया

इकाई – 11 सरकार के अंग और वर्गीकरण	**145–175**
इकाई – 12 लोकतंत्रीय सरकार	**176–201**
इकाई – 13 एकात्मक और संघात्मक सरकार	**202–220**
इकाई – 14 संसदीय शासन प्रणाली	**221–236**
इकाई – 15 अध्यक्षीय शासन प्रणाली	**237–248**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

25. प्रो. एल. आर. गुर्जर

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

26. डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच

27. डॉ के. डी. सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया

28. डॉ नीलिमा सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

29. डॉ एच. के. शर्मा, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

30. डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज

31. डॉ ए. पी. सिंह, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

32. डॉ मोहम्मद शाहिद, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN- 979-93-83328-35-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुंद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
प्रकाशक–कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–2020
मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

यू.जी.पी.एस.–101 खण्ड परिचय

खण्ड IV का परिचय :

सरकार के अंग और शासन प्रणालियाँ

राजनीतिक विज्ञान का अध्ययन विषय राज्य है। गार्नर ने भी कहा है कि राजनीति विज्ञान का आरम्भ व अन्त राज्य से होता है। राज्य के चार आवश्यक तत्वों में से सरकार एक प्रमुख तत्व है। सरकार के बिना राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है क्योंकि सरकार के द्वारा ही राज्य अपनी इच्छा प्रकट करता है। सरकार राज्य का प्रशासकीय अंग है। प्रस्तुत खण्ड में हम सरकार के अंग और शासन प्रणालियों के विषय में अध्ययन करेंगे।

इकाई 11 में हम जानेंगे कि सरकार अपने अंगों द्वारा कैसे कार्य करती है। सरकार के तीन प्रमुख अंग हैं – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। इस इकाई में हम व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के गठन व कार्यों का अध्ययन करेंगे। तत्पश्चात् इसमें विभिन्न आधारों पर किये गये शासन के वर्गीकरण का भी अध्यय करेंगे।

इकाई 12 में हम लोकतंत्रीय सरकार के विषय में अध्ययन करेंगे। वर्तमान समय में शासन की विभिन्न प्रणालियों में लोकतंत्रीय शासन प्रणाली सर्वाधिक लोकप्रिय एवं स्वीकृत शासन प्रणाली है। इस इकाई में लोकतंत्रीय सरकार के अर्थ, विशेषताओं एवं विभिन्न सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे। लोकतंत्रीय सरकार के गुण–दोषों का विश्लेषण करने के साथ ही साथ लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तों का भी ज्ञान प्राप्त करेंगे।

इकाई 13 में एकात्मक एवं संघीय सरकारों के अर्थ विशेषताओं के साथ ही साथ दोनों सरकारों के मध्य अन्तर को स्पष्ट किया गया है। एकात्मक एवं संघीय सरकार के गुण–दोषों का वर्णन भी किया गया है। शक्ति विभाजन के आधार पर गठित एकात्मक व संघात्मक सरकार की तुलना के साथ ही संघात्मक शासन की सफलता की आवश्यक शर्तों एवं संघ में शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का उल्लेख है।

इकाई 14 में शासन के एक अन्य प्रकार संसदीय शासन प्रणाली के अर्थ, विशेषतओं तथा गुण एवं दोषों का वर्णन करते हुए संसदीय प्रणाली को समझाने का प्रयास किया गया है।

इकाई 15 में अध्यक्षीय शासन प्रणाली का अर्थ स्पष्ट करते हुए विशेषताएं बतायी गयी हैं। अध्यक्षीय शासन प्रणाली के गुण–दोष का वर्णन करते हुए अध्यक्षीय प्रणाली का विश्लेषण किया गया है।

इन इकाईयों का अध्ययन करने के पश्चात् आप सरकार के अंगों–व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के अर्थ, कार्यों को समझ सकेंगे और विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में इनकी संरचनात्मक एवं कार्यों की भिन्नता का भी ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। सरकार के अंगों के मध्य सम्बन्धों एवं शक्ति विभाजन के आधार पर गठित क्रमशः संसदीय, अध्यक्षीय, एकात्मक एवं संघात्मक शासन को समझ सकेंगे। इससे आपको विश्व की प्रमुख शासन प्रणालियों एवं उनके कार्यों को समझने में सफलता मिलेगी।

TESLA-024

इकाई 11

सरकार के अंग और वर्गीकरण

इकाई की रुपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 सरकार के अंग

11.3 व्यवस्थापिका

- **11.3.1** व्यवस्थापिका का गठन
- **11.3.2** व्यवस्थापिका के कार्य
- **11.3.3** द्विसदनीय व्यवस्थापिका
- **11.3.4** व्यवस्थापिका का पतन

11.4 कार्यपालिका

- **11.4.1** कार्यपालिका का गठन
- **11.4.2** कार्यपालिका के कार्य
- **11.4.3** कार्यपालिका की शक्ति वृद्धि के कारण

11.5 न्यायपालिका

- **11.5.1** न्यायपालिका का गठन
- **11.5.2** न्यायपालिका के कार्य
- **11.5.3** न्यायपालिका की स्वतंत्रता

11.6 सरकार का वर्गीकरण

- **11.6.1** सरकार के वर्गीकरण का आधार
- **11.6.2** सरकार का परम्परागत वर्गीकरण
- **11.6.3** सरकार के कुछ आधुनिक वर्गीकरण

11.7 सारांश

11.8 शब्दावली

11.9 उपयोगी पुस्तकें

11.10 सम्बन्धित प्रश्न

11.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

TESLA-024

11.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको राज्य के मूर्त रुप सरकार के विषय में अवगत कराना है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आपको :

- सरकार के कार्य करने के विषय में जानकारी हो सकेगी।
- सरकार के विभिन्न अंगों एवं उनके मध्य सम्बन्धों का आंकलन कर सकेंगे।
- सरकार के वर्गीकरण की आवश्यकता को समझते हुए विभिन्न शासन पद्धतियों की तुलना कर सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

सरकार राज्य की राजनीतिक संस्था एवं आत्मा है। सरकार वह साधन है जिसके माध्यम से सम्प्रभु की इच्छा प्रकट होती है। सरकार के बिना राज्य की कल्पना असम्भव है। राज्य सभ्य जीवन की पहली शर्त इसीलिए माना गया है क्योंकि सरकार के द्वारा ही कानून व व्यवस्था की रक्षा होती है तथा सभ्य जीवन को सम्भव बनाया जाता है। सरकार के कई प्रकार होते हैं और वास्तव में सरकार का स्वरुप राज्य के स्वरुप पर निर्भर करता है और राज्य का स्वरुप उसके नागरिकों के चरित्र एवं उनकी राजनीतिक संस्कृति पर निर्भर करता है। राज्य की सरकार का गठन ऐसा होना चाहिए कि वह शांति व सुरक्षा की स्थितियों को बनाए रखने के लिए कानून लागू करे। ऐसी सरकार जो जनता पर नियंत्रण रखने व कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने का कार्य जन इच्छा व सहमति के अनुरुप करती है वे वैधानिक सरकारें कहलाती हैं। सामान्यतः सरकारों के तीन कार्य होते हैं –

1. कानून बनाना।
2. कानून को क्रियान्वित करना।
3. विवादों को सुलझाना।

इन कार्यों को पूरा करने वाले सरकार के अंगों को क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका कहते हैं। इन तीनों अंगों की शक्ति एवं भूमिका अलग–अलग राज्यों में अलग–अलग होती है। सरकार के तीनों अंगों के कार्यों एवं आपसी सम्बन्धों की भिन्नता के आधार पर विभिन्न प्रकार की सरकारों का गठन होता है। विभिन्न प्रकार की सरकारों की भिन्नता एवं समानता के आधार पर सरकार का वर्गीकरण प्राचीन समय से ही विद्वानों ने प्रस्तुत किये हैं। इस इकाई में आप सरकार के तीनों अंगों – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का अध्ययन करेंगे और प्राचीन तथा आधुनिक समय में कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा किए गये सरकार के वर्गीकरण का भी अध्ययन करेंगे।

11.2 सरकार के अंग

सरकार अपने अंगों द्वारा कार्य करती है। सरकार के तीन प्रमुख अंग हैं – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। राज्य के लिए कानून बनाने का कार्य व्यवस्थापिका करती है, उन कानूनों को लागू करने का कार्य कार्यपालिका

करती है और कानूनों की व्याख्या करने और न्याय प्रदान करने का कार्य न्यायपालिका करती है। कानूनों का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने का कार्य भी न्यायपालिका करती है। शक्ति पृथक्ककरण के आधार पर सरकार के कार्यों के उपर्युक्त विभाजन को कुछ विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं। प्रसिद्ध विद्वान विलोबी इस सूची में प्रशासन और निर्वाचनमण्डल को भी सम्मिलित करते हैं। फाइनर राजनीतिक गतिविधि के सात प्रमुख केन्द्रों – निर्वाचक मण्डल, राजनीतिक दल, व्यवस्थापिका, मंत्रिमण्डल, राज्य का प्रधान, सरकारी कर्मचारी और न्यायपालिका के आपसी सहयोग को सरकार के कार्यों हेतु उत्तरदायी मानते हैं। प्रशासन की बढ़ती महत्ता को देखते हुए कुछ विद्वान इसे सरकार का चौथा अंग अथवा विभाग मानते हैं। परन्तु सर्वाधिक प्रचलित और मान्य विचार यही है कि सरकार के प्रमुख अंगों में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका ही सम्मिलित हैं।

11.3 व्यवस्थापिका

व्यवस्थापिका सरकार का सबसे महत्वपूर्ण अंग होती है जो सामान्यतः कानून निर्माण का कार्य करती है। यह सरकार का वह अंग है जो राज्य की इच्छा को कानूनी रुप प्रदान करता है। व्यवस्थापिका व्यक्तियों का ऐसा सामूहिक संगठन है जो कानून बनाने के अधिकार से युक्त होता है। विभिन्न देशों में व्यवस्थापिका को अलग–अलग नामों से जाना जाता है उदाहरणार्थ – भारत व ब्रिटेन में इसे संसद, संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस, जापान में डायट, चीन में राष्ट्रीय जनवादी कांग्रेस और स्विट्जरलैण्ड में राष्ट्रीय सभा के नाम से जाना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से व्यवस्थापिका का जन्म इसलिए हुआ कि कार्यपालिका को सलाह और परामर्श की आवश्यकता थी। ब्रिटेन में कार्यपालिका के कार्यों को सीमित करने के लिए इस आवश्यकता से लाभ उठाया गया। प्राचीन समय में विधि निर्माण का कार्य व्यवस्थापिकाएं नहीं करती थीं क्योंकि उन दिनों कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के कार्यों में कोई भेद नहीं था। आधुनिक समय में लोकतंत्र के विकसित एवं लोकप्रिय होने के साथ–साथ व्यवस्थापिकाएं भी विकसित होती चली गईं। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका ही जन इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हैं विशेष रुप से संसदीय लोकतंत्र में। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यवस्थापिकाओं का अस्तित्व सत्तावादी व्यवस्थाओं में नहीं होता। साम्यवादी राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी व्यवस्थापिकाएं होती हैं। केवल सैनिक अधिनायक तन्त्रों में व्यवस्थापिकाएं नहीं होती अन्यथा विश्व के अधिकांश देशों में व्यवस्थापिकाएं होती हैं, यद्यपि विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में उनके कार्य भिन्न–भिन्न होते हैं।

11.3.1 व्यवस्थापिका का गठन

व्यवस्थापिकाओं का विभिन्न देशों में गठन भिन्न–भिन्न प्रकार से होता है। व्यवस्थापिका के मुख्यतया दो प्रकार होते हैं एक सदनयी व्यवस्थापिका या द्वि–सदनीय व्यवस्थापिका। द्वि–सदनीय व्यवस्थापिका के एक सदन को निम्न सदन तथा दूसरे को उच्च सदन कहते हैं। प्रायः द्वि–सदनीय व्यवस्थापिका के निम्न सदन के सदस्य प्रत्यक्षतः जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं अतः इसे लोकप्रिय सदन भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए भारत में लोकसभा, इंग्लैण्ड व कनाडा में हाऊस ऑफ कॉमन्स, स्विट्जरलैण्ड में नेशनल असेम्बली के सदस्यों का निर्वाचन जनता द्वारा होता है। दूसरा उच्च अथवा द्वितीय सदन कुछ विशिष्ट वर्गों का प्रतिनिधित्व करता है और भिन्न–भिन्न देशों में इसकी रचना के भिन्न–भिन्न सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड के हाऊस ऑफ

TESLA-024

लार्डस के सदस्यों की वंशानुगत सदस्यता है, अमरीका, आस्ट्रेलिया की सीनेट तथा स्विट्जरलैण्ड की राज्य परिषद के सदस्य प्रत्यक्षतः जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। जापान, इटली और कनाडा में द्वितीय सदन के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। भारत में राज्य सभा के 238 सदस्यों का निर्वाचन राज्य विधानमंडलों द्वारा तथा 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। व्यवस्थापिका के गठन से सम्बन्धित एक प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इसका कार्यकाल क्या होना चाहिए? उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड की लार्ड्स सभा तथा कनाडा की सीनेट के सदस्य संपूर्ण जीवन काल की अवधि का उपभोग करते हैं वहीं अमरीका की प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल दो वर्ष, स्विट्जरलैण्ड की संघीय विधान सभा का कार्यकाल चार वर्ष तथा भारत में लोकसभा का कार्यकाल पाँच वर्ष है। विभिन्न देशों में व्यवस्थापिका के भिन्न–भिन्न कार्यकालों का विश्लेषण करने के पश्चात् यह स्वीकार किया जाने लगा है कि संसद का कार्यकाल न तो अधिक लम्बा और न ही बहुत छोटा होना चाहिए। कार्यकाल लम्बा होने से सदस्यों में निर्वाचकों के प्रति उदासीनता बढ़ती है जो लोकतांत्रिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है वहीं दूसरी तरफ यदि व्यवस्थापिका का कार्यकाल छोटा होता है तो निर्वाचित प्रतिनिधि अपनी योजनाओं और प्रतिबद्धताओं को पूर्ण करने में असमर्थ होते हैं और इससे स्थायित्व में बाधा भी उत्पन्न होती है। अतः सर्वाधिक उपयुक्त यही है कि कार्यकाल इतना छोटा होना चाहिए कि व्यवस्थापिका के सदस्य निर्वाचकों के सम्पर्क में बने रहें और इतना लम्बा होना चाहिए कि वे सदस्य अपनी योजनाओं को पूर्ण कर जनता के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन कर सकें।

11.3.2 व्यवस्थापिका के कार्य

विभिन्न शासन प्रणालियों में व्यवस्थापिका के कार्य भी भिन्न–भिन्न होते हैं। व्यवस्थापिका के कार्यों की बढ़ती सूची के कारण इसके द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों को मुख्यतः दो भागों में बांटा जाता है –

1. परम्परागत, संवैधानिक या सरकारी कार्य
2. आधुनिक अथवा राजनीतिक कार्य

इन दोनों प्रकार के कार्यों में प्रमुख अन्तर यह है कि प्रथम प्रकार के कार्य औपचारिक हैं और ये कार्य वे अब नाममात्र के लिए करती हैं जबकि दूसरे प्रकार के कार्य वे वास्तविक रुप से सम्पादित कर रही हैं।

1. व्यवस्थापिकाओं के परम्परागत अथवा सरकारी कार्य

(i) **विधि निर्माण –** व्यवस्थापिका का सर्वप्रमुख कार्य विधि का निर्माण करना है। व्यवस्थापिका में विधेयक प्रस्तुत किया जाता है और निश्चित प्रक्रिया पूर्ण करने के पश्चात् राज्याध्यक्ष के हस्ताक्षर के उपरान्त वह कानून के रुप में परिवर्तित हो जाता है। सभी प्रजातांत्रिक देशों में सामान्य रुप से विधेयकों के तीन वाचन होते हैं तथा सूक्ष्म विचार–विमर्श हेतु उन्हें समितियों के पास भेज दिया जाता है जो विधि निर्माण के कार्यभार एवं जटिलता को कम कर देती है। संविधान की सर्वोच्चता वाले देशों में विधि निर्माण संविधान के अनुरुप ही होता है परन्तु ब्रिटेन जैसे देशों में व्यवस्थापिका सर्वेसर्वा है। कार्यभार की जटिलता व अधिकता के कारण आधुनिक राज्यों में व्यवस्थापिका कानून की ऊपरी रुपरेखा तैयार कर देती है और शेष बारीकियों का कार्य कार्यपालिका के

विभिन्न विभागों पर छोड़ दिया जाता है और इस कार्य को प्रदत्त व्यवस्थापन या प्रतिनिहित विधायन (Delegated Legislation) कहा जाता है।

(ii) **वित्तीय कार्य** – लोकतांत्रिक राज्यों में यह मान्य सिद्धान्त प्रचलित है कि व्यवस्थापिका की स्वीकृति के बिना नागरिकों से एक भी पैसा न तो कर के रुप में लिया जा सकता है और न ही उसकी अनुमति के बिना एक भी पैसा खर्च किया जा सकता है। अतः आधुनिक राज्यों में वित्त व्यवस्था पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण रहता है। प्रायः कार्यपालिका प्रतिवर्ष के आरम्भ में आय–व्यय का अनुमानित लेखा जिसे बजट कहा जाता है को व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करती है और व्यवस्थापिका उसमें कटौती कर सकती है। व्यवस्थापिका द्वारा बजट स्वीकार किये जाने के पश्चात् ही धन व्यय किया जा सकता है किन्तु सब देशों में व्यवस्थापिका के वित्तीय अधिकार समान नहीं होते हैं, कहीं उसकी शक्तियाँ कम होती हैं और कहीं अधिक।

(iii) **कार्यपालिका पर नियंत्रण** – संसदीय शासन व्यवस्था में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर पूर्ण नियंत्रण रखती है। संसदीय सरकार के मंत्री व्यक्तिगत एवं सामूहिक रुप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। व्यवस्थापिका प्रश्न पूछ कर, निंदा प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव आदि के माध्यम से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है और अविश्वास प्रस्ताव के माध्यम से उन्हें पद से हटा भी सकती है। अध्यक्षात्मक सरकार में यद्यपि व्यवस्थापिका का कार्यपालिका पर इतना नियंत्रण नहीं है फिर भी अन्य उपायों द्वारा वह कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग प्रक्रिया और नियुक्तियों एवं संधियों में सीनेट (व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन) की सहमति आवश्यक होती है।

(iv) **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य** – आधुनिक समय में व्यवस्थापिकायें निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करती हैं। भारत की संसद उपराष्ट्रति का तथा विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। अमेरिका में यदि किसी भी प्रत्याशी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो तो प्रतिनिधि सभा सर्वाधिक मत प्राप्त प्रथम दो व्यक्तियों में से एक राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। स्विट्जरलैण्ड में व्यवस्थापिका राष्ट्रपति, मंत्रिपरिषद के सदस्यों, न्यायाधीशों और प्रधान सेनापति का निर्वाचन करती है। जापान में सम्राट प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है परन्तु यह नामांकन वहाँ की व्यवस्थापिका (डायट) द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए। सामान्यतः प्रत्येक व्यवस्थापिका अपने अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष का स्वयं निर्वाचन करती है और अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उन्हें उनके पद से हटा भी सकती है।

(v) **न्यायिक कार्य** – यद्यपि न्यायिक कार्य न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र में आते हैं परन्तु अनेक देशों में व्यवस्थापिका न्यायिक एवं अर्द्ध–न्यायिक प्रकृति के कार्य भी सम्पन्न करती हैं। ब्रिटेन की लार्ड सभा देश का सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय है और अमेरिका

की सीनेट राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और न्यायाधीशों के विरुद्ध अनुशासन भंग या महाभियोग की स्थिति में न्यायालय के रुप में बैठती है जबकि प्रतिनिधि सभा महाभियोग प्रस्ताव लाती है। भारत में राष्ट्रपति व न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग प्रस्ताव लाने का अधिकार संसद के किसी भी सदन को प्राप्त है। स्विट्जरलैण्ड की राष्ट्रीय सभा द्वारा संविधान की व्याख्या करने का अधिकार भी न्यायिक कार्य की श्रेणी में आता है।

(vi) **संविधान संशोधन संबंधी कार्य** – आधुनिक लोकतंत्र में व्यवस्थापिकाएं जनप्रतिनिधित्व का कार्य करती हैं अतः यदि संविधान जन इच्छा के मार्ग की बाधा बनने लगे तो उसमें संशोधन का अधिकार व्यवस्थापिका को ही दिया गया है। यह अधिकार कुछ देशों में आंशिक और कुछ देशों में पूर्णतया प्रदान किया गया है। ब्रिटिश संसद साधारण बहुमत से संविधान में मनचाहा परिवर्तन कर सकती है जबकि भारतीय संसद तीन प्रकार से–साधारण बहुमत द्वारा, संसद के दो तिहाई बहुमत द्वारा और दो तिहाई बहुमत के साथ आधे से अधिक राज्यों की स्वीकृति द्वारा संविधान में संशोधन कर सकती है। अमरीका, स्विट्जरलैण्ड तथा जर्मनी में व्यवस्थापिका को संशोधन का आंशिक अधिकार है अर्थात् संशोधन में व्यवस्थापिका के साथ अन्य संरचनात्मक व्यवस्था या संस्था का सहयोग आवश्यक हो जाता है।

2. व्यवस्थापिका के आधुनिक अथवा राजनीतिक कार्य

परिवर्तित राजनीतिक परिदृश्यों में व्यवस्थापिकाओं के कार्य एवं भूमिका में परिवर्तन आया है। अब व्यवस्थापिकाएं राजनीतिक व्यवस्था को जोड़ने, उसे स्थिरता और गतिशीलता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगी हैं। व्यवस्थापिका के राजनीतिक कार्य निम्नलिखित हैं –

(i) आधुनिक समय में व्यवस्थापिकाएं प्रतिनिधित्व का कार्य करती हैं। राजनीतिक प्रतिनिधित्व का अर्थ है कि जो व्यक्ति शासको द्वारा निर्मित नियमों को स्वीकृति देते हैं वे उन नियमों को निर्मित करने में भूमिका निभायेंगे। शासक, शासित वयस्क जनता से ही निर्वाचन द्वारा लिये जायेंगे और शासक जनता के प्रति उत्तरदायी रहेंगे। इसलिए व्यवस्थापिका से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निर्वाचकों के आदेशों, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का ध्यान रखें। कानून जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति हैं और व्यवस्थापिका संरचनात्मक व्यवस्था तथा प्रतिनिधि इस प्रक्रिया का अभिन्न अंग।

(ii) हित स्वरुपीकरण और समूहीकरण का कार्य व्यवस्थापिकाओं का महत्वपूर्ण कार्य है। किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में जनता की अनेक हित व माँग होती हैं और इनमें संघर्ष व विरोध होना स्वाभाविक है। व्यवस्थापिका द्वारा इन विभिन्न हितों व माँगों की पहचान कर उनका समर्थन करना या विरोध करना, उचित या अनुचित हित के आधार पर स्वरुपीकरण किया जाता है। हित स्वरुपीकरण के पश्चात् व्यवस्थापिकाएं इनका समूहीकरण अर्थात् विभिन्न हितों व माँगों में सामंजस्य करके उनका अनुकूलन व समाधान करती हैं। व्यवस्थापिकाओं का प्रतिनिधि रुप और विधि

निर्माण की शक्ति हित स्वरुपीकरण व समूहीकरण के कार्य को प्रभावी बना देती है।

(iii) व्यवस्थापिकाएं राजनीतिक समाजीकरण व शिक्षण का कार्य भी करती हैं। राजनीतिक समाजीकरण का अर्थ है कि राजनीतिक मूल्यों एवं मापदण्डों को उनकी वैधता पर बिना प्रश्न चिन्ह लगाए स्वीकार करना अर्थात उनका आन्तरिकीकरण करना और यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अदृश्य रुप से अन्तरण होता है। व्यवस्थापिका के सदस्य जनता के प्रतिनिधि होते हैं अतः जनता का उनसे अपनेपन का सम्बन्ध होता है और कार्यपालिका का वैधीकरण भी हो जाता है क्योंकि जनता व्यक्ति या समूहों से आदेशित व निर्देशित होने के स्थान पर नियमों द्वारा शासित होना पसंद करते हैं और यह कार्य व्यवस्थापिका करती है। व्यवस्थापिका ही विविध हितों एवं समाज की अनेकताओं को एक मंच प्रदान कर उनमें एकीकरण करने का प्रयास करती है। व्यवस्थापिका में प्रतिनिधि अपने उग्र एंव क्रान्तिकारी स्वभाव का पालन करते हैं और स्वयं को जनप्रतिनिधि एवं विधायक की भूमिका हेतु तैयार करते हैं यह सब राजनीतिक समाजीकरण का ही एक स्वरुप है। व्यवस्थापिका में होने वाले वाद–विवाद समाचार पत्रों एवं जन संचार माध्यमों से जनता तक पहुँचते हैं जिससे जनता राष्ट्रीय मामलों के प्रति जागरुक होती है और सभी नहीं तो कुछ लोग तो अवश्य ही इससे राजनीतिक शिक्षा एवं चेतना प्राप्त करते हैं।

(iv) व्यवस्थापिका पर्यवेक्षण, संवीक्षण एवं निगरानी का कार्य भी करती हैं। व्यवस्थापिकाएं कार्यपालिका को स्वीकृत प्रक्रिया से नियम–निर्माण करने से रोकने का कार्य करती हैं। व्यवस्थापिक में इस सम्बन्ध में सरकार व विपक्ष में अकसर बहस व हंगामा होता है। इस प्रकार के पर्यवेक्षणात्मक कार्यों के अतिरिक्त व्यवस्था संवीक्षण अर्थात छानबीन का कार्य भी करती है। संसद की समितियों और समय–समय पर गठित जाँच आयोगों द्वारा यह कार्य सम्पन्न किया जाता है। व्यवस्थापिका को निगरानी करने का भी अधिकार है। यह कार्यपालिका व प्रत्येक पदाधिकारी से जवाब–तलब करने का अधिकार रखती है। न्यायपालिका अथवा न्यायधीशों के सम्बन्ध में यह अधिकार सीमित है और उनसे केवल महाभियोग द्वारा ही सवाल जवाब किये जा सकते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यवस्थापिका के सरकारी कार्यों में विविध कारणों से भले ही शिथिलता आई हो परन्तु राजनीतिक कार्यों में इसमें निरन्तर वृद्धि हो रही है।

11.3.3 द्विसदनीय व्यवस्थापिका

इस इकाई के प्रारम्भ में व्यवस्थापिका के गठन के अन्तर्गत आपने पढ़ा कि व्यवस्थापिका दो प्रकार की होती है– एक सदनीय व्यवस्थापिका तथा द्विसदनीय व्यवस्थापिका। लोकतंत्रीय शासन प्रणालियों में द्वि–सदनीय व्यवस्थापिका व्यापक रुप से प्रचलित है। इनमें से एक सदन के सदस्य प्रत्यक्ष रुप से जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं इसे निम्न सदन, प्रथम सदन या लोकप्रिय सदन कहते हैं। दूसरे

सदन का गठन भिन्न–भिन्न तरीकों से होता है इसे द्वितीय सदन या उच्च सदन कहते हैं। व्यवस्थापिका में एक सदन होना चाहिए या दो सदन इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। द्विसदनीय व्यवस्थापिका की क्या उपयोगिता है यह इसके गुण–दोषों का विश्लेषण करने से ही स्पष्ट हो सकता है। द्विसदनीय व्यवस्थापिका के **गुण या पक्ष में निम्न तर्क** दिये जाते हैं–

1. द्विसदनीय व्यवस्थापिका के पक्ष में प्रथम तर्क यह दिया जाता है कि यह प्रथम सदन की जल्दबादी और आवेशपूर्ण विधि निर्माण पर रोक लगाती है। प्रथम सदन में प्रतिनिधि प्रत्यक्षतः जनता द्वारा निर्वाचित होकर पहुँचते हैं अतः कई बार जन इच्छाओं की पूर्ति और निर्वाचकों को प्रसन्न करने की दृष्टि से जल्दबाजी में विधेयक पारित कर दिये जाते हैं। द्वितीय सदन में विधेयक पर पुनः विचार विमर्श किया जाता है जिसमें थोड़ा समय भी लगता है जिससे आवेश भी शान्त हो जाता है और दूसरा जनता के बीच भी विचार–विमर्श द्वारा लोकमत का निर्माण होने की सम्भावना रहती है। प्रथम सदन की जल्दबाजी में विधेयक में जो त्रुटियाँ रह गई हों उन्हें भी द्वितीय सदन में दूर किया जा सकता है। अतः द्वितीय सदन महत्वपूर्ण है।

2. द्विसदनीय व्यवस्थापिका प्रथम सदन की निरंकुशता पर भी रोक लगाता है। द्वितीय सदन के अभाव में प्रथम सदन मनमाने कानून बना सकता है और यदि उस पर अंकुश रखने वाली कोई अन्य संस्था न हो। मिल के अनुसार दूसरा सदन विधायी निरंकुशवाद पर अंकुश लगाने के महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध करता है। एक ही सदन का बहुमत, अपनी इच्छा के अतिरिक्त कोई अन्य अंकुश न होने पर बड़ी सरलता से निरंकुश तथा प्रबल शक्ति–सम्पन्न बन जाता है यदि वह इस विचार कि चिन्ता से मुक्त हो कि क्या इसके कार्यों का किसी अन्य निर्मित सत्ता द्वारा समर्थन अनिवार्य है।'

3. द्विसदनीय व्यवस्थापिका के उच्च सदन में अल्पसंख्यक वर्गों, जातियों तथा हितों को प्रतिनिधित्व मिल सकता है। लोकतंत्र में बहुमत का शासन होता है और बहुमत के वर्चस्व के सामने अल्पसंख्यक मतों की उपेक्षा होती है। ऐसी स्थिति में उच्च सदन में किसी विशिष्ट निर्वाचन व्यवस्था अथवा मनोनयन द्वारा ऐसे वर्गों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जा सकता है।

4. द्वितीय सदन प्रथम सदन के कार्यभार को कम कर सकता है। दोनों सदनों का गठन व निर्वाचन अलग–अलग होता है। अतः विधि निर्माण का कार्यभार दोनों में विभाजित होने से विधि निर्माण का बोझ कम हो जाता है। विवाद रहित व कम महत्व के विषयों सम्बन्धी विधेयक पारित कर उच्च सदन निम्न सदन को भेज सकता है और निम्न सदन ज्यादा समय न लगाकर उसे शीघ्रता से पास कर सकती है। इस प्रकार प्रथम सदन के कार्यभार में कमी आती है।

5. द्वितीय सदन की व्यवस्था होने से योग्य, अनुभवी तथा विद्वान लोगों को प्रतिनिधित्व मिल सकता है। यह एक सामान्य तथ्य है कि योग्य तथा विद्वान लोग सामान्य निर्वाचन के दल–दल में फँसना नहीं चाहते तथा निर्वाचन व्यय साध्य होने के कारण योग्य निर्धन व्यक्ति निर्वाचित नहीं हो सकता। ऐसे व्यक्तियों के अनुभव एवं योग्यता का लाभ उठाने के लिए बहुत से देशों में द्वितीय सदन में ऐसी कुछ व्यक्तियों के मनोनयन की व्यवस्था होती है। उदाहरण के लिए भारत में राष्ट्रपति राज्यसभा में

साहित्य, कला, विज्ञान, समाजसेवा, सहकारिता के क्षेत्र के विशिष्ट 12 व्यक्तियों का मनोनयन करता है।

6. संघात्मक शासन प्रणाली में द्वितीय सदन का होना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। संघ शासन में इकाईयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। यह प्रतिनिधित्व संख्या के आधार पर या जनसंख्या के आधार पर हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया में संघ की इकाई बड़ी हो या छोटी सभी को समान संख्या में प्रतिनिधित्व दिया जाता है जबकि भारत में इकाईयों को जनसंख्या के आधार पर द्वितीय सदन में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष –

द्वितीय सदन के विपक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं जो इस प्रकार हैं –

1. द्वितीय सदन के पक्ष में यह कहना कि यह निम्न सदन के जल्दबाजी व भावावेश में लिये गये निर्णयों पर नियंत्रण करता है गलत है क्योंकि निम्नसदन लोकप्रिय सदन है जिसमें जनता द्वारा प्रत्यक्ष रुप से चुने प्रतिनिधि आते हैं और प्रतिनिधित्व लोकतंत्र का आधार है। यदि ये प्रतिनिधि जल्दबाजी और भावावेश में कानून बनाते हैं तो लोकतंत्र प्रणाली ही दोषपूर्ण कही जायेगी। दूसरे प्रथम सदन के कार्यों पर द्वितीय सदन नियंत्रण करेगा तो दोनों में कटुता व वैमनस्य उत्पन्न होगा जो राष्ट्रहित के अनुकूल नहीं होगा।

2. शीघ्र परिवर्तन एवं रुढ़िवादिता के नकारात्मक प्रभाव को दूर करने के लिए क्रान्तिकारी सुधारों की आवश्यकता होती है जिसके लिए शीघ्र व क्रान्तिकारी कानूनों की आवश्यकता होती है। द्वितीय सदन द्वारा ऐसे कानूनों के मार्ग में बाधा उत्पन्न करना और विलम्ब करना देश में आक्रोश उत्पन्न कर सकता है और राष्ट्रहित को हानि पहुँचा सकता है।

3. प्रथम सदन में जल्दबाजी में विधि निर्माण के कार्य में त्रुटि होने का आरोप लगाना उचित नहीं है क्योंकि प्रथम सदन में भी सामान्यतः तीन वाचन होते हैं और विविध समितियाँ होती हैं जो विधेयक पर सूक्ष्मता से विचार करती हैं। बहुधा विधि निर्माण से पूर्व जनमत की राय जानने की दृष्टि से इन्हें प्रकाशित भी कर दिया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर सुधार भी कर दिया जाता है। अतः द्वितीय सदन की आवश्यकता नहीं होती।

4. द्विसदनीय व्यवस्थापिका का व्यय साध्य होने के आधार पर भी आलोचना की जाती है। द्वितीय सदन होने के कारण सरकार का खर्च दुगुना बढ़ जाता है और समय भी व्यर्थ होता है।

5. कुछ विद्वानों का मानना है कि दो सदनों की उपस्थिति तथा उनमें वैमनस्य व गतिरोध कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि करता है।

6. द्वितीय सदन के गठन और शक्तियों के स्वरुप पर भी मतभेद हैं। द्वितीय सदन में सदस्यों का चयन किस आधार पर हो यह भी एक जटिल प्रश्न है। द्वितीय सदन की शक्तियाँ प्रथम सदन की तुलना में कम रक्खी जायें या अधिक यह भी आलोचना का आधार है। इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों में अलग–अलग मानक अपनाये गये हैं। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में द्वितीय सदन (लार्ड सभा) में वंशानुक्रम का आधार, अमरीका में उच्च सदन

(सीनेट) हेतु प्रत्यक्ष निर्वाचन, कनाडा में कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति और भारत में (राज्य सभा) अप्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली प्रचलित है।

संक्षेप में द्विसदनीय व्यवस्थापिका को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। किसी भी संस्था की सफलता या असफलता, अच्छाई या बुराई इसको क्रियाशील रखने वालों पर निर्भर करती है। अतः यदि द्वितीय सदन में योग्य, अनुभवी एवं विद्वान लोग सदस्य हैं तो द्वितीय सदन सहायक और आवश्यक है परन्तु यदि सदस्य ऐसे नहीं है तो अनावश्यक है।

11.3.4 व्यवस्थापिका का पतन

व्यवस्थापिका के पतन से तात्पर्य है कि कार्यपालिका की तुलना में व्यवस्थापिका के प्रभाव और शक्तियों में निरन्तर कमी आई है। कार्यपालिका की शक्ति वृद्धि और न्यायपालिका के बढ़ते हस्तक्षेप ने अनेक देशों में व्यवस्थापिका के प्रभाव को कम कर दिया है। व्यवस्थापिका के पतन या अवनति के निम्न कारण हैं

1. समय व परिस्थितियों की जटिलताओं के कारण कार्यपालिका के कार्यों में अभूतपूर्व वृद्धि हो रही है जिससे व्यवस्थापिका की शक्ति व प्रभाव कम हो रहा है। व्यवस्थापिका का मुख्य कार्य विधिनिर्माण है और संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका विधि निर्माण में प्रभावी एवं सक्रिया भूमिका निभाती है जबकी अध्यक्षीय शासन प्रणाली में राष्ट्रपति के पास वीटो का अधिकार रहता है तथा व्यवस्थापिका में भी इसके समर्थक रहते हैं अतः विधि निर्माण कार्य में कार्यपालिका का हस्तक्षेप व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी करता है।

2. प्रदत्त व्यवस्थापन के प्रचलन के कारण व्यवस्थापिका ने स्वयं कार्यपालिका को व्यापक शक्तियाँ प्रदान कर दी हैं। विधि निर्माण में जटिलता, कार्यभार की अधिकता, संकट से उत्पन्न आकस्मिकता आदि के कारण कार्यपालिका प्रदत्त व्यवस्थापन के द्वारा विधि निर्माण का कार्य करती है और व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास होता है।

3. व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका सदस्यों के माध्यम से ही जनता तक सम्पर्क करती थी परन्तु रेडियो, टेलीविजन जैसे जनसंचार माध्यमों के विकास के कारण कार्यपालिका सीधे जनता से सम्पर्क करती है और व्यवस्थापिका की भूमिका को कम करती है।

4. जनता के हितों एवं समस्याओं को व्यवस्थापिका के माध्यम से कार्यपालिका तक पहुँचाया जाता था परन्तु विभिन्न व्यावसायिक संगठनों एवं हित समूहों के गठन से व्यवस्थापिका की इस भूमिका में कमी आई है। ये हित समूह व संगठन विभिन्न प्रशासनिक कार्यालयों में अपनी समस्या ले जाते हैं, व्यापक विचार विमर्श करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर सौदेबाजी व समझौते भी करते हैं। इस आधार पर लिये गये निर्णयों पर व्यवस्थापिका स्वीकृति प्रदान करने के अतिरिक्त कुछ नहीं करती।

5. व्यवस्थापिका में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं और उनका विशेषज्ञ और अनुभवी होना आवश्यक नहीं है। अतः विधि निर्माण कार्य में विशेषज्ञ परिषद और सलाहकार समितियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस दृष्टि से भी व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी आई है।

6. बहुदलीय व्यवस्था तथा दलीय अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका में विभिन्न राजनीतिक दल के सदस्य सही गलत का विवेकपूर्ण निर्णय लेने के स्थान पर दलीय निष्ठा के अधीन हो महत्वपूर्ण विषयों के पक्ष या विपक्ष में मतदान करते हैं। अतः व्यवस्थापिका कार्यपालिका के प्रभाव में ही कार्य करती है।

7. न्यायपालिका की भूमिका के कारण व्यवस्थापिका की शक्ति में कमी आई है। जिन देशों में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्राप्त है वहाँ न्यायपालिका जो कहती है वही संवैधानिक माना जाता है तथा न्यायपालिका के प्रति सभी की निष्ठा, आस्था और विश्वास होता है। इस प्रकार न्यायपालिका के बढ़ते अधिकार एवं प्रभाव क्षेत्र के कारण भी व्यवस्थापिका की शक्तियों में कमी आई है।

8. आधुनिक समय में विश्व परिदृश्य में अनेक प्रकार की जटिल समस्याओं का उदय हुआ है चाहे वह आतंकवाद हो, सैनिक संघर्ष हो, जलवायु परिवर्तन एवं पर्यावरण से उत्पन्न समस्याएं हों। विज्ञान के शोध जहाँ जीवन प्रणाली को सरल बनाने में रत हैं वहीं दुरुपयोग जीवन को संकटग्रस्त बनाने में। ऐसी परिस्थिति में जनता की चिन्ताओं का निवारण कार्यपालिका ही करती है और इस हेतु अन्य देशों से सम्बन्ध बनाने, सहयोग का आदान–प्रदान करने का कार्य भी कार्यपालिका का ही होता है अतः इस कारण भी व्यवस्थापिका का प्रभाव कम हुआ है और कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हुयी।

9. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने सरकार के कार्यक्षेत्र को विस्तार दिया है और व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष में सरकार का हस्तक्षेप हो गया है। समस्त सुविधाएं प्रदान करना कार्यपालिका का दायित्व है। यद्यपि इस सम्बन्ध में व्यवस्थापिका को भी विधि निर्माण कार्य करना पड़ता है परन्तु जनता की माँग और अपेक्षा कार्यपालिका से ही रहती है। परिणामस्वरुप व्यवस्थापिका की तुलना में कार्यपालिका का महत्व बढ़ जाता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका की आवश्यकता या महत्व में कमी नहीं आयी है। हाँ कार्यपालिका व न्यायपालिका के बढ़ते कार्यक्षेत्र ने उसकी शक्तियों को कम अवश्य कर दिया है। व्यवस्थापिका को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक है कि इसके सत्र लम्बी अवधि तक चलने चाहिए, सदस्यों को समय–समय पर प्रशिक्षण के माध्यम से प्रशासनिक जटिलताओं को समझने योग्य बनाना चाहिए। दल–बदल कानूनों में सुधार करना चाहिए ताकि व्यवस्थापिका सदस्य निष्पक्ष और निर्भीक होकर अपना विचार दे सकें। सबसे जरुरी है कि व्यवस्थापिका सदस्यों का सदन की गतिवधियों में भाग लेना और इन सब उपायों द्वारा व्यवस्थापिका के ह्रास को रोका जा सकता है।

11.4 कार्यपालिका

सरकार का वह अंग जो व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करता है तथा नीति निर्माण कर देश का शासन चलाता है, उसे कार्यपालिका कहते हैं। कार्यपालिका के प्रायः दो अर्थ लिये जाते हैं – व्यापक अर्थ और संकुचित अर्थ। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अन्तर्गत वे सभी राज्य कर्मचारी सम्मिलित हैं जिनका सम्बन्ध राज्य के प्रशासन से होता है। इस अर्थ में कार्यपालिका में राज्य के अध्यक्ष, मंत्रियों, अधीनस्थ अधिकारियों एवं प्रशासनिक कर्मचारियों को सम्मिलित

किया जाता है। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका केवल उन संस्थागत संरचनाओं को ही कहा जाता है जो नीति निर्माण व क्रियान्वयन से सम्बन्धित हों। संकुचित अर्थ में प्रशासनिक कर्मचारियों को कार्यपालिका से अलग रखा जाता है। कार्यपालिका के संकुचित अर्थ को राजनीति विज्ञान में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार सीमित अर्थ में कार्यपालिका केवल राज्य के प्रधान तथा उसके मंत्रिमण्डल को कहा जाता है।

11.4.1 कार्यपालिका का गठन

संगठ न की दृष्टि से सभी प्रकार की कार्यपालिका में समरुपता दिखाई देती है। संसदीय व्यवस्था हो या अध्यक्षीय कार्यपालिका प्रधान को कार्यों में सहयोग व सलाह देने के लिए मंत्रिमण्डल होता है। मंत्रिमण्डल की सदस्य संख्या में भिन्नता हो सकती है। परन्तु संरचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो कार्यपालिकाओं में प्रकार, चयन व कार्यकाल सम्बन्धी भिन्नता पायी जाती है। कार्यपालिका के विभिन्न प्रकार निम्नलिखित हैं –

1. **नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका** का अन्तर संसदीय शासन प्रणाली वाले राज्यों में पाया जाता है। संसदीय व्यवस्था में समस्त शक्तियाँ राज्य के अध्यक्ष में निहित होती हैं जो वास्तव में उन शक्तियों का प्रयोग नहीं करता जैसे इंग्लैण्ड में राजा और भारत में राष्ट्रपति। इसे नाममात्र की कार्यपालिका कहा जाता है। परन्तु कार्यपालिका की समस्त शक्तियों का प्रयोग सहयोग व परामर्श के नाम पर प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद करते हैं जिसे वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है।

2. **राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका** – लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका को दो भागों में बाँटा जा सकता है – राजनीतिक या अस्थायी तथा स्थायी। राजनीतिक निर्णय तथा सर्वोच्च प्रशासनिक निर्णय कार्यपालिका प्रमुख और मंत्रिमंडल के हाथों में रहते हैं और इन्हें अपने पद पर बने रहने के लिए मतदाताओं या उनके प्रतिनिधियों के समर्थन और विश्वास की निरन्तर आवश्यकता रहती है तथा इनका समबन्ध राजनीतिक दलों से अनिवार्य रुप से रहता है। अतः इसे राजनीतिक कार्यपालिका कहा जाता है। निर्वाचन पश्चात् बहुमत परिवर्तित होने से राजनीतिक कार्यपालिका में भी परिवर्तन हो जाता है अतः इसे अस्थायी कार्यपालिका भी कहते हैं। वहीं राजनीतिक कार्यपालिका को सहयोग देने के लिए योग्यता, कुशलता एवं प्रशिक्षण के आधार पर अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है तथा सेवा निवृत्ति की निश्चित आयु तक ये पद पर बने रहते हैं तथा इनकी किसी राजनीतिक दल के प्रति प्रतिबद्धता नहीं होती और न ही इन्हें राजनीतिक समर्थन की आवश्यकता होती है। ये राजनीतिक कार्यपालिका के निर्णयों को कार्यान्वित करते हैं। इन्हें स्थायी कार्यपालिका कहा जाता है।

3. **एकल व बहुल कार्यपालिका** – एकल कार्यपालिका में कार्यकारी समस्त शक्तियाँ एक हाथों में केन्द्रित होती हैं और उसकी शक्तियों में किसी अन्य का भाग नहीं होता है। अमरीका का राष्ट्रपति इसी श्रेणी में आते हैं। वहीं जब कार्यकारी शक्तियाँ समूह में या परिषद में निहित होती हैं तो उसे बहुत कार्यपालिका कहते हैं। स्विट्जरलैण्ड में बहुत कार्यपालिका है जहाँ सात व्यक्तियों को शासन की शक्ति प्राप्त है और वे क्रमिक रुप से 1 वर्ष के लिए महासंघ के राष्ट्रपति बनते हैं।

कार्यपालिका के प्रकार के पश्चात् कार्यपालिका गठन के अन्तर्गत कार्यपालिका प्रमुख की नियुक्ति में भी भिन्नता पायी जाती है। नियुक्ति का एक आधार वंशानुक्रम है जो राजतंत्र में पाया जाता है। यह व्यवस्था इंग्लैण्ड में राजा के रुप में प्रचलित है। दूसरा नियुक्ति को आधार निर्वाचन है। निर्वाचन का प्रथम प्रकार प्रत्यक्ष हो सकता है अर्थात् कार्यपालिका प्रमुख को जनता प्रत्यक्ष रुप से मत देकर निर्वाचित करती है। इसके उदाहरण आयरलैण्ड व कुछ लैटिन अमेरिकी देशों में मिलते हैं। निर्वाचन का दूसरा प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन है जहाँ जनता पहले एक निर्वाचक मण्डल का निर्वाचन करे और निर्वाचक मण्डल कार्यपालिका प्रमुख का। अमेरिका और फ्रांस के राष्ट्रपतियों का निर्वाचन इसी तरह से होता है। निर्वाचन का तीसरा प्रकार व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन है। इसका सर्वोत्तम उदाहरण स्विट्जरलैण्ड में मिलता है जहाँ सात मंत्रियों (राष्ट्रपतियों) को संघीय संसद संयुक्त सत्र में निर्वाचित करती है।

कार्यपालिका के कार्यकाल के सम्बन्ध में भी विविध विचार प्रतिपादित किये जाते हैं। लम्बी अवधि के कार्यकाल के समर्थक स्थिरता, एकता एवं अनुभव को आधार बनाते हैं और कम अवधि के समर्थक लोकमत के प्रति उत्तरदायित्व को आधार मानते हैं। इस सम्बन्ध में सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं हैं। अमरीका का राष्ट्रपति चार वर्ष, फ्रांस का सात वर्ष, भारत, चीन तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति पाँच वर्ष तक पद पर रह सकते हैं। महाभियोग द्वारा कार्यावधि की पूर्णता से पहले राष्ट्रपति को अपदस्थ करने की प्रणाली भारत व अमरीका में प्रचलित है।

11.4.2 कार्यपालिका के कार्य

कार्यपालिका सरकार का महत्वपूर्ण अंग है तथा लोककल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त के अनुरुप कार्यपालिका के कार्यों की सूची बनाना दुष्कर कार्य है परन्तु कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका निम्न कार्य अवश्य करती है

1. कार्यपालिका का सबसे महत्वपूर्ण कार्य व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करना है। कानून और व्यवस्था बनाए रखना उसका दायित्व है और इस हेतु विभिन्न विभागों का गठन तथा कर्मचारियों की नियुक्ति कार्यपालिका की जिम्मेदारी होती है। नियमों का उल्लंघन करने तथा दायित्वों को पूरा न करने वालों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाई कार्यपालिका करती है और न्यायपालिका से दण्ड दिलवाने की भी उनकी जिम्मेदारी होती है। अतः प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन, निरीक्षण, पर्यवेक्षण करना कार्यपालिका का महत्वपूर्ण कार्य है।

2. कार्यपालिका का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य राजनयिक कार्य है। एक देश का दूसरे देश से सम्बन्ध बनाना कार्यपालिका की जिम्मेदारी होती है और इस हेतु राजदूतों की नियुक्ति करना, दूसरे देश के राजदूतों से भेंट करना, विदेश सम्बन्धों का संचालन करना, अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ व व्यापारिक समझौते करना तथा युद्ध की घोषणा या समझौता करना कार्यपालिका का अधिकार क्षेत्र है। यद्यपि कुछ देशों में अंतर्राष्ट्रीय संधियों एवं समझौते के लिए व्यवस्थापिका की स्वीकृति आवश्यक है परन्तु सामान्यतः कार्यपालिका इन्हें अन्तिम रुप प्रदान कर व्यवस्थापिका से स्वीकृति प्राप्त करा लेती है और ये कानूनी दृष्टि से मान्य हो जाते हैं।

3. कार्यपालिका विधि निर्माण सम्बन्धी कार्य भी करती है। आवश्यकता पड़ने पर कार्यपालिका अध्यक्ष अध्यादेश जारी कर सकता है जो विधि रुप में

प्रभावी होता है। आधुनिक समय में प्रदत्त व्यवस्थापन द्वारा भी कार्यपालिका को विधि निर्माण कार्य करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त संसदीय व अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका क्रमशः विस्तृत एवं सीमित रुप में विधायी कार्य करती है। संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका का अभिन्न अंग होती है अतः महत्वपूर्ण विषयों पर विधि निर्माण की पहल कार्यपालिका करती है और बहुमत होने के कारण सामान्यतः सभी विधियों को अपनी इच्छानुसार पारित करवा लेती है। अध्यक्षीय शासन में विधि निर्माण कार्य में पहल का अधिकार कार्यपालिका को नहीं है परन्तु वीटो के अधिकार द्वारा कार्यपालिका इसमें हस्तक्षेप कर सकती है। व्यवस्थापिका का अधिवेशन बुलाने और संदेश भेजने का अधिकार कार्यपालिका को होता है। जिससे नीतियों की रुपरेखा प्रस्तुत कर अप्रत्यक्ष रुप से विधि निर्माण को प्रभावित किया जा सकता है।

4. कार्यपालिका को कुछ सैनिक कार्य भी करने पड़ते हैं। सैनिक पदाधिकारियों की नियुक्ति, पदच्युति, सेना का नेतृत्व कार्यपालिका का महत्वपूर्ण कार्य है। लोकतंत्रीय प्रणाली में प्रायः राज्य का अध्यक्ष ही सेना के तीनों अंगों का प्रधान सेनापति नियुक्त होता है। कार्यपालिका ऐसी स्थिति में संकट के समय कठोर निर्णय लेकर राष्ट्रहितों की रक्षा कर सकती है।

5. कार्यपालिका वित्तीय कार्य भी सम्पादित करती है। सम्पूर्ण देश के आय–व्यय का विवरण और करों का निर्धारण कार्यपालिका ही करती है। आय–व्यय का यह विवरण बजट के रुप में व्यवस्थापिका के सम्मुख रखा जाता है और कार्यपालिका बहुमत के आधार पर उन्हें पारित करवा लेते हैं। अतः वास्तविक रुप से राष्ट्रकोष पर कार्यपालिका का ही नियंत्रण रहता है और इसके समुचित संचालन के लिए वित्त विभाग होता है जो सभी विभागों के आय–व्यय का निरीक्षण एवं नियंत्रण करता है।

6. कार्यपालिका न्यायिक क्षेत्र में भी कुछ कार्य करती है यथा न्यायाधीशों की नियुक्ति, अपराधियों को क्षमा प्रदान करना अथवा उनके दण्ड में कमी करना। भारत व संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपतियों को यह अधिकार प्राप्त है। कुछ देशों में कार्यपालिका प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के रुप में प्रशासकीय और अर्द्ध–प्रशासकीय प्रतिष्ठानों में काम करने वाले कर्मचारियों के मामलों की सुनवाई कर निर्णय दे सकती हैं।

इस प्रकार विभिन्न देशों में कार्यपालिका अनेक प्रकार के कार्यों को सम्पादित करती है। शासन प्रणालियों की भिन्नता इनके कार्यक्षेत्र को सीमित व असीमित करती है जैसे लोकतंत्र में कार्य मर्यादित व सीमित होते हैं जबकि अधिनायकवादी प्रणाली में असीमित।

11.4.3 कार्यपालिका की शक्ति वृद्धि के कारण

आधुनिक काल में कार्यपालिका के कार्यों एवं शक्तियों का अत्यन्त विस्तार हुआ है। आपने व्यवस्थापिका के पतन के कारणों में अध्ययन किया कि कार्यपालिका की शक्ति वृद्धि के कारण ही व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास हो रहा है। संक्षेप में कार्यपालिका की शक्ति वृद्धि के निम्न कारण हैं :–

1. सिद्धान्ततः व्यवस्थापिका का गठन कार्यपालिका पर नियंत्रण करने हेतु किया जाता है क्योंकि यह जनता की प्रतिनिधि होती है। परन्तु व्यवहार में

व्यवस्थापिका की अक्षमता, दलों के बीच खींचा–तानी उसे उसके दायित्व निर्वहन में बाधा उत्पन्न करती है जिसके फलस्वरुप कार्यपालिका की शक्ति में स्वतः वृद्धि हो जाती है।

2. दलीय व्यवस्था और कठोर दलीय अनुशासन कार्यपालिका की शक्ति वृद्धि करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कार्यपालिका प्रमुख दल का प्रभावी नेता होता है। संसदीय शासन में बहुमत प्राप्त दल ही सरकार का गठन करते हैं और कठोर दलीय अनुशासन और व्हिप का पालन करते हुए सरकार की नीतियों के पक्ष में ही मतदान करते हैं अतः व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण नहीं रख पाती और कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होती है।

3. आधुनिक समय में शासन की जटिलताओं एवं समस्याओं के कारण समस्याओं के समाधान हेतु विशेषज्ञता एवं शीघ्र निर्णयों की आवश्यकता होती है। अतः व्यवस्थापिका विधि निर्माण का कार्य प्रदत्त व्यवस्थापन द्वारा कार्यपालिका को प्रदान कर देती है और कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होती है।

4. राष्ट्रीय संकट का सामना करने के लिए कार्यपालिका को असीमित शक्ति प्रदान करने की व्यवस्था संविधान द्वारा करने का प्रचलन है। भारतीय संविधान में अनुच्छेद 352, 356 और 360 राष्ट्रीय संकट उत्पन्न होने या आशंका होने पर राष्ट्रपति को असीमित अधिकार प्रदान करता है।

5. कार्यपालिका का नेतृत्व हर परिस्थिति और हर शासन व्यवस्था में आक्रमक होने लगा है। चूंकि कार्यपालिका में श्रेष्ठतर व्यक्ति ही सम्मिलित होते हैं। अतः कार्यपालिका का तीव्र रुप से कार्य करना स्वाभाविक है। समस्त कार्यों का उत्तरदायित्व कार्यपालिका का ही होता है चूंकि उसी की निगरानी में समस्त कार्य सम्पादित होते हैं इसलिए कार्यपालिका का महत्व स्वतः ही बढ़ जाता है।

6. रेडीयो, दूरदर्शन जनसंचार माध्यमों के द्वारा कार्यपालिका प्रत्यक्षतः जनता के सम्पर्क में रहती है और जनता कार्यपालिका से सीधे अपनी बात कह सकती है और इन माध्यमों के कारण कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होती है।

7. कार्यपालिका ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन करती है और विदेश नीति का निर्धारण करती है। विश्व स्तर पर घटित घटनाएँ एवं परिस्थितियाँ शीघ्रता से परिवर्तित होते रहते हैं और तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें राष्ट्रहित में शीघ्रता व स्वतंत्रता से निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में कार्यपालिका पर सीमित नियंत्रण कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि करता है।

8. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने भी कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि की है। राज्य के लोगों को उपयोगी सेवाएँ प्रदान करने के कारण कार्यपालिका का अधिकार क्षेत्र बढ़ जाता है।

9. कुछ देशों में संवैधानिक व्यवस्थाएँ कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि का कारण हैं। संसदीय व्यवस्था वाले भारत व इंग्लैण्ड में क्रमशः राष्ट्रपति व राजा को प्रधानमंत्री की सलाह से संसद के निम्न सदन को भंग करने का अधिकार है जिससे व्यवस्थापिका को नियंत्रित किया जा सकता है और

कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि होती है। अध्यक्षीय व्यवस्था वाले संयुक्त राज्य अमरीका में 'लूट पद्धति' प्रचलित है जिसके कारण राष्ट्रपति पदासीन होते ही अपनी इच्छा से अपने समर्थकों को विभिन्न पद प्रदान करता है और अपनी शक्ति में वृद्धि करता है। विधि निर्माण पर वीटो की शक्ति भी उसे प्रभावी बनाती है।

10. मानवीय स्वभाव है कि वह एक व्यक्ति के नेतृत्व में विश्वास करता है और विभिन्न शासन प्रणालियों में कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग करने वाले व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी क्षमता भी उसे शक्तिशाली बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भारत में जवाहरलाल नेहरु, इन्दिरा गाँधी, अमरीका में रुजवेल्ट, रीगन, इंग्लैण्ड में चर्चिल, थ्रैचर ऐसे ही व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति थे जिन्होंने कार्यपालिका शक्ति में वृद्धि की।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि परिवर्तित परिस्थितियों की आवश्यकताओं ने व्यवस्थापिका की शक्ति में कमी की है और कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि की है।

11.5 न्यायपालिका

सरकार का तीसरा महत्वपूर्ण अंग न्यायपालिका है जिसे सामान्यतः कार्यपालिका व व्यवस्थापिका से स्वतंत्र रखा जाता है। न्यायपालिका उन व्यक्तियों का समूह है जिन्हें विधि अनुसार समाज के विवादों को हल करने का अधिकार प्राप्त होता है। जो कानून की व्याख्या करते हैं और उनका पालन करवाते हैं। न्यायपालिका की विस्तृत परिभाषा करते हुए लास्की ने कहा है कि 'एक राज्य की न्यायपालिका, अधिकारियों के ऐसे समूह के रुप में परिभाषित की जा सकती है, जिनका कार्य, राज्य के किसी कानून विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत, जो विभिन्न लोगों के बीच या नागरिकों व राज्य के बीच एक दूसरे के विरुद्ध होती है, का समाधान व फैसला करना है।' लोकतंत्र के प्रचलन के साथ न्यायपालिका का महत्व भी बढ़ गया है क्योंकि स्वतंत्रता व समानता के अधिकार का संरक्षण भी न्यायपालिका ही करती है। इस प्रकार न्यायपालिका सरकार का वह अंग है जो विधि के शासन को बनाए रखने में अपना योगदान देता है। कार्यपालिका को राज्य के कानून लागू करने में सहायता तथा व्यवस्थापिका को संविधान के अनुकूल विधि निर्माण कार्य में मार्गदर्शन प्रदान करने का कार्य न्यायपालिका का है।

11.5.1 न्यायपालिका का गठन

न्यायपालिका के गठन के सम्बन्ध में समानता नहीं है। प्रत्येक देश की शासन प्रणाली, अनुभव, राजनीतिक परम्पराओं व सिद्धान्तों के अनुसार न्यायपालिका का गठन अलग–अलग होता है परन्तु संरचनात्मक आधार पर समानता यह है कि प्रायः न्यायपालिका का गठन श्रृंखलाबद्ध होता है जिसमें सबसे निचले स्तर पर न्यायालयों की संख्या अधिक फिर उससे उच्च स्तर पर थोड़ी कम और इसी क्रम से अन्ततः एक सर्वोच्च न्यायालय होता है। कुछ देशों में दीवानी और फौजदारी मामलों का एक ही न्यायालय होता है जबकि अधिकांश देशों में फौजदारी व दीवानी न्यायालय अलग–अलग होते हैं।

साधारण न्यायालयों के अतिरिक्त विशेष कार्यों के लिए विशेष न्यायालय होते हैं जैसे सैनिक न्यायालय, औद्योगिक न्यायालय, महाभियोग न्यायालय, श्रम

न्यायालय, धार्मिक न्यायालय, बाल न्यायालय आदि। यूरोप के कुछ देशों में प्रशासकीय न्यायालयों की स्थापना सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध मामलों की सुनवाई के लिए की गई है। संघात्मक शासन प्रणाली में दो प्रकार के न्यायालय होते हैं एक जो केवल संघीय कानूनों से सम्बन्धित मामले सुनते हैं और दूसरे वे जो इकाईयों में अलग–अलग होते हैं जो अपनी इकाईयों के कानूनों का प्रयोग करते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसी ही व्यवस्था है जबकि भारतीय संघात्मक व्यवस्था में एकीकृत न्याय प्रणाली अपनाई गई है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में विविध प्रणालियाँ प्रचलित हैं। कुछ देशों में व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशों का निर्वाचन होता है। स्विट्जरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ राज्यों तथा साम्यवादी देशों में यह प्रणाली प्रचलित है। इस प्रणाली को अपनाने के पीछे आधार यह है कि व्यवस्थापिका जनप्रतिनिधियों की संस्था है अतः यह योग्य एवं ईमानदार न्यायाधीशों का चयन करेगी। न्यायाधीशों की नियुक्ति की दूसरी प्रणाली जनता द्वारा निर्वाचन की है। संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों और स्विट्जरलैण्ड के निम्नतम न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति इसी प्रणाली से होती है। न्यायाधीशों की नियुक्ति की एक अन्य प्रणाली कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति है और प्रायः अधिकांश देशों में इसे अपनाया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये जाते हैं और सीनेट द्वारा उसकी पुष्टि होती है। जापान में मंत्रिमंडल द्वारा चयन, सम्राट द्वारा नियुक्ति और डायट (व्यवस्थापिका) द्वारा पुष्टि होती है। भारत में उच्चतम एवं उच्च न्यायालय के न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति किये जाते हैं परन्तु निम्न न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा लिखित परीक्षा व साक्षात्कार के बाद की जाती है।

न्यायाधीशों के कार्यकाल के सम्बन्ध में विविधता है परन्तु प्रायः सभी देशों में इन्हें कार्यकाल की सुरक्षा प्रदान की जाती है। कुछ देशों में न्यायाधीश निश्चित आयु पूरी करने पर सेवानिवृत्त हो जाते हैं उदाहरणार्थ भारत में। कुछ देशों में जीवन पर्यन्त कार्य करते हैं जैसे संयुक्त राज्य अमरीका में। कुछ देशों में कार्यकाल बहुत कम होता है जैसे स्विट्जरलैण्ड में। संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों में कार्यकाल कम है परन्तु पुनः निर्वाचन द्वारा न्यायाधीश लम्बी अवधि तक कार्य करते हैं। यूरोपीय देशों में न्यायाधीश को उसी के न्यायालय अथवा किसी उच्चतम न्यायालय में मुकदमा चलाकर हटाने की व्यवस्था है जबकि इंग्लैण्ड में दोनों सदनों की सिफारिश पर सम्राट न्यायाधीश को पदमुक्त करता है। संयुक्त राज्य अमरीका व भारत में महाभियोग की प्रणाली प्रचलित है।

11.5.2 न्यायपालिका के कार्य

न्यायपालिका के सामान्यतः निम्न कार्य हैं –

1. न्यायपालिका का सर्वप्रथम कार्य न्याय करना है। न्यायपालिका दीवानी, फौजदारी, संवैधानिक मामलों की सुनवाई करके न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की रक्षा तथा संविधान के अनुसार न्याय प्रदान करने का दायित्व भी न्यायपालिका का होता है।

2. न्यायपालिका कानून निर्माण का कार्य भी करती है। न्यायिक कार्य न्यायाधीश कानूनों के अन्तर्गत रहकर ही करते हैं परन्तु कई बार मामलों की जटिलता या कानूनों की अस्पष्टता के कारण न्यायाधीश को अपना निर्णय साक्ष्यों पर आधारित करना होता है और कानून की सही व्याख्या

करनी पड़ती है। इस प्रक्रिया से नये कानूनों का निर्माण होता है जिसे 'न्यायाधीश निर्मित कानून' अथवा 'निर्णय मूलक कानून' (Case Law) कहते हैं।

3. न्यायपालिका संविधान की रक्षा का कार्य भी करती है। संघ राज्यों में संघ व इकाईयां या एक या अधिक इकाईयों के बीच उत्पन्न विवादों का निपटारा न्यायपालिका करती है। न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के आधार पर यह व्यवस्थापिका व कार्यपालिका द्वारा संविधान विरुद्ध किये गये कार्य को अमान्य या अवैधानिक घोषित कर सकती है। संविधान की व्याख्या करने का अधिकार न्यायपालिका को प्राप्त है।

4. न्यायपालिका कार्यपालिकाओं को परामर्श देने संबंधी कार्य भी करती है। किसी महत्वपूर्ण विषय पर विधिक परामर्श माँगने पर न्यायपालिका परामर्श देने का कार्य कर सकती है। भारत में राष्ट्रपति को संविधान के अनुच्छेद 143 के अन्तर्गत इस प्रकार की सलाह माँगने का अधिकार है परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में ऐसी व्यवस्था नहीं है।

5. न्यायालयों को आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी कार्य भी करने पड़ते हैं। न्यायालयों के कार्य सम्पादित करने हेतु विविध नियमों की आवश्यकता होती है जिसका निर्धारण न्यायपालिका स्वयं करती है। न्यायिक कार्य में सहायता करने वाले अधिकारियों व कर्मचारियों की नियुक्ति करने, योग्यता निर्धारित करने का कार्य न्यायपालिका स्वयं करती है।

6. न्यायपालिका अन्य अनेक कार्य भी करती है। राज्याध्यक्ष के कहने पर जाँच पड़ताल का कार्य करती है, विवाह व नागरिकता के प्रमाणपत्र निर्गत करती है तथा स्वयं की मानहानि पर दण्ड देने का कार्य भी करती है। यह मृत व्यक्तियों की संपत्ति का प्रबन्ध करने तथा दिवालियों की सम्पत्ति के लिए संरक्षकों और ट्रस्टियों की नियुक्ति भी करती है।

11.5.3 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायपालिका की स्वतंत्रता से तात्पर्य है कि न्यायाधीश अपने निर्णयों को विधि व विवेक के आधार पर बिना किसी दबाव के दे सकें। न्यायपालिका के कार्यों में व्यवस्थापिका, कार्यपालिका अथवा नौकरशाही का कोई हस्तक्षेप न हो और न स्वयं उनके व्यक्तिगत हित उनके निर्णयों को प्रभावित कर सकें। न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा हेतु निम्न उपाय किये जाते हैं –

1. न्यायपालिका को स्वतंत्र रखने हेतु सबसे पहला उपाय न्यायाधीशों की नियुक्ति का है। आपने इकाई के 11.5.1 अंश में न्यायपालिका के गठन के अन्तर्गत न्यायाधीशों की नियुक्ति के विभिन्न तरीकों का अध्ययन किया है। नियुक्ति की कोई भी प्रणाली अपनाई जाये नियुक्ति हेतु व्यक्ति में शैक्षिक योग्यता, विधि का ज्ञान तथा चारित्रिक दृढ़ता अर्थात् व्यक्ति को ईमानदार व कर्तव्यनिष्ठ होना चाहिए। व्यक्ति विवेकपूर्ण कार्य करने वाला हो तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक दलों और आन्दोलनों से उसका लगाव अथवा सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

2. न्यायाधीशों का कार्यकाल सुरक्षित एवं दीर्घ होना चाहिए जिससे वे पद की सुरक्षा हेतु चिन्तित हुये बिना निर्णय कार्य कर सकें। इस सम्बन्ध में विद्वानों का मानना है कि संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति कार्यकाल न तो

आजीवन (बहुत लम्बा) और न ही चार तथा पाँच वर्ष का छोटा हो जैसे साम्यवादी देशों में जहाँ व्यवस्थापिका द्वारा इनका निर्वाचन होता है। यदि उनका कार्यकाल छोटा हो तो उन्हें पुनः नियुक्त किया जाये। निश्चित कार्यकाल से पूर्ण उन्हें पद से हटाने की प्रक्रिया जटिल (महाभियोग के समान) होनी चाहिए।

3. न्यायाधीशों को अच्छा वेतन व भत्ते प्राप्त होने चाहिए जिससे वे निश्चिंत होकर अपना और परिवार का पालन–पोषण कर सकें और भविष्य की चिंता में किसी प्रकार के प्रलोभनों की ओर आकर्षित न हों।

4. सेवानिवृत्ति के पश्चात् न्यायाधीशों को किसी अन्य पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए तथा वकालत पर भी प्रतिबंध होना चाहिए। ऐसी व्यवस्था होने पर न्यायाधीश पद लाभ की दृष्टि से कार्यपालिका को खुश एवं प्रभावित करने का प्रयास नहीं करेंगे और निष्पक्ष न्यायिक दायित्वों का निर्वहन करेंगे।

5. न्यायाधीशों के कार्यकाल में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, प्रेस अथवा साधारण जनता को उसके व्यक्तिगत कार्यों एवं चरित्र पर टिप्पणी करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। इसके साथ ही न्यायपालिका को अपने निर्णयों के प्रवर्तन में बाधा डालने वालों के विरुद्ध न्यायालय की अवमानना का दण्ड देने का अधिकार होना चाहिए।

इस प्रकार उपरोक्त उपायों द्वारा लोकतंत्र में न्यायपालिका को स्वतंत्र रखने का प्रयास किया जाता है ताकि वे निष्पक्ष हो अपना कार्य कर सकें और जनता के अधिकारों और स्वतंत्रता सहित लोकतंत्र को सुरक्षित रख सकें।

11.6 सरकार का वर्गीकरण

राजनीति व्यवस्थाओं के वर्गीकरण का प्रारम्भ प्लेटा व अरस्तू के समय से ही प्रचलित है। प्लेटो व अरस्तू के समय राज्य व शासन के बीच भेद न होने के कारण उसे राज्य का वर्गीकरण कहा गया। सरकारी निर्णय प्रक्रिया में सम्मिलित व्यक्तियों की संख्या का आधार बनाकर किये गये वर्गीकरण की निरन्तर आलोचना की गयी परन्तु उसे कभी भी पूर्णतया अस्वीकार नहीं किया गया। आधुनिक काल में राज्य व सरकार के मध्य स्पष्ट भेद होने पर सरकार का वर्गीकरण कहा जाने लगा। बीसवीं शताब्दी में सरकार के वर्गीकरण के विभिन्न रुप प्रस्तुत किये जाने लगे।

प्राचीन समय से वर्तमान समय तक प्रस्तुत किये गये वर्गीकरण का उद्देश्य मुख्यतया शासन व्यवस्थाओं में स्थित समानताओं व अन्तरों को स्पष्ट करते हुए श्रेष्ठ तथा व्यवहारिक शासन व्यवस्था का विश्लेषण करना है। संक्षेप में **सरकारों के वर्गीकरण के उद्देश्य व उपयोगिता** निम्न प्रकार से है –

1. सरकारों के वर्गीकरण द्वारा विभिन्न शासनों के मध्य समानताओं एवं असमानताओं का विश्लेषण करके व्यवस्थाओं को व्यावहारिक बनाया जा सकता है।

2. विभिन्न राजनीतिक दर्शनों पर आधारित विभिन्न राज्यों के शासन व्यवस्थाओं में उत्पन्न विविधताओं को सरकार के वर्गीकरण द्वारा समझना

संभव होता है। विचारधारा पर आधारित वर्गीकरण द्वारा श्रेष्ठ प्रतिमान को समझने में सरलता होती है।

3. सरकारों के वर्गीकरण द्वारा सरकारों के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालना व सामान्यीकरण करना सरल हो जाता है। इस प्रकार के व्यवस्थित अध्ययन से राजनीति विज्ञान को वैज्ञानिक अध्ययन बनने का अवसर मिलता है।

4. तुलनात्मक राजनीतिक अध्ययनों के लिए सरकारों का वर्गीकरण करना और उनका अध्ययन करना अनिवार्य हो जाता है।

5. तुलनात्मक पद्धति के प्रयोग को भी व्यावहारिक बनाने के लिए सरकार का वर्गीकरण उपयोगी सिद्ध होता है।

इस प्रकार राजनीति विज्ञान में सरकारों के वर्गीकरण अनेक प्रकार से उपयोगी होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था में किस पक्ष का परीक्षण करना है उसी पर सरकार का वर्गीकरण निर्भर करता है। सरकार के वर्गीकरण से जहाँ विभिन्न सरकारों को समझना सरल हो जाता है वहीं दूसरी ओर इससे राजनीति शास्त्र एक व्यवस्थित व वैज्ञानिक अध्ययन बन जाता है।

11.6.1 सरकार के वर्गीकरण का आधार

सरकारों के वर्गीकरण को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने की दृष्टि से वर्गीकरण का आधार क्या हो? इस सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। सरकारों के वर्गीकरण का आधार बहुत कुछ सीमा तक वर्गीकरण के उद्देश्य पर निर्भर करता है। अतः सरकारों के वर्गीकरण के आधार भिन्न–भिन्न हैं और यह भी आवश्यक नहीं है कि वर्गीकरण का आधार केवल एक हो। अरस्तू ने स्वयं वर्गीकरण का आधार नैतिकता, प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग करने वालों की संख्या और वर्गहित को बनाया था। वर्गीकरण के कुछ आधार सी0बी0 गेना ने निम्न प्रकार से बताये हैं –

1. **संविधान का आधार –** संविधान में संशोधन प्रक्रिया के आधार पर लचीला व कठोर संविधान होता है। लचीला संविधान वाले राज्य में संसद सर्वेसर्वा होती है और कठोर संविधान में व्यवस्थापिका मात्र विधि निर्माण कार्य तक सीमित हो जाती है। मैरियट ने इसी आधार पर राज्य का विभाजन किया है। आधुनिक समय में राजनीतिक व्यवस्थाओं के सिद्धान्त व व्यवहार में अन्तर होता है अतः इस आधार पर वर्गीकरण की प्रक्रिया सामान्यतः स्वीकार नहीं की जाती है।

2. **कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के सम्बन्धों का आधार –** कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के सम्बन्धों पर आधारित व्यवस्था को संसदीय और अध्यक्षीय सरकार के रुप में वर्गीकृत किया जाता है। संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है जबकि अध्यक्षीय शासन में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका एक दूसरे से स्वतंत्र और समान महत्व की स्थिति में रहती हैं। राजनीतिक दलों के प्रादुर्भाव के कारण व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के सम्बन्ध संवैधानिक व्यवस्थाओं के अनुरुप न होकर जटिल हो गये हैं अतः इस आधार को आधुनिक समय में उपयोगी नहीं माना जाता है।

3. **शासन शक्ति के केन्द्रीकरण व विकेन्द्रीकरण का आधार –** शासन शक्ति के केन्द्रीकरण व विकेन्द्रीकरण के आधार पर शासन के दो रुप होते हैं –

एकात्मक शासन व संघात्मक शासन। इस आधार पर सरकार के वर्गीकरण को भी सन्तोषजनक नहीं माना जा रहा है क्योंकि अधिकांश राज्यों में शक्तियों के केन्द्रीकरण या इकाईयों के मध्य वितरण को कोई सुनिश्चित प्रतिमान नहीं है। उन राज्यों में वर्गीकरण का यह आधार और कठिन है जहाँ संवैधानिक व्यवस्था और व्यवहारिक व्यवस्था में भिन्न पायी जाती है।

4. **प्रभुत्व शक्ति का प्रयोग करने वालों की संख्या का आधार** – अरस्तू द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण का आधार यही था और आज भी यह आधार प्रचलित है। राज्य शक्ति का एक हाथ में निहित होना एकतंत्र, किसी एक श्रेणी में निहित होना श्रेणीतंत्र तथा जनता या बहुसंख्या में निहित शक्ति को लोकतंत्र कहते हैं। यह आधार लीकॉक ने प्रयुक्त किया है। वर्गीकरण के इस आधार की सीमित उपयोगिता है और स्वयं लीकॉक ने भी चार अन्य आधारों का प्रयोग किया है।

5. **विचारधारा का आधार** – आधुनिक समय में विचारधाराओं के आधार पर पूंजीवादी या उदारवादी, साम्यवादी और समाजवादी राज्य का भेद किया जाता है। परन्तु इस आधार पर साम्यवादी राज्यों चीन, रुस, पूर्वी यूरोप के राज्यों को एक श्रेणी में न रख पाने के कारण इस आधार को भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है।

6. **राजनीतिक व्यवस्था का आधार** – एलेन बाल द्वारा समर्थित इस आधार के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के एक अंग में परिवर्तन दूसरे अंग को प्रभावित करता है। अतः वर्गीकरण का आधार गत्यात्मक होना चाहिए। एक प्रकार के लक्षणों वाली राजनीतिक व्यवस्था को दूसरे प्रकार के लक्षणों वाली राजनीतिक व्यवस्था से भिन्न करना आसान होता है। इस आधार पर तीन शासन पद्धतियाँ बताई गई हैं – उदारवादी लोकतंत्रीय, सर्वाधिकारवादी और स्वेच्छाचारी। वर्गीकरण का यह आधार अपेक्षाकृत उपयोगी माना गया है और इस आधार पर वर्गीकरण किये गये हैं।

7. **संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक प्रवर्गों का आधार** – व्यवहारवादियों द्वारा समर्थित इस आधार के पीछे तर्क यह है कि राजनीतिक व्यवहार के द्वारा सरकारों की प्रकृति का सही चित्रण मिलता हैं अतः संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक प्रवर्गों के आधार पर ही व्यवस्थाओं का वर्गीकरण होना चाहिए। इसके द्वारा वर्तमान की जटिल व गत्यात्मक शासन प्रणालियों को समझना सरल हो जाता है। यह आधार अधिक मान्य व उपयोगी कहा जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वर्गीकरण का कोई भी आधार अन्तिम रुप से ठीक नहीं कहा जा सकता है। वर्गीकरण के उद्देश्य के अनुरुप वर्गीकरण का आधार परिवर्तित होता है। अतः वर्गीकरण व्यावहारिक व उपयोगी होना चाहिए, इस हेतु आधार भिन्न–भिन्न हो सकते हैं।

11.6.2 सरकार का परम्परागत वर्गीकरण

परम्परागत वर्गीकरण में सर्वप्रथम प्लेटो व अरस्तू का नाम आता है। इनके वर्गीकरण का आधार शासन सत्ता का प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या तथा उसके शुद्ध रुप में स्थिर रहना है। प्लेटो के द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण निम्नानुसार है –

शासकों की संख्या का आधार	विधि सम्मत शासन	विधि विहीन शासन
एक व्यक्ति का शासन	वैध राजतंत्र (Legal Monarchy)	निरंकुशतंत्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतंत्र (Aristocracy)	वर्गतंत्र (Oligarchy)
सभी व्यक्तियों द्वारा	वैध लोकतंत्र (Legal Democracy)	स्वेच्छाचारी लोकतंत्र (Arbitrary Democracy)

(प्लेटो का वर्गीकरण)

प्लेटों के शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु का अनुसरण किया परन्तु उसने अपने वर्गीकरण को अधिक सुसंगत एवं वैज्ञानिक बनाने हेतु उसमें थोड़ा परिवर्तन किया और विधि सम्मत और विधि विहीन के स्थान पर राज्य के लक्ष्य की दृष्टि से शुद्ध और दूषित रुप को वर्गीकरण का आधार बनाया। अरस्तू द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण निम्नानुसार है –

शासकों की संख्या का आधार	शुद्ध रुप (जहाँ राज्य का उद्देश्य सार्वजनिक कल्याण हो)	दूषित रुप (शासन शासक वर्ग के हित में किया जाये)
एक व्यक्ति का शासन	राजतंत्र (Monarchy)	निरंकुशतंत्र (Tyranny)
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतंत्र (Aristocracy)	वर्गतंत्र (Oligarchy)
अनेक व्यक्तियों का शासन	बहुलतंत्र (Polity)	भीड़तंत्र (Democracy)

(अरस्तू का वर्गीकरण)

अरस्तू ने अपने वर्गीकरण को राज्य के अध्ययन के 'परिवर्तनों के चक्र' से मिलाने का प्रयास किया है। उसका मानना है कि राज्य का कोई भी रुप सदा नहीं बना रहता है। एक रुप विकृत होता है तो दूसरा रुप स्थान ले लेता है और यह चक्र चलता रहता है जैसे राजतंत्र विकृत होकर निरंकुश तंत्र हो जाता है, कुलीनतंत्र विकृत होकर वर्गतंत्र में परिवर्तित हो जाता है, बहुल तंत्र विकृत होकर भीड़तंत्र में परिवर्तित हो जाता है। यह भी हो सकता है कि राजतंत्र के स्थान पर कुलीनतंत्र आ जाये और फिर भीड़तंत्र कुलीन तंत्र का स्थान ग्रहण कर ले। परन्तु अंधकार में प्रकाश की भाँति कोई सद्गुणी व्यक्ति महान शासन प्रकट होगा जो

भीड़तंत्र के स्थान पर राजतंत्र की स्थापना करेगा। इस तरह परिवर्तनों का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि अरस्तू ने राज्य और सरकार में भेद नहीं माना है। उसके शासन के शुद्ध और विकृत रुप में भेद करना वर्तमान समय में कठिन है जैसे कुलीनतंत्र और वर्गतंत्र में अन्तर नहीं किया जाता। अरस्तू का वर्गीकरण नगर–राज्यों को ध्यान में रखकर किया गया था जिसे आधुनिक विशाल, बहुराष्ट्रीय राज्यों पर लागू करना संभव नहीं है। अरस्तू ने लोकतंत्र को दूषित रुप में भीड़तंत्र कहा है जबकि आधुनिक समय में लोकतंत्र को शासन का सर्वश्रेष्ठ रुप माना जाता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की भले ही आधुनिक समय में आलोचना की गई हो परन्तु उसकी अवधारणाओं ने बाद के वर्गीकरण को निश्चित रुप से प्रभावित किया है। रोमन राजनीतिक चिन्तन के जन्मदाता यूनानी इतिहासकार पोलिबियस ने भी अरस्तू की भाँति शासन तंत्र के तीन विशुद्ध (Pure) और उनके विकृत (Perverted) रुप माने हैं। पोलिबियस ने राजतंत्र (Monarchy), अभिजात्यतंत्र (Aristocracy) तथा प्रजातंत्र (Democracy) को शासन का शुद्ध रुप और इनके विकृत रुप क्रमशः निरंकुशतंत्र (Tyranny), धनिकतंत्र (Oliagarchy) तथा भीड़तंत्र (Ochocracy) बताये हैं। पोलिबियस भी अरस्तू की भाँति परिवर्तन चक्र को स्वीकार करता है और शासन में स्थिरता लाने और परिवर्तन चक्र को रोकने के लिए उसने विभिन्न शासन प्रणालियों के उत्कृष्ट तत्वों का सम्मिश्रण करके मिश्रित संविधान की बात कही है जिसमें नियंत्रण व संतुलन भी हो।

पोलिबियस के बाद सिसरो, मैकियावली, बोदाँ, हॉब्स, लॉक, रुसो, मॉन्टेस्क्यू, जेलिनेक, ब्लंटशली ने थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ सरकारों के वर्गीकरण की योजना प्रस्तुत की। मान्टेस्क्यू का वर्गीकरण अरस्तू से प्रभावित होने के साथ ही भिन्न भी है क्योंकि उसने परम्परागत वर्गीकरण – राजतंत्र, कुलीनतंत्र और लोकतंत्र से हटकर वर्गीकरण की एक नई योजना प्रस्तुत की। मान्टेस्क्यू का वर्गीकरण रेखाचित्र में निम्नानुसार है।

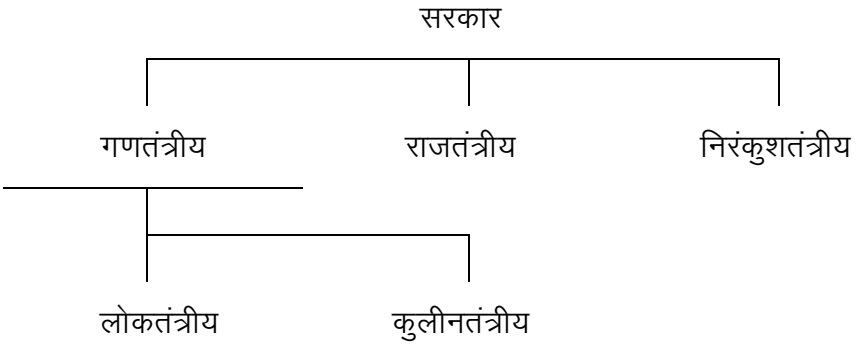

मान्टेस्क्यू ने गणतंत्र, राजतंत्र और निरकुंशतंत्र को क्रमशः प्रकाश, गोधूलि एवं अन्धकार कहा है। गणतंत्र प्रकाश इसलिए कि इसमें व्यक्ति के मानसिक विकास पर बल दिया जाता है परन्तु यह आधुनिक विशाल राज्यों में व्यावहारिक नहीं है। वह राजतंत्र का समर्थक था क्योंकि वह जनता था कि जनता द्वारा राजतंत्र की जड़ों को उखाड़ फेंकना सरल नहीं है। निरंकुशतंत्र का वह अति विरोधी था क्योंकि इसमें धन, वाणिज्य सभी को खतरा रहता है और प्रजा की स्थिति दास जैसी होती है।

TESLA-024

11.6.3 सरकार के कुछ आधुनिक वर्गीकरण

सरकार के आधुनिक वर्गीकरण के अन्तर्गत अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण सम्मिलित किये जाते हैं। आधुनिक समय में प्रस्तुत किये गये वर्गीकरण में सबसे पहले जर्मन विचारक वैट्ज का नाम आता है जिसने राजनीतिक व्यवस्थाओं को गणराज्यों, धर्म सापेक्ष राज्यों, रियासतों, एकात्मक राज्यों, संयुक्त या मिश्रित राज्यों, संघीय राज्यों तथा महासंघों के रुप में वर्गीकृत किया। मैरियट ने सरकारों के वर्गीकरण के तीन आधार बताए हैं – 1. शासन शक्ति के विभाजन के आधार पर एकात्मक व संघात्मक शासन, 2. संविधान के स्वरुप के आधार पर लचीला तथा कठोर, 3. व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के सम्बन्धों के आधार पर संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन। लीकॉक ने राज्यों को दो मुख्य वर्ग बताये हैं – निरंकुश तथा लोकतांत्रिक जिन्हें दो रुपों में वर्गीकृत किया जा सकता है – एकात्मक तथा संघात्मक। एकात्मक व संघात्मक प्रत्येक के दो अन्य रुप हो सकते हैं – संसदीय व अध्यक्षीय। लीकॉक द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण को रेखाचित्र द्वारा निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है –

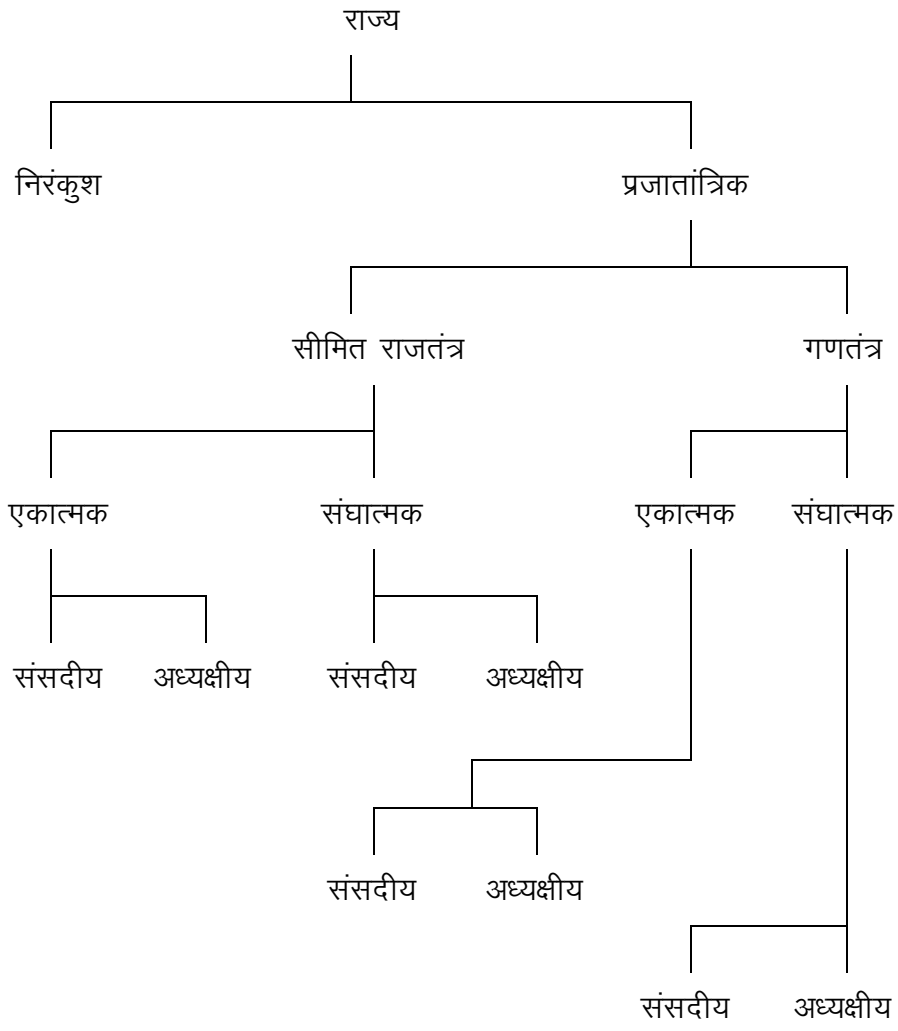

(लीकॉक द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण)

ब्राइस, जैंक्स और मेरियट द्वारा आधुनिक राज्यों के वर्गीकरण के मुख्यतः दो आधार बताये गये हैं– पहला राज्यों के कार्यक्षेत्र का आधार और दूसरा

राजनीतिक संगठन का स्वरुप। राज्य के कार्यक्षेत्र के आधार पर उदारवादी तथा सर्वाधिकारवादी दो प्रकार बताये हैं जिसमें सर्वाधिकारवादी को पुनः दो वर्गों में विभाजित किया है– साम्यवादी तथा फासीवादी। राजनीतिक संगठन के स्वरुप को छह रुपों में देखते हुए वर्गीकरण किया गया है। राज्य के स्वरुप के आधार पर एकात्मक व संघात्मक सरकार हैं। संविधान के स्वरुप के आधार पर लचीला और कठोर तथा निर्वाचक मण्डल के स्वरुप के आधार पर मताधिकार, सीमित मताधिकार एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र और बहुल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आते हैं। व्यवस्थापिका के स्वरुप के आधार पर द्विसदनात्मक तथा एक सदनात्मक व्यवस्था आती है और द्विसदनात्मक व्यवस्था के भी दो रुप मिलते हैं– निर्वाचित या आंशिक रुप से निर्वाचित द्वितीय सदन या गैर निर्वाचित द्वितीय सदन। कार्यपालिका के स्वरुप के आधार पर संसदीय और गैर संसदीय व्यवस्था तथा न्यायपालिका के स्वरुप के आधार पर कानून का प्रशासन तथा प्रशासकीय कानून का रुप मिलता है। सारिणी के रुप में उक्त वर्गीकरण निम्नानुसार है –

	वर्गीकरण का आधार	**क**	**ख**
1.	राज्य का कार्यक्षेत्र सम्बन्धी अवधारणा	उदारवादी	सर्वाधिकारवादी
2.	राजनीतिक संगठन का स्वरुप		
	क. राज्य का स्वरुप	एकात्मक	संघात्मक
	ख. संविधान का स्वरुप	लचीला	कठोर
	ग. निर्वाचक मंडल का स्वरुप	1. व्यस्क मताधिकार	1. सीमित मताधिकार
		2. एकसदनीय निर्वाचन क्षेत्र	2. बहुसदनीय निर्वाचन क्षेत्र
	घ. व्यवस्थापिका का रुप	द्विसदनीय	एकसदनीय
		1. निर्वाचित या आंशिक रुप से निर्वाचित द्वितीय सदन	
		2. अनिर्वाचित दूसरा सदन	
	च. कार्यपालिका का स्वरुप	संसदात्मक	अध्यक्षात्मक
	छ. न्यायपालिका स्वरुप	कानून का शासन (Rule of Law)	प्रशासकीय कानून (Administrative Law)

(जैक्स, ब्राइस और मेरियट का वर्गीकरण)

विद्वानों की मान्यता है कि वर्गीकरण की कोई भी पद्धति परिपूर्ण नहीं हो सकती। औपचारिक संस्थाओं के आधार पर वर्गीकरण पर्याप्त नहीं है। **एलेन बाल** ने राजनीतिक पद्धति को आधार बनाकर वर्गीकरण प्रस्तुत किया है और उनके अनुसार राजनीतिक पद्धति में औपचारिक संस्थाएँ ही नहीं, वरन् उसे प्रभावित करने वाली समस्त गतिविधियाँ सम्मिलित हैं। एलेन बाल द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण निम्नानुसार है –

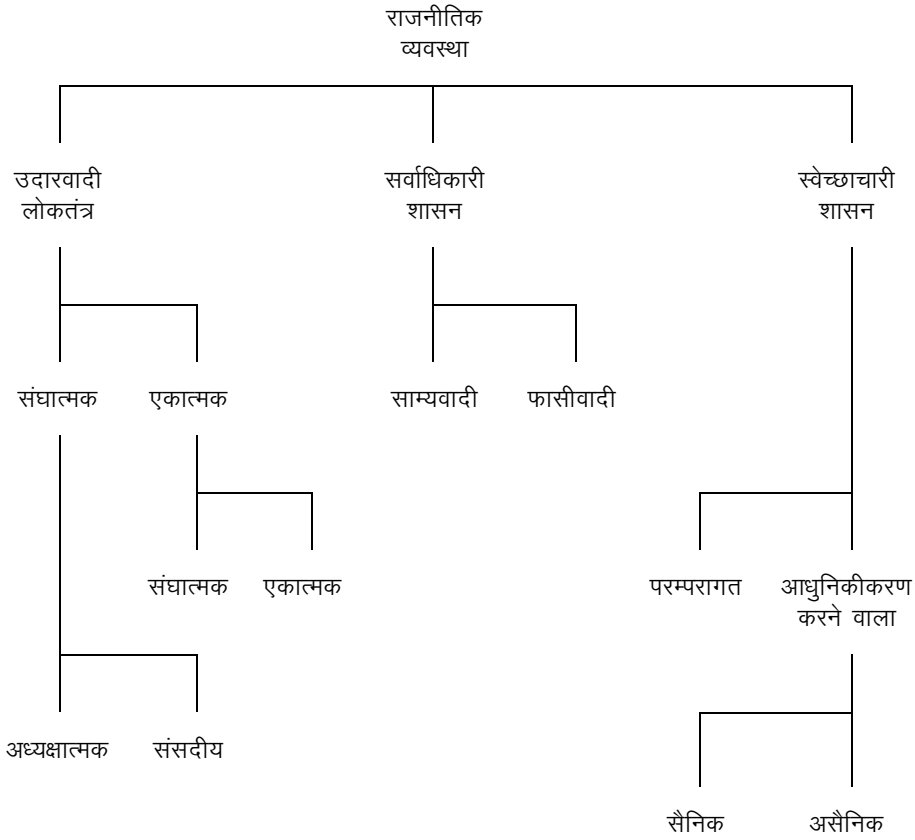

(ऐलनबाल द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण)

एलेनबाल के अनुसार राजनीतिक व्यवस्थाएँ तीन प्रकार की होती हैं – प्रथम उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था जिसमें सामयिक निर्वाचन, व्यस्क मताधिकार, एक से अधिक राजनीतिक दल, नागरिक अधिकार व उनके संरक्षण हेतु न्यायपालिका आदि की व्यवस्था होती है। शक्ति के केन्द्रण एवं वितरण के आधार पर उदारवादी लोकतंत्र क्रमशः एकात्मक एवं संघात्मक होते हैं जो संसदीय या अध्यक्षात्मक हो सकते हैं। राजनीतिक व्यवस्था का दूसरा स्वरुप सर्वाधिकारवादी शासन प्रणाली है जो सुस्पष्ट विचारधारा के प्रतीक एकाधिकारवादी दल द्वारा संचालित होती है। उदाहरण के लिए साम्यवादी और फासीवादी व्यवस्था। राजनीतिक व्यवस्था का तीसरा रुप स्वेच्छाचारी शासन है जिसमें शासन सत्ता का एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रण होता है तथा साम्यवादी या फासीवादी जैसी प्रभावी राजनीतिक विचारधारा का अभाव होता है। यह परम्परागत भी हो सकती है और आधुनिकीकरण करने वाली भी जो सैनिक या असैनिक रुप में हो सकती है।

इस प्रकार विद्वानों ने सरकार के वर्गीकरण के अलग–अलग रुप प्रतिपादित किये हैं। कोई भी वर्गीकरण स्वयं में परिपूर्ण नहीं है। वर्गीकरण का अच्छा होना इस तथ्य पर निर्भर करता है कि क्या इसके द्वारा सामान्यीकरण करके समानताओं और असमानताओं को स्पष्ट किया जा सकता है या नहीं। इस दृष्टि से एलेनबाल का वर्गीकरण कुछ सीमा तक पर्याप्त समझा जा सकता है।

11.7 सारांश

सरकार राज्य की आत्मा व उसका मूर्त रुप है। सामान्यतः सरकार के तीन

मुख्य कार्य होते हैं – कानून बनाना, उन्हें क्रियान्वित करना और विवादों को सुलझाना तथा इन कार्यों को सम्पादित करने वाले अंगों को क्रमशः व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका कहते हैं। व्यवस्थापिका सरकार का सबसे महत्वपूर्ण अंग होती है जो कानून निर्माण का कार्य करती है। अलग–अलग देशों में इसे अलग–अलग नामों से पुकारा जाता है जैसे भारत व ब्रिटेन में संसद, अमरीका में कांग्रेस, जापान में डायट आदि। व्यवस्थापिकाएं मुख्यतया दो प्रकार की होती हैं – एक सदनीय तथा द्विसदनीय। द्विसदनीय व्यवस्थापिका में एक सदन को निम्न तथा दूसरे को उच्च सदन कहते हैं। विभिन्न देशों में इसकी रचना के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है और इनका कार्यकाल भी अलग–अलग होता है। व्यवस्थापिकाएं दो मुख्य प्रकार के कार्यों को सम्पादित करती हैं। परम्परागत कार्य और आधुनिक अथवा राजनीतिक कार्य। विधि निर्माण करना, वित्त एवं कार्यपालिका पर नियंत्रण रखना, संविधान संशोधन, न्याय सम्बन्धी एवं निर्वाचन कार्य परम्परागत कार्यों की श्रेणी में आते हैं। प्रतिनिधित्व का कार्य, हितस्वरुपीकरण, समूहीकरण एवं समाजीकरण का कार्य तथा राजनीतिक शिक्षण का कार्य आधुनिक समय में व्यवस्थापिका के महत्वपूर्ण कार्य हैं। द्विसदनीय व्यवस्थापिका के पक्ष एवं विपक्ष में अनेक विचार प्रस्तुत किये जाते हैं तथा आधुनिक समय में कार्यपालिका की तुलना में इसके शक्ति, प्रभाव एवं कार्यों में कमी हो रही है जिसे व्यवस्थापिका का पतन कहा जाता है जिसके इसके अनेक कारण हैं।

सरकार का वह अंग जो निर्मित कानूनों को क्रियान्वित करने का कार्य करता है उसे कार्यपालिका कहते हैं। कार्यपालिका के दो अर्थ हैं संकुचित तथा व्यापक। राजनीति शास्त्र में कार्यपालिका के संकुचित अर्थ को स्वीकार किया जाता है जिसमें प्रशासनिक कर्मचारियों को अलग कर उसमें केवल राज्य के प्रधान व मंत्रिमंडल को शामिल किया जाता है। कार्यपालिका के कई प्रकार होते हैं यथा एकल और बहुल, स्थायी और राजनीतिक, नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका। कार्यपालिका के गठन व कार्यकाल के सम्बन्ध में अलग–अलग सिद्धान्तों को अपनाया जाता है। कार्यपालिका का कार्य क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और क्रमिक रुप से उसमें वृद्धि होती जा रही है जिसके लिए कई कारण उत्तरदायी हैं।

समाज में विवादों को हल करने, कानून की व्याख्या करने और कानून का पालन कराने वाले सरकार के अंग को न्यायपालिका कहते हैं। विभिन्न देशों में न्यायपालिका का गठन अलग–अलग होता है और कार्यों में शासन प्रणाली के अनुरुप भिन्नता पायी जाती है। न्यायपालिका निष्पक्ष एवं निर्भीक होकर कार्य कर सके इस हेतु न्यायपालिका को स्वतंत्र रखने का प्रयास किया जाता है। इस हेतु न्यायाधीशों की नियुक्ति योग्यतानुसार करने, कार्यकाल को सुरक्षा प्रदान करने, पर्याप्त वेतन–भत्ते प्रदान करने आदि बातों का विशेष रुप से ध्यान रखा जाता है।

राज्य के स्वरुप पर ही सरकारों का प्रकार निर्भर करता है और इसीलिए विभिन्न प्रकार की सरकारों में समानता व असमानता स्पष्ट करने हेतु प्राचीन समय से आधुनिक समय तक सरकार के अनेक वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं जिन्हें परम्परागत व आधुनिक वर्गीकरण की दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। परम्परागत वर्गीकरण की श्रेणी में प्लेटा, अरस्तू, पोलिबियस, मान्टेस्क्यू के नाम प्रमुख हैं जबकि आधुनिक के अन्तर्गत मैरियट, लीकॉक और एलेन बाल प्रमुख हैं। सरकार के वर्गीकरण के उद्देश्य एवं उपयोगिता के अनुरुप वर्गीकरण के विभिन्न आधार हैं परन्तु यह निश्चित है कि कोई भी आधार या वर्गीकरण स्वयं में सम्पूर्ण नहीं है तथा वर्गीकरण के आधार पर आधुनिक समय की जटिलताओं का सामना

TESLA-024

करने वाली जटिल शासन प्रणालियों में स्पष्ट समानता व असमानता का वर्णन करना कठिन है।

11.8 शब्दावली

व्हिप (Whip) – विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा महत्वपूर्ण विषय पर मतदान के पक्ष या विपक्ष में मतदान हेतु निर्देश, आदेश जारी करना जिसकी अवहेलना दल विरोधी कार्य माना जाता है। व्हिप (सचेतक) उस व्यक्ति को भी कहते हैं जो दल के आदेशों एवं निर्देशों को दल के सदस्यों तक एवं सदस्यों के मत को दल तक पहुँचाने का माध्यम होता है।

लूट पद्धति (Spoil system) – अमेरिका में प्रचलित प्रणाली जिसमें सरकारी पद सत्ताधारी दल के समर्थकों में वितरित कर दिये जाते हैं और योग्यता कोई आधार नहीं है।

प्रदत्त विधायन – व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका या किसी अन्य संस्था को विधि निर्माण के लिए अधिकृत करना प्रदत्त विधायन कहा जाता है।

11.9 उपयोगी पुस्तकें

1. सी0बी0 गेना (2007) – तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. जे0सी0 जौहरी तथा सीमा जौहरी (2001) – आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
3. प्रभुदत्त शर्मा (2005), तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएं, कालेज बुक डिपो, जयपुर
4. ए0डी0 आर्शीवादम् एण्ड कृष्णकान्त मिश्रा (2001), राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली।
5. जी0ए0 आमण्ड एवं सी0बी0 पॉवेल, (1975), कम्पैरिटीव पॉलिटिक्स : ए डेवेलेपमेन्टल एप्रोच, एमेरिन्ड पब्लिशिंग कं0, नई दिल्ली

11.10 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) व्यवस्थापिका का अर्थ एवं गठन बताते हुए उसके कार्यों का उल्लेख कीजिए।

   (ब) कार्यपालिका से आप क्या समझते हैं? उसके कार्यों का उल्लेख कीजिए।

   (स) न्यायपालिका का अर्थ बताइए तथा उसके कार्यों का विश्लेषण कीजिए।

   (द) न्यायपालिका की स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं? न्यायपालिका की स्वतंत्रता के उपाय बताइए।

(य) द्विसदनीय व्यवस्थापिका के गुण एवं दोषों का विश्लेषण कीजिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) व्यवस्थापिका के पतन के कारण बताइए।

(ब) कार्यपालिका की शक्ति वृद्धि के कारण।

(स) सरकार के वर्गीकरण का आधार।

(द) अरस्तू का सरकार का वर्गीकरण।

(य) एलेन बाल का राज्य का वर्गीकरण।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) निम्न में से कहाँ द्विसदनीय व्यवस्थापिका नहीं है?

(i) चीन

(ii) भारत

(iii) इंग्लैण्ड

(iv) संयुक्त राज्य अमरीका

(ब) संयुक्त राज्य अमरीका की प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल है –

(i) 5 वर्ष

(ii) 4 वर्ष

(iii) 7 वर्ष

(iv) 2 वर्ष

(स) निम्न में से किस देश में बहुल कार्यपालिका का उदाहरण मिलता है –

(i) भारत

(ii) संयुक्त राज्य अमेरिका

(iii) स्विट्जरलैण्ड

(iv) इंग्लैण्ड

(द) निम्न में से किस शासन व्यवस्था का आवश्यक लक्षण स्वतंत्र, सर्वोच्च एवं निष्पक्ष न्यायालय है –

(i) एकात्मक शासन

(ii) संघात्मक शासन

(iii) संसदात्मक शासन

(iv) अध्यक्षात्मक शासन

(य) अरस्तू ने राज्य के शुद्ध एवं विशुद्ध कुल मिलाकर कितने प्रकार बताये हैं?

(i) 4

(ii) 3

(iii) 2

(iv) 6

(र) एलेन बाल द्वारा प्रतिपादित सरकार के वर्गीकरण के तीन मुख्य रुपों में से नहीं हैं –

(i) उदारवादी लोकतंत्र

(ii) सर्वाधिकारी शासन

(iii) स्वेच्छाचारी शासन

(iv) साम्यवादी शासन

11.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 11.3, 11.3.1 एवं 11.3.2 अंश

(ब) देखिए इकाई का 11.4 तथा 11.4.2 अंश

(स) देखिए इकाई का 11.5 तथा 11.5.2 अंश

(द) देखिए इकाई का 11.5.3 अंश

(य) देखिए इकाई का 11.3.3 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) इकाई का 11.3.4 अंश

(ब) इकाई का 11.4.3 अंश

(स) इकाई का 11.6.1 अंश

(द) इकाई का 11.6.2 अंश

(य) इकाई का 11.6.3 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (i)

(ब) (iv)

(स) (iii)

(द) (ii)

(य) (iv)

(र) (iv)

इकाई 12

लोकतंत्रीय सरकार

इकाई की रुपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 लोकतंत्र का विकास

12.3 लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा

- **12.3.1** निर्णय करने की विधि के रुप में लोकतंत्र
- **12.3.2** निर्णय लेने के सिद्धान्त के रुप में लोकतंत्र
- **12.3.3** आदर्शी मूल्यों के रुप में लोकतंत्र

12.4 लोकतंत्र के प्रकार

- **12.4.1** प्रत्यक्ष लोकतंत्र
- **12.4.2** अप्रत्यक्ष लोकतंत्र

12.5 लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोण

- **12.5.1** लोकतंत्र का उदारवाणी दृष्टिकोण
- **12.5.2** लोकतंत्र का अभिजात्यवादी दृष्टिकोण
- **12.5.3** लोकतंत्र का बहुलवादी दृष्टिकोण
- **12.5.3** लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

12.6 लोकतंत्रीय सरकार के गुण

12.7 लोकतंत्रीय सरकार के दोष

12.8 लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तें

12.9 सारांश

12.10 शब्दावली

12.11 उपयोगी पुस्तकें

12.12 सम्बन्धित प्रश्न

12.13 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

TESLA-024

12.0 उद्देश्य

सर्वाधिक लोकप्रिय शब्द लोकतंत्र के अनेक अर्थ हैं। इस इकाई के अध्ययन द्वारा आप –

- लोकतंत्र के विभिन्न अर्थों एवं व्याख्याओं को समझ सकेंगे।
- लोकतंत्रीय शासन की विशेषताओं की व्याख्या कर सकेंगे।
- लोकतंत्रीय शासन के गुण–दोषों को समझ सकेंगे।
- लोकतंत्रीय शासन के विभिन्न सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

लोकतंत्र शब्द राजनीति विज्ञान में प्राचीन यूनानी विचारकों के समझ से ही चर्चित रहा है। प्रारम्भ में यूनानी विचारकों प्लेटो एवं अरस्तू ने लोकतंत्र शासन प्रणाली को निकृष्ट शासन प्रणाली की श्रेणी में रखा परन्तु धीरे–धीरे अन्य शासन प्रणालियों के स्थान पर लोकतंत्र शासन की स्थापना होने लगी। वर्तमान समय में लोकतंत्र सर्वाधिक लोकप्रिय शब्द और शासन प्रणाली है। लोकतंत्र जितना स्वीकृत और लोकप्रिय शब्द है उसके अर्थ के सम्बन्ध में उतने ही मतभेद हैं। लोकतंत्र शासन प्रणाली की लोकप्रियता इतनी अधिक है कि कुछ ऐसे देश भी हैं जहाँ लोकतंत्र की स्थापना संदिग्ध है परन्तु वे देश स्वयं को सच्चा लोकतंत्र कहते हैं। लोकतंत्र की विकास यात्रा बहुत लम्बी है और लोकतंत्र के विषय में विभिन्न अर्थ और दृष्टिकोण प्रचलित हैं। कुछ विद्वान लोकतंत्र को सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक व्यवस्था के रुप में विश्लेषित करते हैं तो कुछ विद्वान इसे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले आदर्श मूल्यों का संग्रह कहते हैं।

इन्हीं विचारों की पृष्ठभूमि में इस इकाई के अन्तर्गत हम लोकतंत्र के विकास को समझते हुए अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन करेंगे। लोकतंत्र से सम्बन्धित सिद्धान्तों, विभिन्न दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करेंगे। लोकतंत्र शासन प्रणाली के प्रकार एवं गुण–दोषों का विश्लेषण करते हुए लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तों का अध्ययन करेंगे।

12.2 लोकतंत्र का विकास

लोकतंत्र के विकास का इतिहास बहुत पुराना है। प्राचीन यूनानी विचारकों में हेरोडोट्स ने लोकतंत्र को नागरिकों के अधिकारों की समानता पर आधारित बहुमत का शासन कहा था जिसमें राजनीतिक सत्ताधारी अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी हो। यूनानी विचारकों प्लेटो तथा अरस्तू ने यूनान के नगर राज्यों में सक्रिय लोकतंत्र को देखा था। प्लेटो ने लोकतंत्र को इस आधार पर अस्वीकार किया कि जनसाधारण इतने शिक्षित नहीं होते कि वे 'सर्वोत्तम शासक और सबसे बुद्धिमत्तापूर्ण नीतियों' का चयन कर सकें। अरस्तू ने लोकतंत्र को 'बहुत से व्यक्तियों के शासन' के रुप में पहचाना। उसने लोकतंत्र को निकृष्ट शासन की श्रेणी में रखा और कुलीनतंत्र और लोकतंत्र के मिश्रित रुप को स्वीकार किया जिसे उसने मिश्रित संविधान की संज्ञा प्रदान की। इन विचारकों ने लोकतंत्र को

अस्वीकार किया। तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों में सीमित आकार व जनसंख्या के कारण प्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रचलित था और नागरिकों की संख्या कम थी और गुलामों एवं स्त्रियों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। अरस्तू के अनुसार नागरिक वह होता था जो कानून निर्माण व न्याय प्रक्रिया में भाग लेता था। अतः यूनानी नगर–राज्यों में नागरिक कहे जाने वालों की संख्या समस्त जनसंख्या की 10–15 प्रतिशत से अधिक नहीं होती थी। यूनान के अतिरिक्त रोम में भी गणतंत्र था परन्तु जूलियस सीजर के उदय के बाद वह राजतंत्र में परिवर्तित हो गया। भारत में भी प्राचीन कालीन महाजनपदीय व्यवस्था (वैशाली में प्रमुख रुप से) में किसी न किसी रुप में लोकतंत्र विद्यमान बताया जाता है।

प्राचीन रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् गुलाम व्यवस्था का पतन हुआ और सामंतवादी व्यवस्था प्रारम्भ हुयी। मध्यकाल में लोकतंत्र का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मध्ययुग अन्धकार युग कहलाता है जहाँ राजनीति पर आस्था, सत्ता पर चर्च (ईसाई धर्म) तथा योग्यता पर वंश हावी था। ऐसी परिस्थितियों में लोकतांत्रिक व्यवस्था की कल्पना करना भी कठिन था। मध्यकालीन युग के अन्तिम चरण में जब राजनीति पर चर्च का आधिपत्य समाप्त हुआ, तभी कल्याणकारी शासन, प्रतिनिधित्व एवं समझौते की चर्चा प्रारम्भ हो गयी और यहीं से पश्चिमी लोकतंत्र का स्वरुप विकसित हुआ।

आधुनिक युग का आरम्भ पुनर्जागरण और धर्म सुधार आन्दोलनों से हुआ। अब व्यक्ति को चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बनाया गया और नए नैतिक मूल्यों, प्राकृतिक अधिकारों, स्वतंत्रता के विचार एवं लोकतंत्रीय विचारों का सूत्रपात हुआ। इंग्लैण्ड में सन् 1215 में मैग्नाकार्टा ने कुछ स्वतंत्रताओं के विचार का सूत्रपात किया था। सन् 1628 के अधिकार प्रतिवेदन ने राजाओं के अधिकार सीमित किए और सन् 1688 की गौरवमयी क्रान्ति तथा सन् 1689 के अधिकार पत्र ने शासकों के असीमित शक्तियों को कम कर उन्हें जनता के प्रति उत्तरदायी बनाया। इंग्लैण्ड में चार्ल्स प्रथम को फांसी दिया जाना और जेम्स द्वितीय का राजगद्दी छोड़कर भाग जाने की घटनाएं इसी समय की थीं जिसमें इस बात को पुष्ट किया कि शासन जनता द्वारा ही होना चाहिए। सन् 1776 के अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम और सन् 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति ने मानव अधिकारों तथा स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व की भावना को बल प्रदान किया। 1848 में गैर–आंग्ल–फ्रैंच यूरोपीय देशों में हुई क्रान्तियों तथा बाद में मताधिकारों के प्रसार ने इस बात को पुनः पुष्टि प्रदान की कि सरकार जनता की होनी चाहिए। सन् 1917 की सर्वहारा क्रान्ति के बाद से कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने लोकतांत्रिक सिद्धान्तों की शेष रही कमियों को पूरा कर दिया और यह स्वीकृत हो गया कि सरकार जनता के लिए होनी चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में कहें तो लोकतंत्र के विचार का उदय और विकास क्रम में सर्वप्रथम पश्चिम की परम्परा मूलतः गैरलोकतांत्रिक थी फिर उदार बनी और आगे चलकर प्रतिनिधि लोकतंत्र में परिवर्तित हुयी। पश्चिमी समाज में लोकतंत्र का विकास क्रम था–पहले सरकार पर नियंत्रण, बाद में सरकार के निर्माण में सहभागिता तत्पश्चात् सर्वकल्याणकारी राज्य। समाजवादी समाज में लोकतंत्र के विकास का क्रम उल्टा है – कल्याणकारी (समाजवादी राज्य) पहले फिर प्रशासकीय शासन में भागीदारी तथा उसके पश्चात् सरकार पर नियंत्रण। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् उपनिवेशवाद से मुक्त नव स्वतंत्र राज्यों (एशिया–अक्रीकी देशों में) लोकतंत्र के तीनों तत्व – सरकार के निर्माण में लोगों की सहभागिता, सरकार का लोगों के हित में कार्य करना और सरकार पर लोगों का नियंत्रण संविधान लागू होने के साथ एक साथ प्रारम्भ हुए।

TESLA-024

12.3 लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा

लोकतंत्र अंग्रेजी भाषा के 'डेमोक्रेसी' शब्द का पर्यायवाची है। शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से 'डेमोक्रेसी' ग्रीक भाषा के दो शब्दों 'डेमोस' (Demos) तथा क्रेशिया (Kratia) से मिलकर बना है। डेमोस का अर्थ जनता या लोक तथा क्रेशिया का अर्थ शक्ति या सत्ता या शासन होता है। अतः लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ जनता का शासन है। शब्द उत्पत्ति के अर्थ के आधार पर देखें तो लोकतंत्र के सम्बन्ध में अब्राहम् लिंकन की परिभाषा उचित प्रतीत होती है कि 'लोकतंत्र जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा शासन है।' लोकतंत्र एक बहुआयामी शब्द है और इस पर विद्वानों में मतभेद है। अतः लोकतंत्र शब्द की व्याख्या करते समय किसी न किसी रुप में इसके एक पक्ष की अनदेखी हो जाती है। राजनीतिक दृष्टि से लोकतंत्र राज्य व्यवस्था में जन सहभागिता की बात करता है। सामाजिक दृष्टि से यह सभी प्रकार के भेदभाव मिटाने की बात करता है और आर्थिक दृष्टि से सभी प्रकार से शोषण से मुक्ति का समर्थन करता है। इस प्रकार लोकतंत्र की अनेक प्रकार से व्याख्या की जाती है। कुछ विद्वानों द्वारा लोकतंत्र की दी गयी परिभाषा इस प्रकार है – प्रो0 डायसी के अनुसार 'लोकतंत्र शासन का वह रुप है जिसमें शासक समुदाय सम्पूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग हो।' प्रो0 ब्राइस के अनुसार – 'लोकतंत्र वह व्यवस्था है जिसमें राज्य की प्रशासनिक शक्तियाँ किसी वर्ग अथवा वर्गों तक सीमित न होकर समाज के सभी सदस्यों में निहित होती हैं।' कुछ विद्वान लोकतंत्र को शासन से अधिक व्यापक रुप में देखते हैं। गिडिंग्स का कहना है कि –प्रजातंत्र केवल सरकार का ही रुप नहीं है वरन् राज्य व समाज का रुप अथवा इन तीनों का मिश्रण भी है।' मैक्सी के अनुसार 'बीसवीं सदी में प्रजातंत्र से तात्पर्य एक राजनीतिक नियम, शासन की विधि व समाज के ढ़ाँचे से ही नहीं है, वरन् यह जीवन के उस मार्ग की खोज है जिसमें मनुष्य की स्वतंत्र एवं ऐच्छिक बुद्धि के आधार पर उसमें अनुरुपता एवं एकीकरण लाया जा सके। भारतीय विद्वान् डॉ0 बेनी प्रसाद के अनुसार – 'प्रजातंत्र जीवन का एक ढंग है। इसका मूलाधार यही है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रसन्नता का मूल्य उतना ही है जितना किसी अन्य व्यक्ति की प्रसन्नता का और किसी की प्रसन्नता के लिए किसी अन्य व्यक्ति को साधन नहीं समझना चाहिए।'

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि लोकतंत्र एक विशद् विचार है। यह कुछ आदर्शों का समुच्चय है। यह एक प्रकार की शासन प्रणाली है, सामाजिक व्यवस्था है, विशिष्ट प्रकार का आर्थिक तंत्र है, जीवन की एक विशेष शैली है तथा नैतिक आदर्श है। लोकतंत्र की अवधारणा या प्रत्यय के रुप में इसके तीन अन्तः सम्बन्धित अर्थ बताये जाते हैं :–

1. यह निर्णय करने की विधि है।
2. यह निर्णय लेने के सिद्धान्तों का समूह है।
3. यह आदर्श परक मूल्यों का समूह है।

12.3.1 निर्णय करने की विधि के रुप में लोकतंत्र

लोकतांत्रिक ढंग से लिये गये निर्णयों में निम्न तत्व सम्मिलित होते हैं –

(क) लोकतंत्र में निर्णय करने की विधि का अर्थ आपसी विचार–विमर्श, अनुनयन एवं सहमति से निर्णय लेना है।

(ख) विचार–विमर्श और सहमति की निर्णय प्रक्रिया में जन–सहभागिता होनी चाहिए। जनसहभागिता नियत–कालिक निर्वाचन एवं मताधिकार के द्वारा सुनिश्चित हो सकती है इसके लिए सभी को समान अवसर प्रदान करना चाहिए।

(ग) जनसहभागिता से निर्णय लेने पर बहुमतता का तत्व सम्मिलित किया जाता है क्योंकि किसी निर्णय पर जनसहमति बन पाना आवश्यक नहीं है और ऐसी स्थिति में बहुमत का निर्णय मान्य होता है।

(घ) निर्णय प्रक्रिया को लोकतंत्रात्रिक बनाने के लिए संविधान में निम्न व्यवस्थाएं होनी चाहिए – प्रतियोगी पसंद के अनेक विकल्प, मताधिकार की पूर्ण समानता, निर्वाचन व निर्वाचित होने की पूर्ण समानता तथा प्रतिनिधित्व की अधिकतम समरुपता।

(ङ) बहुमत से लिये गये निर्णयों में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा होना भी आवश्यक है।

12.3.2 निर्णय लेने के सिद्धान्त के रुप में लोकतंत्र

समाज में लिये गये राजनीतिक निर्णयों का कुछ सिद्धान्तों पर आधारित होना आवश्यक है जिससे निर्णयों में समरुपता व दिशात्मक एकता बनी रहे। यह सिद्धान्त इस प्रकार हैं –

(क) निर्णय लेने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही सम्पादित होना चाहिए अतः प्रतिनिधि सरकार होनी चाहिए।

(ख) उत्तरदायी सरकार होनी चाहिए अर्थात् यदि शासक उत्तरदायित्व न निभाये तो उन्हें हटाने की व्यवस्था होनी चाहिए जो स्वतंत्र एवं नियतकालिक निर्वाचन द्वारा संभव है।

(ग) सरकार का संवैधानिक होना आवश्यक है। सरकार की संरचना व्यवस्था व कार्य प्रणाली संविधान में उल्लिखित होनी चाहिए तथा संविधान द्वारा सीमित व नियंत्रित होनी चाहिए। शासन स्वेच्छा से नहीं वरन् विधि अनुसार संचालित होना चाहिए।

(घ) प्रतियोगी राजनीति का होना आवश्यक है क्योंकि लोकतंत्र में व्यक्ति को राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है जो व्यावहारिक रुप में प्रतियोगी राजनीति में परिवर्तित हो जाती है। प्रतियोगी राजनीति हेतु राजनीतिक गतिविधियों की पूर्ण स्वतंत्रता, दो या दो से अधिक प्रतियोगी दलों या समूहों की विद्यमानता, सर्वव्यापी व्यस्क मताधिकार, प्रतिनिधित्व की अधिकतम एकरुपता और नियतकालिक निर्वाचन व्यवस्था होनी चाहिए।

(ङ) लोकप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त अर्थात्, राज्य में जनता सर्वोपरि एवं संप्रभु है और उसकी ही इच्छानुसार राज्य शक्ति का प्रयोग होना चाहिए और सरकार जनता के प्रति ही उदारदायी होनी चाहिए।

12.3.3 आदर्शी मूल्यों के रुप में लोकतंत्र

आदर्शी मूल्य लोकतंत्र का आधार हैं। लोकतंत्र के आधारभूत मूल्य निम्न हैं :–

(क) व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान होना चाहिए अर्थात् हर व्यक्ति को स्वतंत्रता, समानता एवं अभिव्यक्ति के माध्यम से विकास के पर्याप्त अवसर मिलने चाहिए।

(ख) लोकतंत्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता होनी चाहिए परन्तु नियंत्रित एवं मर्यादित स्वतंत्रता जिससे समाज की इकाई के रुप में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास हो और व्यक्तिगत व्यक्तित्व का सम्मान हो सके।

(ग) मनुष्य की विवेकशीलता में विश्वास रखते हुए विशेष प्रयत्नों द्वारा मनुष्य की भावनाओं को विवेक आधारित निर्णयों में परिवर्तित करना।

(घ) समानता अर्थात् राजनीतिक समाज में ऐसी परिस्थितियों का होना जिसके कारण सब व्यक्तियों को व्यक्तित्व के विकास को समान अवसर प्राप्त हो सकें। राजनीतिक समानता के रुप में सभी वयस्क नागरिक को समान नागरिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। नागरिक समानता द्वारा किसी भी व्यक्ति के साथ किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए तथा आर्थिक समानता अर्थात् सम्पत्ति का उचित वितरण जिससे किसी के व्यक्तित्व विकास में बाधा उत्पन्न न हो।

(ङ) लोकतांत्रिक व्यवस्था न्याय पर आधारित होनी चाहिए। न्याय की व्यवस्था हेतु स्वतंत्रता, समानता और व्यक्तिगत व्यक्तित्व को सम्मान करने की संस्थागत व्यवस्थाएं होनी चाहिए।

(च) विधि का शासन या संविधानवाद लोकतंत्र का आदर्श मूल्य है। संविधानवाद अर्थात् केवल संविधान के अनुसार शासन संचालन नहीं वरन् निरंकुश शासन के विपरीत नियमानुकूल शासन जिसमें मनुष्य की आधारभूत मान्यताओं, आस्थाओं और मूल्यों की व्यवहार में उपलब्धि सम्भव हो।

इस प्रकार लोकतंत्र को कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है और कम या अधिक मात्रा में सभी स्वीकार करते हैं कि लोकतंत्र समानता, स्वतत्रंतता, भ्रातृत्व, न्याय, व्यक्ति के विवेक में विश्वास रखने वाली, शान्तिपूर्ण परिवर्तनों को स्वीकारने तथा संवैधानिक साधनों का प्रयोग करने वाली शासन प्रणाली है।

12.4 लोकतंत्र के प्रकार

लोकतंत्र के प्रारम्भ से लेकर अब तक इसके दो रुप प्रचलित हैं – 1. प्रत्यक्ष लोकतंत्र, 2. अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यिात्मक लोकतंत्र।

12.4.1 प्रत्यक्ष लोकतंत्र

प्रत्यक्ष लोकतंत्र में जनता स्वयं ही शासन कार्यों में भाग लेती है, नीति निर्माण और विधि निर्माण करती है। प्रत्यक्ष प्रजातंत्र के अन्तर्गत नागरिक स्वयं एक स्थान पर एकत्रित होकर विधि निर्माण का कार्य करते हैं। प्राचीन काल में यूनान तथा रोम के राज्यों में यह शासन प्रणाली प्रचलित थी। बौद्धकालीन भारत के बज्जि संघ में भी यह प्रणाली प्रचलित थी। आज के विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र संभव नहीं है। स्विट्जरलैण्ड के दो छोटे प्रान्तों (कैन्टनों) अपेंजेल (Appenzellinnerrhoden), ग्लेरियस (Glarius) में वयस्क नागरिक अपने सार्वजनिक अधिकारियों का निर्वाचन करने, करों पर मतदान करने तथा प्रशासनिक एवं विधायी

विनियमों को पारित करने हेतु खुली जनसभा में एकत्रित होते हैं जिन्हें लैण्डसजीमाइन्ड (Landsgemeinde) कहा जाता है। आधुनिक राज्यों में प्रत्यक्ष प्रजातंत्र की कुछ संस्थाएं प्रकट हुई हैं –

(क) **उपक्रम (Initiative)** – इसे आरम्भक या पहल (Initiative) भी कहते हैं। यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा लोग नए कानून बनाने अथवा संविधान में संशोधन करने का प्रस्ताव रखते हैं। मतदाताओं की निर्दिष्ट जनसंख्या की माँग और उनके द्वारा तैयार विधेयक पर व्यवस्थापिका को विचार करने अथवा अपेक्षित जन सहमति हेतु रखने की पहल की जाती है। स्विट्जरलैण्ड में यह केन्द्रीय व प्रान्तीय स्तरों पर प्रचलित है।

(ख) **जनमत संग्रह (Refrehdum)** – व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी विधि या निर्णय को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने की प्रक्रिया को जनमत संग्रह कहते हैं। इस प्रकार जनमत संग्रह के आधार पर जनता प्रत्यक्ष रुप से शासन कार्यों में भाग ले सकती है। जनमत संग्रह दो प्रकार का हो सकता है अनिवार्य और ऐच्छिक। आस्ट्रेलिया, आयरलैण्ड, इटली, न्यूजीलैण्ड तथा फ्रांस में जनमत संग्रह संवैधानिक प्रस्तावों हेतु प्रयोग में लाया जाता है। स्विट्जरलैण्ड में व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी महत्वपूर्ण विधेयक को अन्तिम पुष्टि के लिए मतदाताओं के सम्मुख रखा जाना आवश्यक है।

(ग) **लोकनिर्णय (Plebescite)** – लोकनिर्णय का अर्थ है जनता का आदेश। लोकनिर्णय द्वारा महत्वपूर्ण राजनीतिक मुद्दों पर प्रत्यक्ष रुप से जनादेश प्राप्त किया जा सकता है। इसे प्रायः जनमत संग्रह का पर्यायवाची मान लिया जाता है। जनमत संग्रह में जनता को विधि को स्वीकारने या अस्वीकारने का अधिकार रहता है परन्तु लोकनिर्णय किसी विशेष विषय पर जनता की राय जानने का साधन है। लोकनिर्णय राजनीतिक प्रश्न या समस्या से सम्बन्धित होते हैं।

(घ) **प्रत्यावर्तन (Recall)** – प्रत्यावर्तन या प्रत्याह्वान प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसका अर्थ है कि यदि मतदाताओं का बहुमत ठीक समझें तो वह किसी भी चुने हुए प्रतिनिधि को उसके व्यवहार पर असंतुष्ट होने पर वापस बुलाने या उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति को चुनने का अधिकार है। संयुक्त राज्य अमरीका के 18 राज्यों में, कनाडा के ब्रिटिश कोलंबिया राज्य में तथा वेनेजुएला में प्रचलित है। वर्तमान में भारत में भी इसकी माँग की जा रही है और राजस्थान में नगरपालिका स्तर पर इसका प्रयोग भी किया गया है। राजस्थान के मंग्लौर नगरपालिका बारन के अध्यक्ष श्री अशोक जैन के विरुद्ध दिसम्बर 12, 2012 में इसका प्रयोग करते हुए मतदान कराया गया। हालाँकि मतदान श्री जैन के पक्ष में ही रहा।

12.4.2 अप्रत्यक्ष लोकतंत्र

आज के समय में विशाल राज्य और जटिल समाज में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की प्राप्ति संभव नहीं है। अतः आज अप्रत्यक्ष लोकतंत्र या प्रतिनिधि लोकतंत्र को अपनाने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं है। अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में राजनीतिक सम्प्रभुता जनता में निहित होती है परन्तु इसके प्रयोग का अधिकार उन प्रतिनिधियों को प्राप्त होता है जो जनता द्वारा निर्वाचित और जनता के प्रति ही उत्तरदायी हों। अतः इसे प्रतिनिधि लोकतंत्र भी कहा जाता है। इस व्यवस्था में यह

TESLA-024

माना जाता है कि समस्त जनता स्वयं शासन कार्यों में भाग नहीं ले सकती परन्तु उनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का छोटा समूह विधिक एवं शासन के कार्यों में जनता का प्रतिनिधित्व करता है। प्रतिनिधि लोकतंत्र की प्रचलित पद्धति के अनुसार निर्वाचन का अधिकार वयस्क नागरिकों को ही होता है और निर्वाचन साधारणतः बहुमत के आधार पर होता है। परन्तु जब कोई प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाता है तो वह केवल बहुमत का प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् अपने निर्वाचन क्षेत्र के समस्त नागरिकों का प्रतिनिधित्व करता है और उन सबकी इच्छाओं और हितों का प्रतिनिधित्व करना उसका दायित्व हो जाता है।

अप्रत्यक्ष एवं प्रतिनिधि लोकतंत्र की कुछ अनिवार्य विशेषताएं होती हैं जो संक्षेप में निम्न हैं –

1. सार्वजनिक वयस्क मताधिकार अर्थात् निर्धारित न्यूनतम आयु पूर्ण करने वाले प्रत्येक नागरिक को भाषा, धर्म, जाति, लिंग, वर्ण या अन्य किसी भी प्रकार के भेदभाव के बिना मतदान का अधिकार।

2. स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं सामयिक निर्वाचन अर्थात मतदाता निर्भीक होकर मतदान कर सकें और निर्वाचन निश्चित समयान्तराल पर होते रहें। ये निर्वाचन हर प्रकार के भ्रष्टाचार एवं दोषपूर्ण तरीकों से मुक्त हों।

3. स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धी राजनीतिक दलों तथा हितबद्ध समूहों की उपस्थिति क्योंकि इन्हीं के द्वारा जनमत का निर्माण किया जा सकता है और इनके मध्य सत्ता हस्तान्तरण से निरंकुशता पर रोक लगती है।

4. न्यायपालिका की स्वतंत्रता सबसे महत्वपूर्ण है। न्यायपालिका की स्वतंत्रता अर्थात् न्यायाधीशों का निर्वाचन योग्यतानुसार होना चाहिए, वरिष्ठता एवं कार्यकुशलता के आधार पर पदोन्नति, कार्यकाल की स्थिरता, गम्भीर आरोपों पर हटाने की कठिन प्रक्रिया आदि माध्यमों से न्यायपालिका को स्वतंत्र रखने का प्रयास होना चाहिए।

5. प्रेस एवं जनसंचार के समस्त साधनों की स्वतंत्रता आवश्यक है। इन साधनों पर प्रतिबन्ध की अनुपस्थिति जनता को गम्भीर सार्वजनिक महत्व के मामलों से अवगत कराने में सहायक होगी और स्वस्थ जनमत निर्माण में अपना योगदान देगी। प्रेस एवं प्रसार माध्यम वे साधन हैं जो जनता की आंकाक्षाओं एवं हितों की सूचना शासन तक और शासन की नीतियों और कार्यों को जनता तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

इस प्रकार यदि डायसी के शब्दों में कहें तो प्रतिनिधि लोकतंत्र वह है जो कानून के शासन की स्थापना करे, लोगों की अनिवार्य स्वतंत्रतताओं की गारंटी प्रदान करे तथा मानव जाति की समानता के सिद्धान्त का क्रियान्वयन करे।

12.5 लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोण

इस इकाई में अब तक के अध्ययन में यह स्पष्ट हो चुका है कि लोकतंत्र एक विशद एवं व्यापक शासन प्रणाली है जिसके विषय में समय–समय पर विचारकों ने अलग–अलग मत व्यक्त किये हैं। लोकतंत्र के आदर्शों और सिद्धान्तों तथा व्यावहारिकता में विभिन्न देशों में भिन्नता पायी जाती है। अतः लोकतंत्र के सम्बन्ध में विचारों में बहुत अन्तर आ गये हैं और वे सिद्धान्तों और मूल्यों में भी परिलक्षित होने लगे हैं जो अलग–अलग दृष्टिकोण के रुप में उभर कर सामने

आये हैं। लोकतंत्र सम्बन्धी प्रमुख दृष्टिकोण हैं –उदारवादी दृष्टिकोण, अभिजात्यतंत्री दृष्टिकोण, बहुलवादी दृष्टिकोण और मार्क्सवादी दृष्टिकोण।

12.5.1 लोकतंत्र का उदारवादी दृष्टिकोण

प्रायः जब लोकतंत्र की बात की जाती है तो हमारे सम्मुख उदारवादी दृष्टिकोण आता है। उदारवाद के क्लासिकी सिद्धान्त को परम्परागत, प्रतिष्ठित या लोकप्रिय दृष्टिकोण भी कहते हैं। लोकतंत्र का उदारवादी दृष्टिकोण लगभग पिछली तीन शताब्दियों के विकास का परिणाम है। पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार आन्दोलनों के फलस्वरुप व्यक्ति को महत्व प्रदान करते हुए उसे ही समस्त विचार का केन्द्र–बिन्दु माना गया। हॉब्स (1588–1679) ने स्पष्ट रुप से इसी आधार पर राज्य, सरकार व अन्य मानवीय संस्थाओं को व्यक्तियों के आपसी समझौते के फलस्वरुप उत्पन्न बताया। जॉन लॉक (1632–1704) ने राजनीतिक सत्ता को जनता की सहमति पर आधारित बताया और इसे सत्ताधारियों के हाथों में जनता की अमानत बताया। लॉक ने जनता के प्राकृतिक अधिकारों तथा राज्य के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार का समर्थन किया। 1649 तथा 1688 की इंग्लैण्ड की क्रान्तियों ने राजा की निरंकुश शक्तियों को सीमित किया और संसद की सर्वोच्चता स्थापित की। लॉक के संवैधानिक तथा सीमित सरकार, शक्तियों के विभाजन, बहुमत के शासन आदि अस्पष्ट विचारों को 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में राजनीति के अन्य विद्वानों, दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञों ने व्यावहारिक रुप तथा संस्थात्मक आधार प्रदान किया।

18वीं शताब्दी में व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रखने और सरकार की निरंकुशता पर रोक लगाने के लिए मान्टेस्क्यू ने शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त तथा रुसो ने 'सामान्य इच्छा' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अमरीका (1776) तथा फ्रान्स की क्रान्तियों ने लोकतंत्र को व्यावहारिक रुप प्रदान किया। अमरीकी संविधान उदारवादी लोकतंत्र के लिए मील का पत्थर साबित हुआ। एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस आदि अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को अस्वीकार कर सीमित सरकार की अवधारणा दी तथा धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप अस्वीकार कर धर्मनिर्पेक्ष राज्य की अवधारणा प्रदान की। 19वीं शताब्दी में उपयोगितावादी दार्शनिकों बेंथम, जेम्स मिल, जे0एस0 मिल ने लोकतंत्र का समर्थन अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के आधार पर किया। बेंथम ने स्पष्ट रुप से प्रतिनिधि सरकार और वयस्क मताधिकार का विचार प्रस्तुत किया। जे0एस0 मिल ने लोकतंत्र के नैतिक पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लोकतंत्र को मानव के चहुँमुखी विकास का साधन बताया। लोकतंत्र के आदर्शों एवं विकासवादी प्रकृति पर मिल की रचनाएं सर्वोत्तम मानी जाती हैं। मिल के विचारों के आधार पर टी0एच0 ग्रीन और 20वीं शताब्दी में लिंडसे, हॉबहाउस, बार्कर, लास्की, मैकाइवर, डेबी, पिनोक ने लोकतंत्र के विकासवादी पक्ष का समर्थन किया। बीसवीं शताब्दी में वयस्क मताधिकार मिला और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की माँग के अनुरुप राज्य के आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप को स्वीकार किया गया और उदारवादी कल्याणकारी धारणा सामने आई।

उदारवादी दृष्टिकोण में व्यक्ति और उसके अधिकार को केन्द्र बिन्दु मानकर विचार प्रतिपादित किये गये जिसके फलस्वरुप लोकतंत्र को शासन के एक स्वरुप, राज्य के रुप में एक व्यवस्था, समाज के विशाल रुप, नैतिक प्रारुप, आर्थिक आधारशिला, जीवन की महत्वपूर्ण कार्यशैली के रुप में प्रस्तुत किया गया। संक्षेप में इस दृष्टिकोण के मूलभूत तत्व निम्न हैं –

TFSLA-024

1. शासन व्यवस्था का संचालन जनता द्वारा होना चाहिए।
2. व्यक्ति राजनीतिक, विवेकशील प्राणी है। उसमें अपना अच्छा–बुरा समझने की क्षमता है, अतः सभी व्यक्ति समान हैं।
3. जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को बहुमत के आधार पर शासन कार्य करना चाहिए।
4. शासन की शक्ति का आधार जन इच्छा होनी चाहिए।
5. जनता के प्रति सरकार को उत्तरदायी होना चाहिए।
6. शासन सत्ता जनता की धरोहर है अतः जनप्रतिनिधि को जनकल्याण सम्बन्धी कार्य करने चाहिए।
7. विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता होनी चाहिए।
8. सरकार मर्यादित एवं सीमित होनी चाहिए।
9. जनता का सर्वोन्मुखी विकास सरकार का लक्ष्य होना चाहिए।
10. जनमत का सम्मान होना चाहिए।

इस प्रकार उदारवादी दृष्टिकोण ने पूंजीवाद के प्रथम चरण में विकास करते हुए सामंत शाही और राजतंत्र के विरुद्ध तुलनात्मक दृष्टि से अच्छी सरकार की स्थापना का समर्थन किया। व्यक्ति के विकास के लिए विभिन्न साधन जुटाने का भरपूर समर्थन करता रहा परन्तु उदारवाद की मान्यताएं पूंजीवादी बाजार, समाज तथा अर्थव्यवस्था से जुड़ी होने के कारण इसके आदर्श प्रभावी व्यावहारिक रुप न ग्रहण कर सके और इसकी आलोचना के फलस्वरुप अभिजात्यतंत्री बहुलवादी तथा मार्क्सवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया।

12.5.2 लोकतंत्र का अभिजात्यवादी दृष्टिकोण

लोकतंत्र के उदारवादी (शास्त्रीय) दृष्टिकोण की व्यावहारिक असफलता को दृष्टिगत रखते हुए अनुभववादी विचारकों ने अभिजात्यवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इसे विशिष्टवर्गीय या कुलीनतंत्रीय दृष्टिकोण भी कहा जाता है। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इटली के दो प्रसिद्ध समाज वैज्ञानिकों विल्फ्रेड पैरेटो (1848–1923) और गेतानो मोस्का (1858–1941) ने कहा कि किसी भी समाज या संगठन में निर्णय कुछ गिने चुने लोग ही करते हैं चाहे उस संगठन का बाहरी रुप कैसा भी क्यों न हो। एक अन्य विचारक राबर्ट मिशेल्स ने 'अल्पतंत्र का लौह नियम' (Iron Law of Oligarchy) का वर्णन करते हुए कहा कि जनता कि 'इच्छा', 'जनहित', 'बहुमत का शासन', 'उत्तरदायी सरकार', 'सार्वजनिक प्रभुसत्ता', के नारे जनता को बहलाने, फुसलाने, मूर्ख बनाने और मत प्राप्त करने के लिए नेता लोग अपनाते हैं परन्तु वास्तव में शासन अल्पमत के सक्षम लोगों का ही होगा, असक्षम बहुमत का नहीं।

प्रारम्भ में अभिजात्य वर्ग का विचार समाजवाद तथा लोकतंत्र दोनों के विरोध में प्रतिपादित किया गया था। इसकी मान्यता था कि योग्यता के आधार पर व्यक्तियों में समानता होती है तथा शासन हमेशा अल्पमत वालों का होता है बहुमत का नहीं। किन्तु बीसवीं शताब्दी में शूम्पीटर, डाहल, सारटोरी, मैनहाइम आदि लेखकों ने अभिजात्यवर्गीय सिद्धान्त तथा लोकतंत्र में समन्वय स्थापित किया और कहा कि यदि अभिजात्यवर्ग में अदला–बदली तथा जनता के मतों के लिए

प्रतियोगिता हो तो यह लोकतंत्र होगा। शुम्पीटर ने अपनी पुस्तक 'कैपीटलिज्म, सोशलिज्म एंड डेमोक्रेसी' (1942) में अभिजात्यवादी लोकतंत्र की निम्न विशेषताएं बताई हैं –

1. अभिजात्य वर्ग का लोकतंत्र के मापदंडों में पूर्ण विश्वास हो। इसे इस बात का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि निर्वाचन मंडल की इच्छा तक ही उसकी शक्ति बनी रह सकती है।

2. अभिजात्य वर्गों और जनसामान्य के बीच पारस्परिक सम्पर्क एवं संबंध के आधार पर ही लोकतांत्रिक अभिजात्यतंत्र आधारित होता है।

3. अभिजात्य वर्ग के लोग सामान्य जनता के साथ मिलजुल कर रहते हैं।

4. विभिन्न समूहों के बीच निरन्तर और प्रभावपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा बनी रहती है।

5. जन साधारण को नीति निर्धारण और प्रशासन आदि के कार्यों को अभिजात्य वर्ग द्वारा सम्पादित करने में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

6. राजनीतिक और सामाजिक मामलों में अभिजात्य वर्ग की योग्यताओं और अनुभवों पर किसी को संशय नहीं होता।

अभिजात्यवादी दृष्टिकोण के अनुसार शासन जनता के द्वारा न होकर जनता के लिए हो सकता है और लोकतंत्र में शासन मात्र अभिजात्य या विशिष्ट वर्ग के हाथों में रहता है। जनता निर्वाचन द्वारा जिन्हें अपना प्रतिनिधि या शासक चुनती है वह अभिजात्य वर्ग के ही होते हैं और यदि अभिजात्य वर्ग न हो तो लोकतंत्र भीड़तंत्र में परिवर्तित हो जायेगा। यह दृष्टिकोण लोकतंत्र को अभिजात्य वर्गों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष से अधिक नहीं मानता। विभिन्न विचारकों ने अभिजात्य वर्ग के लिए अलग–अलग शब्दों का प्रयोग किया है यथा पैरेटो ने शासक अभिजात्य वर्ग (governing elite), मोस्का ने राजनीतिक वर्ग (Political Class), मिल्स ने शक्ति अभिजात्य वर्ग (Power elite) शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ लोग इसका साधारण अर्थ नेतृत्व से लेते हैं।

अभिजात्यवादी दृष्टिकोण की आलोचना की जाती है और इसके मुख्य आलोचकों में डंकन और ल्यूक्स, डेविस, बॉटमोर, गोल्डस्मिथ, बाकर आदि प्रमुख हैं। इस दृष्टिकोण की आलोचना के मुख्य बिन्दु निम्नानुसार हैं–

1. इस सिद्धान्त में व्यक्ति की समानता का कोई महत्व नहीं है।

2. यह जनसामान्य को लोकतंत्र से दूर रखकर लोकतंत्र को मूल्यहीन बनाता है।

3. ऐसी व्यवस्था में नेता वर्ग केवल अपने अनुयायियों के प्रति संवेदनशील होते हैं अतः जनकल्याण की भावना का अभाव रहता है।

4. यह विचारधारा और मूल्यों को महत्वपूर्ण नहीं मानता और व्यक्ति को साधन तथा राजनीतिक व्यवस्था को साध्य मानता है।

5. अभिजात्य वर्ग की उच्च योग्यता का आधार इस दृष्टिकोण में स्पष्ट नहीं है तथा इस वर्ग में अदला–बदली का नियम मजबूत नहीं है।

12.5.3 लोकतंत्र का बहुलवादी दृष्टिकोण

बहुलवादी लोकतंत्र से तात्पर्य है एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था जिसमें विभिन्न समूहों एवं हितों के आपसी सलाह मशविरे से नीति–निर्धारण होता हो, जिसमें शक्ति का विकेन्द्रीकरण हो, जिसमें समाज के सभी हितों को सत्ता में हिस्सा मिलता रहे। लोकतंत्र के बहुलवादी सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए राबर्ट प्रेस्थस ने कहा है कि 'बहुलवादी लोकतंत्र एक ऐसी सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें विभिन्न गैर सरकारी समूहों, दबाव संगठनों तथा इन संगठनों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों का राज्य की शक्ति में हिस्सा हो। इस व्यवस्था में राजनीतिक शक्ति सरकार की विभिन्न शाखाओं में बँटी तथा बिखरी रहती है और इसमें राज्य तथा विभिन्न गैर सरकारी समूहों और व्यक्तियों की साझेदारी होती है।' बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में यह माना जाने लगा था कि राजनीति में व्यक्ति अकेला नहीं बल्कि समान हितों वाली संस्थाओं और समूहों के माध्यम से भाग लेता है। अमेरिका एवं पाश्चात्य यूरोप की शासन व्यवस्था को विद्वान बहुलवादी लोकतंत्र की श्रेणी में रखते हैं। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों में मारिस दुवर्जर, रॉबर्ट ए0 डाहल, लोवेन्स्टीन, लिपसेट आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बहुलवादी दृष्टिकोण का सार सत्ता का विकेन्द्रीकरण है। दुवर्जर ने इसे निर्णय के विभिन्न केन्द्रों वाली व्यवस्था माना है जबकि राबर्ट ए0 डाहल ने इसे 'बहुतंत्र' (Polyarchy) कहा है। लोकतंत्र का बहुलवादी दृष्टिकोण जनपुंज समाज को अस्वीकारता है और यह मानता है कि सामाजिक संगठन में विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली बहुत सी संस्थाएँ एवं संगठन होते हैं। अकेले व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को राजनीति में उचित हिस्सा नहीं मिल सकता है। अतः सबसे प्रमुख यह है कि व्यक्ति राजनीति में प्रतिभागिता केवल संगठन व समूहों के माध्यम से कर सकता है। बहुलवादी लोकतंत्र के समर्थकों का मानना है कि सरकार के विभिन्न अंगों में सत्ता बँटी होनी चाहिए तथा एक अंग दूसरे अंग को नियंत्रित करने की स्थिति में होना चाहिए। यह सत्ता के विकेन्द्रीयकरण में विश्वास रखता है। राज्य और जनता के मध्य दूरी को विभिन्न संगठन कम करते हैं तथा जनता एवं जनसंगठनों को राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए क्योंकि नीति निर्धारिण में उनसे सलाह ली जाती है। लोकतांत्रिक बहुलवाद के लिए राजनीतिक व्यवस्था खुली होनी चाहिए तथा विभिन्न संगठनों को बिना किसी भेदभाव के सत्ता में हिस्सा मिलना चाहिए।

इस प्रकार यह दृष्टिकोण लोकतंत्र के शास्त्रीय एवं विशिष्टवर्गीय दृष्टिकोण का समन्वय करता है। परन्तु इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचना की गयी है–

1. यह दृष्टिकोण समूहों एवं दबाव गुटों को महत्व देकर व्यक्ति की उपेक्षा करता है।
2. इसमें राजनीति गुटों में परिवर्तित हो जाती है जो लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत है।
3. यह दृष्टिकोण मात्र सैद्धान्तिक महत्व का हो गया है क्योंकि व्यवहार में विभिन्न समूहों में भी नियंत्रण कुछ विशिष्ट लोगों के हाथों में ही रहता है।
4. मार्क्सवादियों की आलोचना का आधार है कि वर्ग विभाजित समाज में सत्ता पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित रहती है तथा मजदूर वर्ग को हिस्सा प्राप्त नहीं होता। इनमें सलाह–मशविरा द्वारा सामंजस्य सम्भव नहीं है।

अतः मार्क्सवाद के अनुसार एक पूंजीवादी समाज में न तो सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो सकता है और न ही बहुल लोकतंत्र संभव है।

12.5.4 लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

लोकतंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा कार्लमार्क्स और लेनिन के विचारों पर आधारित है। इसे जनवादी लोकतंत्र भी कहा जाता है। मार्क्सवादी लोकतंत्र का अध्ययन करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि मार्क्सवादी विचारक किन आधारों पर उदारवादी लोकतंत्र की आलोचना करते हैं। मार्क्सवादी विचारकों का मूलभूत बिन्दु है कि वर्ग विभाजित समाज में वास्तविक लोकतंत्र की प्राप्ति संभव नहीं है। उनका मानना है कि वर्ग विभाजित समाज में राजनीतिक शक्ति केवल उन कुछ लोगों के हाथ में होती है जिनका उत्पादन और वितरण के साधनों पर स्वामित्व होता है। मार्क्सवादियों का मानना है कि उदारवादी लोकतंत्र में वास्तव में बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकतंत्र होता है। राज्य का यह छोटा समूह (बुर्जुआ) ही इस व्यवस्था में लाभ की स्थिति में रहता है। मार्क्सवादियों का कहना है कि यद्यपि उदार लोकतंत्र 'जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा' शासन कहा जाता है परन्तु वास्तव में ऐसे राज्यों में विशाल जनसमूह या जनसामान्य सबसे ज्यादा उपेक्षित और शोषित होते हैं। अगर वास्तव में यह जनता की सरकार है तो ऐसे राज्यों में जनता अत्यधिक निर्धनता में जीवन यापन क्यों करती है? मार्क्सवादियों का मानना है कि जब तक आर्थिक समानता स्थापित नहीं होगी तब तक सामान्यजन के लिए लोकतंत्र का कोई महत्व नहीं है। संक्षेप में मार्क्सवादी लोकतंत्र के समर्थकों द्वारा उदारवादी लोकतंत्र की निम्न आलोचना की जाती है –

1. उदार लोकतंत्र पूंजीपति वर्ग के हितों की ही पूर्ति करता है। समाज की उत्पादन प्रणाली राजनीतिक संस्थाओं के रुप को निर्धारित करता है और उदार लोकतंत्र में राजनीतिक संस्थाएं पूंजीवाद पर आधारित होती हैं अतः ये पूंजीपति वर्ग के हितों को बढ़ावा देती हैं और मजदूरों का शोषण करती हैं।

2. उदारवादी लोकतंत्र एक के आधार सामयिक निष्पक्ष एवं स्वतंत्र निर्वाचन की आलोचना करते हुए मार्क्सवादियों का कहना है कि यद्यपि सभी राजनीतिक दल को समान अधिकार और अवसर प्राप्त हैं परन्तु निर्वाचन प्रक्रिया अधिक व्यय साध्य होने के कारण धनी राजनीतिक दल और व्यक्ति ही विजय प्राप्त करते हैं और ये निर्धन वर्ग का मत भी खरीद लेते हैं या अपने पक्ष में कर लेते हैं। यदि कुछ निर्धन व्यक्ति निर्वाचित हो भी जाते हैं तो धनी वर्ग के आगे वे कुछ कर नहीं पाते और सम्पूर्ण शासन व्यवस्था पूंजीपति के हितों के अनुसार ही संचालित होती है।

3. मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समर्थक उदारादी लोकतंत्र की बहुदलीय व्यवस्था की आलोचना करते हैं और कहते हैं कि यदि पश्चिमी लोकतंत्र की दलीय व्यवस्था का विश्लेषण करें तो सभी दलों की नीतियों में कोई मूलभूत भिन्नता नहीं होती है। भ्रामक और मिथ्या प्रचार से मतदाताओं को सही तथ्य पता नहीं लग पाते और निर्वाचन के समय किये गये लुभावने वादे मात्र लुभावने नारे बनकर रहे जाते हैं।

4. उदारवादी लोकतंत्र में प्राप्त मूल अधिकारों की आलोचना करते हुए मार्क्सवादियों का विचार है कि निर्धन वर्ग को जब तक आर्थिक दृष्टि से

मुक्ति नहीं मिलेगी तब तक सभी प्रकार के अधिकार व स्वतंत्रताएं बेकार हैं।

उदारवादी लोकतंत्र की आलोचना के साथ ही लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार जब तक पूंजीवाद तथा निजी सम्पत्ति का अस्तित्व रहेगा, लोकतंत्र भी पूंजीवादी ही रहेगा और समर्थन भी उन्हीं का करेगा। सच्चे लोकतंत्र की स्थापना तभी संभव है जब पूंजीवादी राज्य का अन्त करके सर्वहारा (श्रमिक) वर्ग का अधिनायकत्व हो। वास्तव में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली उस शासन व्यवस्था को कहा जाना चाहिए जहाँ इसका प्रयोग समस्त वर्गों के कल्याण के लिए और वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए किया जाता है। मार्क्सवादी लोकतंत्र में एक ही राजनीतिक दल का अस्तित्व होता है जो समस्त गतिविधियों विधिक एवं राजनीतिक का केन्द्र–बिन्दु होता है। सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व तभी तक रहेगा जब तक कि वर्ग विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती। वर्गविहीन समाज में शोषण के यंत्र राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। सभी अपनी क्षमतानुसार कार्य करेंगे और आवश्यकतानुसार प्राप्त करेंगे। उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व, सम्पत्ति का समान वितरण तथा सभी व्यक्तियों को आर्थिक सुरक्षा तथा साम्यवादी सत्ता का समस्त सत्ता पर एकाधिकार मार्क्सवादी लोकतंत्र की पूर्व शर्तें हैं।

मार्क्सवादी लोकतंत्र के आलोचकों ने इसकी निम्न आधारों पर आलोचना की है–

1. सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व वास्तव में एक ही वर्ग का शासन है जबकि लोकतंत्र का अर्थ है समस्त जनता का शासन।
2. एकदलीय व्यवस्था से सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि सरकार का विरोध करने वाला कोई नहीं होगा।
3. विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में किसी भी प्रकार का लोकतंत्र सम्भव नहीं है।
4. मार्क्सवादी लोकतंत्र में व्यक्तियों के राजनीतिक अधिकार कागज की लकीरें बन कर रह जाते हैं।
5. लोकतांत्रिक व्यवस्था में शक्तियों के विकेन्द्रीकरण को महत्व दिया जाता है जबकि मार्क्सवादी लोकतंत्र में समस्त शक्तियाँ साम्यवादी दल के कुछ शीर्ष नेताओं के हाथों में ही केन्द्रित रहती हैं। इसे मार्क्सवादी स्वयं लोकतांत्रिक केन्द्रीकरण के रुप में स्वीकार करते हैं।
6. लोकतंत्र में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका के अस्तित्व को महत्व दिया जाता है जबकि मार्क्सवादी न्यायपालिका को शासन के एक अंग के रुप में ही महत्व प्रदान करता है।
7. मार्क्सवादी लोकतंत्र में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को प्रभावी नहीं माना जाता।
8. मार्क्सवादी लोकतंत्र में व्यवस्थापिका जन इच्छाओं के अनुसार कार्य करने के स्थान पर साम्यवादी दल की पोलित ब्यूरों के निर्देशानुसार कार्य करती है और ऐसी व्यवस्था में निर्वाचन भी दिखावा मात्र हैं क्योंकि एक दल होने के कारण जनता के पास अन्य कोई विकल्प नहीं होता।

12.6 लोकतंत्रीय सरकार के गुण

वर्तमान समय में लोकतंत्रीय सरकार विश्व की सर्वाधिक लोकप्रिय सरकार है। विद्वानों ने इसके गुणों की भिन्न–भिन्न व्याख्या की है। लोकतंत्रीय सरकार के निम्न गुण हैं :–

1. लोकतंत्र सर्वोत्तम शासन प्रणाली है क्योंकि इसमें जनता की भागीदारी होती है। लोकतंत्र ही ऐसी शासन प्रणाली है जो जनता की इच्छा पर संचालित होती है, जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि शासन संचालन का कार्य करते हैं और जनता के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। शासक जनमत की उपेक्षा नहीं कर सकते अतः जनमत शासन को स्वेच्छाधारी व निरंकुश होने से रोकता है। इस प्रकार शासन सीमित व जनहित के कार्यों से सम्पादित करने के लिए बाध्य है इसीलिए लोकतंत्र को सर्वोत्तम शासन प्रणाली माना गया है।

2. लोकतात्रिंक शासन में हिंसात्मक क्रान्तियों की आशंका कम होती है। लोकतंत्र में शासन वाद–विवाद, विचार–विमर्श, अनुनय–विनय के आधार पर चलता है न कि शक्ति के आधार पर। लोकतंत्र में हर व्यक्ति और व्यक्ति समूह सार्वजनिक मामलों के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कर सकता है और इस उपक्रम में उसे सरकार के प्रति असन्तोष व्यक्त करने का भी अवसर प्राप्त होता है। जनता को वोट के द्वारा शासन को बदलने का अधिकार होता है। गिलफ्राइस्ट का विचार है कि लोकतंत्र में लोकप्रिय सरकार होती है जो सभी की सहमति पर आधारित होती है और इस कारण क्रान्ति की संभावना बहुत कम होती है।

3. लोकतंत्र शासन प्रणाली जनता के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उपयुक्त शासन प्रणाली है। इस शासन में व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व और मौलिक अधिकारों को महत्व दिया जाता है। लोकतंत्र में विधि द्वारा व्यक्तियों की स्वतंत्रता एवं समानता की रक्षा का प्रावधान रहता है और भारत सहित अनेक देशों में इन्हें मौलिक अधिकार के रुप में वर्णित कर इनकी रक्षा की गारन्टी प्रदान की जाती है। इस प्रकार प्रजातंत्र में व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण किया जाता है। जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके।

4. लोकतंत्र में सार्वजनिक शिक्षा संभव है। लोकतंत्र में जनता को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करने के बड़े अवसर रहते हैं। इस शासन में जनता को सार्वजनिक हित सम्बन्धी कार्यों में रुचि लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। समय–समय पर निर्वाचन होना, व्यवस्थापिका की कार्य प्रणाली, दलों तथा समूहों की भूमिका, हड़तालों तथा प्रदर्शनों के माध्यम से विरोध प्रदर्शन आदि जनता को पर्याप्त मात्रा में राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। संचार माध्यमों से सरकार की नीतियों और कार्यक्रमों का विश्लेषण एवं प्रचार–प्रसार जनता तक पहुँचता है और वे किसी विषय पर अपनी स्पष्ट राय बना सकते हैं। सी0डी0 बर्न्स के अनुसार, 'हर शासन शिक्षा की एक पद्धति होता है, किन्तु सबसे अच्छी शिक्षा आत्म–शिक्षा है, इसलिए सबसे अच्छा शासन स्वशासन है और वही लोकतंत्र है।'

5. लोकतंत्रीय सरकार उत्तरदायी सरकार होती है। लोकतंत्र में सरकार जनता के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित होती है अतः यह जनप्रतिनिधियों और

अन्तिम रुप से जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। लोकतंत्र में न्याय की संभावनाएं प्रबल रहती हैं और इसमें वैधानिक उपायों से जनता सरकार में परिवर्तन कर सकती है।

6. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में सहायक होती है। जॉन स्टुअर्ट मिल का मानना है कि लोकतंत्र का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह अन्य किसी शासन प्रणाली की तुलना में राष्ट्रीय चरित्र के अधिक अच्छे और उच्चतर रुप का विकास करता है। लोकतंत्र में जनता में यह विश्वास रहता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना शासक एवं नियंता है, जिस कारण उसमें आत्मनिर्भरता, निर्भयता एवं स्वावलम्बन जैसे गुणों का विकास हो जाता है। प्रतिक्षण राज्य एवं शासन पर आधिपत्य की अनुभूति उसमें सच्चा राष्ट्र प्रेम एवं देश भक्ति की भावना को जन्म देती है। शासन के कार्यों से हर नागरिक किसी न किसी रुप में सम्बद्ध रहता है। इसलिए उसके अन्दर यह भावना प्रस्फुटित होना स्वाभाविक है कि देश की उन्नति में ही उसका पारिवारिक और वैयक्तिक हित निहित है अतः देशहित की भावना नागरिकों में जागृत होती है।

7. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली आत्म सुधारक ढंग से कार्य करती है। इस शासन व्यवस्था में प्रयास एवं भूल का सिद्धान्त परिचालित होता है। शासन जानबूझकर अथवा अनजाने में अनेक कार्य करता है और उसी के समानान्तर उसमें आत्मसुधार की प्रक्रिया चलती है। जनता को मालूम है कि वे ही देश के वास्तविक शासक हैं, उनके चुने प्रतिनिधि शासन कार्य करते हैं और वे जब चाहें शासन में संवैधानिक तरीकों से परिवर्तन भी कर सकते हैं। जिस प्रकार किसी खराब पुर्जे को बदलकर मशीन की मरम्मत की जा सकती है उसी प्रकार लोकतंत्र में शासन के किसी अंग में दोष आने पर उसे परिवर्तित किया जा सकता है। डॉ0 बेनी प्रसाद का कहना है कि प्रजातंत्र अपनी भूलों को सुधारने का उपाय रखता है जो शासन के अन्य वैकल्पिक रुपों में उपलब्ध नहीं होता। सत्ता के गंभीर दुरुपयोग की स्थिति में जनमत प्रायः मुखर होता है तथा वह स्थिति को ठीक कर देता है।

8. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली कार्यकुशलता की पोषक है। लोकतंत्रीय व्यवस्था में शासन संचालन का दायित्व जन प्रतिनिधियों का होता है। ये जनप्रतिनिधि अन्ततः जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जनमत के नियंत्रण के कारण वे शासन संचालन में सतर्क रहते हैं और प्रत्येक कार्य को अच्छे ढंग से सम्पादित करने का प्रयास करते हैं। यदि शासन कार्य जन आकांक्षाओं एवं जनहित के अनुरुप नहीं हो रहा है तो लोकतंत्र में जनता उसे निर्वाचन के माध्यम से हटाने का अधिकार रखती है।

12.7 लोकतंत्रीय सरकार के दोष

लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में अनेक गुणों के साथ ही साथ व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक रुप से अनेक दोष विद्यमान हैं। प्राचीन यूनानी दार्शनिकों प्लेटों एवं अरस्तू ने इसे विकृत शासन के रुप में वर्णित किया है। लोकतंत्रीय शासन प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं :–

1. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। आलोचकों का मानना है कि लोकतंत्र में 'एक व्यक्ति–एक मत' सिद्धान्त

गलत है क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से सभी को समान समझना एक भूल होगी। व्यक्तियों में शारीरिक, नैतिक, मानसिक क्षमता अलग–अलग होती है और शिक्षा एवं अनुभव के माध्यम से उनका विकास का स्तर भी अलग–अलग होता है अतः यदि सभी को समान समझ लिया जाये तो एक मूर्ख एवं एक बुद्धिमान व्यक्ति एक शिक्षित एवं एक अशिक्षित व्यक्ति के मध्य कोई अंतर नहीं रहेगा और ऐसी परिस्थिति में शासन व्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा।

2. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें गुण की अपेक्षा संख्या पर अधिक जोर दिया जाता है। इस शासन प्रणाली में मतों को गिना जाता है तौला नहीं जाता अर्थात् उनकी गुणवत्ता को महत्व नहीं दिया जाता है। सामान्य जनता में प्रशासन को समझने और सही प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने की क्षमता समान नहीं होती। बुद्धि एवं विवेक का प्रयोग कर सार्वजनिक हित एवं शासन कार्य को समझने वालों की संख्या तुलनात्मक रुप से कम होती है और संख्या बल के आधार पर अयोग्य और अज्ञानी लोगों की शासन कार्यों में प्रतिभागिता इस शासन प्रणाली को अयोग्य और अकुशल शासन प्रणाली की श्रेणी में खड़ा कर देती है।

3. इस शासन प्रणाली की आलोचना बहुसंख्यकों के निरंकुश शासन के रुप में भी की जाती है। लोकतंत्र में समस्त निर्णय अल्पमत के हितों के विरुद्ध अथवा हानि पहुँचाने वाले होते हैं परन्तु अल्पमत लोगों के पास ऐसे निर्णयों को स्वीकारने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं होता और इस कारण ऐसे वर्ग में असन्तोष की भावना विकसित होने लगती है।

4. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली बहुत खर्चीली शासन प्रणाली है। जनप्रतिनिधि संस्थाओं के गठन, निर्वाचन और विचार–विमर्श हेतु अत्यधिक मात्रा में धन व्यय होता है। व्यवस्थापिका के विविध सत्रों में अत्यधिक धन व्यय होता है और परिणाम अपेक्षाकृत कम होता है इसीलिए कार्लाइल ने संसद को 'बातों की दुकान' कहा है। ऐसी शासन प्रणाली को क्रियान्वित करने के लिए अत्यधिक धन व्यय हो जाने से देश के विकास कार्यों का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

5. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली धनवानों की शासन प्रणाली बनती जा रही है। सिद्धान्ततः इस शासन में धनी–निर्धन, ऊँच–नीच सभी को समानता का अधिकार प्राप्त है परन्तु व्यवहार में देखा जाये तो लोकतंत्र का प्राण निर्वाचन है और निर्वाचन द्वारा जनप्रतिनिधि चुना जाना एक व्यय साध्य कार्य है जो केवल सम्पत्तिवान व्यक्ति ही लड़ सकते हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों और प्रत्याशियों को उद्योग समूह और धनवान घरानों से सहायता मिलती है और धनवान प्रत्याशी निर्धन जनता के मत विभिन्न साधनों द्वारा खरीद लेता है तथा निर्वाचित होने पर वह इन सहायता देने वालों के इशारों पर कार्य करता है अथवा व्यय किये गये धन को येन केन प्रकारेण अर्जित करने के लिए भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाता है। अतः लोकतंत्र धनवानों का शासन कहा जाता है।

6. लोकतंत्र में दलीय व्यवस्था राष्ट्र को कमजोर व भ्रष्ट बनाती है। सिद्धान्ततः राजनीतिक दलों का गठन किसी सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक कार्यक्रम के आधार पर होता है परन्तु व्यवहार में वे संकीर्ण दलीय

हितों के आधार पर कार्य करते हैं ये राजनीतिक दल प्रायः क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता या जातियता के आधार पर कार्य करने लगे हैं जो राष्ट्र में वैमनस्य एवं कटुता उत्पन्न करता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए राजनीतिक दलों का होना आवश्यक माना जाता है परन्तु यही राजनीतिक दल की उग्र दलबन्दी लोकतंत्र को विकृत और दूषित रुप प्रदान करती है। राजनीतिक दल निर्वाचन के समय मिथ्या भाषण एवं प्रचार माध्यमों के द्वारा जनता को गुमराह करते हैं, एकता को बाधा पहुँचाते हैं और नैतिक मूल्यों को गिराते हैं। दलबन्दी के कारण निरंकुशता पर रोक नहीं लगती वरन् निरंकुशता को बढ़ावा मिलता है।

7. लोकतंत्र की आलोचना इस आधार पर भी होती है कि यह व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं व्यक्तित्व के विकास में सहायक नहीं है। यद्यपि सिद्धान्ततः लोकतंत्र में स्वतंत्रता को विशेष महत्व दिया जाता है परन्तु सार्वजनिक हित के नाम पर अनेकानेक विधियों के माध्यम से व्यक्ति की स्वतंत्रताओं पर प्रतिबन्ध आरोपित किये जाते हैं। लोकतंत्र में प्रायः ऐसी विधियों की संख्या अधिक होती है जो जल्दबाजी में बनायी जाती हैं। इससे लोकतंत्र में व्यक्ति की स्वतंत्रता के उद्देश्य में बाधा पहुँचती है।

8. लोकतंत्रीय शासन प्रणाली की विलम्बकारी एवं सुस्त शासन के रुप में आलोचना की जाती है। लोकतंत्र में शासकीय एवं प्रशासकीय निर्णयों को अन्तिम रुप में पहुँचने हेतु अनेक विभिन्न स्तरों को पार करना होता है। मुख्य कार्यपालिका कोई महत्वपूर्ण निर्णय लेने से पहले जनमत को जानने का प्रयास करती है। विभिन्न माध्यमों से जनमत, विरोध–प्रतिरोध, क्रिया–प्रतिक्रिया को जानने की प्रक्रिया में अत्यधिक समय व्यतीत हो जाता है। अत्यधिक जटिल समस्याओं से सम्बन्धित निर्णय लेने से पहले समितियों, आयोगों के गठन अथवा सर्वदलीय बैठक करने का भी प्रयास किया जाता है। इस प्रक्रिया में समस्यायें और गम्भीर रुप लेने लगती हैं, निर्णय में विलम्ब होता है और असन्तोष पनपता है। प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा लिये गये निर्णयों का उत्तरदायित्व भी राजनीतिक कार्यपालिका को लेना पड़ता है अतः वे अधिकारियों पर दबाव डालते हैं जिससे अधिकारी निर्णय लेने से पीछे हटते हैं और शासन–प्रशासन सुस्त हो जाता है।

9. लोकतंत्र में निर्वाचन द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। निर्वाचन हेतु प्रत्याशी का चयन राजनीतिक दल करते हैं अतः निर्वाचित प्रतिनिधि अपने क्षेत्र की जनता के प्रति निष्ठा रखने की अपेक्षा अपने दल के प्रति निष्ठा रखता है। दूसरा यह निर्वाचित प्रतिनिधि अपने क्षेत्र की बहुसंख्या का प्रतिनिधित्व करें यह आवश्यक नहीं है क्योंकि लोकतंत्र में प्रचलित चुनाव व्यवस्था के अनुसार एक क्षेत्र से अनेक प्रत्याशी खड़े होते हैं और जिसे सबसे ज्यादा मत प्राप्त होता है वह निर्वाचित हो जाता है और ऐसे में आवश्यक नहीं है कि उसे बहुमत प्राप्त हुआ हो। इसी तरह से बहुमत प्राप्त दल को शासन संचालन का अधिकार मिल जाता है और यहाँ भी प्रायः यह देखने को मिलता है कि विरोधी दलों को प्राप्त मतों की संख्या बहुमत प्राप्त दल को प्राप्त मतों की संख्या की तुलना में अधिक होती है परन्तु अल्पमत प्राप्त दल को शासन संचालन का अधिकार मिल जाता है। इस प्रकार लोकतंत्र में अल्पसंख्यकों का शासन हो जाता है जिन्हें बहुसंख्यकों का समर्थन प्राप्त नहीं है।

10. लोकतंत्र में सरकार अधिक स्थायी नहीं रहती। समय–समय पर निर्वाचन द्वारा शासन सत्ता अलग–अलग दलों के हाथों में परिवर्तित होती रहती है। विभिन्न दलों में दलबन्दी के कारण सम्बन्धों में भी परिवर्तन होता है अतः सत्ता परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह शासन प्रणाली स्थायी न रहकर अस्थायी बन जाती है और शासन नीतियों में स्थायित्व, निश्चितता एवं क्रमबद्धता नहीं रहती जिससे विकास की गति धीमी हो जाती है।

11. आलोचनकों ने लोकतंत्र में नैतिक मूल्यों के ह्रास का भी दोष लगाया है। निर्वाचन के समय राजनीतिक दल राजनीतिक मुद्दों पर गंभीरता से विचार करने की अपेक्षा मिथ्या आरोपों–प्रत्यारोपों में संलिप्त हो जाते हैं। वे न केवल जनता से झूठे वादे करते हैं वरन् जनता के मतों को विभिन्न प्रलोभनों द्वारा खरीदने का प्रयास भी करते हैं। इस तरह लोकतंत्र में नैतिक मूल्यों का पतन होता है और जनता को राजनीतिक शिक्षा के स्थान पर भ्रामक प्रचार–प्रसार से कुशिक्षा मिलती है।

इस प्रकार लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में अनेक दोष हैं परन्तु यह दोष शासन प्रणाली में न होकर इस शासन प्रणाली को व्यवहारिक रुप प्रदान करने वाले शासक और शासितों के हैं। यदि ये उस स्तर को बनाये रखें जो लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है तो इस प्रणाली के दोष स्वतः क्षीण हो जायेंगे।

12.8 लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तें

प्रत्येक शासन प्रणाली की भाँति लोकतंत्रीय शासन प्रणाली के भी गुण–दोष हैं। वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था अनेक देशों में असफल रही और इस शासन प्रणाली पर भी प्रश्नचिन्ह लगने लगा। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया और अफ्रीका के नव स्वतंत्र देशों ने लोकतंत्र को अपनाया और लोकतंत्र के पश्चात् तानाशाही की स्थापना हुई। तानाशाही के विरुद्ध आन्दोलन एवं क्रान्ति के फलस्वरुप कुछ राष्ट्रों में पुनः लोकतंत्र की स्थापना हुई। इस प्रकार विभिन्न देशों में लोकतंत्रीय प्रणाली के उत्थान और पतन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि यह व्यवस्था हर परिस्थितियों और हर देश में सफल नहीं हो सकती। लोकतंत्र की सफलता के लिए कुछ परिस्थितियों अथवा शर्तों का होना आवश्यक है। लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक पूर्व–शर्तों की निश्चित सूची बनाना संभव नहीं है और इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अलग–अलग विचार भी व्यक्त किये हैं। मिल के अनुसार लोकतंत्र की सफलता की तीन पूर्व शर्ते हैं – (1) लोग इसको मान्यता देने के इच्छुक हों, (2) इसके संरक्षण के लिए जो कुछ भी आवश्यक हो उसे करने के इच्छुक एवं समर्थ हों, (3) अपने उन कर्त्तव्यों या कार्यों को करें जो यह उन पर आरोपित करता है। कोरी तथा अब्राहम ने चार विधियों– जो वास्तव में सरकार व लोकतांत्रिक समाज की सहमतियाँ हैं, को लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक माना है जो इस प्रकार हैं – (1) सरकार व नागरिकों की गतिविधियों का विधि के अनुसार संचालन (2) आपसी मतभेद विचार–विमर्श और वाद–विवाद से दूर करना (3) मतभेदों को तथ्यों और तर्कों की कसौटी पर ही परखना (4) निर्णय बहुमत से लिये जाना और सबको मान्य होना। प्रत्येक देश की स्थिति एवं परिस्थिति के अनुसार लोकतंत्र की सफलता की पूर्व शर्तों में थोड़ी भिन्नता हो सकती है परन्तु संक्षेप में कुछ शर्तें निम्नानुसार हैं –

TESLA-024

1. लोकतंत्र की सफलता की पहली शर्त है <u>आर्थिक विकास एवं आर्थिक समानता।</u> लोकतांत्रिक देश का यथा सम्भव आर्थिक विकास होना चाहिए

और उससे होने वाले लाभ सभी वर्गों और समूहों को मिलने चाहिए और सभी का रहन–सहन एक निश्चित स्तर तक होना चाहिए। अत्यधिक आर्थिक विषमताओं से समाज में निर्धन और धनी दो वर्ग बन जायेंगे जिससे धनवान द्वारा निर्धनों को प्रलोभन देकर मत खरीदना संभव होगा वहीं दूसरी तरफ निर्धन व्यक्ति चाहे कितना योग्य एवं ईमानदान क्यों न हो वह निर्वाचन में स्वतंत्र रुप से खड़ा नहीं हो सकेगा। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं–रोटी, कपड़ा और मकान के हेतु संघर्षरत व्यक्तियों के लिए लोकतांत्रिक मूल्य निरर्थक हैं। निर्धनता के कारण बहुत से लोग गलत कार्यों में लिप्त हो जाते हैं और आर्थिक विकास के अवरुद्ध होने पर सरकार के प्रति जनता का आक्रोश लोकतंत्र के विरुद्ध आक्रोश में परिवर्तित हो जाता है। अतः लोकतंत्र की सफलता के लिए आर्थिक विकास एवं समानता आवश्यक है।

2. लोकतंत्र की सफलता के लिए शिक्षित जनता का होना आवश्यक है अतः जनता को शिक्षित करने की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा का स्तर ऊँचा हो क्योंकि शिक्षित मनुष्य ही राजनीतिक समस्याओं की सही जानकारी रख सकता है और उनका समाधान ढूँढ सकता है। जीवन में जैसे–जैसे जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं उसी क्रम में राजनीतिक समस्यायें भी जटिल होती जा रही हैं और उन्हें समझने हेतु शिक्षित नागरिकों का होना आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा नागरिकों में सद्‌गुणों–कर्तव्यपरायणता, अनुशासन, स्वस्थ राष्ट्र भावना, समाज सेवा, उदारता, सहयोग आदि गुणों का विकास कर लोकतंत्र को सफल बनाया जा सकता है।

3. लोकतंत्र की सफलता के लिए नागरिकों में राजनीतिक चेतना का होना आवश्यक है। नागरिकों में राजनीतिक जागरुकता से तात्पर्य है कि उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता होनी चाहिए और अधिकारों को हनन से बचाना चाहिए। नागरिकों को राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। राजनीतिक जागरुकता इस बात में भी निहित है कि जनता को सार्वजनिक महत्व के प्रत्येक विषय में रुचि लेनी चाहिए, अपने द्वारा निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के क्रिया–कलापों पर निगरानी रखनी चाहिए और निरंकुश शासन एवं नियमों के प्रति संगठित प्रतिरोध करना चाहिए।

4. लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि नागरिकों का चरित्र उच्चकोटि का हो। लोकतंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें जनता, शासक और शासित दोनों ही रुपों में केन्द्रीय भूमिका में रहती है इसीलिए यह आवश्यक है कि इनका चरित्र उच्चकोटि का हो। उनमें ईमानदार, परिश्रमी, निष्ठावान एवं देशप्रेमी के गुण विद्यमान होने चाहिए। उन्हें सरकार के प्रति अपने करों एवं अन्य देय का नियमित भुगतान करना चाहिए। उन्हें समुदाय के हित हेतु अपने स्वार्थ एवं हितों का त्याग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन्हें राजनीतिक रुप से जागरुक और समन्वय की भावना से ओत–प्रोत होना चाहिए।

5. लोकतंत्र की सफलता के लिए स्वस्थ राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के माध्यम से ही जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है और दलों के माध्यम से ही जनमत का निर्माण होता है। राजनीतिक दल ही सदैव सत्ता प्राप्त के लिए तत्पर रहते हैं और विरोधी दल के रुप मे सत्ताधारी दल व सरकार पर नियंत्रण का कार्य

करते हैं अतः राजनीतिक दल लोकतंत्र की प्रथम आवश्यकता हैं परन्तु इसके लिए आवश्यक है कि वे संकीर्णता के दायरे से मुक्त हों। उनमें क्षेत्रीयता, भाषायी, साम्प्रदायिकता अथवा जातियता की उग्र–भावना नहीं होनी चाहिए। राजनीतिक दलों में सत्ता प्राप्ति की लालसा होनी चाहिए परन्तु उसके लिए भ्रष्ट साधनों के स्थान पर संवैधानिक साधनों का प्रयोग करना चाहिए तथा राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सभी राजनीतिक दलों को संकीर्णता का त्याग कर सहयोग एवं समन्वय की भावना रखनी चाहिए। ऐसे स्वस्थ राजनीतिक दलों की उपस्थिति लोकतंत्र को सफल बना सकती है।

6. लोकतंत्र की सफलता के लिए देश में न्याय का होना आवश्यक है। सामाजिक न्याय से तात्पर्य है कि व्यक्तित्व के विकास के लिए सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के समान अवसर की प्राप्ति और कानून और न्याय की दृष्टि में सभी व्यक्तियों को समान समझना। सामाजिक न्याय तभी संभव है जब आर्थिक समानता विद्यमान हो। सामाजिक समानता की व्यवस्था विधि द्वारा स्थापित की जानी चाहिए क्योंकि समानता के अभाव में स्वतंत्रता का भी कोई मूल्य नहीं रहेगा। अतः लोकतंत्र की सफलता के लिए ऐसी वैधानिक परम्पराएं विकसित करनी चाहिए जो सामाजिक समानता को विकसित कर सके और स्वतंत्रता की धारणा को अक्षुण्ण रख सके।

7. लोकतंत्र की आत्मा स्थानीय स्वशासन है। लोकतंत्र में प्रभावी जनसहभागिता सुनिश्चित करने हेतु शक्ति का विकेन्द्रीकरण अत्यावश्यक होता है। स्थानीय स्वायत्तशासी संस्थाओं एवं समूहों के माध्यम से जनता को राजनीतिक व प्रशासनिक कार्यों में सहभागिता का अवसर मिलता है और जनसामान्य में राजनीतिक जागरुकता उत्पन्न होती है। अतः लोकतंत्र की सफलता के प्रभावी स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था आवश्यक है।

8. लोकतंत्र की सफलता के लिए देश में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना आवश्यक है। यदि देश में संकट हो या शांति व व्यवस्था का अभाव हो तो लोकतंत्र को स्थगित रखना पड़ेगा या अराजक तत्वों एवं निरंकुशता को प्रोत्साहन मिलेगा। यही कारण है कि लोकतंत्रीय व्यवस्था में प्रायः संकटकालीन व्यवस्थाएं की जाती हैं ताकि देश में आन्तरिक या वाह्य संकट का सामना करने हेतु शासन को अधिक शक्तियाँ प्राप्त हो सकें और शान्ति स्थापना तक वह प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सके। अतः लोकतंत्र की सफलता के लिए शांति एवं व्यवस्था आवश्यक है।

9. लोकतंत्र की सफलता के लिए स्वतंत्र एवं बहुल समाज की आवश्यकता होती है। स्वतंत्र समाज अर्थात् ऐसा समाज जहाँ समाज में गतिशीलता हो। बहुल समाज में विभिन्न प्रकार के संगठन व समूह में व्यक्ति भागीदारी कर लोकतंत्र को सफल बना सकता है। स्वतंत्र एवं बहुल समाज में व्यक्ति रुढ़िगत बन्धनों के अभाव में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक संगठन व समूह बना सकता है। ऐसे समाजों में व्यक्ति के हितों की पूर्ति के अनेक वैकल्पिक समूह होते हैं। इससे लोकतंत्र की सफलता में सहायता मिलती है।

10. लोकतंत्र की सफलता के लिए नागरिकों को स्वतंत्रता के अधिकार की प्राप्ति आवश्यक है। नागरिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रताओं के

अभाव में लोकतंत्र की सफलता काल्पनिक है। लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि नागरिकों को स्वतंत्रताएं प्रदान की जाएं और उनके संरक्षण की भी व्यवस्था की जाये। स्वतंत्रता का दुरुपयोग रोकने हेतु यथोचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। स्वतंत्रता के अधिकार के अन्तर्गत ही प्रेस की स्वतंत्रता को सम्मिलित करना चाहिए क्योंकि सजग एवं स्वतंत्र प्रेस लोकतंत्र की सफलता का आधार स्तम्भ है। सजग एवं स्वतंत्र प्रेस के द्वारा स्वस्थ जनमत का निर्माण किया जा सकता है और स्वस्थ जनमत अर्थात – विवेक, सार्वजनिक कल्याण पर आधारित जनसाधारण का मत लोकतंत्र की सफलता के लिए अपरिहार्य है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्वस्थ जनमत हेतु स्वतंत्र एवं सजग प्रेस आवश्यक है और इस प्रकार व्यक्ति के स्वतंत्रता के अधिकार की रक्षा संभव है।

11. लोकतंत्र की सफलता के लिए स्वतंत्र, निष्पक्ष और सामयिक निर्वाचन की व्यवस्था एक मूलभूत एवं अनिवार्य शर्त मानी जाती है। लोकतंत्र में शासन कार्यों में जनसहभागिता प्रतिनिधियों के माध्यम से होती है। जनप्रतिनिधि निर्वाचन द्वारा निर्वाचित होते हैं। निर्वाचन के द्वारा ही राजनीतिक दल सक्रिय होते हैं और सत्ताधारी दल एवं विपक्षी दल के रुप में सामने आते हैं। अतः शासन की निरंकुशलता पर रोक लगाने की दृष्टि से भी स्वतंत्र एवं निष्पक्ष, सामयिक निर्वाचन होने आवश्यक हैं। ऐसी व्यवस्था होने पर जनता सरकार से असंतुष्ट होने पर उसे परिवर्तित करने का अधिकार रखती है साथ ही साथ सत्ता परिवर्तन हेतु असंवैधानिक साधनों – क्रान्ति आदि का सहारा नहीं लेना पड़ता है। स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव होने पर जनता का लोकतंत्र के प्रति विश्वास बढ़ता है और राजनीतिक दल भी सजग एवं सक्रिय होकर अपनी राजनीतिक भूमिका का निर्वहन करते हैं।

12. स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं सामयिक निर्वाचन हेतु आवश्यक है कि निर्वाचन प्रणाली में सुधार किया जाये। समय–समय पर निर्वाचन में सुधार की व्यवस्था लोकतंत्रीय व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक है। निर्वाचन व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जहाँ जनप्रतिनिधियों को वास्तविक रुप से जनता का बहुमत मिले, जनता निष्पक्ष होकर मतदान का प्रयोग कर सके, प्रत्याशी भ्रष्ट साधनों का प्रयोग न कर सकें और सबसे महत्वपूर्ण कि अपराधी या दागी व्यक्ति निर्वाचन में न खड़ा हो सकें। इन सबके लिए निर्वाचन एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष संस्था की देख–रेख में सम्पन्न किया जाना चाहिए।

13. लोकतंत्र की सफलता के लिए विधि का शासन, संविधान की स्पष्टता एवं स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका अत्यन्त आवश्यक है। विधि का शासन का अर्थ है कि विधि के सम्मुख सभी नागरिक समान हैं, विधि का सभी को समान संरक्षण प्राप्त है, विधि का उल्लंघन करने पर ही उन्हें उचित प्रक्रिया द्वारा दण्डित किया जा सकता है। संविधान की स्पष्टता होने और व्यक्ति के स्वतंत्रता एवं अधिकारों का स्पष्ट उल्लेख होने से लोकतंत्र में सरकार अपनी शक्तियों का असीमित प्रयोग नहीं कर सकती है। सरकार द्वारा सीमित शक्तियों का प्रयोग लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। मौलिक अधिकार एवं संविधान के संरक्षण हेतु स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका अपरिहार्य है। स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका लोकतांत्रिक मूल्यों अधिकार, स्वतंत्रता, समानता आदि के संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका

निभाती है और संविधान का संरक्षण कर सरकार की निरंकुशता पर रोक लगाती है।

14. लोकतंत्र की सफलता के लिए नौकरशाही व्यवस्था में भी सुधार की आवश्यकता है। नौकरशाही पाश्चात्य साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी व्यवस्था की देन है। समय और परिस्थितियों के अनुकूल शासन व्यवस्थाओं में परिवर्तन होते गये और लोकतंत्र शासन लोकप्रिय होता परन्तु नौकरशाही व्यवस्था में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। नौकरशाही व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, रुढ़िवादिता में परिवर्तन की आवश्यकता है और नौकरशाही में ईमानदारी, जनसेवा, कार्यकुशलता एवं उत्तरदायित्व के गुणों का विकास अपरिहार्य है।

15. अन्ततः लोकतंत्र की सफलता के लिए सबसे आवश्यक है कि जनता की लोकतांत्रिक मूल्यों में निष्ठा हो। कोई भी व्यवस्था तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक जनता में यह दृढ़ विश्वास न हो कि अन्य शासन प्रणालियों की तुलना में यह शासन प्रणाली श्रेष्ठ है। यदि जनता में लोकतंत्र के प्रति पर्याप्त विश्वास हो जायेगा तो वे लोकतांत्रिक व्यवस्था को आघात पहुँचाने के प्रत्येक प्रयास का घोर विरोध करेंगे और यदि किन्हीं कारणों से लोकतंत्र समाप्त होता है तो जनता का यही विश्वास उसे पुनर्जीवित करने में सहायक होगा। लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास के कारण जनता में सहयोग, भ्रातृत्व उदारता के भाव विकसित होंगे और वे सदैव संवैधानिक साधनों में विश्वास रखते हुए ऐसे ही साधनों का प्रयोग करेंगे जो लोकतंत्र को सफल बनायेगा।

लोकतंत्र की सफलता की उपर्युक्त शर्तें सभी देशों के लिए समान नहीं है और उनमें मात्रा का अन्तर हो सकता है परन्तु यह निश्चित है कि कम या अधिक उपरोक्त परिस्थितियों के अभाव में लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता।

12.9 सारांश

लोकतंत्र एक बहुआयामी शब्द है और शासन प्रणाली का सर्वाधिक लोकप्रिय रुप। लोकतंत्र शासन की चर्चा प्राचीन यूनानी विचारकों प्लेटों और अरस्तू ने शासन के निकृष्ट रुप में की थी परन्तु कालान्तर में यह सर्वाधिक उपयुक्त शासन प्रणाली मानी गयी। लोकतंत्र का क्रमिक रुप से विकास होता गया और इसे निर्णय लेने की प्रक्रिया, निर्णय लेने के सिद्धान्त और आदर्श मूल्यों के रुप में स्पष्ट किया गया। लोकतंत्र समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, न्याय के आदर्शों में विश्वास करता है। लोकतंत्र में निष्पक्ष, स्वतंत्र एवं सामयिक निर्वाचन व्यवस्था, उत्तरदायी सरकार, राजनीतिक दलों की उपस्थिति का समर्थन किया जाता है। लोकतंत्र में सत्ता जनता में निहित व शासन जनता के प्रति उत्तरदायी माना जाता है। लोकतंत्र के दो रुप प्रचलित हैं प्रत्यक्ष लोकतंत्र और अप्रत्यक्ष लोकतंत्र। प्रत्यक्ष लोकतंत्र में जनता स्वयं शासन कार्यों में भाग लेती है जो प्राचीन यूनानी राज्यों में प्रचलित थी। अप्रत्यक्ष लोकतंत्र अथवा प्रतिनिधि लोकतंत्र बड़े राज्यों में पाया जाता है जहाँ जनता अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करती है जो विधि निर्माण व शासन कार्य सम्पादित करते हैं। अप्रत्यक्ष लोकतंत्रीय देशों में कुछ देश जनमत संग्रह, प्रत्यावहान, उपक्रम, लोक निर्णय आदि प्रत्यक्ष लोकतंत्र के साधनों का सीमित प्रयोग करते हैं।

TESLA-024

लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोण प्रचलित हैं। उदारवादी लोकतंत्रीय दृष्टिकोण में व्यक्ति और उसके अधिकार को केन्द्र बिन्दु मानकर समस्त व्यवस्था का संचालन होता है जिसमें व्यक्ति के विवेक में विश्वास प्रकट करते हुए समानता, विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है और जनइच्छा का ध्यान रखते हुए बहुमत का शासन स्थापित किया जाता है। लोकतंत्र के अभिजात्यवादी दृष्टिकोण के अन्तर्गत शासन जनता द्वारा संचालित न होकर एक विशिष्ट वर्ग द्वारा संचालित होता है, जो जनता के लिए कार्य करते हैं। लोकतंत्र के बहुलवादी दृष्टकोण के अनुसार व्यक्ति केवल समूह या संगठनों के माध्यम से राजनीति में प्रतिभागिता कर सकता है। यह दृष्टिकोण शक्ति के पृथक्करण व संतुलन सिद्धान्त में विश्वास करता है और शक्तियों के विकेन्द्रीकरण का समर्थन करता है। लोकतंत्र के मार्क्सवादी दृष्टिकोण उदार लोकतंत्र की आलोचना करता है और मानता है कि समाज में वर्गों की उपस्थिति में सच्चा लोकतंत्र स्थापित नहीं हो सकता है और ये सर्वहारा के अधिनायकत्व की बात करते हैं और एक दलीय व्यवस्था का समर्थन करते हैं।

आज के समय में लोकतंत्र सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली मानी जाती है अतः इसके गुणों में क्रान्ति से सुरक्षा, व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास, सार्वजनिक शिक्षा, उत्तरदायी सरकार, राष्ट्रप्रेम का विकास तथा कार्यकुशलता को सम्मिलित किया जाता है। परन्तु लोकतंत्रीय सरकार के दोष बताने वाले भी कम नहीं हैं और इसके दोषों के अन्तर्गत वास्तविक समानता के विपरीत, गुणों की तुलना में संख्या को महत्व, बहुसंख्या की निरंकुशता एवं अल्पमतों की उपेक्षा दलीय व्यवस्था के दोष, व्यय साध्य प्रणाली आदि गिनाये जाते हैं। लोकतंत्र के गुण और दोष के विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी भी शासन प्रणाली की सफलता के लिए कुछ आवश्यक परिस्थितियाँ आवश्यक हैं। ये आवश्यक परिस्थितियाँ हैं आर्थिक विकास एवं समानता, शिक्षित जनता, नागरिकों की राजनीति चेतना, स्वस्थ राजनीतिक दल, स्वस्थ जनमत, सामाजिक न्याय, शक्तियों का विकेन्द्रीकरण, स्वतंत्र न्यायपालिका आदि इस शर्तों की उपस्थिति में लोकतंत्र सर्वश्रेष्ठ एवं लोकप्रिय शासन प्रणाली है।

12.10 शब्दावली

मैग्नाकार्टा – 1215 ई0 में इग्लैण्ड में सामन्तों द्वारा विवश करने पर सम्राट जॉन ने एक अधिकार पत्र पर हस्ताक्षर किया जिसे मैग्नाकार्टा के नाम से जाना गया। इस अधिकार पत्र द्वारा राजा की निरंकुशता का अंत कर इग्लैण्ड में मर्यादित राजतंत्र का मार्ग प्रशस्त हुआ।

गौरव पूर्ण क्रान्ति – 1685 में पदासीन सम्राट जेम्स द्वितीय के निरंकुश आचरण का संसदीय नेताओं ने विरोध किया और सम्राट फ्रांस भाग गये। 1688 में यह स्पष्ट किया गया कि सम्राट की शक्तियाँ सीमित हैं। अतः बिना रक्तपात सम्राट पर संसद की सर्वोच्चता स्थापित हुई बिना रक्तपात इतना बड़ा परिवर्तन गौरवपूर्ण क्रान्ति के नाम से जाना जाता है।

1776 अमरीकी क्रान्ति – अमरीकी उपनिवेशों ने 4 जुलाई, 1776 को औपचारिक रुप से स्वतंत्रता की घोषणा कर समानता, जीवन, स्वतंत्रता के अधिकारों की घोषणा की।

शक्ति पृथक्करण एवं सन्तुलन सिद्धान्त – शासन के तीन अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन

तथा प्रत्येक अंग द्वारा दूसरे को सीमित करने की व्यवस्था शक्ति पृथक्करण एवं संतुलन सिद्धान्त कहलाता है।

12.11 उपयोगी पुस्तकें

1. जे0सी0 जौहरी तथा सीमा जौहरी (2001) – आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. सी0बी0 गेना (2007) – तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0लि0, नई दिल्ली।
3. ओम प्रकाश गाबा (2002) राजनीति सिद्धान्त की रुपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
4. ज्ञान सिंह संधु (सं0) (2004) राजनीति सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली।
5. ए0डी0 आर्शीवादम् एण्ड कृष्णकान्त मिश्रा (2001), राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।
6. इकबाल नारायण (1974) – राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा।
7. सी0बी0 मैक्फर्सन (1977) द लाइफ एण्ड टाइम ऑफ लिबरल डेमोक्रेसी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड
8. गुरप्रीत महाजन (सं0) (1998) डेमोक्रेसी, डिफरेंस एंड सोशल जस्टिस, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस दिल्ली।
9. कार्टर, एप्रिल और ज्योफ्री स्टोक्स (2002) डेमोक्रेटिक थ्योरी टुडे : चैलेंज फॉर द ट्वेंटी फर्स्ट सेंचुरी पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज
10. ब्राइस (1921) मार्डन डेमोक्रेसीज, मैक्मिलन, लन्दन।
11. ए0आर0 बाल (1988) मार्डन पालिटिक्स एण्ड गर्वनमेन्ट, मैक्मिलन, लंदन।

12.12 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**
   - (अ) लोकतंत्र का अर्थ व परिभाषा का वर्णन कीजिए।
   - (ब) लोकतंत्र के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए।
   - (स) लोकतंत्र की सफलता की आवश्यक शर्तों का विश्लेषण कीजिए।
   - (द) लोकतंत्र के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. **लघुउत्तरीय प्रश्न :**
   - (अ) लोकतंत्र का उदारवादी दृष्टिकोण
   - (ब) लोकतंत्र का मार्क्सवादी दृष्टिकोण

(स) लोकतंत्र का बहुलवादी दृष्टिकोण

(द) लोकतंत्र का अभिजात्यवादी दृष्टिकोण

(य) जनमत संग्रह

(र) उपक्रम

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) किसने कहा कि लोकतंत्र 'जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा शासन है?

(i) लास्की

(ii) नेहरु

(iii) लिंकन

(iv) ब्राइस

(ब) लोकतंत्र के अभिजात्यवादी दृष्टिकोण का निम्न में से कौन समर्थक है:

(i) हिटलर

(ii) मोस्का

(iii) मैकाइवर

(iv) लेनिन

(स) निम्न में से क्या उदारवादी लोकतंत्र की विशेषता नहीं है –

(i) बहुदलीय व्यवस्था

(ii) अधिकारों की व्यवस्था

(iii) स्वतंत्र, निष्पक्ष सामयिक निर्वाचन

(iv) राज्य द्वारा नियंत्रित न्यायपालिका

(द) लोकतंत्र के मार्क्सवादी दृष्टिकोण में से निम्न कौन सी विशेषता सम्मिलित नहीं है –

(i) एकदलीय व्यवस्था

(ii) लोकतांत्रिक केन्द्रीकरण

(iii) शक्ति पृथक्करण

(iv) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व

(य) निम्न में से कौन विचारक लोकतंत्र के बहुलवादी दृष्टिकोण का समर्थक है –

(i) लास्की

(ii) मिल

(iii) हॉब्स

(iv) रुसो

(र) विरोधी दल का अस्तित्व निम्न में से किस में नहीं होता –

(i) उदारवादी लोकतंत्र

(ii) मार्क्सवादी लोकतंत्र

(iii) अभिजात्यवादी लोकतंत्र

(iv) बहुलवादी लोकतंत्र

12.9 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 12.3 अंश

(ब) देखिए इकाई का 12.6 एवं 12.7 अंश

(स) देखिए इकाई का 12.8 अंश

(द) देखिए इकाई का 12.4 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) इकाई का 12.5.1 अंश

(ब) इकाई का 12.5.4 अंश

(स) इकाई का 12.5.3 अंश

(द) इकाई का 12.5.2 अंश

(य) इकाई का 12.4.1 अंश का 'ख' बिन्दु

(र) इकाई के 12.4.1 अंश का 'क' बिन्दु

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (iii)

(ब) (ii)

(स) (iv)

(द) (iii)

(य) (i)

(र) (ii)

इकाई 13

एकात्मक और संघात्मक सरकार

इकाई की रुपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 एकात्मक सरकार

13.2.1 एकात्मक शासन के गुण

13.2.2 एकात्मक शासन के दोष

13.3 संघात्मक सरकार

13.3.1 संघ तथा परिसंघ

13.3.2 संघात्मक शासन की विशेषताएं

13.3.3 संघात्मक शासन के गुण

13.3.4 संघात्मक शासन के दोष

13.3.5 संघात्मक शासन की सफलता की शर्तें

13.3.6 संघ राज्यों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति

13.4 एकात्मक व संघात्मक शासन में अन्तर

13.5 सारांश

13.6 शब्दावली

13.7 उपयोगी पुस्तकें

13.8 सम्बन्धित प्रश्न

13.9 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप क्षेत्रीय आधार पर शासन शक्ति के गठन के फलस्वरुप उत्पन्न दो प्रकार की शासन प्रणाली – एकात्मक एवं संघात्मक के विषय में अध्ययन करेंगे। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :–

- एकात्मक सरकार को उसके गुण एवं दोषों सहित समझ सकेंगे।
- संघ एवं परिसंघ को समझ सकेंगे।
- संघात्मक शासन के गुण–दोषों को समझ सकेंगे।
- एकात्मक एवं संघात्मक सरकार के मध्य अन्तर को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

राज्य का एक आवश्यक तत्व सरकार होती है। शासन में शक्ति विभाजन के दो प्रकार होते हैं – क्षेत्रीय एवं कार्य संबंधी आधार। क्षेत्रीय आधार पर शक्ति विभाजन के अनुसार सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र को कई क्षेत्रों और उपक्षेत्रों में बाँट कर उस निश्चित सीमा के अन्दर कुछ निश्चित कार्य सम्पादित करने का उत्तरदायित्व दिया जाता है और इसकी पूर्ति हेतु एक शासकीय संगठन उपलब्ध कराया जाता है। इस क्षेत्रीय विभाजन और उपविभाजन के परिणामस्वरुप राष्ट्रीय सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों की श्रृंखला अस्तित्व में आती है। सभी आधुनिक राज्यों में क्षेत्रीय उपविभाजन निश्चित तौर पर समान ढंग का होता है। कुछ देशों में सम्पूर्ण देश को एक राजनीतिक इकाई माना जाता है और इसके सारे कार्यकलापों को सम्पादित करने वाले संगठन को राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय सरकार कहते हैं। कुछ देशों में देश को कई महत्वपूर्ण भागों में विभक्त कर दिया जाता है जिन्हें भिन्न–भिन्न नामों राज्य, प्रान्त कैन्टन एवं विभाग के रुप में जाना जाता है और इन सबके अपने शासकीय संगठन होते हैं। इन भागों को पुनः उपविभागों – जिला, काउन्टी, कस्बे व कम्यून आदि में बाँटा जाता है और इनके भी अपने राजनीतिक संगठन होते हैं। इस प्रकार क्षेत्रीय आधार पर विभाजित शक्तियों के केन्द्रीयकरण अथवा विभाजन के फलस्वरुप एकात्मक, संघात्मक एवं परिसंघात्मक शासन प्रणाली उदित होती है। किसी शासन प्रणाली में जब शासन शक्ति एक केन्द्र में निहित हो एवं अन्य प्रशासनिक इकाईयाँ केन्द्र से शक्ति प्राप्त करती हों उसे एकात्मक शासन कहते हैं और इसके विपरीत यदि शासन की शक्तियाँ राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय इकाईयों में विभाजित हों तो उसे संघात्मक व्यवस्था कहते हैं। संघात्मक शासन का ही एक रुप परिसंघात्मक व्यवस्था है। इस इकाई में हम एकात्मक संघात्मक एवं परिसंघात्मक व्यवस्था को समझने का प्रयास करेंगे और इनके मध्य अन्तर समझ पायेंगे।

13.2 एकात्मक सरकार

विश्व के अनेक देशों में एकात्मक शासन प्रणाली पायी जाती है जिनमें ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, अफगानिस्तान और चीन प्रमुख हैं। एकात्मक शासन वह शासन प्रणाली है जिसमें केन्द्रीय शासन के हाथों में सारी शक्तियों का केन्द्रीकरण है। संविधान द्वारा समस्त शक्तियाँ एक ही केन्द्र में निहित कर दी जाती हैं और शासन की अन्य इकाईयाँ (प्रान्त आदि स्थानीय सरकारें) अपने अधिकार और शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त करती हैं। इन इकाईयों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, इन्हें संविधान द्वारा कोई स्वतंत्र और मौलिक शक्ति प्राप्त नहीं होती। केन्द्रीय सरकार स्वेच्छा से इनका निर्माण करती है और स्वेच्छा से ही उन्हें अधिकार प्रदान करती है। केन्द्रीय सरकार स्थानीय सरकार को समाप्त कर सकती है, उसकी सीमाओं में परिवर्तन कर सकती है, उनकी शक्तियों को कम ज्यादा कर सकती है। इस शासन प्रणाली में स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की अंग मात्र होती हैं और उनकी अधीनस्थता में ही कार्य करती हैं। प्रो0 डायसी के अनुसार 'सर्वोच्च विधायी सत्ता का एक केन्द्रीय शक्ति द्वारा स्वाभाविक प्रयोग इसका विशिष्ट लक्षण हैं।' गार्नर ने एकात्मक शासन की परिभाषा देते हुए कहा है कि 'जहाँ शासन की सम्पूर्ण शक्ति संविधान द्वारा एक केन्द्रीय सरकार अथवा उसके अंगों को समस्त शक्ति प्रदान करता है और इन्हीं से स्थानीय सरकारों को अपनी सारी शक्ति तथा अपना अस्तित्व प्राप्त होता है।'

TESLA-024

इस प्रकार स्पष्ट है कि एकात्मक राज्य में स्थानीय सरकार की भी व्यवस्था होती है जैसे ब्रिटेन में काउंटी व बारो तथा फ्रांस में प्रशासनिक विभाग जिन्हें केन्द्रीय सरकार प्रशासनिक मितव्यता और कार्यकुशलता के लिए स्थापित करती हैं। एकात्मक शासन की प्रमुख रुप से निम्न विशेषताएं हैं :–

(1) सम्पूर्ण राज्य शक्ति का स्रोत केवल एक अर्थात् केन्द्रीय सरकार होती है।

(2) स्थानीय सरकारों की शक्तियाँ तथा अस्तित्व केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती है।

(3) एकात्मक शासन प्रणाली में शक्तियों का विभाजन संविधान द्वारा नहीं किया जाता है। संविधान समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार को प्रदान करती हैं और केन्द्र सरकार स्वेच्छा से इकाईयों को प्रदान करती है।

(4) सम्पूर्ण राज्य में इकहरी नागरिकता होती है, यद्यपि भारत संघ में एक ही नागरिकता है, जो एक अपवाद है।

(5) सम्पूर्ण राज्य में इकहरी न्यायपालिका होती है, भारत संघ इसका अपवाद है।

(6) स्थानीय शासन की इकाईयाँ वित्तीय संसाधन एकत्रित करने हेतु केन्द्र द्वारा निर्मित कानूनों पर ही निर्भर करती हैं। सामान्यतः ये संस्थाएं केन्द्र के अनुदानों पर ही निर्भर करती हैं।

(7) इस शासन प्रणाली में स्थानीय शासन संचालन हेतु दो प्रकार के अधिकारी एवं कर्मचारी होते हैं। पहले केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त कर्मचारी एवं अधिकारी होते हैं जो सीधा केन्द्र सरकार के प्रति उत्तरदायी होते हैं। दूसरे केन्द्रीय कानूनों द्वारा स्थापित संगठन के कर्मचारी जो केन्द्रीय कानून द्वारा निर्धारित सीमा के अन्तर्गत ही कार्य करते हैं।

13.2.1 एकात्मक शासन के गुण

एकात्मक शासन के निम्नलिखित गुण होते हैं –

(1) एकात्मक शासन का सबसे मुख्य गुण उसकी एकता है। चूँकि इस शासन व्यवस्था में शासकीय सत्ता का विभाजन नहीं होता इसलिए न तो सत्ता के लिए संघर्ष होता है और न ही अधिकारों का अतिक्रमण होता है। उत्तरदायित्व निवर्हन में स्पष्टता, कार्य व संगठन में पुनरावृत्ति का अभाव एकात्मक शासन में लक्ष्य योजना एवं संगठन की एकता को सुदृढ़ता प्रदान करती है। सरकार के सभी अंग एक ही प्रशासनिक मशीनरी के अभिन्न अंग होते हैं अतः सरकार की सारी शक्ति प्रशासन की उस समस्या को हल करने में लगायी जाती है जो सर्वाधिक आवश्यक लगे।

(2) एकात्मक शासन प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक कार्यकुशल होती है। परिवर्तित परिस्थितियों में यह तीव्र गति और आसानी से काम करती है। चूँकि इस शासन में प्रत्येक कार्य की जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार की होती है अतः विधियों, नीतियों एवं प्रशासन में एकरुपता होती है। हर कहीं अधिकारियों का एक ही समूह कार्य सम्पादित करता है और उत्तरदायी होता है। संगठन की सरलता एवं एकरुपता इस शासन प्रणाली को कार्यकुशल बनाती है।

(3) एकात्मक शासन प्रणाली में सरकार की समस्याएं सरल एवं व्यवस्था में लचीलापन रहता है। सुशासन हेतु संगठन का परिष्करण एवं समायोजन की क्षमता आवश्यक गुण है। एकात्मक शासन में शक्ति का क्षेत्रीय विभाजन केन्द्रीय सरकार द्वारा ही सुनिश्चित होता है अतएव आवश्यकता पड़ने पर परिस्थितियों के अनुकूल संगठन व शक्तियों में सरलता से परिवर्तन करना संभव है।

(4) एकात्मक शासन व्यवस्था विदेश नीति एवं युद्ध काल में प्रभावी रहती है। इस शासन प्रणाली में समस्त शक्ति केन्द्रीय सरकार में निहित होती है। अतएव किसी भी विषय से सम्बन्धित निर्णय शीघ्रता से लिये जा सकते हैं। नीतियों की एकरुपता के कारण उसके अनुरुप कार्य करना सरल होता है और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का निवर्हन अपेक्षाकृत प्रभावी ढंग से किया जा सकता है। निर्णयों में शीघ्रता एवं अनुपालन में सरलता के कारण यह शासन आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक सभी प्रकार के संकटों का सामना करने में सक्षम है।

(5) एकात्मक शासन में राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रवाद की भावना को सुदृढ़ता मिलती है। इस शासन में एकल नागरिकता होती है जिससे नागरिकों में कर्तव्य एवं निष्ठा में विभाजन नहीं होता ओर राष्ट्रीयता की भावना सुदृढ़ होती है। शासन में एकरुपता और शक्ति का एक केन्द्र होने के कारण स्थानीय द्वेष एवं समस्याएं राष्ट्रीय एकता को क्षति नहीं पहुँचा पाते।

(6) एकात्मक शासन प्रणाली अपेक्षाकृत मितव्ययी होती है। इस शासन में दोहरी प्रशासनिक मशीनरी नहीं होती अतएव सम्पूर्ण राज्य के लिए अधिकारियों, संगठनों और विभागों का एक ही समूह कार्य करता है। इस प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था कार्य एवं संगठन के दोहरेपन को रोकती है जो धन व्यय को कम करती है।

(7) छोटे राज्यों के लिए एकात्मक शासन सबसे प्रभावशाली शासन है क्योंकि इसमें सब भेद समाप्त करके राज्य में एकीकृत संगठन द्वारा एकता स्थापित करना संभव है।

13.2.2 एकात्मक शासन के दोष

एकात्मक शासन में गुणों के साथ ही साथ कुछ दोष भी हैं जो निम्नलिखित हैं:

(1) एकात्मक शासन का सबसे बड़ा दोष इसमें स्थानीय शासन की दुर्बलता एवं महत्वहीनता है। चूँकि इस व्यवस्था में स्थानीय प्रशासन को पहल करने की शक्ति नहीं होती अतः वे सार्वजनिक मामलों में रुचि नहीं लेते। इस शासन प्रणाली में शक्तियों के केन्द्रीयकरण के कारण लोकतंत्र के विकास में बाधा उत्पन्न होती है। लोकतंत्र की सफलता विकेन्द्रीकरण में निहित होती है और एकात्मक शासन में विकेन्द्रीकरण नहीं होता है जिससे स्थानीय शासन भी पल्लवित और पुष्पित नहीं हो पाता। यही नहीं, इस शासन में प्रायः वैयक्तिक स्वतंत्रता को प्रतिबन्धित कर मानव व्यक्तित्व के विकास में बाधा भी उत्पन्न की जाती है।

(2) यह शासन प्रणाली विशाल क्षेत्र वाले, बहुल प्रजाति, धर्म, संस्कृति, भाषा वाले राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है। ऐसे देशों की आवश्यकताओं को

एकात्मक शासन की तुलना में संघात्मक शासन ही प्रभावी ढंग से पूरा कर सकता है।

(3) एकात्मक शासन में शक्तियों के विकेन्द्रीकरण के अभाव एवं स्थानीय शासन की महत्वहीनता के कारण जनसामान्य सार्वजनिक मामलों के प्रति उदासीन तथा विरक्त रहते हैं क्योंकि वे शासन के दायित्वों को वहन करने अथवा सहभागी बनने का पर्याप्त अवसर नहीं प्राप्त कर पाते। अवसरों की इस अनुपलब्धता के कारण जनसामान्य राजनीतिक प्रशिक्षण से भी वंचित रह जाते हैं।

(4) एकात्मक शासन में शक्तियों के केन्द्रीकरण के फलस्वरुप केन्द्रीयकृत नौकरशाही का उदय होता है जो अत्यधिक शक्तिशाली एवं प्रभावी होती है। नौकरीशाही जनता के प्रति उत्तरदायी न होकर केन्द्रीय सत्ता के प्रति उत्तरदायी होती है अतः वह सम्पूर्ण प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण रखती है। नौकरशाही स्थानीय समस्याओं के प्रति उदासीनता रखती है और जननियंत्रण के अभाव के कारण यह लालफीता शाही और भ्रष्टाचार के दोषों से लिप्त हो जाती हैं।

(5) इस शासन प्रणाली में केन्द्र पर कार्यों का बोझ बढ़ जाता है जिससे प्रशासन में कार्यकुशलता का अभाव एवं कार्य सम्पादन में अयोग्यता उत्पन्न होती है। सम्पूर्ण व्यवस्था की जिम्मेदारी राष्ट्रीय एवं स्थानीय समस्याओं का निराकरण केन्द्र के कार्यक्षेत्र में आता है जिसका संतोषजनक हल खोजने में यह अक्षम होती है। क्षेत्रीय एवं स्थानीय समस्याओं का निराकरण विकेन्द्रीकरण के आधार पर ही हल करना संभव है।

(6) एकात्मक व्यवस्था मूल रुप से रुढ़िवादी और अलोकतांत्रिक होती है क्योंकि इसमें अन्ततः एक शक्तिशाली और केन्द्रीकृत नौकरशाही स्थापित हो जाती है। ऐसे शासन में नये एवं क्रान्तिकारी कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में बाधा उत्पन्न होती है जो विकास कार्यों को प्रभावित करती है। शक्तियों के अत्यधिक केन्द्रीकरण के कारण प्रायः ऐसी शासन व्यवस्था में क्रान्तियों की भी आशंका बनी रहती है क्योंकि अत्यधिक शक्ति इसको निरंकुश शासन की ओर अग्रसर करती है।

13.3 संघात्मक सरकार

एकात्मक सरकार के विकल्प के रुप में संघात्मक सरकार होती है। संघवाद का अंग्रेजी पर्यायवाची 'फेडरलिज्म' (Federalism) है जो लैटिन भाषा के शब्द 'फोएडस' (Foedus) से उद्भूत हुआ है और इस शब्द का अर्थ संधि या समझौता है। संघीय सरकार की स्थापना के लिए कुछ स्वतंत्र राज्य अपने आपको अलग रखते हुए सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संघ बना लेते हैं। ये राज्य सामान्य हित के विषयों को उस केन्द्रीय सत्ता को सौंप देते हैं जिसकी जिम्मेदारी सम्पूर्ण देश के शासन की होती है। इसी सरकार को संघीय सरकार कहते हैं। संघीय सरकार की स्थापना से राज्यों की शक्तियाँ विलुप्त नहीं होती क्योंकि संघ सरकार केवल वही कार्य करती है जिसका सम्पूर्ण देश से सम्बन्ध होता है। एक संघात्मक राज्य में दोहरी शासन व्यवस्था रहती है – एक केन्द्रीय और दूसरी राज्यों अथवा इकाईयों की। इस शासन में केन्द्रीय और इकाईयों की सरकारों के बीच सम्बन्ध विशेष प्रकार का होता है। इकाइयों की सरकारों का निर्माण केन्द्रीय सरकार नहीं करती और न ही उनका अस्तित्व, अधिकार, शक्तियाँ उनकी दया पर

निर्भर होती हैं। केन्द्र और संघ की इकाइयों के बीच शक्तियों का बँटवारा संविधान के द्वारा होता है। शक्ति विभाजन के लिए दो प्रणालियाँ प्रचलित हैं – प्रथम के अनुसार प्रशासन में कुछ विशेष अधिकार संघीय सरकार को दे दिए जाते हैं और शेष सभी कार्यों की जिम्मेदारी इकाईयों की होती है। संघात्मक शासन को सर्वप्रथम अंगीकृत करने वाले राज्य संयुक्त राज्य अमरीका ने शक्ति वितरण की इसी प्रणाली को अपनाया गया है। दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत इकाईयों के अधिकार सुनिश्चित कर दिये जाते हैं और शेष विषयों पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार होता है। संघ शासन में दोनों स्तरों की सरकारें अपने–अपने निर्दिष्ट कार्यों को बिना हस्तक्षेप किए पूरा करती हैं। संघ राज्यों में सदस्य राज्यों (इकाइयों) को भिन्न–भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है। भारत व संयुक्त राज्य अमेरिका में इन्हें राज्य (States), कनाडा में प्रान्त (Province) और स्विट्जरलैण्ड में कैंटन (Canton) कहा जाता है। गार्नर ने संघात्मक सरकार को स्पष्ट करते हुए कहा है ''संघ सरकार सामान्य प्रभुत्व के अधीन संयुक्त केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों की एक व्यवस्था है, उस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकार अपने–अपने निश्चित क्षेत्र में सर्वोच्च होती हैं और उनके क्षेत्र संविधान द्वारा या उस व्यवस्था को जन्म देने वाले संसद के अधिनियम के द्वारा निर्धारित होते हैं।''

13.3.1 संघ तथा परिसंघ

संधि या समझौते द्वारा उत्पन्न नये राज्य का निर्माण करने वाले संघ राज्य व अन्य संघों में अन्तर होता है। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों, अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासनिक संघों, व्यक्तिगत संघों और यहाँ तक कि परिसंघों को भी एकता व स्थायित्व के अभाव में संघ नहीं कहा जा सकता। दो या अधिक राज्य मिलकर अपनी सुरक्षा अथवा किसी सामान्य शत्रु पर आक्रमण के उद्देश्य से संधि कर एक संघ का निर्माण करते हैं परन्तु सम्मिलित राज्य अपनी सम्प्रभुता एवं स्वतन्त्रता का लोप नहीं करते हैं। प्रथम विश्व युद्ध एवं द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त इस तरह के कई सैन्य सन्धि व समझौते हुए थे।

इसी प्रकार संघ व परिसंघ के मध्य भी अन्तर है। परिसंघ (Confederation) में सदस्य राज्य अपनी संप्रभुता एवं वैध स्वतंत्रता को बनाए रखते हैं और किसी नए राज्य का निर्माण नहीं होता। केन्द्रीय सरकार तो होती है परन्तु केन्द्रीय संप्रभुता नहीं होती। केन्द्रीय सरकार केवल उसी सत्ता का प्रयोग करती है जो सदस्य राज्यों द्वारा उसे प्रदत्त होते हैं। इस प्रकार परिसंघ अकेला राज्य नहीं होता। यह अनेक प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों का संग्रह होता है जो किसी निश्चित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कुछ निश्चित शर्तों पर मिल जाते हैं। हर राज्य को यह अधिकार होता है कि वह जब चाहे इसे छोड़ दे। अतः परिसंघ स्थाई व अभंजनीय नहीं हो सकता, क्योंकि अगर ऐसा हो तो संघटक राज्यों की प्रभुसत्ता विलुप्त हो जायेगी। परिसंघ व्यवस्था में नागरिकों की निष्ठा सीधी अपनी–अपनी राज्य सरकारों के प्रति रहती है और परिसंघ सरकार का उनसे बहुत कुछ अप्रत्यक्ष सम्पर्क ही रहता है। परिसंघ के सर्वोत्तम उदाहरण 1820 का जर्मन परिसंघ या 1781 का अमेरिकी परिसंघ है। उनका संगठन सामान्य सरकार का क्षेत्रीय सरकारों के ऊपर निर्भरता के सिद्धान्त पर हुआ था। परिसंघों में सामान्य सरकार द्वारा महत्वपूर्ण मामलों के लिए गए निर्णय राज्यों पर बिना सहमति बाध्यकारी नहीं थे। इसके विपरीत संघ राज्यों में संघ और स्थानीय सरकारों के कार्यक्षेत्र का निर्धारण एवं विभाजन संविधान द्वारा स्पष्ट रुप से होता है। यद्यपि संघ व परिसंघ में सामान्य रुप से देखने में समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं परन्तु दोनों में असमानता है। संघ व परिसंघ के बीच भिन्नता संक्षेप में निम्नानुसार है –

TFSLA-024

(1) संघ एक नए राज्य का निर्माण करता है जबकि परिसंघ राज्यों का एक संघ मात्र है।

(2) संघ राज्य में एक नयी संप्रभुता का उदय होता है जबकि परिसंघ में उतनी ही संप्रभुताएं होती हैं जितने इसमें सम्मिलित राज्य। परिसंघ स्वतंत्र राज्यों का एक समूह ही रहता है जबकि संघ राज्य में एक सम्प्रभुता होती है और घटक इकाईयों की संप्रभुता सीमित और मर्यादित हो जाती है या उदित हुए नये राज्य में वे अपनी संप्रभुता को निहित कर देते हैं।

(3) संघ में एक नई विधि संहिता का निर्माण होता है जिसे संविधान कहते हैं हालांकि इकाईयों के अपने अलग कानून भी होते हैं इसलिए संघ में कानूनों का दोहरा रुप होता है जबकि परिसंघ का कोई संविधान नहीं होता। यह सदस्य राष्ट्रों के बीच एक संधि या समझौता मात्र है।

(4) संघ में एक नयी नागरिकता का जन्म होता है अतएव यहाँ दोहरी नागरिकता होती है – संघ राज्य की नागरिकता और प्रत्येक घटक इकाईयों की नागरिकता। जबकि परिसंघ में ऐसा नहीं होता वहाँ प्रत्येक राज्य के नागरिक केवल अपने ही राज्य के नागरिक होते हैं। इस प्रकार संघ में सदस्यता नागरिकों तथा संघ में सम्मिलित राज्यों दोनों को प्राप्त होती है। जबकि परिसंघ में सदस्यता केवल उसमें सम्मिलित राज्यों को ही प्राप्त होती है।

(5) संघ एक राष्ट्र का निर्माण करता है जिसमें एक निश्चित भौगोलिक सीमा होती है और राष्ट्रीय अखण्डता एवं राष्ट्रीय संप्रभुता विद्यमान रहती है परन्तु परिसंघ में ऐसा नहीं होता।

(6) संघ की इकाईयाँ अलग नहीं हो सकती और किसी इकाई द्वारा इससे अलग होने का प्रयास राष्ट्रीय अखण्डता पर आघात पहुँचाने का अपराध माना जाता है परन्तु परिसंघ की इकाईयाँ सरलता से अलग हो सकती हैं। भारत में घटक इकाईयों के नाम, सीमा में परिवर्तन करने का अधिकार भारतीय संघ को प्राप्त है परन्तु इकाईयों को अलग होने की वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है।

(7) संघ की दो इकाईयों के मध्य युद्ध को गृह युद्ध कहा जाता है परन्तु परिसंघ में सम्मिलित राज्यों के मध्य युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध माना जाता है।

(8) संघ में कानूनों का निर्माण एक विधायिका द्वारा होता है परन्तु परिसंघ में सम्मिलित राज्यों के दिशा निर्देशन हेतु नियमों का निर्माण सभी राज्यों के सम्मेलन द्वारा अर्थात् राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा होता है।

13.3.2 संघात्मक शासन की विशेषताएं

संघ एवं परिसंघ के मध्य अन्तर करने के पश्चात् संघात्मक सरकार की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :–

(1) **सर्वोच्च, लिखित एवं कठोर संविधान –** संघात्मक शासन के लिए संविधान सर्वोच्च, लिखित एवं कठोर होना आवश्यक है। केन्द्रीय व इकाईयों की सरकारें संविधान से ही अपनी शक्ति ग्रहण करती हैं। संविधान की

कठोरता से तात्पर्य है कि संविधान में संशोधन सामान्य विधि निर्माण की प्रक्रिया से न होकर विशेष प्रक्रिया को अपनाया जाना। संविधान संशोधन में विशेष प्रक्रिया को अपनाने वाले संविधान को कठोर संविधान कहा जाता है। संविधान की कठोरता केन्द्रीय एवं इकाईयों की सरकारों द्वारा अपनी सुविधानुसार संविधान में संशोधन पर रोक लगाकर संघात्मक ढ़ाँचे को सुरक्षित रखती हैं। लिखित संविधान होने से केन्द्रीय सरकार एवं इकाईयों की सरकारों के मध्य अधिकार क्षेत्र को लेकर विवाद उत्पन्न नहीं होता।

(2) **शक्तियों का विभाजन** – संघात्मक शासन में शक्तियों का विभाजन संघ एवं इकाईयों के मध्य अनिवार्य है। प्रायः राष्ट्रीय महत्व के विषय इकाईयों को प्रदान किये जाते हैं। शक्ति विभाजन में सामान्यतः दो प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है। पहला केन्द्र की शक्तियों को स्पष्ट कर दिया जाये और अवशेष अधिकार इकाईयों को दे दिए जाए। संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड एवं आस्ट्रेलिया में इसी विधि को अपनाया गया है। दूसरी प्रणाली में इकाईयों के सीमित अधिकार स्पष्ट कर अवशेष अधिकार केन्द्र को दे दिये जाते हैं। भारत व कनाडा में अवशेष अधिकार केन्द्र को प्राप्त हैं। राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय महत्व के अलावा अधिकारों का एक नया क्षेत्र उदित हुआ है जो दोनों के लिए समान महत्व का है और उसे केन्द्र व इकाईयों दोनों को समान रुप से प्रदान किया जाता है परन्तु विवाद की स्थिति में केन्द्र को प्राथमिकता दी जाती है। भारत में शक्ति विभाजन की तीन सूचियाँ – संघ सूची (केन्द्र का अधिकार क्षेत्र), राज्य सूची (राज्यों का अधिकार क्षेत्र), समवर्ती सूची (केन्द्र व राज्यों दोनों का अधिकार क्षेत्र) का वर्णन संविधान में है और अवशेष शक्तियाँ केन्द्र को प्रदान की गयी हैं।

(3) **स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका** – संघात्मक शासन के लिए एक स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका का होना आवश्यक है। संविधान की व्याख्या करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को ही प्राप्त होता है। स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं सर्वोच्च न्यायालय दो महत्वपूर्ण कार्य करते हैं – पहला यह संघ व इकाईयों अथवा दो या अधिक इकाईयों के मध्य अधिकार क्षेत्र को लेकर उठे विवादों का निर्णय करते हैं। दूसरा यह विभिन्न सरकारों को उनकी सीमा के अन्तर्गत मर्यादित रखते हैं जिससे वे एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप न करें। संविधान के रक्षक एवं संघ व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए स्वतंत्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका अनिवार्य है।

(4) **दोहरी नागरिकता** – संघात्मक शासन में प्रत्येक नागरिक की राज्य भक्ति या नागरिकता दोहरी होती है। एक संघ सरकार के प्रति दूसरी राज्य सरकार के प्रति। नागरिकों को दो प्रकार की विधियों का पालन करना पड़ता है – केन्द्रीय विधि और राज्यों की विधि। दोनों सरकारों का जनता से सीधा सम्पर्क होता है। भारत में दोहरी नागरिकता का प्रावधान नहीं है जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था है।

(5) **द्विसदनीय व्यवस्थापिका** – संघात्मक शासन के लिए द्विसदनीय व्यवस्थापिका अनिवार्य नहीं परन्तु लाभप्रद अवश्य है। द्वितीय सदन की आवश्यकता कुछ निश्चित विधायी कार्यों और सामाजिक परिवर्तनों को सरलता से प्रभावी होने से रोकना है। द्वितीय सदन में इकाईयों को प्रतिनिधित्व देकर उन कार्यों पर अंकुश लगाने का लक्ष्य होता है जिनसे संघात्मक व्यवस्था प्रभावित होती हो। द्वितीय सदन में इकाईयों में प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था अलग–अलग है। उदाहरण के लिए संयुक्त

राज्य अमेरिका में प्रत्येक इकाई से चाहे वह छोटी हो या बड़ी दो सदस्य द्वितीय सदन (सीनेट) में आते हैं जबकि भारत में प्रतिनिधित्व का आधार जनसंख्या है अतः द्वितीय सदन (राज्य सभा) में बड़ी जनसंख्या वाले राज्यों से ज्यादा सदस्य और कम जनसंख्या वाले राज्यों से कम सदस्य चुनकर आते हैं।

इसके अतिरिक्त संघात्मक शासन की अन्य विशेषताओं में एक है कि संघ का निर्माण होता है विकास नहीं तथा दूसरा संघ की इकाईयों को इससे अलग होने का अधिकार प्राप्त नहीं है।

13.3.3 संघात्मक शासन के गुण

प्रत्येक शासन प्रणाली की भाँति संघात्मक शासन प्रणाली में भी कुछ गुण दोष हैं। संघात्मक शासन के निम्नलिखित गुण हैं :–

(1) संघात्मक शासन में विविधता में एकता स्थापित करने की क्षमता होती है। विशाल क्षेत्र वाले ऐसे राज्यों के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त है जहाँ प्रजातीय, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भाषायी भिन्नताएं हों। ऐसे राज्यों में संघ राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वायत्ता के मध्य समन्वय करता है और दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करता है। सामान्य तथा केन्द्रीय सरकार का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय महत्व एवं सामान्य हितों से सम्बन्धित है। स्थानीय हित एवं महत्व के विषय स्थानीय स्तर पर निराकरण के लिए छोड़ दिया जाते हैं। इस प्रकार संघात्मक शासन में केन्द्रीयकरण एवं विकेन्द्रीकरण के तत्वों का अद्‌भुत सामन्यजस्य होता है।

(2) संघात्मक शासन में निरंकुशता की संभावना नहीं रहती और नागरिकों की स्वतंत्रताओं की भी रक्षा होती है। इस शासन में शक्ति का विभाजन और वितरण होता है तथा किसी भी प्रकार से शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होता। यदि ऐसा करने का प्रयास किया जाये तो अधिकार क्षेत्र के उल्लंघन का आधार पर उसका विरोध किया जाता है। सरकार की सत्ता सीमित होने के कारण व्यक्तियों की स्वतंत्रता अधिक सुनिश्चित हो जाती है।

(3) संघात्मक शासन में प्रशासन एवं विधि निर्माण सम्बन्धी प्रयोग संभव हैं। किसी नवीन प्रशासनिक व्यवस्था अथवा विधि को प्रयोग के रुप में स्थानीय स्तर पर लागू किया जाता है और वहाँ पर सफल होने पर उसे राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने का उपक्रम किया जाता है। इस प्रकार सीधे राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने का जोखिम इस व्यवस्था में नहीं उठाना पड़ता।

(4) संघात्मक शासन अपेक्षाकृत अधिक कार्यकुशल शासन है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण राज्य का कई इकाईयों में विभाजन रहता है और स्थानीय महत्व के विषय एवं समस्याओं का स्थानीय स्तर पर ही निराकरण कर दिया जाता है। आज के बड़े–बड़े लोकतांत्रिक राज्यों संयुक्त राज्य अमेरिका व भारत आदि में संघात्मक व्यवस्था ही पायी जाती है।

(5) संघात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार पर कार्यों एवं उत्तरदायित्वों का बोझ नहीं रहता। शक्ति विभाजन के द्वारा केन्द्रीय सरकार केवल राष्ट्रीय महत्व के विषयों को ही सम्पादित करती है शेष कार्य इकाई की सरकारों के लिए छोड़ दिये जाते हैं जिससे केन्द्रीय सरकार पर कार्यों का अधिक बोझ नहीं रहता।

(6) संघात्मक शासन में जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण प्राप्त होता है और वे सार्वजनिक मामलों में रुचि लेते हैं। संघ शासन प्रणाली में शासन के अनेक केन्द्र होने के कारण अधिक संख्या में जनता को शासन कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलता है। संघ सरकार व्यक्ति के जीवन में अधिक हस्तक्षेप नहीं कर पाती और व्यक्ति को अपने जीवन एवं व्यक्तित्व विकास के अधिक अवसर रहते हैं। संघ की अपेक्षा अपनी इकाई राज्य के मामलों में उसका अधिक प्रभाव रहता है इससे जनता में पहल करने की शक्ति और राजनीतिक मामलों में रुचि बढ़ती है।

(7) संघात्मक शासन प्रतिरक्षा की दृष्टि से भी बड़ी लाभप्रद है क्योंकि निर्बल राज्य वाह्य शत्रुओं से अकेले अपनी रक्षा नहीं कर सकते परन्तु संघ के माध्यम से वे अपनी रक्षा करने में सक्षम होते हैं। संघवाद के उदय ने युद्धों की संख्या कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

(8) संघात्मक शासन आर्थिक विकास की दृष्टि से भी बड़ी लाभदायक है। छोटे–छोटे राज्यों के आर्थिक संसाधन विकास एवं उन्नति की दृष्टि से पर्याप्त नहीं होते। ऐसी स्थिति में उन्हें बड़े व शक्तिशाली राज्यों से आर्थिक सहायता लेनी पड़ती है और फलस्वरुप वे उनकी अधीनता में आ जाते हैं। परन्तु छोटे–छोटे राज्यों के संघ में परिवर्तित होने से आर्थिक संसाधन कई गुना बढ़ जाते हैं और उत्पादन और वितरण के समुचित अवसरों के द्वारा वे अपना विकास कर सकते हैं।

(9) संघात्मक व्यवस्था विश्व शासन के लिए उदाहरण प्रस्तुत करती है। आज विश्व सरकार की बात की जा रही है – एक विश्व, एक राज्य, एक शासन एवं एक नागरिकता जो संघात्मक शासन की प्रेरणा से ही संभव है।

(10) संघात्मक शासन में राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होती है। एकता में ही शक्ति निहित है, इस वाक्य को संघात्मक शासन सही सिद्ध करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संघ राज्यों के समूह के रुप में जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा है वह उसकी किसी एक इकाई की नहीं है या सोवियत संघ की सन् 1991 में विघटन से पूर्व जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा थी वो उसकी विघटित व स्वतंत्र इकाईयों की नहीं है। भारत की भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा उसकी संघ की शक्ति में निहित है क्योंकि प्रत्येक इकाई का अपना विशिष्ट महत्व है जो सामूहिक रुप से उसे शक्तिशाली बनाता है।

13.3.4 संघात्मक शासन के दोष

संघात्मक शासन के गुणों के आधार पर एक प्रभावी शासन प्रणाली माना जाता है परन्तु फिर भी उसमें कुछ दोष अथवा कमियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं :–

(1) संघात्मक शासन संगठन की दृष्टि से बहुत जटिल होता है। संविधान द्वारा शक्तियों का उचित विभाजन एक गम्भीर समस्या है। दोहरी कानून व्यवस्था एवं प्रशासकीय ढ़ाँचे के कारण कानून एवं प्रशासकीय ढ़ाँचे में एकता का अभाव रहता है। नागरिकों को इससे बड़ी कठिनाई होती है। नागरिकता की दोहरी व्यवस्था के कारण भी समस्या उत्पन्न होती है क्योंकि हर व्यक्ति दोहरी भक्ति को नहीं निभा पाता। प्रायः ऐसा भी होता है कि सामान्य हित की दृष्टि से सम्पूर्ण संघ के लिए एक कानून हो परन्तु प्रायः दो–दो कानूनों की उपस्थिति अनिश्चितता उत्पन्न करती है।

(2) संघात्मक शासन का एक दोष यह है कि इसमें परिस्थितियों के अनुकूल आवश्यक परिवर्तन सरलता से नहीं किये जा सकते। संघात्मक शासन में संविधान की सर्वोच्चता होती है जो केन्द्रीय एवं इकाईयों की सरकारों के लिए बाध्यकारी होती है। प्रायः संविधान में संशोधन दोनों के द्वारा मिलकर ही किया जाना चाहिए किसी एक सरकार द्वारा नहीं। अतएव परिस्थितियों के अनुकूल कोई परिवर्तन करना हो तो संशोधन की जटिल प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है अतएव समय एवं आवश्यकता अनुरुप वांछित परिवर्तन नहीं हो पाते।

(3) संघात्मक शासन में धन एवं समय का अपेक्षाकृत अधिक व्यय होता है। धन का अपव्यय इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक इकाई की अपनी–अपनी कार्यपालिका, व्यवस्थापिका एवं न्यायपालिका होती है और केन्द्र की अपनी। प्रत्येक स्तर पर विभागों के कर्मचारी भी अलग–अलग होते हैं। इस दोहरी व्यवस्था के कारण व्यय कई गुना बढ़ जाता है वहीं ऐसे मामलों को सुलझाने में अनावश्यक विलम्ब होता है जिनका सम्बन्ध केन्द्र व इकाई की सरकार दोनों से हो। अतः इसमें अनावश्यक विवाद होता है, उत्तरदायित्व का अभाव होता है तथा समय का अपव्यय होता है।

(4) संघात्मक शासन विदेशी मामलों के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत दुर्बल होता है। शिथिल संविधान वाले संघों में जहाँ इकाईयों को अपेक्षाकृत अधिक शक्ति मिलती है। उनकी अन्तर्राष्ट्रीय नीति भी शिथिल रहती है। ऐसी संघ सरकार अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का प्रभावी ढंग से निर्वहन नहीं कर पाते। यदि संघ सरकार की वैदेशिक नीति इकाईयों के आर्थिक, राजनीतिक जीवन एवं स्थितियों पर प्रभाव डालती हैं तो वे ऐसे मामलों में संघ का विरोध करके वैदेशिक नीति को कार्यान्वित नहीं होने देती हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं।

(5) संघात्मक शासन में संघ एवं इकाईयों के मध्य अधिकार क्षेत्र को लेकर प्रायः विवाद, संघर्ष और प्रतिस्पर्धा देखने को मिलती है। यद्यपि संघ में इकाईयों का सम्मिलन स्थायी होता है परन्तु असन्तुष्ट इकाई का संघ से पृथक होने की संभावना बनी रहती है अथवा कुछ प्रभावशाली इकाईयाँ एक समूह बनाकर सम्पूर्ण संघ पर प्रभावी होने का प्रयास कर सकती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में दक्षिणी राज्यों ने मिलकर गुट बनाया और गृहयुद्ध हुआ। भारत में भी क्षेत्रियता, भाषायी संकीर्णता अथवा विचारधारा की संकीर्णता के कारण इकाईयों से विरोध के स्वर उठते रहते हैं और स्वतंत्र राज्य की माँग के उदाहरण सामने है। पंजाब का आतंकवाद अथवा पूर्वोत्तर राज्यों का उग्रवाद इसी का उदाहरण हैं।

(6) संघात्मक शासन में केन्द्र एवं इकाईयों की शक्तियाँ विधितः स्पष्ट कर दी जाती हैं परन्तु परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण उनमें संशोधन की आवश्यकता पड़ती है जो आसानी से नहीं हो पाता। अतएव संशोधन एवं परिवर्तन के अभाव में शक्तियों का विभाजन नवीन परिस्थतियों से सामंजस्य नहीं कर पाता।

13.3.5 संघात्मक शासन की सफलता की शर्तें

जैसा कि हम पूर्व में अध्ययन कर चुके हैं कि संघ का निर्माण होता है विकास नहीं। यह निर्माण दो प्रकार से हो सकता है – पहला जब स्वतंत्र राज्य

अपनी सुरक्षा एवं आर्थिक हितों के संरक्षण हेतु अपनी सम्प्रभुता परित्याग करके, एक संघ का निर्माण करते हैं जिसे केन्द्र कहते हैं और स्वयं उसकी इकाईयाँ कहलाते हैं। इसमें संघ निर्माण की इच्छा नीचे से ऊपर की ओर चलती हैं जिसे केन्द्रोन्मुख पद्धति भी कहते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है जहाँ 13 स्वतंत्र राज्यों ने सर्वप्रथम एक संघ की स्थापना की। दूसरा प्रकार है केन्द्राभिमुख पद्धति का है जब संघ निर्माण की इच्छा ऊपर से नीचे की ओर चलती है या जब एकात्मक सरकार को संघात्मक सरकार में परिवर्तित करने का कार्य किया जाये उदाहरणार्थ 1935 में भारत को एकात्मक स्वरुप से संघात्मक स्वरुप में परिवर्तित किया गया। संघ एक विशेष प्रकार की व्यवस्था है जिसकी सफलता के लिए निम्नलिखित आवश्यक शर्तें हैं :–

(1) संघात्मक शासन की सफलता के लिए सर्वप्रथम भौगोलिक समीपता अनिवार्य है। राज्य का क्षेत्र बड़ा हो या छोटा उनमें सम्पर्कबद्धता होनी चाहिए। यदि भौगोलिक क्षेत्र विस्तृत एवं विभाजित हो और उनमें सम्पर्क करना सरल हो तो प्रशासनिक, आर्थिक एवं प्रतिरक्षा की दृष्टि से उचित होता है। संयुक्त राज्य अमरीका की सफलता का बहुत कुछ श्रेय उसकी इकाईयों की भौगोलिक समीपता को दिया जाता है। भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया और स्विट्जरलैण्ड के संघों में भौगोलिक समीपता पायी जाती है जबकि पाकिस्तान में पूर्वी व पश्चिमी भाग में दूरी नवीन राज्य बांग्लादेश के उदय का कारण बनी।

(2) संघात्मक शासन के निर्माण के लिए संस्कृति, भाषा, धर्म और हितों की एकता एक आवश्यक शर्त है। विविधता में एकता का लक्ष्य संघ व्यवस्था के लिए आवश्यक है। यद्यपि कुछ विद्वान इसे अनिवार्य शर्त नहीं मानते क्योंकि बहुभाषी स्विट्जरलैण्ड में संघ स्थापित है। भारत में विविधता होते हुए भी सांस्कृतिक एकता के कारण संघ सफल है। मुस्लिम देशों में समान धर्म व संस्कृति है परन्तु वे संघ बनाने में सफल नहीं हो सके। अतः संघ निर्माण के लिए भाषा, संस्कृति, धर्म व हितों की एकता आवश्यक हो सकती है, अनिवार्य नहीं।

(3) संघात्मक शासन की सफलता के लिए इकाइयों की स्थिति में समानता हो। यद्यपि जनसंख्या एवं आकार में सभी इकाईयाँ समान नहीं हो सकती परन्तु शक्ति एवं स्थिति में सभी का समान होना अनिवार्य है अन्यथा शक्तिशाली इकाईयाँ दुर्बल इकाईयों पर हावी होने का प्रयास करेंगी और दुर्बल इकाईयाँ शक्तिशाली इकाईयों को घृणा व शंका की दृष्टि से देखेंगी। संघ की इकाईयों में असमानता की भावना विकसित नहीं होनी चाहिए। भारत व संयुक्त राज्य अमेरिका में जनसंख्या व आकार के आधार में असमानता है परन्तु इकाईयों को द्वितीय सदन में समान प्रतिनिधित्व तथा संविधान संशोधन प्रक्रिया में सहभागिता का अधिकार इकाईयों में विद्वेष की भावना उत्पन्न नहीं होने देती।

(4) संघात्मक शासन की सफलता सामान्य जनता की राजनैतिक प्रबुद्धता एवं योग्यता पर भी निर्भर करती है। संघात्मक शासन का संगठन अपने दोहरे स्वरुप के कारण जटिल होता है। दोहरी नागरिकता के कारण नागरिकों की निष्ठा भी दोहरी होती है जिसे निभाने के लिए नागरिकों में राजनैतिक जागरुकता एवं प्रबुद्धता का होना भी आवश्यक है अन्यथा संकीर्ण स्वार्थों एवं हितों के टकराव संघ को कमजोर कर देंगे।

(5) संघात्मक शासन की सफलता के लिए सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं में समानता होना आवश्यक है। इसकी सफलता के लिए केन्द्र व इकाई स्तर पर ढाँचा समान होना चाहिए। दोनों स्तरों पर शासन में समरुपता किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न नहीं करती और प्रशासन सुचारु रुप से संचालित होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में दोनों ही स्तरों पर गणतंत्रीय एवं अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था है जबकि शासन के किसी अन्य रुप पर प्रतिबन्ध का प्रावधान स्वयं संविधान में निहित है। इसी प्रकार भारत, कनाडा और आस्ट्रेलिया में केन्द्रीय व स्थानीय स्तरों पर संसदात्मक शासन व्यवस्था है।

(6) संघात्मक शासन की सफलता के लिए सामाजिक–आर्थिक विकास होना आवश्यक है। सामाजिक विकास में शिक्षा का विशेष योगदान है और शिक्षित व्यक्ति में संकीर्णता एवं रुढ़िवादिता का अभाव होता है जो राष्ट्र की एकता के लिए आवश्यक है। सामाजिक विकास के कारण जनता विघटनकारी शक्तियों के दुष्प्रभाव में नहीं आ पाती। वहीं आर्थिक विकास के द्वारा शासन के दोहरे स्वरुप को संभालना सरल हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक एवं आर्थिक विकास संघात्मक शासन में असंतुलन को समाप्त करने में सहयोग करते हैं और राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करते हैं।

(7) संघात्मक शासन में राजनैतिक एवं राष्ट्रीय एकता आवश्यक है। संघात्मक शासन में स्थानीय हितों एवं आकांक्षाओं को ध्यान में रखते हुए सम्पूर्ण राष्ट्र का ऐसा राजनैतिक एकीकरण किया जाये कि वह एक सजातीय इकाई मालूम पड़े अर्थात् राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वायत्ता में सामंजस्य होना चाहिए। विघटनकारी शक्तियों को नियंत्रित एवं राष्ट्रीय एकता को विकसित करने का कार्य संघात्मक शासन के लिए अनिवार्य है।

(8) संघात्मक शासन की सफलता का मूलमंत्र केन्द्रीय एवं इकाई की सरकारों के बीच प्रभावी समन्वय है। यद्यपि दोनों स्तरों की सरकारों के बीच कार्य विभाजन एवं शक्ति विभाजन संविधान द्वारा किया जाता है परन्तु फिर भी उनमें अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने की व्यवस्था करना आवश्यक है जिससे दोनों शासन आपस में संबद्ध रहें। संघात्मक शासन में प्रतियोगी के स्थान पर सहयोगी, दमनीय के स्थान पर अनुनीय, कठोर के स्थान पर लचीला तथा विश्वसनीय एवं सकारात्मक गुणों का समावेश होना चाहिए।

(9) बदलती परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरुप शक्ति के केन्द्रीयकरण की प्रवृति बढ़ गई है। संघात्मक शासन में उचित मात्रा में केन्द्रीयकरण की आवश्यकता महसूस की जा रही है। अतः केन्द्रीयकरण आवश्यक है परन्तु ऐसा नहीं कि वह अनावश्यक रुप से इकाईयों की स्वतंत्रता का अतिक्रमण करे। इकाईयों की सरकारों को भी परिवर्तित परिस्थितियों में केन्द्रीयकरण को स्वीकारना चाहिए और अनावश्यक विरोध नहीं करना चाहिए। भारत में संघात्मक शासन होते हुए भी केन्द्र को अधिक शक्ति प्रदान करना परिस्थितियों की आवश्यकता थी और इसीलिए इसको अर्द्ध संघ तक कहा जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त परिस्थितियों की उपस्थिति में संघात्मक शासन का सफल संचालन संभव है।

13.3.6 संघ राज्यों में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति

अनेक विद्वानों का मानना है कि यद्यपि समकालीन विश्व परिदृश्य में संघात्मक शासन अत्यन्त लोकप्रिय रहा है परन्तु इसकी कार्य प्रणाली संक्रमणकाल से गुजर रही है। संघात्मक राज्यों में क्रमशः शक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है और यह एकात्मक शासन का रुप धारण कर रही है। संघात्मक शासन के आदर्श रुप में संयुक्त राज्य अमेरिका का नाम आता है वहाँ भी संघात्मक व्यवस्था में परिवर्तन हुये हैं। पहले संघ को कम शक्तिशाली रखा गया था परन्तु अब संघ शक्तिशाली हो रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 14वें संविधान संशोधन द्वारा नागरिकता का राष्ट्रीयकरण किया गया तथा राज्यों पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये। सोलहवें संविधान संशोधन द्वारा राष्ट्रीय सरकार को आयकर लगाने का अधिकार तथा पन्द्रहवें और उन्नीसवें संशोधन द्वारा मताधिकार का राष्ट्रीकरण किया गया। केन्द्र की शक्तियों में निरन्तर वृद्धि ने संघवाद के भविष्य पर सन्देह उत्पन्न कर दिया है और आलोचकों का कहना है कि संघात्मक शासन एकात्मक शासन की ओर उन्मुख हो रहा है। लिप्सन का कहना है कि 'बीसवीं शताब्दी में राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान के दबाव में विकेन्द्रीकरण की व्यवस्थाएँ समाप्त हो रही हैं, चाहे वह व्यवस्था एकात्मक शासन में स्थानीय स्वायत्तता के रुप में थी अथवा संघीय राज्यों के अधिकारों के रुप में। आधुनिक समाज में लगभग सभी प्रवृत्तियाँ केन्द्रीकरण की दिशा में संगठित हो रही हैं।' संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति आस्ट्रेलिया में भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी है। नये संघों में कनाडा की भाँति शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना का प्रचलन बढ़ा है। भारत बहुत कुछ संघात्मक होते हुए भी बहुत कुछ एकात्मक है इसीलिए कहा जाता है कि भारत में संघात्मक शासन है परन्तु इसकी आत्मा एकात्मक है। संघात्मक शासन में केन्द्रीयकरण या संघात्मक सरकार की शक्ति में वृद्धि के निम्न कारण हैं –

1. सभी देशों में तेजी से **सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन** इसके लिए उत्तरदायी हैं। आर्थिक विकास का स्वरुप ऐसा हो गया है कि आर्थिक उत्पादन और वितरण बड़े पैमाने पर करने की अपरिहार्यता है और यह कार्य केन्द्रीयकृत नियोजन और नियंत्रण द्वारा ही सम्भव है। व्यापारिक निगमों की स्थापना, श्रमिक संघों के विस्तार, मशीनीकरण से उत्पन्न सामाजिक समस्याएं अपनी जटिलताओं के कारण केन्द्रीय विषय बन गये हैं। परिवहन तथा संचार साधनों की उन्नति ने केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच सहयोग में वृद्धि की। बढ़ती जनसंख्या और उससे उत्पन्न सामाजिक आर्थिक समस्याओं का हल केन्द्रीय सरकार द्वारा ही सम्भव है इसके लिए संघ राज्यों में नियोजन प्रणाली का विकास हुआ है और केन्द्रीय शक्ति बढ़ी है। भारत में योजना आयोग के कारण राज्यों की आर्थिक स्वायत्तता लगभग समाप्त हो गई है। अशोक चन्दा ने योजना आयोग को 'सुपर कैबीनेट' कहा जो संघ के लिए भी है और राज्य के लिए भी।

2. **देश की प्रतिरक्षा** की दृष्टि से भी केन्द्र सरकार की शक्ति में वृद्धि हुयी है क्योंकि प्रतिरक्षा का दायित्व केन्द्रीय सरकार का होता है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी उन्नति ने युद्ध को भयावह बना दिया है और देश की प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक है कि एक निश्चित योजना हो तथा देश की जनशक्ति, वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं तकनीकी शक्तियों एवं साधनों पर नियंत्रण केन्द्र का हो। भारत में तो युद्ध के समय राष्ट्रीय आपात की घोषणा द्वारा केन्द्र की शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हो जाती है और संयुक्त राज्य अमेरिका में भी दो विश्वयुद्धों ने संघ की शक्ति में वृद्धि हेतु प्रेरित किया है। इस प्रकार देश की प्रतिरक्षा की दृष्टि से संघ सरकार में केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

3. **केन्द्र द्वारा वित्तीय सहायता या अनुदान** भी संघ में शक्ति के केन्द्रीकरण के लिए उत्तरदायी हैं। इकाईयों के पास शासन चलाने, आर्थिक विकास करने तथा लोक कल्याणकारी कार्यों को व्यावहारिक रुप प्रदान करने हेतु पर्याप्त संसाधन नहीं होते हैं। अतः केन्द्र द्वारा इकाईयों को वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। वित्तीय सहायता या अनुदान देते समय केन्द्र कुछ शर्तें भी लगा देता है और अनुदान के दुरुपयोग को रोकने हेतु निरीक्षण का कार्य भी करता है जिसके परिणामस्वरुप संघ में केन्द्रीय सरकार की शक्ति में वृद्धि होती है।

4. **दलीय व्यवस्था** ने संघ सरकार की शक्तियों की वृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। संघ शासन में कुछ राष्ट्रीय दलों का संगठन शक्तिशाली एवं देशव्यापी होता है। केन्द्र में सत्ताधारी राजनीतिक दल दलबन्दी एवं दलीय निष्ठा के आधार पर इकाईयों की सरकार को नियंत्रित करता है और केन्द्र की शक्ति में वृद्धि होती है। भारत में 1967 तक केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस की ही सरकार थी और केन्द्र शक्तिशाली था। इन्दिरा गाँधी के कार्यकाल में भी अधिकांश राज्यों में कांग्रेस की सरकार थी और केन्द्र शक्तिशाली था। 1977 में जनता पार्टी और 1980 में कांग्रेस ने केन्द्र में सत्ता प्राप्त करते ही अन्य दलों की राज्य सरकारों को भंग करने का कार्य किया तथा संघ की भावना को आघात पहुँचाया। दलबन्दी संघात्मक शासन के लिए चुनौती है और यदि पूरे देश में एक ही दल की सरकार हो तो संघ की सरकार की शक्ति वृद्धि होना स्वाभाविक है।

5. **न्यायपालिका द्वारा संविधान की उदार व्याख्या तथा निर्णय** भी केन्द्र की शक्ति में वृद्धि का कारण बनते हैं। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रतिपादित ये निर्णय केन्द्र की शक्ति का बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। उदाहरण के रुप में अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान की व्याख्या के अन्तर्गत 'निहित शक्ति का सिद्धान्त' देखा जा सकता है।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलता** ने भी शक्ति के केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जटिलता ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि संघीय सरकार के पास अधिकाधिक अधिकार व शक्ति होनी चाहिए जिससे वे इस महत्वपूर्ण कार्य को सही व प्रभावी ढंग से सम्पादित कर सके।

इस प्रकार संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्रीय शक्ति में वृद्धि होती है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि संघात्मक शासन के अस्तित्व पर संकट है या संघ की इकाईयाँ महत्वहीन हो गयी है। वास्तविकता यह है कि इकाईयाँ भी केन्द्रीय शक्तियों की वृद्धि को स्वयं को सुरक्षित रखने और विकास कार्यों के अनुकूल मानती हैं। राष्ट्रहित सर्वोपरि होता है और संघ सरकार व इकाईयों की सरकार परस्पर सहयोग एवं विश्वास से कार्य करती हैं भले ही केन्द्रीय की शक्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक हों।

13.4 एकात्मक व संघात्मक शासन में अन्तर

अभी तक हमने इस इकाई में एकात्मक एवं संघात्मक शासन प्रणालियों का अध्ययन किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि एकात्मक शासन शक्तियों के

केन्द्रीकरण पर आधारित है जबकि संघात्मक शासन शक्तियों के विभाजन पर आधारित होता है। एकात्मक एवं संघात्मक शासन में निम्नलिखित अन्तर होते हैं

(1) एकात्मक शासन में शक्तियों का विभाजन नहीं होता तथा समस्त शक्तियाँ केन्द्र में निहित होती हैं तथा क्षेत्रीय सरकारों को शक्तियाँ केन्द्र स्वेच्छा से प्रदान करता है जबकि संघात्मक शासन में शक्तियों का विभाजन संविधान द्वारा किया जाता है तथा दोनों स्तरों की सरकारों का शक्ति स्रोत संविधान होता है।

(2) एकात्मक शासन में शक्ति विभाजन के अभाव में शक्तियों का केन्द्रीयकरण होता है जिसके फलस्वरुप शासन व्यवस्था एकीकृत होती है परन्तु संघात्मक शासन में शक्तियों के विभाजन के कारण दोहरी शासन व्यवस्था होती है। दोहरी सत्ता, दो प्रकार की सरकारें, दोहरा कानून, दोहरी सेवाएं, दोहरी न्यायपालिका और दोहरी नागरिकता संघात्मक शासन की विशेषताएं हैं।

(3) एकात्मक शासन में संविधान का लिखित होना अनिवार्य नहीं है। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन की एकात्मक व्यवस्था में संविधान अलिखित है वहीं जनवादी चीन तथा जापान की एकात्मक व्यवस्था में संविधान लिखित है। जबकि संघात्मक शासन के लिए संविधान का लिखित रुप अनिवार्य है। लिखित संविधान के द्वारा ही संघ एवं इकाईयों की सरकारों के मध्य शक्ति विभाजन होता है जिससे कोई एक–दूसरे के अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण न करे। भारत व संयुक्त राज्य अमेरिका की संघात्मक व्यवस्था में लिखित संविधान है।

(4) संघात्मक शासन में लिखित संविधान के साथ ही साथ कठोर संविधान होना भी आवश्यक है अर्थात् संविधान संशोधन प्रक्रिया और सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया भिन्न–भिन्न होती है। इसके विपरीत एकात्मक शासन में संविधान नमनीय भी हो सकता है जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में जहाँ संसद सामान्य कानून निर्माण की प्रक्रिया से ही संविधान में संशोधन भी कर देती है।

(5) संघात्मक शासन में न्यायपालिका को एकात्मक शासन की न्यायपालिका की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत में सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन के साथ–साथ संघ व राज्यों के आपसी विवादों को सुलझाने का भी अधिकार है परन्तु एकात्मक शासन प्रणाली में न्यायपालिका के पास ऐसे अधिकार नहीं हैं।

(6) संघात्मक शासन में व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन में संघ की इकाईयों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। अमेरिका की सीनेट में प्रत्येक राज्य द्वारा दो सदस्य तथा भारत की राज्य सभा में जनसंख्या के आधार पर राज्यों को प्रतिनिधित्व मिलता है। एकात्मक व्यवस्था में द्वितीय सदन की रचना में ऐसी व्यवस्था आवश्यक नहीं है।

(7) संघात्मक शासन में इकाईयों की संवैधानिक महत्व की स्थिति होती है वे संविधान से शक्ति प्राप्त करती हैं और केन्द्र सरकार के समकक्ष होती है जबकि एकात्मक राज्यों में स्थानीय इकाईयाँ केन्द्र की कृपा दृष्टि पर निर्भर करती हैं और उनके अधीनस्थ होती हैं।

13.5 सारांश

एकात्मक और संघात्मक शासन शक्तियों के केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण पर आधारित शासन प्रणाली है। जहाँ शक्तियों का विभाजन नहीं होता और शक्तियाँ एक ही केन्द्र में निहित कर दी जाती हैं वहाँ एकात्मक शासन होता है परन्तु जहाँ शक्तियों का विभाजन होता हो वहाँ संघात्मक शासन है। संघात्मक शासन में शक्तियों का संघ व इकाईयों के बीच विभाजन संविधान द्वारा होता है अतः इस शासन में संविधान का लिखित व कठोर होना आवश्यक है। विशाल एवं विविधता वाले राज्यों के लिए संघात्मक शासन ज्यादा उपयुक्त होता है और चूँकि इसमें जनसहभागिता के अवसर अधिक होते हैं अतः इसे लोकतांत्रिक माना जाता है। दोनों ही शासन प्रणालियों के अपने कुछ गुण हैं तो कुछ दोष भी हैं परन्तु आज के समय में संघात्मक शासन प्रणाली अधिक लोकप्रिय हो रही है क्योंकि इसमें निरंकुशता का भय नहीं रहता है और स्थानीय स्तर पर समस्याओं को सुलझाने से कार्य कुशलता में वृद्धि होती है। आज विश्व में एकात्मक व संघात्मक शासन की सफलता के अनेक उदाहरण हैं। किसी भी शासन की सफलता के लिए अनुकूल परिस्थितियों का होना आवश्यक है।

13.6 शब्दावली

गणतंत्र – ऐसी शासन व्यवस्था जहाँ कार्यपालिका प्रमुख प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से जनता द्वारा निर्वाचित होता हो।

लचीला और कठोर संविधान – संविधान संशोधन की प्रक्रिया के आधार पर दो प्रकार के संविधान होते हैं – लचीला संविधान और कठोर संविधान। जिस संविधान में संशोधन सामान्य विधि निर्माण की प्रक्रिया से हो उसे लचीला तथा जहाँ सामान्य विधि निर्माण प्रक्रिया से भिन्न विशेष प्रक्रिया अपनाई जाये उसे कठोर संविधान कहते हैं।

13.7 उपयोगी पुस्तकें

1. सी0बी0 गेना (2007) – तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. जे0सी0 जौहरी तथा सीमा जौहरी (2001) – आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
3. व्हीयर, के0सी0 (1963) फेडरल गर्वनमेन्ट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन
4. ए0सी0 कपूर 15वाँ संस्करण – सलेक्ट कान्स्टीट्यूशन, एस0 चंद एण्ड कम्पनी, दिल्ली
5. इयान कॉपलैण्ड एण्ड जॉन रिकर्ड (सं0) (1999) फेडरलिजम – कम्पैरिटिव पर्सपेक्टिव्य फ्रॉम इण्डिया एण्ड आस्ट्रेलिया, मनोहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।

13.8 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) एकात्मक शासन से आप क्या समझते हैं? इसके गुण–दोषों की विवेचना कीजिए।

(ब) संघात्मक शासन का अर्थ बताते हुए इसके गुण–दोषों का परीक्षण कीजिए।

(स) संघात्मक शासन की सफलता की शर्तों का उल्लेख कीजिए।

(द) संघात्मक शासन में संघ सरकार की शक्ति में वृद्धि के कारणों का उल्लेख कीजिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) एकात्मक शासन की विशेषताएं बताइए।

(ब) संघ व परिसंघ में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

(स) संघात्मक शासन की विशेषताएं बताइए।

(द) एकात्मक एवं संघात्मक शासन में अन्तर बताइए।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) एकात्मक शासन में स्थानीय निकायों की सत्ता –

(i) मौलिक होती है।

(ii) संविधान द्वारा प्रदत्त होती है।

(iii) केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदत्त होती है।

(iv) जनता द्वारा प्रदत्त होती है।

(ब) संघ से अभिप्राय है –

(i) शक्तियों का संलयन

(ii) शक्तियों का पृथक्करण

(iii) शक्तियों का विभाजन

(iv) शक्तियों का हस्तांतरण

(स) निम्न में से कहाँ एकात्मक शासन है –

(i) ग्रेट ब्रिटेन

(ii) भारत

(iii) संयुक्त राज्य अमेरिका

(iv) स्विट्जरलैण्ड

(द) लिखित एवं कठोर संविधान किस शासन की विशेषता है –

(i) संघात्मक शासन

(ii) एकात्मक शासन

(iii) संसदात्मक शासन

(iv) अध्यक्षात्मक शासन

(य) निम्न में से कहाँ संघात्मक शासन नहीं है –

(i) भारत

(ii) संयुक्त राज्य अमेरिका

(iii) कनाडा

(iv) जनवादी चीन

13.9 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 13.2, 13.2.1 तथा 13.2.2 अंश।

(ब) देखिए इकाई का 13.3, 13.3.3 तथा 13.3.4 अंश।

(स) देखिए इकाई का 13.3.5 अंश।

(द) देखिए इकाई का 13.3.6 अंश।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) इकाई का 13.3.2 अंश

(ब) इकाई का 13.3.1 अंश

(स) इकाई का 13.3.2 अंश

(द) इकाई का 13.4 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (iii)

(ब) (iii)

(स) (i)

(द) (i)

(य) (iv)

इकाई 14

संसदीय शासन प्रणाली

इकाई की रुपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 संसदीय शासन प्रणाली का अर्थ एवं परिभाषा

14.3 संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताएं

14.4 संसदीय शासन प्रणाली के गुण

14.5 संसदीय शासन प्रणाली के दोष

14.6 संसदीय शासन प्रणाली की सफलता की शर्तें

14.7 सारांश

14.8 शब्दावली

14.9 उपयोगी पुस्तकें

14.10 सम्बन्धित प्रश्न

14.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में शासन की संसदीय प्रणाली का विश्लेषण है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप –

- संसदीय शासन प्रणाली को विश्लेषित कर सकेंगे।
- संसदीय शासन प्रणाली की मुख्य विशेषताओं व लक्षणों को समझ सकेंगे।
- संसदीय शासन प्रणाली के गुण व दोषों को समझ सकेंगे।
- संसदीय शासन प्रणाली के दो रुप भारत एवं इंग्लैण्ड की व्यवस्था की तुलना कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

सरकार या शासन राज्य का अनिवार्य तत्व है और प्रत्येक देश में सरकार के तीन प्रमुख अंग होते हैं – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। सरकार के इन अंगों में शक्ति विभाजन के आधार पर इन्हें अध्यक्षीय एवं संसदीय दो रुपों में विभक्त किया जाता है। जिस शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका घनिष्ठ रुप से सम्बन्धित है और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति

TESLA-024

उत्तरदायी है उस शासन प्रणाली को संसदीय शासन प्रणाली कहा जाता है। संसदीय शासन प्रणाली को उत्तरदायी या मंत्रिमण्डलात्मक सरकार भी कहा जाता है। इंग्लैण्ड को संसदीय प्रणाली का जन्मदाता तथा सर्वोत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। आज विश्व की यह सबसे लोकप्रिय शासन प्रणाली बन चुकी है और इंग्लैण्ड की संसदीय प्रणाली को आस्ट्रेलिया, कनाडा, भारत, बेल्जियम, डेनमार्क, हालैण्ड, जापान, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका आदि देशों ने अपनाया है। संसदीय सरकार विभिन्न देशों में पायी जाती है और परिस्थितिजन्य इसमें थोड़ी बहुत भिन्नता भी मिलती है। इस शासन प्रणाली में 'संसद' शब्द मुख्य आधार है जो फ्रांसीसी शब्द 'पार्ले' (Parler) शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है बोलना अथवा विचार–विमर्श करना। इस शब्द को वार्तालाप, सम्मेलनों की व्याख्या करने के लिए भी किया गया है और कालान्तर में इस शब्द का प्रयोग विचार–विमर्श के लिए एकत्रित लोगों की संस्था के लिए किया जाने लगा। कालान्तर में इंग्लैण्ड में इसे जनप्रतिनिधि सभा के लिए प्रयोग किया जाने लगा। आज सरकार के विधायी अंग को संसद कहा जाता है।

विभिन्न देशों में व्यवस्थापिका को अलग–अलग नामों से जाना जाता है। इंग्लैण्ड, भारत व अन्य राष्ट्रमण्डल देशों में इसे संसद कहते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसे कांग्रेस, जापान में डाइट, जर्मनी में बुंडस्टडे आदि नामों से जाना जाता है। इस इकाई में आप संसदीय व्यवस्था का अध्ययन करते हुए भारत व इग्लैण्ड की संसदीय व्यवस्था को समझ सकेंगे।

14.2 संसदीय शासन प्रणाली अर्थ एवं परिभाषा

वर्तमान समय में बहुसंख्यक लोकतांत्रिक राज्यों में संसदीय शासन प्रणाली पायी जाती है। इस शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका घनिष्ठ रुप से सम्बन्धित होती हैं तथा कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका कार्यपालिका को उसके पद से हटा भी सकती है। कार्यपालिका व व्यवस्थापिका में निरन्तर सम्पर्क बना रहता है। गैटल ने लिखा है कि 'संसदात्मक शासन, शासन के उस रुप को कहते हैं जिसमें प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद अर्थात वास्तविक कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए कानूनी दृष्टि से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। क्योंकि आधुनिक राज्यों की व्यवस्थापिका के दो सदन होते हैं, अतः मंत्रिमंडल वास्तव में उस सदन के नियंत्रण में होता है जिसे वित्तीय मामलों पर अधिक शक्ति प्राप्त होती है और जो निर्वाचकों का भी अधिक सीधे ढंग से प्रतिनिधित्व करता है।' इसी प्रकार गार्नर ने संसदीय प्रणाली को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'संसदीय शासन वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिमंडल) व्यवस्थापिका या उसके एक सदन (लोकप्रिय सदन) तथा अन्तिम रुप में निर्वाचक मण्डल के प्रति अपनी राजनीतिक नीतियों तथा कार्यों के लिए कानूनी रुप से उत्तरदायी होती है जबकि राज्य का प्रमुख जो नाममात्र की कार्यपालिका होता है, अनुत्तरदायित्व की स्थिति में रहता है।' इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसदीय प्रणाली में सर्वप्रमुख तथ्य यह है कि इसमें राज्य के अध्यक्ष व सरकार के अध्यक्ष के मध्य स्पष्ट अन्तर होता है। इसमें राज्याध्यक्ष राजा हो सकता है, जैसा कि ब्रिटेन व जापान में है अथवा राष्ट्रपति हो सकता है जैसा कि भारत में है। इस शासन प्रणाली में राज्याध्यक्ष के पास शक्तियाँ औपचारिक रुप से रहती हैं जबकि वास्तविक शक्तियाँ सरकार में निहित होती हैं जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। सम्राट व राष्ट्रपति को विधिक रुप से अधिकार प्राप्त हैं परन्तु वह उनका वास्तव में प्रयोग नहीं करता है। इंग्लैण्ड में संवैधानिक परम्पराओं ने सम्राट की शक्तियों को सीमित कर दिया है तथा भारत में 42वें

संविधान संशोधन द्वारा राष्ट्रपति को मंत्रिमण्डल की सम्मति के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य कर उसकी शक्तियों को भी सीमित कर दिया गया है।

संसदीय शासन प्रणाली में वास्तविक कार्यपालिका (सरकार) का गठन व्यवस्थपिका में बहुमत प्राप्त दल द्वारा होता है। राज्याध्यक्ष बहुमत प्राप्त दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करता है और वह नेता (प्रधानमंत्री) अपने दल के ही सदस्यों से मंत्रियों का चयन करता है। मंत्रिपरिषद प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कार्य करती है तथा सामूहिक रुप से लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। संयुक्त मोर्चा या गठबंधन सरकारों के चलन के पश्चात् प्रधानमंत्री विभिन्न सहयोगी दलों के सदस्यों को भी मंत्री नियुक्त करता है।

भारत व इग्लैण्ड में मंत्रिमंडल और मंत्रिपरिषद में अन्तर होता है। मंत्रिमंडल सामान्यतः उन पन्द्रह बीस सदस्यों द्वारा निर्मित होता है जो कि मंत्रिपरिषद के अत्यधिक महत्वपूर्ण सदस्य होते हैं। मंत्रिमंडल के ये सदस्य महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी मामलों पर निर्णय करने हेतु प्रधानमंत्री के नेतृत्व में बैठक करते हैं और निर्णय लेते हैं। वहीं मंत्रिपरिषद में विभिन्न प्रकार के मंत्री जैसे कैबीनेट (मंत्रिमंडल) के सदस्य, राज्यमंत्री, उपमंत्री तथा संसदीय सचिव सम्मिलित होते हैं। मंत्रिपरिषद के पास सामूहिक कार्य नहीं होते हैं। संपूर्ण मंत्रिपरिषद की कभी बैठक नहीं होती और न ही यह नीति सम्बन्धी मामलों पर विचार करती है। प्रत्येक वह मंत्री जो मंत्रिमंडल का सदस्य नहीं है वह अपने प्रशासकीय विभाग या विभागों के लिए व्यक्तिगत रुप से उत्तरदायी होते हैं।

मंत्रिपरिषद प्रधानमंत्री के नेतृत्व में कार्य करती है और ये व्यवस्थापिका (लोकप्रिय सदन) के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। भारत में मंत्रिपरिषद व्यक्तिगत व सामूहिक रुप से लोकप्रिय सदन–लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहती है, लोकसभा में विश्वासमत प्राप्त न होने पर सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है। इस प्रणाली में मंत्रिमंडल विधायी कार्यों को भी सम्पादित करता है क्योंकि मंत्रिमंडल के सदस्य का व्यवस्थापिका सदस्य होना अनिवार्य है। संसदीय प्रणाली में दलीय सरकार होती है। सामान्यतः बहुमत प्राप्त राजनीतिक दल के सदस्य ही मंत्रिमंडल के सदस्य होते हैं परन्तु गठबन्धन या संयुक्त मोर्चा सरकार में विभिन्न दलों के मंत्री होते हैं जिसका संचालन करना कठिन कार्य होता है।

14.3 संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताएं

संसदीय शासन प्रणाली ब्रिटेन, भारत सहित विश्व के अनेक देशों में स्थापित है परन्तु संविधानों में परिवर्तन के कारण सभी देशों की शासन व्यवस्थाओं में थोड़ी बहुत भिन्नता पायी जाती है, परन्तु मूल रुप से कुछ विशेषताएं सभी देशों में समान पायी जाती हैं। संसदीय शासन प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं –

1. **कार्यपालिका दो भागों में विभक्त रहती है –** संसदीय शासन प्रणाली में दो प्रकार की कार्यपालिकाएं होती हैं एक नाममात्र की और दूसरी वास्तविक। नाममात्र की कार्यपालिका राज्य की अध्यक्ष होती है ओर यह वंशानुगत सम्राट या निर्वाचित राष्ट्रपति के रुप में हो सकती है जैसे इंग्लैण्ड में सम्राट और भारत में राष्ट्रपति। समस्त कार्यपालिका शक्ति उसी में निहित होती है और वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता परन्तु वास्तव में उसकी समस्त शक्तियों का वास्तविक प्रयोग वास्तविक कार्यपालिका–मंत्रिमंडल द्वारा होता है। नाममात्र का अध्यक्ष अपने प्रधानमंत्री

की नियुक्ति करता है और पदच्युत भी कर सकता है परन्तु व्यवहार में बहुमत का समर्थन प्राप्त मंत्रिमंडल को राज्याध्यक्ष पदच्युत नहीं कर सकता। इस प्रकार दो प्रकार की कार्यपालिकाएं – नाममात्र तथा वास्तविक कार्यपालिका होती हैं जिन्हें क्रमशः राज्याध्यक्ष एवं सरकार का अध्यक्ष भी कहा जाता है।

2. **राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष की नियुक्ति** – अभी आपने पढ़ा कि संसदीय प्रणाली में दो प्रकार की कार्यपालिका होती है और सरकार के अध्यक्ष प्रधानमंत्री की नियुक्ति राज्य के अध्यक्ष सम्राट अथवा राष्ट्रपति द्वारा होती है। दलीय व्यवस्था के कारण संसद में बहुमत दल का नेता ही प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त किया जाता है और राज्याध्यक्ष ऐसी स्थिति में इस शक्ति का प्रयोग औपचारिक रुप में करता है। परन्तु संसद में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न होने की स्थिति में राज्याध्यक्ष स्वविवेक के द्वारा वास्तविक रुप में शक्ति का प्रयोग करता है। उदाहरण के लिए भारत में राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति) सरकार के अध्यक्ष (प्रधानमंत्री) पद हेतु लोकप्रिय सदन (लोकसभा) में बहुमत प्राप्त दल के नेता को नियुक्त करता है। यदि किसी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो तो सबसे बड़े दल के नेता को, एक से अधिक दल के समर्थित नेता को या सर्वाधिक समर्थन प्राप्त करने वाले नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है। इस प्रकार संसदीय प्रणाली में सरकार के अध्यक्ष को राज्य का अध्यक्ष ही नियुक्त करता है हालाँकि परिस्थितियों के अनुरुप यह शक्ति औपचारिक या वास्तविक हो सकती है।

3. **प्रधानमंत्री का नेतृत्व** – प्रधानमंत्री के पास वास्तविक कार्यकारी शक्ति होती है। मंत्रिमण्डल का निर्माण प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता है। अतः प्रधानमंत्री की स्थिति केन्द्रीय हो जाती है। उसे 'समकक्षों में प्रथम', 'नक्षत्रों में चन्द्रमा', 'सौरमण्डल के ग्रहों में सूर्य' आदि कई नामों से पुकारा गया है। वह शासन का प्रमुख प्रवक्ता, लोकसदन का नेता तथा राष्ट्रीय प्रशासन का प्रधान संचालक होता है। उसी की सलाह पर राज्याध्यक्ष मंत्रियों की नियुक्ति, पदच्युति या विभागों में फेरबदल करता है। राज्याध्यक्ष समस्त कार्य उसी की सलाह पर करता है। आम निर्वाचन प्रधानमंत्री का निर्वाचन बन जाता है और उसकी छवि उसके दल की हार–जीत का कारण होती है। प्रमुख कार्यकारी, प्रमुख विधायक तथा प्रमुख प्रशासक के रुप में, प्रधानमंत्री अत्यधिक शक्तिशाली व्यक्ति है। उसके द्वारा पदत्याग देने में मंत्रिमंडल स्वतः भंग हो जाता है।

4. **सामूहिक उत्तरदायित्व** – संसदीय प्रणाली की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। कार्यपालिका का प्रत्येक सदस्य वैयक्तिक रुप से अपने विभाग के कार्यों के लिए तो विधायिका के प्रति उत्तरदायी होता ही है, इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण मंत्रिमंडल अपनी सामान्य नीति तथा प्रत्येक मंत्री के कार्य और नीति के लिए भी उत्तरदायी होता है। जब मंत्रिमण्डल किसी विषय पर अपनी नीति निर्धारित करता है तो उस समय सभी मंत्री अपनी–अपनी राय प्रकट करते हैं और बहुमत अथवा सर्वसम्मति से निर्णय कर लिया जाता है। व्यवस्थापिका और जनता के समक्ष हर मंत्री को उस निर्णय का समर्थन करना पड़ता है, चाहे निर्णय करते समय वह उसके विरुद्ध ही क्यों न रहा हो। यदि कोई मंत्री सामूहिक निर्णय से सहमत नहीं है तो उसे पद छोड़ना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई एक मंत्री भूल करता है तो वह सम्पूर्ण मंत्रिमंडल की भूल मानी जाती है जिसका निहितार्थ यह है कि

हर मंत्री का यह दायित्व है कि वह अपने साथियों के साथ विचार–विनिमय करे और गलती करने से रोके। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि यदि किसी मंत्री को अपनी भूल के कारण त्यागपत्र देना पड़े तो सम्पूर्ण मंत्रीमंडल ही समाप्त हो जायेगा। परन्तु यदि व्यवस्थापिका का बहुमत मंत्रिमंडल के विरुद्ध हो जाये तो सम्पूर्ण मंत्रिमंडल पदच्यतुत हो जाता है या व्यवस्थापिका किसी मंत्री के कार्य से असन्तुष्ट हो और हटाना चाहती हो तथा मंत्रिमंडल उसके कार्य का समर्थन करता हो और उसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बना ले तो सम्पूर्ण मंत्रिमंडल त्यागपत्र दे सकता है। मंत्रिमंडल में फूट पड़ जाये और प्रधानमंत्री अपने पद से त्यागपत्र दे दे तो सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद अपने पद से हट जाती है। इस प्रकार यदि सदन में निंदा प्रस्ताव पारित हो जाये या अविश्वास का प्रस्ताव मंत्रियों के विरुद्ध पास हो जाये तो सामूहिक उत्तरदायित्व के कारण सम्पूर्ण मंत्रिमंडल को हटना पड़ता है।

5. **वैयक्तिक उत्तरदायित्व** – मंत्रिमंडल के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व का एकपक्ष वैयक्तिक उत्तरदायित्व का है। प्रत्येक मंत्री किसी विभाग विशेष का प्रभारी होते है और विभागीय कार्यों का कुशल संचालन उनका दायित्व है। इसका अर्थ यह है कि विभागीय प्रशासन की कार्यकुशलता तथा उसके विरुद्ध जवाब देही विभागीय मंत्री की है और किसी भी तरह की अनियमितता, अकुशलता तथा लापरवाही हेतु वह स्वयं उत्तरदायी है। प्रायः ऐसे मामलों में व्यवस्थापिका द्वारा व्यक्तिगत मंत्रियों के त्यागपत्र दिए जाने की माँगे भी की जाती हैं जैसे हाल ही में (2013) में केन्द्र की यू.पी.ए. सरकार में केन्द्रीय मंत्री पवन बंसल और विधि मंत्री अश्विनी कुमार को त्यागपत्र देना पड़ा था। ऐसे उदाहरण भी हैं जब मंत्रियों द्वारा नैतिक जिम्मेदारी लेते हुए स्वयं त्यागपत्र दिए गए।

6. **कार्यपालिका का व्यवस्थापिका से चयन** – संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रिपरिषद का व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य है क्योंकि व्यवस्थापिका का सदस्य होने के कारण वह उसका अभिन्न अंग बन जाता है और वह वाद–विवाद में भाग लेता है तथा व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहता है। कभी–कभी ऐसे व्यक्ति भी मंत्री बन जाते हैं जो व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते परन्तु उन्हें एक निश्चित अवधि के अन्दर व्यवस्थापिका की सदस्यता प्राप्त करनी पड़ती है उदाहरण के लिए भारत में यह अवधि 6 माह की है अर्थात् यदि कोई व्यक्ति जो संसद का सदस्य नहीं है और मंत्री नियुक्त होता है तो उसे नियुक्ति तिथि से 6 माह के अन्दर संसद की सदस्यता अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। परन्तु प्रत्येक संसदीय राज्य में अनिवार्यता को स्वीकार नहीं किया गया है कि मंत्री को व्यवस्थापिका का सदस्य अवश्य होना चाहिए। उदाहरण के लिए स्वीडन में एक तिहाई मंत्री संसद के सदस्य नहीं होते। नीदरलैण्ड और फ्रान्स में मंत्री नियुक्त होने के पश्चात् प्रत्येक मंत्री का संसद का सदस्य बनना निषेध कर दिया गया है। लेकिन सामान्यतः सभी नहीं तो अधिकांश मंत्री संसद के सदस्य होते हैं। जहाँ पर वे सदस्य नहीं होते, वहाँ की प्रणाली को भी संसदीय प्रणाली कहा जा सकता है क्योंकि उनमें उन्हें संसदीय चर्चाओं में भाग लेने का अधिकार होता है वे अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी भी होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था फ्रान्स में विद्यमान है।

7. **कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व** – कार्यपालिका का व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व संसदीय प्रणाली की महत्वपूर्ण विशेषता है। इसका अर्थ है कि कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर कार्य करती है जब तक कि व्यवस्थापिका का बहुमत उसके पक्ष में रहता है। व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव पास करके अथवा कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत विधेयक (सरकारी विधेयक) को अस्वीकृत करके कार्यपालिका को उसके पद से हटा सकती है। इसे हम इस तरह भी समझ सकते हैं कि यदि शासन असंवैधानिक ढंग से कार्य करता है तो व्यवस्थापिका उसे अपना समर्थन प्रदान न करके त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर देगी। इसके अतिरिक्त व्यवस्थापिका प्रश्न पूछकर, कामरोको प्रस्ताव पास करके अथवा निंदा का प्रस्ताव पास करके उस पर अपना नियंत्रण रखने का प्रयत्न करती है।

8. **शासनाध्यक्ष, राज्याध्यक्ष को संसद विघटित करने की सलाह दे सकता है** – संसदीय शासन प्रणाली में शासनाध्यक्ष (प्रधानमंत्री) राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति अथवा सम्राट) को संसद भंग करने की सलाह दे सकता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि मंत्रिमंडल द्वारा संसद को भंग करने की धमकी मंत्रिमंडल के लिए दलीय समर्थन प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। संसद को भंग करने की व्यवस्था दो कारणों से अनिवार्य मानी जाती है – प्रथम तो शासन के दोनों भागों कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के बीच संघर्ष का समाधान करने के लिए दूसरे राजनीतिक व्यवस्था में कानूनी सम्प्रभु व राजनीतिक सम्प्रभु के बीच संघर्ष का हल निकालने के लिए। इन दोनों परिस्थितियों में संवैधानिक संकट की स्थिति उत्पन्न होती है और प्रधानमंत्री द्वारा व्यवस्थापिका भंग करने की सलाह देकर संकट के समाधान का जनता को अवसर उपलब्ध कराना है। जनता द्वारा निर्वाचन के माध्यम से ऐसे संवैधानिक संकटों का समाधान कराना संसदीय शासन में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका को जनता के प्रति उत्तरदायी रखने का अन्तिम उपाय है। संसदीय प्रणाली वाले देश भारत व इंग्लैण्ड में प्रधानमंत्री को संसद के निचले सदन क्रमशः लोकसभा और हाउस ऑफ कॉमन्स को समय से पूर्व भंग कराने का अधिकार है।

9. **कार्यपालिका का अनिश्चित कार्यकाल** – संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित होता है। भारत व इंग्लैण्ड में क्रमशः लोकसभा व हाउस ऑफ कॉमन्स का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है। अतः सामान्यतः मंत्रिपरिषद के सदस्य पाँच वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं किन्तु उनका कार्यकाल अनिश्चित होता है। मंत्रिपरिषद संसद के विश्वास तक ही अपने पद पर बना रह सकता है। मंत्रिपरिषद का संसद में बहुमत समाप्त हो जाये तो उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। संसद मंत्रिपरिषद के विरुद्ध निन्दा, कटौती और अविश्वास प्रस्ताव पारित कर दे तो ऐसी स्थिति में उसे त्यागपत्र देना पड़ता है।

10. **राजनीतिक समरुपता** – संसदीय शासन प्रणाली जनप्रतिनिधित्व को महत्व देती है और जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। निर्वाचन में विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रत्याशी होते हैं। जिस दल को संसद में, और यदि विधायिका द्विसदनात्मक है तो उसके प्रतिनिधि सदन में, स्पष्ट बहुमत रखने वाले दल का नेता प्रधानमंत्री होता है। सभी मंत्री उसी दल से संबंधित होते हैं जिसका नेता प्रधानमंत्री होता है। किसी एक दल के स्पष्ट बहुमत प्राप्त न कर सकने की स्थिति में दो या अधिक दल मिलकर

मिली–जुली सरकार बनाते हैं। ऐसी स्थिति में भी ज्यादा सदस्य संख्या वाले राजनीतिक दल से सम्बन्धित मंत्री अधिक होते है। प्रायः मिली–जुली या गठनबन्धन सरकार बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था में पाये जाते हैं जैसे भारत में केन्द्र में वर्ष 1989 के पश्चात् से किसी एक दल ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सरकार गठित नहीं की है जबकि द्वि–दलीय राजनीतिक व्यवस्था में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं होती जैसे इंग्लैण्ड में जहाँ एक दल बहुमत में रहकर सरकार बनाता है तथा दूसरा दल सशक्त विपक्ष की भूमिका निभाता है।

11. **सशक्त एवं प्रभावी विपक्ष** – जैसा कि आपने पढ़ा कि बहुमत प्राप्त दल सरकार का गठन करता है और अन्य दल विरोधी पक्ष का गठन करते हैं। संसदीय लोकतंत्र एक सशक्त एवं रचनात्मक भूमिका निभाने वाले विपक्ष के अभाव में असफल है। इंग्लैण्ड में इसे 'निष्ठावान प्रतिपक्ष' कहते हैं। एक सशक्त विरोधी दल शासन पर नियंत्रण रखने का कार्य करता है। प्रायः विरोधी दल वैकल्पिक सरकार बनाने के लिए उपलब्ध रहता है और यही कारण है कि वह सरकार द्वारा जानबूझकर या अनजाने में की गई गल्तियों को उजागर कर सरकार पर निरन्तर प्रहार करता रहता है और सरकार की मनमानी और निरंकुशता पर नियंत्रण रखता है।

12. **गोपनीयता** – संसदीय सरकार गोपनीय कार्यप्रणाली के आधार पर कार्य करती है। प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद पदभार ग्रहण करते समय राज्याध्यक्ष के सम्मुख पद व गोपनीयता की शपथ लेते हैं। गोपनीयता का अर्थ है कि मंत्रिमंडल के सदस्य मंत्रिमंडल के निर्णयों को अवांछित या गैर कानूनी व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करेंगे। अगर समय से पूर्व कोई निर्णय प्रकट हो जाए तो ऐसी स्थिति में सम्बन्धित मंत्री को अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।

13. **कार्यपालिका केवल अप्रत्यक्ष रुप से जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है** – संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका प्रत्यक्षतः जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होती। कार्यपालिका का अस्तित्व संसद पर निर्भर रहता है इसलिए इसका प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व संसद के प्रति रहता है। वह निर्वाचकों के प्रति संसद के माध्यम से अर्थात् अप्रत्यक्ष रुप से ही उत्तरदायी रहती है। यदि कार्यपालिका को निर्वाचकों के प्रति प्रत्यक्ष रुप से उत्तरदायी बना दिया जाये तो संसद महत्वहीन हो जायेगी।

14. **संसद सत्ता का केन्द्र** – संसदीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका शक्तियों का समन्वय संसद को शक्ति का केन्द्र बना देता है। संसद ही कार्यपालिका व व्यवस्थापिका की निर्देशक, निरीक्षक व नियंत्रक होती है। व्यवस्थापिका व कार्यपालिका का अस्तित्व संसद पर ही निर्भर करता है। राजनीतिक व्यवस्था में सभी शक्तियाँ संसद से उद्भूत, नियंत्रित व प्रतिबंधित होती हैं। संसद में ही राजनीतिक नीतियों का निर्धारण होता है, वाद–विवाद होता है तथा शासन की समस्त गतिविधियाँ संचालित होती हैं।

14.4 संसदीय शासन प्रणाली के गुण

TESLA-024

संसदीय शासन प्रणाली की विशेषताओं का अध्ययन करने के पश्चात् इस शासन प्रणाली के निम्नलिखित गुण स्पष्ट होते हैं –

1. **कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य सामंजस्य** – इस शासन प्रणाली में मंत्रिमंडल को व्यवस्थापिका का बहुमत प्राप्त होता है और मंत्रिमंडल के सदस्य बहुमत प्राप्त दल के महत्वपूर्ण नेता होते हैं। संसदीय प्रणाली में बहुमत की इच्छा को प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किया जाता है तथा मंत्रिमंडल को व्यवस्थापिका का सहयोग मिलता है। मंत्रिमंडल के सदस्य व्यवस्थापिका के भी सदस्य होते हैं तथा बहुमत प्राप्त दल के सदस्य होने के कारण वे व्यवस्थापिका में भी विधि निर्माण कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका आपसी सहयोग से एक ही दिशा में कार्य करते हैं। मंत्रियों की व्यवस्थापिका में उपस्थिति का एक अन्य लाभ यह है कि अपने दल के साथ ही साथ विरोधी दल के सदस्यों से भी उनका सम्पर्क स्थापित रहता है जो उन्हें जनमत तथा व्यवस्थापिका की भावनाओं को समझने में सहायता प्रदान करता है और मंत्रिगण अपनी नीतियों की आलोचना की गहराई तक पहुँच सकते हैं। व्यवस्थापिका के सदस्य प्रश्न पूछ कर जनभावनाओं व समस्याओं की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर सकते हैं और शीघ्र ही उनका समाधान भी कराते हैं।

2. **सरकार का उत्तरदायित्व सुनिश्चित करना संभव** – संसदीय शासन प्रणाली में शासन कार्य और विधिनिर्माण कार्य एक ही दल के हाथों में रहता है (गठबन्धन सरकार में सबसे बड़े दल)। अतः उसकी सफलताओं और असफलताओं के लिए उसे ही अन्तिम रुप से दोषी माना जाता है। संसद के अन्दर और बाहर उसे अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। संसद में उसे अपनी नीतियों एवं कार्यों के विरुद्ध आरोपों को गलत सिद्ध करना होता है। अतः मंत्रिमंडल को सदैव अपने कार्यों का औचित्य ठहराना होता है ताकि जनता का विश्वास व मत उसे प्राप्त होता रहे। अतः इस प्रणाली में सरकार की नीति और कार्यों के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व सुनिश्चित करना सरल होता है।

3. **शासन में नमनीयता** – संसदीय प्रणाली अपेक्षाकृत नमनीय है जिसका तात्पर्य है कि परिस्थितियों के अनुकूल शासन में सरलता से परिवर्तन करना सम्भव है। कार्यपालिका अथवा किसी एक सदस्य को आवश्यकता पड़ने पर आसानी से परिवर्तित किया जा सकता है और वहीं दूसरी ओर यदि व्यवस्थापिका का अपेक्षित सहयोग कार्यपालिका को न मिल रहा हो तो व्यवस्थापिका को भंग कर कार्यपालिका नये निर्वाचन का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। इस प्रणाली में संकटकाल या असाधारण परिस्थितियों में शासन की बागडोर किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के हाथों में जा सकती है। संकट के समय राष्ट्रीय सरकार (सभी दलों की) का निर्माण संभव है और व्यवस्थापिका आवश्यकता पड़ने पर कार्यपालिका को असाधारण शक्ति प्रदान कर संकट का सरलता से सामना करने योग्य बना सकती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री चेम्बर लेन को हटाकर विंस्टन चर्चिल को प्रधानमंत्री बनाया गया था।

4. **कार्यपालिका की निरंकुशता पर रोक** – संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका अपने पद पर तभी तक बनी रहती है जब तक उसे जनता के प्रतिनिधियों का समर्थन प्राप्त रहता है। उसे अपने दल का समर्थन तो रहता ही है उसे विपक्षी दल को भी महत्व देना पड़ता है। क्योंकि संसद के पास मंत्रिमंडल को नियंत्रित करने के कई साधन होते हैं जिसका वास्तविक व

प्रभावी प्रयोग विपक्षी दल ही करता है। प्रश्न पूछकर, कटौती प्रस्ताव, कामरोको प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव तथा अविश्वास प्रस्ताव की धार से कार्यपालिका को सदैव सजग रहना पड़ता है और कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो सकती।

5. **अनुभवी लोगों का शासन** – संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल उन व्यक्तियों से निर्मित होता है जो व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त दल के सदस्य होते हैं। ये व्यक्ति प्रायः दल के वरिष्ठ व अनुभवी सदस्य होते हैं जो सामान्यतः राजनीति की क्षेत्र में एक लम्बे समय तक अपनी सेवा प्रदान कर चुके होते हैं। मंत्रिमंडल में सम्मिलित होने से पहले संसद सदस्य के रुप में उनको अच्छा अनुभव प्राप्त रहता है।

6. **अन्तिम शक्ति जनता में निहित** – संसदीय शासन प्रणाली सदैव ही जनता की इच्छा के अनुकूल कार्य करती है क्योंकि व्यवस्थापिका के सदस्य होने के कारण वे जनइच्छाओं का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि कार्यपालिका जनमानस के विचारों की अभिव्यक्ति व आलोचना की पूर्णरुप से उपेक्षा नहीं कर सकती। यद्यपि मंत्रिमंडल प्रत्यक्ष रुप से जनता के प्रति उत्तरदायी होता है परन्तु कोई भी सरकार जनमत के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकती क्योंकि अन्तिम सत्ता जनता में निहित होती है।

7. **जनशिक्षण क्षमता** – संसदीय प्रणाली दलीय पद्धति पर आधारित होती है और निर्वाचन में विजय प्राप्ति हेतु अच्छे दलीय संगठन की आवश्कयता होती है। निर्वाचन में विजय प्राप्ति का अर्थ व्यक्तियों का अधिक से अधिक मत प्राप्त करना है जिसके लिए वे अपने दल की नीतियों और कार्यों की व्याख्या करते हैं और जनता द्वारा उठाये गये विभिन्न मुद्दों, प्रश्नों और समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करते हैं। संसद में होने वाली बहस, वाद–विवाद आदि भी जनप्रतिनिधियों एवं जनसंचार माध्यमों से जनता तक पहुँचते हैं जिससे उन्हें समस्याओं एवं नीतियों के विविध पक्षों का ज्ञान होता है। इस प्रकार मतदाताओं एवं सामान्य जनता दोनों को ही राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। यह जनशिक्षण लोकप्रिय सदन के विघटन पर जनता को अन्तिम व सही निर्णय करने की क्षमता प्रदान करती है। नेताओं के प्रशिक्षण के अवसर भी इस प्रणाली में अधिक होते हैं।

8. **वैकल्पिक सरकार बनाने की सम्भावना** – संसदीय शासन प्रणाली की सफलता के लिए शक्तिशाली एवं प्रभावी विरोधी दल का होना आवश्यक है। विरोधी दल न केवल शासन के कार्यों की आलोचना करते हैं वरन् सरकार गठन के लिए भी तत्पर रहते हैं। यदि सत्ताधारी दल त्यागपत्र दे दे या अविश्वास प्रस्ताव के द्वारा अपदस्थ कर दिया जाये तो विरोधी दल सरकार गठन के लिए तैयार हो सकता है। विपक्ष के नेता को वैकल्पिक प्रधानमंत्री कहा जाता है। यदि प्रधानमंत्री त्यागपत्र दे दे तो अन्य नेता अपना दावा प्रस्तुत कर सकता है और लोकप्रिय सदन में बहुमत सिद्ध करने पर राज्याध्यक्ष द्वारा प्रधानमंत्री नियुक्त किया जा सकता है।

9. **शीघ्र निर्णय लेने की क्षमता** – संसदीय शासन प्रणाली में शीघ्र निर्णय व कार्यवाही सम्भव है। चूँकि मंत्रिमंडल का व्यवस्थापिका में बहुमत रहता है इसलिये वह सरलता से अनिवार्य संकल्पों और नीतियों को उससे पारित करवा लेता है। घरेलू नीतियाँ हों या विदेशी नीति सभी के लिए वह

बहुमत के समर्थन के कारण आशवस्त रहता है। व्यवस्थापिका का सत्र न चल रहा हो तब कार्यपालिका अध्यादेशों के माध्यम से आवश्यक कानूनों का निर्माण कर लेती है और व्यवस्थापिका का सत्र बुलाकर अधिनियमित करा लेती है।

10. **राज्याध्यक्ष की दलीय राजनीति में तटस्थता** – संसदीय प्रणाली में राज्याध्यक्ष अर्थात संवैधानिक या नाममात्र का कार्यपालिका प्रमुख राजनीति में भाग नहीं लेता। वह तटस्थ रहता है। अतः उसकी सम्मति का सरकारी व विरोधी दोनों ही पक्ष सम्मान करते हैं। उसके निष्पक्ष कार्यप्रणाली से राजनीति में सन्तुलन बने रहने की सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड व जापान में राजा वंशानुगत होते हैं और वे दलीय राजनीति से ऊपर रहकर कार्य करते हैं। भारत में यद्यपि राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है परन्तु राष्ट्रपति निर्वाचित होने के पश्चात् वह दलीय राजनीति से ऊपर उठकर निष्पक्ष कार्य करता है।

14.5 संसदीय शासन प्रणाली के दोष

हर शासन प्रणाली के कुछ गुण होते हैं तो कुछ दोष भी होते हैं। संसदीय शासन प्रणाली के निम्नलिखित दोष हैं –

1. **शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के विपरीत** – संसदीय शासन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अभाव पाया जाता है अर्थात् कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का सामन्जस्य शक्ति का केन्द्रीकरण करता है जिससे शक्ति के दुरुपयोग एवं भ्रष्टाचार की सम्भावना बढ़ जाती है। यह स्थिति तब और भयावह हो सकती है जब कोई राजनीतिक दल प्रचण्ड बहुमत से शासन सत्ता प्राप्त करे तब कार्यपालिका मनमाने कार्य कर सकती है। 1975 में तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी द्वारा आपातकाल लागू करने शक्ति के दुरुपयोग के रुप में ही देखा जाता है।

2. **कार्यपालिका की अस्थिरता** – संसदीय प्रणाली का एक अन्य दोष कार्यपालिका की अस्थिरता है। इस शासन प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल संसद में बहुमत प्राप्त करने तक सीमित है। संसदीय बहुमत न होने पर सरकार समाप्त हो जाती है। अनिश्चित कार्यकाल के कारण ही शासक दल दूरदर्शी व स्थिर नीतियों का निर्माण नहीं कर पाता। जब कभी भी नया मंत्रिमंडल पदभार संभालता है तो वह पराजित मंत्रिमंडल की नीतियों को पलट देता है और अपने निश्चित कार्यक्रम व नीतियों को प्रभावी बनाता है। बहुदलीय व्यवस्था वाले देशों में जब किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तो साझा अथवा मिश्रित सरकारों का गठन होता है जो बहुत स्थायी सिद्ध नहीं होती। फ्रांस इसका उदाहण है जहाँ चौथे रिपब्लिक के संविधान में मिश्रित सरकारों की अस्थिरता ने 'पाँचवें रिपब्लिक' में संसदीय प्रणाली के स्थान पर अध्यक्षीय व्यवस्था अपनाने को प्रेरित किया। भारत में केन्द्र में 1989, 1996 और 1998 की घटनाएं भी कार्यपालिका की अस्थिरता का उदाहरण हैं। यद्यपि अटल बिहारी वाजपेयी और श्री मनमोहन सिंह की क्रमशः एन.डी.ए. एवं यू.पी.ए. सरकार ने अपने कार्यकाल पूरे किये हैं परन्तु इस बीच सरकार पर संकट के बादल उत्पन्न होते रहे हैं और कई बार सरकार बचाने के लिए उचित–अनुचित साधनों

का एवं नीतियों का सहारा लेने के आरोप भी लगते रहे हैं। ऐसी स्थिति में प्रशासन चलता रहे इसे आधार मानकर नीतियाँ बनायी जाती हैं न कि समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर।

3. **उग्रदलबन्दी की सम्भावना** – संसदीय शासन प्रणाली दलीय पद्धति पर आधारित होती है जो कि राष्ट्र की जनता में उपस्थित पारस्परिक मतभेदों पर निर्भर करती है अर्थात् संसदीय सरकार देश को दो प्रतिरोधी पक्षों में विभक्त कर देती है – एक तो वे जो सम्पूर्ण प्रयास से किसी कार्य को करना चाहते हैं तथा दूसरे वे जो प्रत्येक दशा में बाधा उत्पन्न करना चाहते हैं। व्यवहारिक रुप में उपयुक्त होने के उपरान्त भी वे सरकार द्वारा निर्मित सभी नीतियों का विरोध करते हैं। कभी–कभी यह विरोध और आलोचना इतनी उग्र हो जाती है कि वह राष्ट्र के लिए घातक हो जाती है। उग्र दलबन्दी के कारण विरोधी पक्ष विवेक रहित विरोध करता है जो विकास में बाधक है। भारत जैसे बहुदलीय शासन वाले देश में गठबन्धन सरकारों के प्रचलन के पश्चात् छोटे या क्षेत्रीय दल सरकार बचाने के लिए समर्थन देने के बदले प्रायः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति करते हैं और राष्ट्रहित को हानि पहुँचाते या राष्ट्रहित की उपेक्षा करते हैं।

4. **अकुशल शासन** – संसदीय प्रणाली की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि इसमें अकुशल व्यक्तियों का शासन होता है। इस शासन प्रणाली में मंत्रियों का संसद का सदस्य होना अनिवार्य है और संसद में जनप्रतिनिधि राजनीतिक दलों के माध्यम से पहुँचते हैं। मंत्रिमंडल का सदस्य होने के लिए उसमें विशेषज्ञता और शासन संचालन का ज्ञान हो यह आवश्यक नहीं है। प्रधानमंत्री राजनीतिक रुपसे प्रभावी व्यक्ति को मंत्रिमंडल में सम्मिलित करने के लिए बाध्य है। यद्यपि मंत्रियों को सहयोग प्रदान करने के लिए सचिवालय की व्यवस्था होती है परन्तु विभाग का प्रमुख होने के कारण मंत्रियों का दायित्व बढ़ जाता है परन्तु वे अधिकांश समय संसद, मंत्रिमंडल की बैठक, सामाजिक व राजनीतिक गतिविधियों एवं अपने निर्वाचन क्षेत्र की सेवा करने में ही व्यस्त रहते हैं अतएव विभागीय कार्यों हेतु पूर्ण समय नहीं दे पाते। कार्यकाल की अस्थिरता के कारण वे विभागीय विशिष्टताओं का ज्ञान भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। फलस्वरुप संसदीय सरकार अकुशल व्यक्तियों का शासन है जो स्थायी सरकारी अधिकारियों के हाथों की कठपुतली बन जाते हैं।

5. **आपातकाल में अनुपयुक्त** – संसदीय शासन प्रणाली आपातकाल या राष्ट्रीय संकट के समय न तो शीघ्रता से निर्णय ले पाती है और न ही तुरन्त कार्यवाही कर पाती है। संकटकाल में शीघ्रता व तुरन्त निर्णय लेने वाली सरकार ही सफल मानी जाती है परन्तु चूँकि संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रिमंडल अनेक व्यक्तियों से मिलकर बना है अतः अनेक व्यक्तियों की सम्मति अनिवार्य है और यदि गठबन्धन सरकार है तो शीघ्र व निश्चित निर्णय लेना और कठिन हो जाता है। प्रो0 गिलक्राइस्ट का कहना उचित है कि मंत्रिमंडलीय सरकार में काफी समय अनर्थक वाद–विवद में नष्ट हो जाता है।

6. **मंत्रिमंडल या दलीय तानाशाही का भय** – संसदीय शासन प्रणाली में संसद में बहुमत प्राप्त दल सरकार का गठन करता है। एक ही दल को स्पष्ट बहुमत मिलने पर एक ही दल की सरकार बनती है और मंत्रिमंडल

में एक ही दल के प्रभावी नेता होते हैं। ऐसी स्थिति में संसद कार्यपालिका पर प्रभावी ढंग से नियंत्रण करने का कार्य नहीं कर पाती क्योंकि संसद में मंत्रिमंडल का बहुमत होता है और दलीय अनुशासन के कारण दल के सदस्य अपनी ही सरकार का विरोध नहीं कर पाते हैं और मंत्रिमंडल मनमाने ढंग से कार्य करता हैं। यदि सरकार का स्वरुप गठबन्धन का है तो विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्य मंत्रिमंडल में सम्मिलित रहते हैं और तानाशाही का भय अधिक मात्रा में नहीं रहता। परन्तु ऐसी सरकार में भी प्रायः सत्ता में बने रहने के लोभ में सहयोगी दल विरोध नहीं करते।

7. **राष्ट्रहित की उपेक्षा** – संसदीय शासन प्रणाली की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है। यह पक्षपात व दलीय चरित्र वाली होती है क्योंकि इसका अन्तिम लक्ष्य तो अपने दल को सफल तथा सत्ता में बनाये रखना है। दलीय शक्ति के सम्मुख राष्ट्रहित की उपेक्षा की जाती है तथा उचित व अनुचित तरीकों से दल की, दल के लिए तथा दल द्वारा सरकार को अस्तित्व में बनाये रखने के प्रयत्न किये जाते हैं। बहुदलीय व्यवस्था में दलों के विकास के परिणामस्वरुप व्यवस्थापिका में कई समूह उत्पन्न हो जाते हैं जो केवल अस्थाई उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक होते हैं तथा इनकी पूर्ति के पश्चात् पुनः पृथक या दूर जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मंत्रिमंडल न तो शक्तिशाली हो सकते हैं और न ही स्थायी तथा प्रशासन की नीतियों में निरन्तरता व एकरुपता के अभाव के कारण राष्ट्रहित भी प्रभावित होते हैं।

14.6 संसदीय शासन प्रणाली की सफलता की शर्तें

संसदीय शासन के गुण एवं दोषों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसदीय शासन प्रणाली आज विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय शासन प्रणाली है और यदि इसकी कमियों को दूर करना है तो इसके लिए कुछ आवश्यक परिस्थितियों का होना अनिवार्य है जो निम्नलिखित हैं –

1. **प्रतियोगी दल व्यवस्था** – संसदीय प्रणाली की सफलता के लिए प्रतियोगी दल व्यवस्था का होना अनिवार्य है अर्थात् चुनावों में दलों का मुकाबला बराबरी का हो। अक्सर यह कहा जाता है कि संसदीय शासन की सफलता के लिए द्विदलीय व्यवस्था आवश्यक है परन्तु वर्तमान में यह सत्य नहीं है क्योंकि भारत में संसदीय शासन सफल है जबकि यहाँ पर बहुदलीय व्यवस्था है। वास्तव में प्रतियोगी दल व्यवस्था दलों को उत्तरदायी बनाती है वह चाहे द्विदलीय व्यवस्था हो या बहुदलीय व्यवस्था।

2. **राज्य के अध्यक्ष की ध्वजमात्रता** – संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और यह उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री व मंत्रिमंडल का होता है इसलिए समस्त शक्तियाँ इन्हीं में निहित होती हैं और राज्य का अध्यक्ष नाममात्र की शक्तियों का प्रयोग करता है। यदि राज्याध्यक्ष शक्तियों का वास्तविक प्रयोग करने लगेगा तो सरकार का उत्तरदायित्व निश्चित नहीं हो पायेगा जो संसदीय प्रणाली की भावना के विपरीत होगा। अतः संसदीय प्रणाली में राज्य के अध्यक्ष की ध्वज मात्रता की अवस्था में ही शासन सुचारु रुप से संचालित हो सकता है।

3. **राज्य के अध्यक्ष की तटस्थता** – संसदीय शासन प्रणाली में सत्तारुढ़ और विपक्षी दल दो प्रमुख समूह होते हैं और उनमें संविधान एवं नियमों के

अधीन सत्ता प्राप्ति की रस्साकशी चलती रहती है। कोई कार्य नियमों के अधीन है इसका निर्णय राज्याध्यक्ष करता है अतः उसका तटस्थ होना आवश्यक है। ब्रिटेन में वंशानुगत सम्राट या साम्राज्ञी परम्परागत रुढ़िवादिता के उपरान्त भी राजनीतिक तटस्थता के कारण संसदीय शासन के प्रेरक रहे हैं। भारत में यद्यपि राज्याध्यक्ष (राष्ट्रपति) अप्रत्यक्ष रुप से निर्वाचित होता है परन्तु कुछ एक मामलों को छोड़ दें तो वो भी प्रायः तटस्थ रहकर संवैधानिक नियमों के अनुसार कार्य करता है।

4. **स्पीकर की निष्पक्षता** – संसदीय शासन प्रणाली में संसद शक्ति एवं समस्त गतिविधियों का केन्द्र होती है। समस्त कार्यवाही कुछ नियमों के अधीन संचालित होती है और इन नियमों को लागू करने व व्याख्या करने का कार्य लोकप्रिय सदन का अध्यक्ष (स्पीकर) करता है। समस्त कार्यवाही निष्पक्ष एवं उचित दिशा में हो इसके लिए स्पीकार की निष्पक्षता अनिवार्य होती है। ब्रिटेन में स्पीकार पद पर चयनित व्यक्ति दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे देता है और भारत में यह परम्परा है कि स्पीकर सदन की आम सहमति से चुना जाये जिससे वह सभी पक्षों को स्वीकार्य हो और निष्पक्ष होकर कार्य कर सके।

5. **नियतकालिक चुनाव** – संसदीय शासन प्रणाली में नियतकालिक चुनाव का होना आवश्यक है क्योंकि चुनाव के माध्यम से ही जनता अपनी सहमति व असहमति प्रकट करती है, समस्याओं से सरकार को अवगत कराती है और सरकार में विश्वास या अविश्वास प्रकट करती है तथा सरकार को उत्तरदायी बनाती है। निश्चित समयान्तराल पर होने वाले निर्वाचन विपक्षी दलों को भी सत्ता प्राप्ति का अवसर देते हैं और इनके माध्यम से जनता में भी जागरुकता उत्पन्न होती है। अतः नियतकालिक चुनाव आवश्यक हैं।

6. **संसद की सर्वोच्चता** – संसदीय शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के विलयन से एक नई संरचना होती है जिसे संसद कहते हैं। संसद कार्यपालिका व व्यवस्थापिका में संतुलन व सहयोग उत्पन्न करता है। कार्यपालिका व्यवस्थापिका पर निर्भर है वहीं दूसरी तरफ व्यवस्थापिका का जीवन कार्यपालिका की इच्छा पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में संसद की सर्वोच्चता दोनों अंगों को एक दूसरे पर हावी होने से रोकता है जो संसदीय प्रणाली की सफलता के लिए आवश्यक है।

7. **जनमत के साधनों का विकास** – संसदीय शासन प्रणाली की सफलता के लिए जनमत निर्माण के साधनों का विकास होना आवश्यक है जिससे सरकार के उत्तरदायित्व पर प्रभावी नियंत्रण रक्खा जा सके। स्वस्थ लोकमत के निर्माण में बाधक कारकों को दूर करना आवश्यक है।

14.7 सारांश

संसदीय शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के विपरीत कार्यपालिका व व्यवस्थापिका शक्ति के समन्वय पर आधारित है। इस शासन प्रणाली में नाममात्र व वास्तविक, दो प्रकार की कार्यपालिका होती है। राज्य का अध्यक्ष (राष्ट्रपति या सम्राट) नामामात्र की शक्तियों का प्रयोग करता है जबकि सरकार का अध्यक्ष वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है। राज्याध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष प्रधानमंत्री की नियुक्ति होती है और प्रधानमंत्री के परामर्श पर राज्याध्यक्ष अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रिमंडल सामूहिक रुप

TESLA-024

से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। व्यवस्थापिका व कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इस शासन प्रणाली में उत्तरदायित्व की सुनिश्चितता रहती है, शासन में नमनीयता रहती है, कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो पाती, जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है और शासन अन्तिम रुप से जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। संसदीय शासन प्रणाली में कुछ दोष भी हैं यथा यह शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करणसिद्धान्त के विपरीत है। इसमें कार्यपालिका के कार्यकाल की अनिश्चितता होती है तथा शासन अकुशल व्यक्तियों के हाथों में होता है। उग्रदलबन्दी के कारण रचनात्मक विपक्ष का अभाव होता है और सत्ता बनाए रखने के उद्देश्य से कई बार राष्ट्रीय हितों की अनदेखी होती है। मंत्रिमंडल या दलीय तानाशाही का भय रहता है तथा निर्णयों में विलम्ब के कारण यह आपातकाल में उपयुक्त नहीं मानी जाती है। इन दोषों के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि संसदीय शासन प्रणाली ब्रिटेन, भारत, जापान, कनाडा, आस्ट्रेलिया सहित विश्व के अनेक देशों में पल्लवित पुष्पित हो रही है। हर शासन प्रणाली में कुछ गुण होते हैं तो कुछ दोष होते हैं। संसदीय शासन प्रणाली की सफलता के लिए स्वस्थ प्रतियोगी दलों का होना अनिवार्य है। साथ ही साथ राज्याध्यक्ष की ध्वज मात्रता, लोकसदन के अध्यक्ष की निष्पक्षता, नियत अवधि में निर्वाचन और जनमत निर्माण के साधनों का विकास आवश्यक है। संसदीय शासन प्रणाली की सफलता की आवश्यक शर्तों को यदि पूरा कर दिया जाये तो आज भी यह सर्वाधिक लोकप्रिय शासन प्रणाली है।

14.8 शब्दावली

निंदा प्रस्ताव – संसद में विपक्ष द्वारा सरकारी नीतियों एवं कार्यप्रणाली की आलोचना या उन्हें अस्वीकृत करने के उद्देश्य से यह प्रस्ताव रखा जाता है। उसके पास होने पर सरकार को त्यागपत्र देना पड़ सकता है।

अविश्वास प्रस्ताव – मंत्रिपरिषद सामूहिक रुप से लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी रहती है और सदन के विश्वास प्राप्ति तक पद पर बनी रहती है। सामूहिक रुप से मंत्रिपरिषद में विश्वास व्यक्त न करने या समर्थन न देने के प्रस्ताव को अविश्वास प्रस्ताव कहते हैं। इस प्रस्ताव के पारित होने पर सरकार को त्यागपत्र देना होता है।

सरकारी विधेयक – ऐसे विधेयक जो मंत्रिपरिषद के सदस्यों द्वारा व्यवस्थापिका में प्रस्तावित किये जाते हैं उन्हें सरकारी विधेयक कहते हैं। संसदीय शासन प्रणाली में सरकारी विधेयक एवं निजी विधेयक में अन्तर होता है। मंत्रिपरिषद के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य सदस्यों द्वारा प्रस्तावित विधेयक निजी विधेयक कहलाता है।

14.9 उपयोगी पुस्तकें

1. सी0बी0 गेना (2007) – तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. हरमन फाइनर – थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ मॉर्डन गवर्नमेन्ट (1961) न्यूयार्क, मेथ्यूहेन

3. जी0एल0 वर्मा (2010) पार्लियामेन्ट वर्सेज प्रेसीडेन्शियल सिस्टम ऑफ गर्वनमेन्ट, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली

4. यू0एन0 गुप्ता (1992) इण्डियन पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी (वाल्यूम 1 एवं 2), अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली

14.10 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) संसदीय शासन प्रणाली का क्या अर्थ है? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

(ब) संसदीय शासन प्रणाली के गुण–दोषों का वर्णन करिए।

(स) संसदीय शासन प्रणाली की सफलता की आवश्यक शर्तों की विवेचना कीजिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) सामूहिक उत्तरदायित्व का अर्थ बताइए?

(ब) नाममात्र की कार्यपालिका एवं वास्तविक कार्यपालिका का क्या अर्थ है?

(स) प्रधानमंत्री का नेतृत्व का क्या अर्थ है?

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) संसदीय शासन प्रणाली सबसे पहले कहाँ विकसित हुई?

(i) ब्रिटेन

(ii) भारत

(iii) अमरीका

(iv) स्विट्जरलैण्ड

(ब) संसदीय शासन प्रणाली में राज्याध्यक्ष होता है –

(i) वंशानुगत व्यक्ति

(ii) निर्वाचित प्रतिनिधि

(iii) मनोनीत

(iv) उपर्युक्त में से कोई भी हो सकता है

(स) संसदीय शासन प्रणाली में मंत्रियों की नियुक्ति करता है –

(i) राज्याध्यक्ष शासनाध्यक्ष की सलाह पर करते हैं।

(ii) राज्याध्यक्ष स्वविवेक से करते हैं।

(iii) शासनाध्यक्ष करते हैं।

(iv) व्यवस्थापिका करती है।

(द) निम्नांकित में से किस देश में संसदीय शासन प्रणाली नहीं है?

(i) भारत

(ii) ब्रिटेन

(iii) जापान

(iv) अमरीका

(य) संसदीय प्रणाली में मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता कौन करता है?

(i) सम्राट/राष्ट्रपति

(ii) प्रधानमंत्री

(iii) उपराष्ट्रपति

(iv) स्पीकर

14.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई में 14.2 एवं 14.3 अंश

(ब) देखिए इकाई का 14.4 तथा 14.5

(स) देखिए इकाई का 14.6 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई के 14.3 अंश का बिन्दु संख्या 4

(ब) देखिए इकाई के 14.3 अंश का बिन्दु संख्या 1

(स) देखिए इकाई के 14.3 अंश का बिन्दु संख्या 3

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (i)

(ब) (iv)

(स) (iv)

(द) (ii)

(य) (ii)

इकाई 15

अध्यक्षीय शासन प्रणाली

इकाई की रुपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त

15.3 अध्यक्षीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ

15.4 अध्यक्षीय शासन प्रणाली के गुण

15.5 अध्यक्षीय शासन प्रणाली के दोष

15.6 अध्यक्षीय और संसदीय शासन प्रणालियों में अंतर

15.7 सारांश

15.8 शब्दावली

15.9 उपयोगी पुस्तकें

15.10 सम्बन्धित प्रश्न

15.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने से आप :

- अध्यक्षीय शासन प्रणाली का अर्थ समझ सकेंगे।
- इसकी विशेषताएँ जान सकेंगे।
- इस शासन प्रणाली के गुण–दोषों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- अध्यक्षीय और संसदीय प्रणाली में अंतर कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के आधार पर शासन के दो प्रकार होते हैं – संसदीय शासन एवं अध्यक्षीय शासन। संसदीय शासन प्रणाली के विषय में इकाई–14 में अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि संसदीय शासन प्रणाली सरकार के अंग व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों पर आधारित है जबकि अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है, अर्थात् सरकार के तीनों अंग – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका स्वतंत्र रुप से कार्य करते हैं। अध्यक्षीय शासन प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण संयुक्त राज्य

TESLA-024

अमरीका की शासन प्रणाली में देखने को मिलता है। अन्य देशों में भी इस शासन प्रणाली को अपनाया गया है ओर सभी शासन व्यवस्थाओं में आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु थोड़े बहुत परिवर्तन किये गये हैं। इन्हीं व्यवस्थाओं के आलोक में हम अध्यक्षीय शासन प्रणाली को समझने, उनके गुण–दोषों का विश्लेषण करने तथा अध्यक्षीय सरकार का संसदीय सरकार से अन्तर करने का प्रयास करेंगे।

15.2 शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त

अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है अतः उसे समझने के लिए शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को समझना आवश्यक हो जाता है।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ है कि शासन में अलग–अलग कार्यों को सम्पादित करने वाले तीन प्रमुख अंगों – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका को स्वतंत्र एवं पृथक रहते हुए अपने–अपने कार्य सम्पादित करने चाहिए। इसके पीछे उद्देश्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अक्षुण रखना है। तीनों अंग जब अपने–अपने अधिकार क्षेत्र में कार्य करेंगे और अपनी गतिविधि के क्षेत्र तक सीमित रहेंगे तो किसी अन्य के कार्य क्षेत्र व स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करना सरल न होगा। शक्ति ही शक्ति पर नियंत्रण कर सकती है – इस धारणा को आधार मानकर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का समर्थन किया गया है।

शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त बहुत प्राचीन हैं और अरस्तु ने कार्यों के आधार पर शासन को तीन अंगों – विधायी, कार्यकारी एवं न्यायिक में विभक्त किया। प्राचीन रोमन लेखक पोलिबियस एवं सिसरो ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। चौदहवीं शताब्दी (मध्य युग के अंतिम चरण) में मार्सीलियो ने शासन के विधायी व कार्यकारी कार्यों के बीच स्पष्ट विभाजन करते हुए इस सिद्धान्त को पुनर्जीवित किया। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी लेखक बोदाँ ने न्याय सम्बन्धी कार्य स्वतंत्र अधिकारियों से करवाये जाने का समर्थन किया। सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में प्यूरिटन क्रान्ति के समय शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त को महत्व दिया गया तथा समकालीन विद्वानों ने विधायी तथा कार्यकारी शक्तियों के अन्तर को स्पष्ट रुप से प्रकट किया। जॉन लॉक ने सरकार को तीन अंगों में विभक्त करते हुए कहा कि ''मानवीय कमजोरी के लिए यह बहुत बड़ा प्रलोभन होगा कि यदि जिन व्यक्तियों के हाथ में कानून बनाने की शक्ति है उन्हीं के हाथों में उसे लागू करने की शक्ति देना भी उचित मान लिया जाये जिससे वे स्वयं को उस कानून के पालन से मुक्त कर लें जिसका वे निर्माण करते हैं।''

फ्रांसीसी दार्शनिक मान्टेस्क्यू ने सर्वप्रथम शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का स्पष्ट विवेचन किया तथा इस सिद्धान्त को एक मजबूत आधार प्रधान किया। मान्टेस्क्यू के समय में सम्पूर्ण यूरोप में निरंकुश राजतंत्र का प्रचलन था और नागरिकों को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। मान्टेस्क्यू ऐसी शासन प्रणाली चाहता था जहाँ व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा हो सके। अपने इंग्लैण्ड प्रवास के समय उसे वहाँ की शासन प्रणाली में उसे यह विशेषता दिखी कि शासन की शक्तियाँ पृथक्–पृथक् हैं, एक ही व्यक्ति या समूह के हाथों में नहीं। इंग्लैण्ड की शासन प्रणाली से प्रेरणा लेकर उसने शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिससे अनेक देशों की शासन प्रणालियाँ प्रभावित हुईं। मान्टेस्क्यू ने अपने ग्रन्थ 'स्पिरिट ऑफ द लॉज' में दो प्रस्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। एक में उसने यह

बतलाया है कि राज्य में तीन प्रकार की विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियाँ होती हैं।

दूसरी प्रस्थापना में उसने कहा है कि स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए शक्ति को एक स्थान में केन्द्रित नहीं रखना चाहिए। मान्टेस्क्यू ने कानून की अनुमति से कार्य करने के अधिकार को स्वतंत्रता कहा है। उसके अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता मन की वह शक्ति और निश्चिन्तता है, जो हर व्यक्ति की सुरक्षा की भावना पर आधारित होती है। इस प्रकार की स्वतंत्रता की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि शासन का गठन इस प्रकार किया जाये कि किसी को दूसरे से डरना न पड़े। मान्टेस्क्यू का मानना है कि जब विधायी तथा कार्यकारी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति अथवा शासकों के एक ही निकाय के हाथों में एकत्र कर दी जाती हैं तो स्वतंत्रता का अस्तित्व नहीं रहता, क्योंकि ऐसी दशा में इस बात का डर रहता है कि वह राजा अथवा सीनेट (सभा) अत्याचारपूर्ण कानूनों का निर्माण करे और अत्याचारपूर्ण ढंग से उन्हें क्रियान्वित करे। इसी प्रकार जब तक न्यायिक शक्ति को विधायी और कार्यकारी शक्तियों से अलग नहीं किया जाता तब तक स्वतंत्रता की स्थापना नहीं हो सकती। यदि न्यायिक शक्ति को विधायी शक्ति के साथ जोड़ दिया जाये तो प्रजा के जीवन और स्वतंत्रता बाधित होगी क्योंकि ऐसी स्थिति में न्यायाधीश ही कानून बनाने वाला होगा। यदि न्यायिक शक्ति से कार्यकारी शक्ति के साथ जोड़ दिया जाये तो न्याय करने वाले का व्यवहार हिंसा तथा अत्याचारों से युक्त हो सकता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह चाहे वह अभिजन वर्ग का हो और चाहे सामान्य जनता का, इन तीनों शक्तियों का प्रयोग करता है अर्थात् कानून बनाता है, सार्वजनिक प्रस्तावों को क्रियान्वित करता है और व्यक्तियों के मुकदमों का निर्णय करता है तो हर चीज का अन्त सुनिश्चित है।

मान्टेस्क्यू इस तथ्य में विश्वास करता था कि शक्ति, शक्ति को नियंत्रित करती है। वह चाहता था कि सरकार के तीनों अंगों में शक्तियाँ इस प्रकार रखी जाएँ कि एक शक्ति दूसरी शक्ति के मुकाबले सन्तुलन और प्रतिरोध उत्पन्न करती रहे। मान्टेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का विभिन्न देशों में व्यापक प्रभाव पड़ा और संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान निर्माताओं ने इसे आदर्श रुप में स्वीकार कर संविधान का निर्माण किया।

15.3 अध्यक्षीय शासन प्रणाली की विशेषताएँ

अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। यह वह शासन व्यवस्था है जहाँ पर कार्यपालिका व व्यवस्थापिका एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। राज्य का मुख्य कार्यकारी (राष्ट्रपति) राज्य का वास्तविक अध्यक्ष होता है और समस्त शक्तियों का वह स्वयं प्रयोग करता है। वह लोगों द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित होता है तथा व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, किन्तु महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा उसे पद से हटाया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का आदर्श उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रणाली को माना जाता है। इसके अतिरिक्त अर्जेन्टीना, ब्राजील, इंडोनेशिया, मैक्सिको, दक्षिण कोरिया, दक्षिणी अमेरिका आदि देशों में यह शासन प्रणाली पायी जाती है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली की निम्न विशेषताएं हैं –

TESLA-024

1. **कार्यपालिका शक्ति एकल** – इस शासन प्रणाली में संसदीय शासन प्रणाली की भाँति नाममात्र व वास्तविक दो कार्यपालिका प्रधान नहीं होते

हैं। अध्यक्षीय शासन प्रणाली में एक कार्यपालिका प्रमुख होता है और उसी के हाथ में वास्तविक रुप में भी कार्यपालिका शक्ति होती है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के हाथों में संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति निहित है जबकि संसदीय शासन प्रणाली होने के कारण भारत में राष्ट्रपति के पास नाममात्र की कार्यपालिका शक्ति होती है और वास्तविक शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री व मंत्रिमंडल करता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अध्यक्षीय शासन प्रणाली में राज्य का अध्यक्ष एवं सरकार का अध्यक्ष एक ही व्यक्ति होता है।

2. **कार्यपालिका का निश्चित कार्यकाल** – अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका अध्यक्ष का निर्वाचन एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है। मृत्यु एवं त्यागपत्र के अतिरिक्त केवल महाभियोग द्वारा ही उसे निश्चित अवधि से पूर्व अपदस्थ किया जा सकता है जो एक कठिन कार्य है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का कार्यकाल 4 वर्ष का है और आज तक वहाँ किसी भी राष्ट्रपति को महाभियोग द्वारा अपदस्थ नहीं किया जा सका है।

3. **व्यवस्थापिका की कार्यपालिका से पृथकता** – कार्यपालिका अध्यक्ष या राष्ट्रपति तथा उसके मंत्री व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं हो सकते और यदि राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के किसी सदस्य को मंत्री नियुक्त करता है तो उसे व्यवस्थापिका की सदस्यता से त्यागपत्र देना होगा। मंत्री राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और वे राष्ट्रपति के ही प्रति उत्तरदायी होते हैं, व्यवस्थापिका के प्रति नहीं। मंत्रियों का एक ही दल का होना अनिवार्य नहीं है। राष्ट्रपति तथा उसके मंत्री व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते परन्तु राष्ट्रपति भाषण देने एवं अपना संदेश भेजने का कार्य कर सकता है जिसे व्यवस्थापिका स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। मंत्रीगण भी व्यवस्थापिका के सत्र में उपस्थित हो सकते हैं और वाद–विवाद में भाग ले सकते हैं परन्तु मतदान नहीं कर सकते हैं। कार्यपालिका बजट तैयार कर व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करती है और व्यवस्थापिका इसमें कटौती कर सकती है। विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हेतु भेजे जाते हैं उसे निषेधाधिकार की शक्ति प्राप्त होती है परन्तु व्यवस्थापिका इस शक्ति को सीमित करने की व्यवस्था कर सकती है। कार्यपालिका किसी भी रुप में व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और व्यवस्थापिका असन्तुष्ट होने पर उसके कार्यों की केवल निंदा कर सकती है उसे पद से नहीं हटा सकती। इसी तरह कार्यपालिका प्रमुख व्यवस्थापिका के किसी सदन को भंग नहीं कर सकता और न ही कार्यकाल में वृद्धि कर सकता है। इस तरह अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका की भाँति व्यवस्थापिका का भी सुनिश्चित कार्यकाल होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवस्थापिका को कांग्रेस कहा जाता है जिसके दो सदन – सीनेट व प्रतिनिधि सभा होते हैं। सीनेट का कार्यकाल 6 वर्ष और प्रतिनिधि सभा का कार्यकाल 2 वर्ष का होता है।

4. **शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को मान्यता** – शासन के तीन अंगों – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के मध्य पृथक्करण इस सिद्धान्त की विशेषता है। मान्टेस्क्यू ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हित में शक्ति पृथक्करण को अनिवार्य माना। शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त अत्यक्षात्मक शासन का अभिन्न अंग है परन्तु 'नियंत्रण व संतुलन का

सिद्धान्त' की स्वीकार्यता इसकी आवश्यकता है। मान्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में 'शक्ति द्वारा शक्ति को नियंत्रित' करने की बात निहित थी। इसलिए एक ओर जहाँ शासन का प्रत्येक अंग अपने–अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र है वहीं दूसरी ओर स्वतंत्रता का स्वच्छन्दता में परिवर्तित होने से रोकने के लिए 'नियंत्रण व संतुलन' की व्यवस्था की जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में नियंत्रण व संतुलन की व्यवस्था की गयी है। अमेरिका के राष्ट्रपति द्वारा कार्यपालिका शक्ति के मनमाने प्रयोग पर अंकुश लगाने हेतु सीनेट द्वारा अनुमोदन का प्रावधान किया गया है। कांग्रेस (व्यवस्थापिका) की विधि–निर्माण शक्ति पर राष्ट्रपति की 'वीटो' (निषेधाधिकार) शक्ति का अंकुश है तथा न्यायपालिका को संविधान के संरक्षण का दायित्व दिया गया है अर्थात् न्यायपालिका को शासन के अन्य अंगों द्वारा संविधान विरुद्ध किये गये कार्यों को असंवैधानिक घोषित करने का अधिकार है। न्यायपालिका की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश हेतु न्यायाधीशों को महाभियोग द्वारा पदमुक्त करने का प्रावधान है।

15.4 अध्यक्षीय शासन प्रणाली के गुण

अध्यक्षीय शासन प्रणाली के निम्नलिखित गुण होते हैं –

1. **शासन में स्थायित्व** – इस शासन प्रणाली में कार्यपालिका व व्यवस्थापिका को कार्यकाल की सुरक्षा प्राप्त है अर्थात् निश्चित अवधि से पूर्व कार्यपालिका व व्यवस्थापिका को कार्य करने से नहीं रोका जा सकता। राष्ट्रपति की नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिए होती है और महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा ही उसे हटाया जा सकता है जो एक अति दुष्कर कार्य है। इसी प्रकार व्यवस्थापिका के किसी भी सदन को कार्यपालिका द्वारा भंग नहीं किया जा सकता। कार्यकाल की सुनिश्चितता के कारण शासन में स्थायित्व रहता है और सरकार दीर्घकालीन योजना बनाकर स्थिर व निरंतरता युक्त नीति का क्रियान्वयन कर सकती है।

2. **कार्यपालिका की निरंकुशता पर रोक** – शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित इस व्यवस्था का यह अर्थ नहीं है कि कार्यपालिका निरंकुश है। इस शासन प्रणाली में कार्यपालिका को अपनी नीतियों के क्रियान्वयन हेतु विधि निर्माण एवं वित्तीय स्वीकृति के लिए व्यवस्थापिका पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः व्यवस्थापिका इस रुप में कार्यपालिका पर अंकुश रखती है। कार्यपालिका द्वारा निषेधानिकार (वीटो) शक्ति के द्वारा व्यवस्थापिका पर अंकुश रखने का कार्य किया जाता है। न्यायपालिका न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति द्वारा व्यवस्थापिका और कार्यपालिका पर नियंत्रण करने का कार्य करती है। इस प्रकार शक्ति पृथक्करण एवं नियंत्रण व संतुलन के सिद्धान्त के समन्वय से कार्यपालिका की निरंकुशता पर रोक रहती है।

3. **संकटकाल के लिए उपयुक्त शासन प्रणाली** – संकटकालीन परिस्थितियों का सामना करने में यह शासन प्रणाली सर्वाधिक उपयुक्त है। शासन प्रणाली में कार्यपालिका शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित होती है जिसे व्यवस्थापिका अथवा अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों के निर्देशों के अनुसार कार्य नहीं करना पड़ता है। अतः निर्णय शीघ्रता से लिये जा सकते हैं। कार्यपालिका अध्यक्ष प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रुप से जनता द्वारा

निर्वाचित होने के कारण लोकप्रिय भी होता है। अतः अपनी कुशलता व योग्यता से वह संकट का आसानी से सामना कर सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

4. **दलबन्दी की बुराईयाँ कम** – अध्यक्षीय शासन दलीय प्रणाली के दोषों से मुक्त होती है। इस शासन व्यवस्था में राजनीतिक दलों का अस्तित्व रहता है परन्तु प्रायः वे राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय ही अधिक सक्रिय रहते हैं और निर्वाचन के पश्चात् उनका राष्ट्रपति पर अनुचित दबाव बनाना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने दल के ही सदस्यों से मंत्रिमण्डल का निर्माण करें व्यवस्थापिका के बहुमत प्राप्त दल की सरकार होने के कारण संसदीय व्यवस्था में दलबन्दी की बुराईयाँ देखने को मिलती हैं। जबकि अध्यक्षीय व्यवस्था में राजनीतिक संकीर्णता की संभावना नहीं रहती है।

5. **कार्यकुशलता अधिक** – इस शासन प्रणाली में कार्यकुशलता अधिक होती है क्योंकि शासन का प्रत्येक अंग किसी विशेष कार्य को दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप किये बिना पूरा करता है। वहीं कार्यपालिका के सदस्यों को व्यवस्थापिका के कार्यों में अपना समय नष्ट नहीं करना पड़ता है, जिससे वे एकाग्रचित्त होकर अपने कार्यों को सम्पादित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति अपने मंत्रियों के चयन में स्वतंत्र होता है, उसे व्यवस्थापिका के सदस्यों को मंत्रिमंडल में सम्मिलित करने की बाध्यता नहीं होती, अतः वह अपने विवेकानुसार योग्यतम व्यक्तियों को नियुक्त कर सकता है। इस प्रकार इस व्यवस्था में विशेषज्ञ व्यक्तियों की नियुक्ति संभव होती है और कार्यकुशलता बढ़ती है।

6. **व्यक्ति स्वतंत्रता की रक्षा** – अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कानून निर्माता एवं उन्हें क्रियान्वित करने वाले व्यक्ति अलग–अलग होते हैं, अतः नागरिकों की स्वतंत्रता अधिक सुरक्षित रहती है और अल्पसंख्यकों को उत्पीड़न का भय नहीं रहता।

7. **बहुदलीय प्रणाली के लिए उपयुक्त** – बहुदलीय शासन प्रणाली वाले देशों में यदि संसदीय शासन प्रणाली है तो सरकार जल्दी–जल्दी बदलती रहती है, शासन में स्थिरता नहीं रहती और प्रजात्रंत सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाता। इसलिए बहुदलीय प्रणाली में अध्यक्षात्मक शासन ही सर्वाधिक उपयुक्त होता है।

15.5 अध्यक्षीय शासन प्रणाली के दोष

अध्यक्षीय शासन प्रणाली के निम्नलिखित दोष होते हैं –

1. **कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य संघर्ष** – अध्यक्षीय शासन प्रणाली में शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के कारण कार्यपालिका व व्यवस्थापिका के मध्य सम्बन्ध सामंजस्यपूर्ण नहीं होते। दोनों के मध्य तनाव बढ़ने की आशंका और अधिक हो जाती है जब राष्ट्रपति एक राजनीतिक दल का सदस्य होता है और व्यवस्थापिका में बहुमत दूसरे दल का होता है। ऐसी स्थिति में दोनों के मध्य संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो सकती है और शासन के कार्यों में अपेक्षित गतिशीलता नहीं आ पाती।

2. **कार्यपालिका के निरंकुश बनने का भय** – इस शासन प्रणाली में कार्यपालिका प्रधान का कार्यकाल निश्चित होता है और इस अवधि से पूर्व उसे केवल महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा ही हटाया जा सकता है। महाभियोग की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है और यही कारण है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में किसी राष्ट्रपति को इस आधार पर हटाया नहीं जा सका है। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका के निरंकुश बनने की सम्भावना बढ़ जाती है।

3. **उत्तरदायित्व का अभाव** – इस व्यवस्था में शक्ति और उत्तरदायित्व का पृथक्करण होता है और राजकीय नीति और कानूनों के लिए किसी को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। अनुत्तरदायित्वपूर्ण स्थिति लोकतंत्र के विरुद्ध मानी जाती है। संसदीय प्रणाली को उत्तरदायी शासन माना जाता है जहाँ जन प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अध्यक्षीय व्यवस्था में इसका अभाव पाया जाता है।

4. **परिवर्तनशीलता का अभाव** – अध्यक्षीय शासन प्रणाली संसदीय प्रणाली की भाँति लचीली और परिवर्तनशील नहीं होती। निश्चित कार्यकाल से पूर्व न तो कार्यपालिका और न ही व्यवस्थापिका में परिवर्तन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर परिस्थितियों के अनुरुप शासन में वांछित परिवर्तन नहीं किया जा सकता जबकि संसदीय व्यवस्था में एंसा संभव है। उदाहरण के लिए संसदीय व्यवस्था वाले इंग्लैण्ड में संवैधानिक संशोधन और विधि निर्माण प्रक्रिया में कोई भिन्नता नहीं है अतः आवश्यकता एवं परिस्थितियों के अनुकूल सरलता से संविधान में संशोधन करके शासन में अपेक्षित परिवर्तन लाया जा सकता है। इसके विपरीत अध्यक्षीय प्रणाली वाले संयुक्त राज्य अमेरिका में संवैधानिक संशोधक के लिए विशेष प्रक्रिया है जो बड़ी कठिन और लम्बी है जिसके कारण संशोधन में विलम्ब होता है। इसी कारण संकट की स्थिति में वांछित परिवर्तन नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने चुनावों को स्थगित करने में संसद को सहमत कर लिया, परन्तु अमेरिका के राष्ट्रपति वैसा नहीं कर सके और वहाँ 1940 तथा 1944 में राष्ट्रपति निर्वाचन हुए।

5. **राजनीतिक दल की केवल निर्वाचन के समय सक्रियता** – अध्यक्षीय शासन व्यवस्था में राजनीतिक दल केवल आम निर्वाचन के समय ही पूर्ण रुप से सक्रिय रहते हैं इसलिए निर्वाचन का समय बड़ा उथल पुथल का समय रहता है। यह उथल–पुथल कभी–कभी इतना उग्र हो जाता है कि विद्रोह या गृहयुद्ध की आशंका उत्पन्न हो जाती है। दक्षिणी अमेरिका के राज्यों में कभी–कभी ऐसा देखने को मिलता है परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा नहीं होता। सामान्य काल में राजनीतिक दल प्रायः महत्वहीन रहते हैं, व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण नहीं रखती है, प्रश्न पूछकर, निंदा करने के माध्यम से लोगों में जो राजनीतिक चेतना व शिक्षा जागृत होती है, इस प्रणाली में इसकी सम्भावना क्षीण रहती है।

6. **कार्यपालिका को व्यवस्थापिका में पहल करने की शक्ति नहीं** – शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के कारण अध्यक्षीय शासन प्रणाली का एक अन्य दोष यह है कि कार्यपालिका को विधि निर्माण कार्य में पहल करने की शक्ति प्राप्त नहीं है। जबकि संसदीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण विषयों में विधि निर्माण कार्य में पहल सदैव कार्यपालिका ही करती है। इसका परिणाम यह होता

है कि अध्यक्षीय प्रणाली में राष्ट्रपति और मंत्रिमंडल की ओर से विधि निर्माण कार्य में प्रत्यक्ष भागीदारी न होने से निर्वाचकों एवं प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायित्व का अभाव तो रहता ही है साथ में व्यवस्थापिका में वर्गहित एवं व्यक्तिगत लाभ के लिए विधायन को प्रभावित करने की सम्भावना अधिक रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस के अन्दर लॉबिंइंग व्यवस्था इसी का उदाहरण है।

7. **न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप** – यदि हम अध्यक्षीय प्रणाली का अध्ययन संयुक्त राज्य अमेरिका के सन्दर्भ में करें तो स्पष्ट होता है कि संविधान के रक्षक के रुप में न्यायपालिका का हस्तक्षेप अत्यधिक है। व्यव्सथापिका और कार्यपालिका महत्वहीन हो जाती है ओर न्यायपालिका के अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण अमेरिका में सर्वोच्च न्यायालय को व्यवस्थापिका का तृतीय सदन तक कहा जाने लगा है।

15.6 अध्यक्षीय और संसदीय शासन प्रणालियों में अंतर

अध्यक्षीय और संसदीय शासन प्रणाली में निम्नलिखित अन्तर है –

1. संसदीय शासन प्रणाली में दो प्रकार की कार्यपालिकाएं – नाममात्र तथा वास्तविक होती हैं जबकि अध्यक्षीय प्रणाली में एक ही कार्यपालिका होती है वह भी वास्तविक। उदाहरण के लिए संसदीय व्यवस्था वाले भारत व ब्रिटेन में नाममात्र की कार्यपालिका क्रमश राष्ट्रपति व सम्राट है और वास्तविक कार्यपालिका प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल जबकि अध्यक्षीय शासन वाले संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति कार्यपालिका प्रधान है, वही स्वयं वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है अर्थात् अमेरिका का राष्ट्रपति राज्य व सरकार दोनों का अध्यक्ष है।

2. संसदीय प्रणाली में मंत्रियों का सम्बन्ध व्यवस्थापिका से होता है, मंत्रियों का व्यवस्थापिका का सदस्य होना अनिवार्य है ओर इसलिए वे व्यवस्थापिका की कार्यवाही में भाग लेते हैं तथा उनके प्रति उत्तरदायी होते हैं परन्तु अध्यक्षीय सरकार में मंत्रियों का सम्बन्ध व्यवस्थापिका से नहीं होता, वे व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं हो सकते इसिलए वे व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में प्रभावी रुप से भाग नहीं लेते और न ही व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

3. संसदीय सरकार में मंत्रियों का सामूहिक तथा व्यक्तिगत उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका के प्रति होता है जबकि अध्यक्षीय व्यवस्था में मंत्री कार्यपालिका प्रधान के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संसदीय व्यवस्था में व्यवस्थापिका द्वारा एक मंत्री के प्रति अविश्वास प्रस्ताव पारित होने पर संपूर्ण मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देना पड़ता है। जबकि अध्यक्षीय व्यवस्था में ऐसा नहीं है। राष्ट्रपति जब चाहे अपनी इच्छा से मंत्रियों को पदस्थ या अपदस्थ कर सकता है।

4. संसदीय सरकार में कार्यपालिका को कार्यकाल व्यवस्थापिका पर निर्भर करता है जबकि अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित रहता है। उदाहरण के लिए भारत व इंग्लैण्ड (संसदीय व्यवस्था) में प्रधानमंत्री व मंत्रिपरिषद पूर्ण से लोकप्रिय सदन पर निर्भर करते हैं

जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका (अध्यक्षीय व्यवस्था) के राष्ट्रपति को 4 वर्ष से पूर्व केवल महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।

5. अध्यक्षीय तथा संसदीय शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों की सक्रियता में भी अन्तर होता है। अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति के निर्वाचन के पश्चात् प्रायः विरोधी दल शान्त हो जाते हैं जबकि संसदीय प्रणाली में विरोधी दल निरन्तर सक्रिय रहते हैं और सरकार के प्रत्येक कार्य की आलोचना व निंदा कर सरकार पर नियंत्रण करने की कोशिश करते रहते हैं।

6. अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है जबकि संसदीय शासन प्रणाली शक्ति संयोजन के सिद्धान्त पर आधारित है। संसदीय प्रणाली में प्रधानमंत्री का पद एक महत्वपूर्ण पद होता है। इस व्यवस्था में नीतियों का निर्माण करना और उन्हें क्रियान्वित करने हेतु आवश्यक विधि निर्माण का दायित्व प्रधानमंत्री व मंत्रिमंडल का होता है इसलिए वे विधि निर्माण में पहल भी करते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षीय प्रणाली में प्रधानमंत्री पद होता नहीं है। राष्ट्रपति और मंत्रिमंडल नीतिनिर्माण का कार्य करते हैं परन्तु वे विधि निर्माण में पहल नहीं कर सकते हैं। वे केवल अप्रत्यक्ष रुप से ही उसे प्रभावित कर सकते हैं।

15.7 सारांश

अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित होती है जिसका प्रतिपादन फ्रांसीसी दार्शनिक मान्टेस्क्यू ने किया था। मान्टेस्क्यू का मानना था कि व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा तभी सम्भव है जब सरकार के तीन अंग व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका एक दूसरे से पृथक् हों परन्तु शक्ति का निरंकुश प्रयोग रोकने हेतु नियंत्रण व संतुलन भी जरुरी है। संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान इस सिद्धान्त को अंगीकृत किये हुए है और आज संयुक्त राज्य अमेरिका अध्यक्षीय शासन प्रणाली का सर्वोत्तम उदाहरण है।

इस प्रणाली की विशेषताएँ हैं कि इसमें एक ही कार्यपालिका होती है, कार्यपालिका का कार्यकाल सुनिश्चित होता है, कार्यपालिका व व्यवस्थापिका में पृथक्करण रहता है। इन विशेषताओं की पृष्ठभूमि में स्थायित्व, संकट के समय उपयुक्त, दलबन्दी की बुराईयाँ कम होती हैं तथा यह अधिक कार्यकुशल शासन होता है। परन्तु इन गुणों के साथ ही साथ इस प्रणाली के कुछ दोष भी हैं जैसे शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के कारण व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के मध्य संघर्ष होता है तथा नियंत्रण के अभाव में कार्यपालिका के निरंकुश बनने का भी भय बना रहता है। कठोर व्यवस्था होने के कारण परिस्थितियों के अनुकूल इसमें परिवर्तन करना सरल नहीं है तथा कार्यपालिका आवश्यकता पड़ने पर विधि निर्माण की पहल नहीं कर सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका का उदाहरण लें तो राजनीतिक दल राष्ट्रपति निर्वाचन के समय ही सक्रिय रहते हैं और न्यायपालिका का अनुचित हस्तक्षेप रहता है।

15.8 शब्दावली

TESLA-024

महाभियोग—एक ऐसी प्रक्रिया जिसके माध्यम से कार्यपालिका प्रधान (राष्ट्रपति) द्वारा किये गये गम्भीर अपराध, देशद्रोह या संविधान के उल्लंघन के

आरोप में व्यवस्थापिका द्वारा उसे अपदस्थ किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में व्यवस्थापिका इन आरोपों की न्यायालय की भाँति सुनवाई एवं जाँच करती है और आरोप सिद्ध होने पर उसे पदमुक्त कर सकती है।

सामूहिक उत्तरदायित्व – संसदीय शासन में वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रिमंडल) संसद के प्रति सामूहिक रुप से उत्तरदायी कही जाती है अर्थात् मंत्रिमंडलीय नीतियाँ निर्धारित होने पर व्यवस्थापिका में किसी भी विरोध का एकजुट होकर सामना करना। कोई मंत्री असहमत होने पर त्यागपत्र देकर स्वयं को मंत्रिमंडल से अलग हो सकता है परन्तु निर्णय होने पर उसकी भी सहमति मानी जाती है।

निषेधाधिकार – व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक (विधि निर्माण प्रस्ताव) कार्यपालिका अध्यक्ष के हस्ताक्षर के पश्चात् विधि रुप में परिवर्तित होती है। मुख्य कार्यपालिका द्वारा किसी विधेयक पर अपनी स्वीकृति न देने और इस प्रकार उसे कानून बनने न देने की क्रिया निषेधाधिकार (वीटो) कहलाती है।

15.9 उपयोगी पुस्तकें

1. सी0बी0 गेना (2007) – तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीति संस्थाएं, विकास पब्लिशिंग हाऊस प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. प्रभुदत्त शर्मा, तुलनात्मक राजनीतिक संस्थाएं, कालेज बुक डिपो, जयपुर।
3. स्ट्रॉंग सी0एफ0 (1966) मॉर्डन पालिटिकल कांन्स्टीट्यूशन, सिडविक एण्ड जैक्सन, लंदन
4. हरमन फाइनर – थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस ऑफ मॉर्डन गवर्नमेन्ट (1961) न्यूयार्क, मेथ्यूहेन
5. जी0एल0 वर्मा (2010) पार्लियामेन्ट वर्सेज प्रेसीडेन्शियल सिस्टम ऑफ गर्वनमेन्ट, अटलांटिक पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली
6. एच0जे0 लास्की (1948) अमेरिकन प्रेसीडेन्सी, वीकिंग प्रेस।

15.10 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) अध्यक्षीय शासन प्रणाली का क्या अर्थ है? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

   (ब) अध्यक्षीय शासन प्रणाली के गुण–दोषों का वर्णन करिए।

   (स) अध्यक्षीय एवं संसदीय प्रणाली में तुलना करते हुए अन्तर बताइए।

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त का अर्थ

   (ब) नियंत्रण एवं संतुलन का सिद्धान्त

   (स) कार्यपालिका के कार्यकाल की निश्चितता

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) अध्यक्षीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका का कार्यकाल –

(i) अनिश्चित रहता है।

(ii) निश्चित रहता है।

(iii) व्यवस्थापिका पर निर्भर करता है।

(iv) न्यायपालिका पर निर्भर करता है।

(ब) अध्यक्षीय शासन प्रणाली में मंत्रिमंडल के सदस्य –

(i) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित होते हैं।

(ii) राष्ट्रपति जिस राजनैतिक दल का सदस्य होता है उसी के सभी सदस्य होते हैं।

(iii) व्यवस्थापिका के सभी निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं।

(iv) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होते हैं।

(स) संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति का कार्यकाल है –

(i) 4 वर्ष

(ii) 2 वर्ष

(iii) 6 वर्ष

(iv) 5 वर्ष

(द) शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त किस शासन प्रणाली की विशेषता है?

(i) एकात्मक शासन प्रणाली

(ii) संघात्मक शासन प्रणाली

(iii) अध्यक्षीय शासन प्रणाली

(iv) संसदीय शासन प्रणाली

(य) अध्यक्षीय शासन प्रणाली की निम्न से कौन सी विशेषता है –

(i) मंत्रियों का व्यवस्थापिका सदस्य न होना।

(ii) मंत्रियों का व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन।

(iii) मंत्रियों का सामूहिक उत्तरदायित्व।

(iv) मंत्रियों की राजनीतिक सजातीयता।

15.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

TESLA-024

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई में 15.1 तथा 15.3

(ब) इकाई का 15.4 एवं 15.5

(स) इकाई का 15.6 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) इकाई का 15.2 अंश

(ब) इकाई का 15.2 का चौथा पैराग्राफ

(स) इकाई का 15.3 अंश का दूसरा बिन्दु

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (ii)

(ब) (iv)

(स) (i)

(द) (ii)

(य) (i)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–5

राज्य के सिद्धान्त

इकाई – 16	राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण	**252–268**
इकाई – 17	कल्याणकारी राज्य	**269–286**
इकाई – 18	राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त	**287–296**
इकाई – 19	राज्य का अराजकतावादी दृष्टिकोण	**297–313**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

33. प्रो. एल. आर. गुर्जर

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

34. डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच

35. डॉ के. डी. सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया

36. डॉ नीलिमा सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

37. डॉ एच. के. शर्मा, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

38. डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज

39. डॉ ए. पी. सिंह, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

40. डॉ मोहम्मद शाहिद, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN- 979-93-83328-35-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
प्रकाशक–कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–2020
मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

यू.जी.पी.एस.–101 खण्ड–05 परिचय

खण्ड–05 'राज्य के सिद्धान्त' के अन्तर्गत

ईकाई–16 में आप व्यक्तिवादी सिद्धान्त के बारे में पढ़ेंगे। जिसमें उसके आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक दृष्टिकोणों तथा अहस्तक्षेप सिद्धान्त का अध्ययन कर सकेंगे।

ईकाई–17 में कल्याणकारी सिद्धान्त की चर्चा की गयी है। कल्याणकारी राज्य के उदय तथा उसके लक्षणों के बारे में बताते हुए इसकी समस्याओं एवं संभावनाओं की चर्चा की गई है।

ईकाई–18 में 'राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त' में मार्क्सवादी अवधारणा को बताते हुए उसके राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त तथा राज्य के विकासात्मक कार्यो का वर्णन किया गया है।

ईकाई–19 'राज्य का आराजकतावादी दृष्टिकोण' के अन्तर्गत अराजकतावाद के अर्थ एवं सिद्धान्तों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर राज्यविहीन समाज की रुपरेखा का अध्ययन करेंगे।

इकाई 16

राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 व्यक्तिवाद का अर्थ एवं विकास

16.3 व्यक्तिवाद के समर्थक प्रमुख विचारक

- **16.3.1** जॉन लॉक के विचार
- **16.3.2** एडम स्थिम के विचार
- **16.3.3** जरमी बेंथम के विचार
- **16.3.4** जॉन स्टुअर्ट मिल के विचार
- **16.3.5** हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार

16.4 व्यक्तिवाद के प्रमुख सिद्धान्त

16.5 व्यक्तिवाद के समर्थन के आधार

16.6 व्यक्तिवाद की आलोचना

16.7 आधुनिक व्यक्तिवाद

16.7 सारांश

16.8 शब्दावली

16.9 उपयोगी पुस्तकें

16.10 सम्बन्धित प्रश्न

16.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में राज्य का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का अध्ययन करने के पश्चात् आप :

- व्यक्तिवाद का अर्थ एवं विकास को समझ सकेंगे।
- व्यक्तिवाद के आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक दृष्टिकोणों से भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

- व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्तों को समझ सकेंगे और उनका विश्लेषण कर सकेंगे।
- व्यक्तिवाद और अहस्तक्षेप सिद्धान्त के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों के विचारों को समझ सकेंगे।
- आधुनिक व्यक्तिवाद को समझकर प्रारम्भिक व्यक्तिवाद से उसके अन्तर को समझ सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

व्यक्ति व राज्य के बीच क्या सम्बन्ध होना चाहिए? इस प्रश्न का राजनीति के विद्वानों ने विस्तृत विश्लेषण किया है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने इस विषय पर विचार किया कि राज्य साध्य है अथवा साधन। इन प्रश्नों के सम्बन्ध में उनके विचार उनके द्वारा राज्य के सम्बन्ध में प्रतिपादित विचारों को प्रभावित करते हैं। राज्य का कार्यक्षेत्र क्या होना चाहिए यह उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में निहित है। राज्य को क्या–क्या कार्य करने चाहिए और किन कार्यों को नहीं करना चाहिए, व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं स्वतंत्रता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना उसे किन–किन क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना चाहिए और किन क्षेत्रों में नहीं करना चाहिए आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में राजनीतिक विचारकों ने अलग–अलग विचार प्रस्तुत किये हैं और इसी आधार पर राज्य के महत्व को स्वीकार किया है। एक तरफ राजनीतिक विचारकों का ऐसा समूह है जो राज्य को समाप्त कर देना चाहता है और राज्य को अनावश्यक बताता है वहीं दूसरी ओर ऐसे विचारक हैं जो न केवल राज्य को बनाये रखना चाहते हैं बल्कि उसे अधिक से अधिक कार्य न करने का अधिकार प्रदान करते हैं। कुछ राजनीतिक विचारक राज्य के कार्यक्षेत्र को कम से कम रखना चाहते हैं ताकि व्यक्ति की स्वतंत्रता की अधिकतम सीमा तक रक्षा की जा सके। कुछ राजनीतिक विचारक व्यक्ति के अस्तित्व को राज्य के अस्तित्व में सम्मिलित करना चाहते हैं जिससे व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता लगभग समाप्त हो जाती है। इस प्रकार राज्य से सम्बन्धित विभिन्न दृष्टिकोणों का विकास होता है जो इस प्रकार हैं – अराजकतावाद राज्य को अनावश्यक बताता है तो फासीवाद राज्य के अस्मिता में ही व्यक्ति की अस्मिता को स्वीकारता है। इन विरोधी विचारधाराओं के मध्य व्यक्तिवादी विचारधारा है जो राज्य के कम से कम हस्तक्षेप को स्वीकार करता है और राज्य को आवश्यक बुराई भी कहता है। इस विचार के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र व्यक्ति की सुरक्षा तक सीमित है और इस सिद्धान्त को व्यक्तिवादी सिद्धान्त या अहस्तक्षेप का सिद्धान्त या नकारात्मक उदारवाद कहा जाता है। इस इकाई में हम राज्य के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

16.2 व्यक्तिवाद का अर्थ एवं विकास

राजनीति विज्ञान राज्य से सम्बन्धित है और राज्य में व्यक्ति निवास करते हैं। अतः राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों पर अनेक विचारधारा सामने आईं जिनमें व्यक्तिवाद भी एक है। राज्य का स्वरूप क्या हो तथा राज्य के क्या कार्य हैं, इस सम्बन्ध में व्यक्तिवाद एक महत्वपूर्ण विचारधारा है। व्यक्तिवाद में व्यक्ति विचार का केन्द्र–बिन्दु है और इसका मानना है कि व्यक्ति, समाज और राज्य के लिए नहीं वरन समाज और राज्य व्यक्ति के लिए हैं। व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य एक नकारात्मक एवं बाध्यकारी संस्था है जिसकी आज्ञाओं का पालन

TESLA-024

अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। राज्य की आज्ञाओं का पालन करने से व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं का हनन होता है। जितना विस्तृत राज्य का कार्यक्षेत्र होगा उतनी ही मात्रा में व्यक्तियों की स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध लगेगा। वहीं दूसरी ओर यदि राज्य के कानून और कार्य सीमित होंगे तो व्यक्ति के अधिकार व स्वतंत्रता अधिक होगी। परन्तु प्रत्येक समाज में हर प्रकार के लोग होते हैं – कुछ अच्छे तो कुछ बुरे। व्यक्तिवाद का मानना है कि समाज में इन बुरे या असामाजिक लोगों पर नियंत्रण करने हेतु कानून और दण्ड की आवश्यकता होती है जिससे समाज में शान्ति व्यवस्था बनी रहे और व्यक्ति के अधिकार व स्वतंत्रता को संरक्षण मिल सके। इसलिए राज्य आवश्यक है। अतः व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है।

व्यक्तिवाद का जन्म पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी से माना जाता है जब पुनर्जागरण और सुधार आन्दोलन ने मध्यकाल की परम्पराओं पर आघात करते हुए समस्त सामाजिक जीवन में परिवर्तन का बीजारोपण किया। मध्यकाल धर्म प्रधान युग था और इस युग में समस्त यूरोप एक ही संस्था के अधीन था, वह थी रोमन चर्च। धर्म का प्रभाव अत्यधिक होने के कारण मध्ययुग के पूर्वाद्ध में पवित्र रोमन साम्राज्य भी रोमन चर्च की तुलना में अधिक प्रभावी नहीं था। राजनीतिक जीवन का अस्तित्व न के बराबर था राज्य का स्थान भी चर्च ने ग्रहण कर लिया था। चर्च के प्रतिबन्धों ने अर्थ और व्यवसाय को धर्म और नैतिकता से मिश्रित कर दिया था। इस युग में व्यक्ति स्वयं को धर्म पर आश्रित कर मुक्ति का मार्ग प्राप्त करने का उद्देश्य रखता था अतः धार्मिक अन्धविश्वास के कारण उसकी विवेक एवं विवेचना शक्ति का पतन हुआ तथा इस युग में ज्ञान बड़ा संकुचित और स्थिर रहा। इस युग में समुदाय राजनीतिक इकाई माना जाता था और सामन्तवादी व्यवस्था का प्रचलन था। परन्तु 12वीं शताब्दी से ही पश्चिमी यूरोप में ऐसी शक्तियाँ उभरकर सामने आ गई थीं जिन्होंने मध्ययुग की व्यवस्था को चुनौती दी। धीरे–धीरे पोप की शक्तियों में कमी आई, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन प्रारम्भ हुआ और यूरोप में पुनरोदय के परिणामस्वप व्यक्ति की विचारधारा ही परिवर्तित हो गई। व्यक्तिवादी विचारधारा का विकास सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के यूरोप के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का परिणाम है। इस काल का यूरोपीय समाज मुख्यतः कृषि प्रधान था जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था परन्तु बुद्धिवाद, मार्टिन लूथर के धर्म सुधार आन्दोलन तथा औद्योगिक क्रान्ति ने व्यक्ति को महत्व प्रदान करते हुए तत्कालीन विचारधारा में व्यापक परिवर्तन किए। बुद्धिवाद ने धर्म, आस्था एवं श्रद्धा जैसे भावों की आलोचना एवं विरोध किया वहीं मार्टिन लूथर के धर्मसुधार आन्दोलन ने लोगों को यह समझाया कि धर्मग्रन्थों का अर्थ उन्हें अपनी बुद्धि से समझना चाहिए न कि पोप की आज्ञानुसार। धार्मिक क्षेत्र में लूथर के विचारों ने व्यक्तिवाद की शुरूआत की और राजनीतिक व्यक्तिवाद सामाजिक समझौता सिद्धान्त के रूप में प्रस्फुटित हुआ। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद को जन्म दिया। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व राज्य का व्यक्ति के कार्यों में पूर्ण हस्तक्षेप था और इसी के प्रतिक्रिया स्वरूप अहस्तक्षेप का सिद्धान्त (Laisscyfaire) आया। राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप को अस्वीकार किया जाने लगा। जनता के जीवन में व्यापक परिवर्तन होने लगा। नये–नये आविष्कार हुए और वस्तुओं का उत्पादन बहुत अधिक मात्रा में होने लगा फलस्वरूप इन उत्पादों को बेचने के लिए नये–नये बाजारों की खोज और अधिकार प्रारम्भ हुआ। इन नवीन परिस्थितियों में व्यक्तियों ने अधिक से अधिक स्वतंत्र होकर कार्य करने की माँग की जिससे वे अपनी शक्तियों का उपयोग कर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकें। अठारहवीं सदी के व्यक्तिवाद का नारा था 'संसार जैसा चलता है चलने दो, उसके कार्यों में

हस्तक्षेप मत करो क्योंकि वह अपना नियंत्रण स्वयं कर लेता है' (Let things alone because the world is self-regulating)।

व्यक्तिवाद राज्य को आवश्यक बुराई मानता है। आवश्यक इसलिए कि व्यक्ति की स्वार्थपरता तथा असामाजिक कार्यों को नियंत्रित किया जा सके। व्यक्तिवाद का मानना है कि राज्य के कानून, नियमों एवं नियंत्रण के अभाव में समाज में शान्ति व व्यवस्था नहीं रहेगी। इसलिए राज्य को व्यक्ति की सुरक्षा पर पूरा ध्यान देना चाहिए परन्तु व्यक्ति का कल्याण राज्य के कार्यक्षेत्र के बाहर है। व्यक्तिवाद का मूल मंत्र है कि 'व्यक्ति को अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिले और राज्य कम से कम हस्तक्षेप करे।

16.3 व्यक्तिवाद के समर्थक प्रमुख विचारक

व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों में रिकार्डो, माल्थस, डी. टाकविले, बेन्थम, हम्बोल्ट, मिल, स्पेन्सर स्मिथ डोनिस्लेर्म और समनर के नाम प्रमुख हैं।

16.3.1 जॉन लॉक के विचार

व्यक्तिवाद की विचारधारा में कई अवस्थाएं देखने को मिलती हैं। इंग्लैण्ड की गौरवपूर्ण क्रान्ति ने व्यक्तिवाद को सुदृढ़ किया और फ्रान्स में वही काम फ्रांसीसी क्रान्ति ने किया। दोनों ही देशों में मध्यम वर्ग ने सत्ता पर अधिकार किया। इंग्लैण्ड में जॉन लॉक ने अपने दर्शन द्वारा इसे समझाने का प्रयास किया और उसके विचार व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्त बन गये। जॉन लॉक की पुस्तक 'टू ट्रीटाइजेज ऑन सिविल गवर्नमेन्ट (Two Treatises on Civil Government) में प्रतिपादित विचार लॉक को व्यक्तिवाद का समर्थक सिद्ध करते हैं। वॉहन (Vaughan) का कहना सत्य ही है कि 'लॉक की व्यवस्था में हर वस्तु व्यक्ति के चारों तरफ चक्कर काटती है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता हर प्रकार से सुरक्षित रहे।' लॉक के विचारों में व्यक्तिवाद के समर्थन में प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं–

1. लॉक द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक अवस्था, सभ्य समाज, समझौता, शासनतंत्र व राज्यक्रान्ति ये सभी विचार व्यक्ति का गौरव बढ़ाने वाली हैं। वह जीवन, स्वतंत्रता व सम्पत्ति के अधिकार को जन्मसिद्ध, स्वाभाविक एवं प्राकृतिक मानते हुए सभी को समान रूप से प्रदान करता है।

2. वह व्यक्ति की नैतिक चेतना, न्याय व अन्याय की भावना आदि को प्रकृति प्रदत्त मानता है।

3. लॉक राज्य की उत्पत्ति को व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा निमित्त मानता है और इसीलिए इन अधिकारों की रक्षा हेतु वह राज्य की सत्ता पर अनेक मर्यादाएं स्थापित करता है। शासक समाज के प्रतिनिधि मात्र हैं और वे केवल उतने ही अधिकार रखते हैं जितने उन्हें व्यक्तियों द्वारा प्रदान किये जाते हैं।

4. लॉक के अनुसार किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। पुनश्च यदि परिपक्व अवस्था प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति अपने जन्म के देश की सरकार द्वारा की

गयी व्यवस्था को स्वीकार करता रहे तभी यह समझना चाहिए कि उसने समझौते के प्रति अथवा राज्य का सदस्य होने के प्रति अपनी सहमति प्रकट कर दी है।

5. लॉक धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानता है और व्यक्ति को अन्तःकरण के अनुसार पूजा एवं उपासना की स्वतंत्रता प्रदान करता है। वह कहता है कि धर्म व्यक्तिगत नैतिकता का संबल है, विश्वास बुद्धि हृदय की पावनतम अनुभति है तथा व्यक्ति के सुख का सर्वाधिक महत्व है।

इस प्रकार लॉक के विचारों में व्यक्तिवाद को समर्थन मिला है। व्यक्ति और उसके अधिकार, व्यक्ति की स्वतंत्रता, समाज और राज्य, सीमित शासन और उसका कार्यक्षेत्र, सरकार का व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करना तथा व्यक्ति को क्रान्ति करने का अधिकार आगे चलकर व्यक्तिवाद के मूल तत्व बने।

16.3.2 एडम स्मिथ के विचार

अर्थशास्त्र के जन्मदाता और अठारहवीं शताब्दी के महान अर्थशास्त्री एडम स्मिथ में अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' (Wealth of Nations, 1776) में आर्थिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवाद का समर्थन करते हुए 'अहस्तक्षेप की नीति' का प्रतिपादन किया। एडम स्मिथ का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति को, जब तक कि वह प्राकृतिक न्याय का उल्लंघन नहीं करता, अपना हित अपनी इच्छानुसार पूरा करने के लिए अकेला छोड़ देना चाहिए। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों को अच्छी तरह से जानता है। अहस्तक्षेप नीति का समर्थन करते हुए उन्होंने कहा कि यदि प्रत्येक व्यक्ति को व्यवसाय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो वह अपनी क्षमता और अवसरों का अधिक से अधिक उपयोग करके अधिक से अधिक लाभ कमाने का प्रयास करेगा। इस प्रक्रिया में वह अपने हितों की पूर्ति करने के साथ ही साथ व्यापार व उत्पादन से समाज, सरकार व मजदूरों सभी को लाभ पहुँचाएगा। माँग और पूर्ति के नियमों से सभी लोगों को लाभ होगा। एडम स्मिथ ने उद्योग और व्यापार की स्वतंत्रता को प्राकृतिक स्वतंत्रता का नाम दिया है और राष्ट्रीय समृद्धि के लिए इसे आवश्यक माना है। उसका मानना था कि व्यापारी स्वयं अपने हित को जितनी अच्छी तरह से समझ सकता है, उतना सरकार नहीं समझ सकती अतः सरकार को उद्योग–व्यापार के मामले में अहस्तक्षेप की नीति का पालन करना चाहिए। एडम स्मिथ के अनुसार प्राकृतिक स्वतंत्रता के नियमों के अनुसार राज्य को केवल निम्न तीन कार्य करने चाहिए–

1. हिंसा और विदेशी आक्रमण से रक्षा करना,

2. समाज के प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के द्वारा किये जाने वाले अन्याय व अत्याचार से बचाना

3. सामाजिक स्तर पर कुछ ऐसे सार्वजनिक कार्य करना जो कि व्यक्तिगत स्तर पर इसलिए नहीं किए जाते क्योंकि उनसे किसी व्यक्ति को कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं होता।

आर्थिक दृष्टि से व्यक्तिवाद का समर्थन करने वाले तथा समान विचार व्यक्त करने वाले अन्य विचारक मालथस, रिकार्डो, विलियम सीनियर आदि हैं।

16.3.3 जरमी बेंथम के विचार

इंग्लैण्ड के समाज–सुधारक, विधि–वेत्ता तथा राजनीतिक विद्वान बेंथम ने लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के काल्पनिक सिद्धान्त का खण्डन करते हुए उपयोगितावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और व्यक्तिवाद का समर्थन किया। बेंथम ने सभी सामाजिक संस्थाओं–कानून, संविधान, धर्म को उपयोगिता के मापदण्ड की कसौटी पर मापने की माँग की। उपयोगिता से अभिप्राय 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' माना गया। बेंथम ने राज्य को व्यक्ति के सुख और आनन्द की वृद्धि के लिए निर्मित संस्था और समाज की अंतिम वास्तविकता व्यक्ति को माना है। बेंथम के अनुसार राज्य व्यक्ति के लिए है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। उसके अनुसार व्यक्ति केवल अपने सुख और दुख के अनुसार शासित होता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक है अतः राज्य का कार्य कानून बनाना तथा लागू करना है। कानून का कार्य उन सभी बंधनों से मुक्ति दिलाना है जो व्यक्ति के विकास के मार्ग में बाधक हैं। 'अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख' की गणना करते समय प्रत्येक व्यक्ति को एक इकाई मानने की बात कहकर बेंथम समानता के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करता है। उसने सरकार के केवल दो कार्य बताये हैं–सुरक्षा और उद्योग के लिए वे सभी स्वतंत्रताएँ जुटाना जिनकी आवश्यकता है। सुरक्षा के अन्तर्गत उसने नागरिक और राजनीतिक स्वतंत्रता तथा व्यक्ति के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा को सम्मिलित किया है। राष्ट्रीय धन की वृद्धि या जीवनयापन और आनंद के साधनों में वृद्धि की दृष्टि से राज्य के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को बेंथम ने स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार बेंथम ने अहस्तक्षेप की नीति और व्यक्तिवाद का समर्थन किया है।

16.3.4 जॉन स्टुअर्ट मिल

व्यक्ति की स्वतंत्रता के समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने विचारों की अभिव्यक्ति अपनी रचना 'स्वतंत्रता' (On Liberty) में की है। इस पुस्तक में मिल ने विचार अभिव्यक्ति और कार्य करने की स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन करते हुए उसे न केवल व्यवस्थापिका वरन् जनमत के दबाव से भी मुक्त रखने की बात कही है। मिल ने स्वतंत्रता का समर्थन दो दार्शनिक आधारों पर किया है – व्यक्ति की दृष्टि से तथा समाज की दृष्टि से। मिल का मानना था कि व्यक्ति का उद्देश्य अपनी शक्तियों का उच्चतम तथा सामंजस्यपूर्ण विकास करना है जो स्वतंत्रता के वातावरण में ही संभव है। दूसरा आधार समाज की प्रगति व विकास तभी संभव है जब सभी प्रकार के चिंतन तथा सभी प्रकार के व्यक्तियों को विकास का अवसर दिया जाए। मिल ने स्वतंत्रता के दो लक्षण किए हैं – पहला व्यक्ति का अपने ऊपर सर्वोच्च प्रभुता रखना अर्थात वह सर्वथा स्वतंत्र है वह जैसा चाहे जो चाहे काम कर सकता है, बशर्ते वह दूसरो को हानि न पहुचाए। दूसरा अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतंत्रता है और इसे कुछ अधिक मात्रा में नियंत्रित किया जा सकता है। उसमें स्वतंत्रता के दो बड़े प्रकार माने हैं – (1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (2) कार्य करने की स्वतंत्रता। विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर वह किसी प्रकार के बंधन को स्वीकार नहीं करता और कार्य करने की स्वतंत्रता पर कुछ बंधन स्वीकार करता है। वह कार्य करने की स्वतंत्रता के दो प्रकार मानता है – स्व विषयक कार्य और पर विषयक कार्य। प्रथम प्रकार के कार्यों (स्व विषयक) पर समाज को व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने का कोई अधिकार नहीं है परन्तु दूसरे प्रकार के कार्यों (पर विषयक) में जिनका प्रभाव कर्ता के अतिरिक्त दूसरों पर पड़ता है समाज को बलपूर्वक व्यक्ति को रोकने का अधिकार है। मिल

TESLA-024

ने कार्यों की स्वतंत्रता को चरित्र निर्माण और सामाजिक विकास की दृष्टि से न्यायपूर्ण बतलाया है। यद्यपि मिल की स्वतंत्रता की खोखली स्वतंत्रता के रूप में आलोचना की गयी है तथापि उसे पूर्णतया खोखला नहीं कहा जा सकता। मिल की स्वतंत्रता सिद्धान्त ने व्यक्तिवाद के विकास में सहयोग दिया। मिल ने एक ऐसे राज्य की कल्पना की जिसके नागरिकों को अपने व्यक्तित्व और अपनी विविधता पर गर्व हो और जो अपने तथा दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करते हैं।

16.3.5 हर्बर्ट स्पेन्सर के विचार (1820–1903)

इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर ने वैज्ञानिक विकासवाद की अवधारणा एवं अपने तर्कों के द्वारा व्यक्तिवाद का समर्थन किया। स्पेन्सर ने जीव विज्ञान के नियमों को स्वीकार करके उन्हें राज्य पर लागू किया और इस आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यक्तियों को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। जीव विज्ञान के अनुसार अस्तित्व के लिए बराबर संघर्ष (Struggle for Existence) होता रहता है और इस संघर्ष में 'योग्यतम की विजय' (Survival of the Fittest) होती है। हर्बट स्पेन्सर इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए कहता है कि जीवन संघर्ष में जो समर्थ होंगे वे जीवित रहेंगे और दुर्बलों का स्वतः ही विनाश हो जायेगा। यह सिद्धान्त समाज में भी लागू होता है जिसके अनुसर योग्यतम व्यक्ति सफल होते हैं और अयोग्य, निर्धन अथवा दुर्बल व्यक्ति समाप्त हो जाते हैं अतः राज्य को केवल 'निषेधात्मक नियंत्रण' सम्बन्धी कार्य ही करने चाहिए। यदि राज्य निर्बल अक्षम व्यक्तियों के हितों की रक्षा करेगा तो यह विकास मार्ग में बाधा उत्पन्न करेगा। राज्य को लोक कल्याणकारी कार्य नहीं करने चाहिए। स्पेन्सर राज्य के कार्य को अधिकाधिक सीमित रखना चाहता है क्योंकि उसके अनुसार राज्य के कार्य और मानवीय स्वतंत्रता परस्पर विरोधी हैं। राज्य का कार्य नकारात्मक नियंत्रण कार्य, बाहरी एवं आन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करना और अनुबन्धों को लागू करना मात्र है। स्पेन्सर राज्य का विरोध करते हुए व्यक्ति को राज्य की उपेक्षा करने का, उसके साथ अपने सम्बन्ध त्याग देने का, उसकी रक्षा प्राप्त करने से इन्कार कर देने का और उसके द्वारा लादे गए भार को त्यागकर स्वेच्छापूर्वक न्याय के क्षेत्र से बाहर रहने का अधिकार प्रदान करता है। स्पेन्सर का मानना है कि राज्य मानवीय जीवन की पूर्णता का प्रतीक है और इसीलिए राज्य बुराई होते हुए भी विद्यमान है क्योंकि मानवीय जीवन में दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। जिस दिन मानव जीवन की ये दुष्प्रवृत्तियाँ समाप्त होंगी तथी राज्य का अन्त सम्भव हो सकेगा।

16.4 व्यक्तिवाद के प्रमुख सिद्धान्त

व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों के विचारों से स्पष्ट होता है कि इस राजनीतिक विचारधारा ने स्वतंत्रता को महत्व देते हुए निरंकुश शासन तंत्र का विरोध किया और व्यक्ति को महत्व प्रदान किया। व्यक्तिवाद के प्रमुख सिद्धान्त संक्षेप में निम्नानुसार हैं–

1. व्यक्तिवाद **राज्य को एक आवश्यक बुराई** मानता है। अराजकतावादियों की भाँति व्यक्तिवादी भी राज्य का विरोध करते हैं परन्तु अराजकतावादियों के समान उसको समूल रूप से नष्ट नहीं करना चाहते हैं। मानव स्वभाव में निहित दुष्प्रवृत्तियाँ– स्वार्थ, संघर्ष को नियंत्रित करने के लिए राज्य बुराई होते हुए भी आवश्यक है।

2. व्यक्तिवादी **राज्य को साधन तथा व्यक्ति को साध्य** मानते हैं। व्यक्ति के लिए राज्य है न कि व्यक्ति राज्य के लिए। राज्य की स्थापना व्यक्तियों ने अपने हितों की पूर्ति के लिए की है। व्यक्तिवादी राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र मानते हैं और व्यक्ति के सुख में ही राज्य का विकास निहित करते हैं। व्यक्तिवादी विचारकों के अनुसार राज्य भी अन्य संस्थाओं की भाँति मानवहित का साधन मात्र है।

3. व्यक्तिवादी **राज्य को केवल नकारात्मक कार्य करने** का अधिकार प्रदान करते हैं। इनके अनुसार राज्य के हस्तक्षेप से व्यक्तियों की स्वतंत्रता का ह्रास होता है। व्यक्ति स्वयं अपने हित का सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है अतः राज्य को सकारात्मक कार्य के स्थान पर नकारात्मक कार्य ही करने चाहिए यथा वाह्य आक्रमण से रक्षा, आन्तरिक शान्ति व्यवस्था, चोरी–डकैती से रक्षा तथा व्यक्तियों द्वारा किये गये वैधानिक समझौतों को लागू करना। इस प्रकार व्यक्तिवादी राज्य पुलिस राज्य है जो लोककल्याण के कार्य नहीं करता।

4. व्यक्तिवाद **व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता में विश्वास** करते हैं। व्यक्ति को न केवल राजनीतिक वरन् आर्थिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं ताकि व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वोत्तम विकास हो सके। आर्थिक क्षेत्र में अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं और स्वतंत्र प्रतियोगिता, समझौते की स्वतंत्रता तथा बाजार में माँग और पूर्ति के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं।

16.5 व्यक्तिवाद के समर्थन का आधार

इस इकाई के अंश 16.3 में आपने विभिन्न विचारकों के विचारों का अध्ययन किया। सभी ने व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन किया है। व्यक्तिवादी विचारकों ने इस विचारधारा का समर्थन अनेक आधारों पर किया है जो संक्षेप में निम्नानुसार है–

1. **नैतिकता के आधार पर** व्यक्तिवाद का समर्थन करने वालों में मिल का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। मिल नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से राज्य द्वारा व्यक्ति के मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करने की बात करता है। मिल के अनुसार आवश्यकता से अधिक शासन व्यक्ति को अपनी इच्छा तथा विवेक से कार्य करने की क्षमता तथा शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास को रोक देता है अतः मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य के अधिकारों को सीमित करने का समर्थन किया है। उसने सरकार के हस्तक्षेप को एक हद तक उचित माना है परन्तु उससे आगे बढ़ने पर व्यक्तियों की हानि होती है। अतिशासन में व्यक्ति सरकार पर निर्भर हो जाता है और आलसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अतिशासन न केवल स्वावलम्बन की शक्ति को हानि पहुँचाता है वरन् वह समाज को आलसी बना देता है। मिल के अनुसार अपनी इच्छानुसार कार्य करने से मनुष्य का चरित्र समुन्नत होता है और मानवता की प्रगति होती है। राज्य द्वारा लिया गया कार्य व्यक्ति के आत्म विश्वास के भाव को समाप्त कर देता है। उसके उत्तरदायित्व को दुर्बल बनाता है और चरित्र को कुण्ठित कर देता है।

TESLA-024

2. व्यक्तिवाद का **आर्थिक आधार पर** समर्थन करने वालों में एडम स्मिथ और माल्थस आदि विचारक प्रमुख हैं। व्यक्तिवाद के आर्थिक आधार पर समर्थक विचारकों का कहना था कि प्रकृति के शाश्वत नियमों की भाँति अर्थशास्त्र के भी कुछ सुनिश्चित एवं अपरिवर्तनशील नियम होते हैं यदि इन नियमों में हस्तक्षेप किया जाय तो यह व्यक्ति के लिए हानिकारक होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने हित अथवा हानि–लाभ को भलीभाँति जानता है अतः व्यक्ति को पूर्णतः स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। सभी वस्तुओं का मूल्य माँग और पूर्ति के स्वाभाविक नियमानुसार होती है वैसा ही सत्य मजदूरी और वेतन के लिए लागू होता है। स्वतंत्र प्रतियोगिता द्वारा व्यक्ति अपना लाभ उठा सकता है अतः इस क्षेत्र में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यदि राज्य अहस्तक्षेप नीति (Laissez-faire) नीति का पालन करे तो स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा से उद्योग–धन्धे पल्लवित पुष्पित होंगे, उत्पादन में वृद्धि होगी, पूंजीपतियों को लाभ मिलेगा दूसरी ओर श्रमिकों की आय में भी वृद्धि सहित आयात एवं निर्यात में भी वृद्धि होगी। अतः वेतन, मूल्यों, ब्याज, किराया, मजदूरी आदि को राज्य द्वारा नियंत्रित नहीं किया जाना चाहिए ताकि वे स्वयं को विद्यमान सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल समायोजित कर सकें।

3. डार्विन के सिद्धान्त 'जीवन संघर्ष' और 'योग्यतम की विजय' को आदर्श मानकर व्यक्तिवाद को **वैज्ञानिक आधार** प्रदान किया गया है और इसके समर्थकों में हर्बर्ट स्पेन्सर का नाम सर्वप्रमुख है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने जीव विज्ञान के नियमों को राज्य पर लागू करते हुए व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देने का समर्थन किया। उसके अनुसार जीवन संघर्ष में जो योग्य होंगे, समर्थ होंगे वे जीवित रह सकेंगे और निर्बल गरीब और अयोग्य व्यक्तियों का अन्त हो जायेगा। उसके अनुसार मानव जाति को सबल समर्थ और क्रियाशील बनाने हेतु इसी नियम को मनुष्यों पर भी लागू करना चाहिए। अतः राज्य को केवल नियंत्रण करने वाले नकारात्मक कार्य करना चाहिए जैसे बाहरी एवं आन्तरिक शत्रुओं के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करना और अनुबन्ध लागू करना। समाज के दुर्बल व्यक्तियों की उन्नति हेतु कार्य को, लोककल्याणकारी कार्य को राज्य को नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना प्रकृति की व्यवस्था में हस्तक्षेप करना होगा।

4. **व्यावहारिकता के आधार** पर व्यक्तिवाद का समर्थन करने वालों का मानना है कि राज्य के पास सभी प्रकार के कार्यों को करने की क्षमता नहीं है और अन्ततः ये व्यक्तियों के द्वारा ही किये जाते हैं। व्यक्ति व्यक्तिगत कार्यों में जितनी रुचि लेता है उतनी राजकीय कार्यों में नहीं लेता है। राज्य अधिक से अधिक कार्य करने की होड़ में प्रायः बहुत से जरूरी कार्य नहीं कर पाता या कुछ ऐसे कार्य कर देता है, जिसकी आवश्यकता ही नहीं थी। इस कारण कार्यों में विलम्ब के साथ–साथ अपव्यय भी होता है। ऐतिहासिक उदाहरणों द्वारा व्यक्तिवादी यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि राज्य ने जब–जब सामाजिक व राजनीतिक कार्यों में हस्तक्षेप किया अथवा वस्तुओं के मूल्यों एवं मजदूरी को निर्धारित करने का प्रयास किया, उसे असफलता ही अधिक मिली है। अतः राज्य को स्वयं को नकारात्मक कार्यों तक सीमित कर अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करना चाहिए।

16.6 व्यक्तिवाद की आलोचना

व्यक्तिवादियों द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं राज्य के अहस्तक्षेप के सिद्धान्त को आधुनिक समय में पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसीलिए विभिन्न विचारकों ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है। व्यक्तिवाद की आलोचना निम्नानुसार है–

1. व्यक्तिवादी राज्य को 'एक आवश्यक बुराई' मानते हैं जबकि आलोचकों का मानना है कि राज्य सकारात्मक भलाई का साधन है जिसका मुख्य कार्य जनता का कल्याण करना है। आधुनिक राज्य तो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास, सामाजिक कल्याण तथा विकास के अनेक कार्य करते हैं। मानव जीवन और सभ्यता के विकास में राज्य का बहुत योगदान है। व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य की सत्ता एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। यदि राज्य एक बुराई होता तो यह बहुत पहले ही समाप्त हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इतिहास के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि सभ्यता की प्रगति अधिकांशतः राज्य द्वारा बुद्धिमत्तापूर्ण निर्देशित कार्यों के आधार पर हुई है।

2. व्यक्तिवादी राज्य के कार्यों और व्यक्ति की स्वतंत्रता को परस्पर विरोधी मानते हैं, यह सत्य नहीं है। बन्धनों का अभाव या नकारात्मक स्वतंत्रता संभव नहीं है। वास्तव में स्वतंत्रता सकारात्मक होती है अर्थात करने योग्य एवं वांछित कार्यों को करने का अधिकार स्वतंत्रता है। राज्य द्वारा नियमित कानून व बंधन व्यक्ति की स्वतंत्रता को सुरक्षा प्रदान करते हैं अन्यथा बन्धन रही स्वतंत्रता उच्श्रृंखलता में परिवर्तित हो जाती है। राज्य द्वारा किये गये कार्य या हस्तक्षेप स्वतंत्रता को सीमित कर सकता है परन्तु समाप्त नहीं और हो सकता है कि स्वतंत्रता पर ऐसा बन्धन एक पक्ष की दृष्टि में हस्तक्षेप लगता हो परन्तु दूसरे पक्ष की दृष्टि से स्वतंत्रता की गारंटी प्रदान करता हो। उदाहरण के लिए उद्योग धन्धों पर लगाये प्रतिबन्ध पूंजीपतियों की स्वतंत्रता को सीमित कर सकते हैं परन्तु इससे श्रमिकों की स्वतंत्रता सुनिश्चित होती है। राज्य द्वारा व्यक्ति के कल्याण हेतु किये गये कार्य उसकी स्वतंत्रता के मार्ग की बाधा नहीं वरन् उसकी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए उसे व्यक्तित्व के सर्वोत्तम विकास का अवसर प्रदान करती है।

3. व्यक्तिवादी यह मानते हैं कि व्यक्ति मूलतः स्वार्थी होता है और वह सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक होता है। आलोचक इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते उनका कहना है कि हर व्यक्ति में स्वार्थ एवं परमार्थ की भावना अलग–अलग मात्रा में पायी जाती है। अतः सभी मनुष्यों को पूर्णतः स्वार्थी कहना उचित नहीं है और इस आधार पर राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में समूचा सिद्धान्त बनाना उचित नहीं है। व्यक्तिगत कल्याण व पारस्परिक कल्याण में विरोध नहीं हैं। दूसरा आलोचकों का कहना है कि व्यक्ति सदैव अपने हित का सर्वोत्तम निर्णायक नहीं होता। आज के जटिल समाज में व्यक्ति की विषम समस्याओं का समाधान राज्य के द्वारा ही सम्भव है यह सही हो सकता है कि व्यक्ति अपने वर्तमान हितों को भली भाँति समझता है परन्तु आवश्यक नहीं कि अपने भावी हितों को भी समझता हो और वह हित सिद्धि के साधनों का भी ज्ञाता हो। गार्नर का कहना है कि हर देश में ऐसे बुद्धिहीन मनुष्य होते हैं जो अज्ञात संकटों के प्रति सावधानी नहीं बरत सकते। कभी–कभी राज्य व्यक्ति की मानसिक, नैतिक और शारीरिक आवश्यकताओं का उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक पारखी होता है। व्यक्ति

TESLA-024

को अपने हित साधन की पूर्ण स्वतंत्रता तभी लाभप्रद है जब तक व्यक्तियों के हित एक दूसरे के विपरीत न हों परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता है अतः हितों के विरोध से उत्पन्न संघर्ष को समाप्त करने और व्यक्ति की व्यक्तिगत दुर्बलता का कोई लाभ न उठा पाये, इस हेतु राज्य की शक्ति की जरूरत होती है।

4. व्यक्तिवादी विचारक हर्बर्ट स्पेन्सर द्वारा जीव विज्ञान के नियम –'जीवन के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम की विजय' को मानवीय समाज पर लागू करना उचित नहीं है। इस सिद्धान्त को लागू करने का अर्थ है कि जितने दुर्बल, अक्षम लोग हैं उन्हें किसी प्रकार का सहयोग व सहायता न देना अर्थात इस वर्ग का विनाश और शक्तिशाली और सक्षम लोगों की अतिजीविता। परन्तु वर्तमान कल्याणकारी राज्य के युग में इसे कोई स्वीकार नहीं करेगा कि अक्षम एवं दुर्बल व्यक्तियों को जीवन संघर्ष के लिए छोड़ दिया जाय और योग्यतम की विजय के सिद्धान्त को अपनाया जाय। 'योग्यतम' शब्द ही एक सापेक्षिक शब्द है। आज जो वस्तु योग्य एवं उपयुक्त है वह कल अयोग्य व अनुपयुक्त हो सकती है। योग्यतम व्यक्ति सर्वश्रेष्ठ हो यह भी जरूरी नहीं। लीकॉक ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'यदि योग्यतम की प्रमुख परीक्षा अतिजीविता के तथ्य में निहित है तब तो सेंध लगाकर चोरी करने वाला समृद्ध व्यक्ति प्रशंसा का पात्र बन जाता है और भूख से मरने वाला शिल्पकार घृणा का'। आलोचकों का कहना है कि स्पेन्सर ने पशु जगत और मानव जगत को एक ही नियमों से शासित करने की भूल की है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है और अपनी उच्चतर बुद्धि बल से अनेक कार्य सम्पादित करता है और इसी के द्वारा थोड़े से लोगों को जीवित रहने का अवसर न देकर अपने बुद्धि बल से अधिक से अधिक लोगों को जीवित रहने का का मौका प्रदान कर सकता है।

5. व्यक्तिवाद के आर्थिक दृष्टिकोण एवं अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए आलोचकों का कहना है कि इससे सम्पत्ति एवं धन के केन्द्रण को प्रोत्साहन मिलेगा। स्वतंत्र प्रतियोगिता से पूंजीपति और अधिक धनवान होंगे और श्रमिक, मजदूर वर्ग इस प्रतियोगिता में पिछड़ते चले जायेंगे तथा समाज में असमानता उत्पन्न होगी। समाज में असमानता स्वतंत्रता के विरुद्ध होगी अतः यह सिद्धान्त स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्ति स्वतंत्र प्रतियोगिता से उत्पादन में वृद्धि होती है जिसके लिए नये–नये बाजारों और व्यापार केन्द्रों की खोज होती है तथा साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिलता है। इंग्लैण्ड की व्यक्तिवादी विचारधारा के परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हुआ। ऐतिहासिक उदाहरण भी हैं जब राज्य को व्यापार नियंत्रण का कार्य करना पड़ा जिससे श्रमिकों की स्थिति में सुधार किया जा सके। इंग्लैण्ड में अहस्तक्षेप की नीति को अस्वीकार कर हस्तक्षेप सिद्धान्त को अपनाया गया और श्रमिकों के हित संवर्धन हेतु नियमों को पारित किया गया।

6. व्यक्तिवादियों की समाज सम्बन्धी अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण है। व्यक्ति के स्वतंत्र हित को प्रधानता देते हुए व्यक्तिवाद ने समाज की उपेक्षा की है। समाज को केवल व्यक्तियों का समूह मानना उचित नहीं है। व्यक्तियों के हित सदैव समाज हित का निर्माण नहीं करते वरन् कभी–कभी व्यक्ति के हित समाज के हित के विरुद्ध होते हैं और सामूहिक हित की रक्षा हेतु व्यक्तिगत हितों पर राज्य द्वारा नियंत्रण आवश्यक हो जाता है। समाज से

पृथक व्यक्ति के पूर्णतया स्वतंत्रत व्यक्तित्व विकास की कल्पना अतार्किक है।

7. व्यक्तिवाद के समर्थक 'माँग और पूर्ति के सिद्धान्त' को अपने तर्क का आधार मानते हैं परन्तु अर्थशास्त्रियों ने ही इसे पूर्णतया वैज्ञानिक सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया है। औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् औद्योगिक एवं आर्थिक जटिलताओं एवं नियमों ने राज्य के हस्तक्षेप को अपरिहार्य कर दिया है। स्वतंत्र व्यापार से एकाधिकार उत्पन्न हुआ और ट्रस्ट आदि की स्थापना हुई जिसे नियंत्रित करना राज्य के लिए आवश्यक था। बदली हुई परिस्थितियों में राज्य के हस्तक्षेप एवं मनुष्यों के परस्पर सहयोग ने इस सिद्धान्त को अव्यवहारिक सिद्ध कर दिया।

16.7 आधुनिक व्यक्तिवाद

उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिवाद अर्थात् मुक्त मानव और अहस्तक्षेप का सिद्धान्त अपने चरम पर था परन्तु बीसवीं शताब्दी में इसका पतन हो गया। व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप प्रत्ययवादी राज्य दर्शन और समष्टिवादी सिद्धान्त उभर कर सामने आये और उनके चरमोत्कर्ष पर पहुँचने पर पुनः प्रतिक्रिया हुई और उसे ही आधुनिक व्यक्तिवाद का नाम दिया गया। प्रो0 जोड के अनुसार 'परन्तु व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने बदले में एक प्रतिक्रिया को जन्म दिया है। चक्र पूरी तरह घूम गया है तथा राज्य के प्रति वर्तमान असन्तोष ने व्यक्तिवादी चिंतन को पुनः जीवित होने की प्रेरणा दी है जो रूप में तो नहीं तथापि भावना में उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद जैसा है।'

आधुनिक व्यक्तिवाद व्यक्ति के स्थान पर व्यक्तियों के समुदाय तथा संगठनों को अधिक महत्व देता है। आधुनिक व्यक्तिवादियों का मानना है कि व्यक्ति की विभिन्न आवश्यकताएँ एवं हित हैं जिन्हें वह स्वयं पूरा नहीं कर पाता है और वह विभिन्न समुदायों एवं समूहों का सदस्य बनता है। अतः राज्य में समूह एवं समुदायों का महत्व है। इन समुदायों एवं समूहों के महत्व में वृद्धि ने राज्य को भी अन्य संघों के समान श्रेणी में खड़ा कर दिया है। आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास में संसदीय प्रजातंत्र या बहुमत पर आधारित शासन प्रणाली का विशेष योगदान रहा है। युद्ध एवं उससे उत्पन्न परिस्थितियों के फलस्वरूप लोकतंत्र एवं संसदीय शासन व्यवस्था से लोगों को यह आभास हुआ कि बहुमत के शासन की आड़ में शासन की निरंकुशता बढ़ने लगती है और व्यक्तियों की स्वतंत्रता का हनन होता है अतः अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा और बहुमत की तानाशाही को नियंत्रित करने हेतु राज्य की शक्तियों पर नियंत्रण एवं शक्तियों का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। आधुनिक व्यक्तिवाद के विकास में प्रथम विश्व युद्ध ने भी बड़ा योगदान दिया। विश्व युद्ध में लोगों ने अपना सर्वस्व त्याग कर युद्ध में भाग लिया परन्तु उसका परिणाम भीषण रक्तपात व नरसंहार के रूप में सामने आया और लोग राज्य की उपयोगिता को संदेह की दृष्टि से देखने लगे। हिंसा का कारण राज्य की सर्वोच्चता एवं निरंकुशता है अतः इसे नियंत्रित करने के विचार का उदय हुआ जो आधुनिक व्यक्तिवाद के रूप में सामने आया।

आधुनिक व्यक्तिवाद उन सभी विचारधाराओं का विरोध करता है जो राज्यों को शक्तिशाली मानती है। यह राज्य को न तो दैवी संगठन के रूप में देखता है जैसा हीगल व उसके अनुयायियों का विचार था न यह राज्य को सर्वशक्तिशाली अनियंत्रित सत्ता ही मानता है। यह आधुनिक शक्ति केन्द्र राज्य को स्वतंत्रता का

TESLA-024

शत्रु मानता है। यह राज्य को न तो नैतिक आधारों पर तिरस्कार और न ही आर्थिक आधारों पर संघों के अन्य रूपों के अधीन बनाये जाने का पक्षधर है। आधुनिक व्यक्तिवाद समुदाय के महत्व को स्वीकार करता है। इनका मानना है कि मानव जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले संघों यथा मजदूर संघ, विद्यालय, चर्च तथा अन्य संघ आदि का राज्य की भाँति अपना व्यक्तित्व है जिसकी उत्पत्ति उनके सदस्यों की सहमतिपूर्ण इच्छा से होती है तथा उसी के अनुरूप ये संघ अपने सदस्यों की निष्ठा तथा सेवा को प्राप्त करने के अधिकारी हैं। समुदायों को महत्वपूर्ण मानते हुए भी आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य को महत्व प्रदान करते हुए इसे 'समुदायों का समुदाय' अथवा 'संघों का संघ' मानता है जो विभिन्न समुदायों के परस्पर विरोधी हितों एवं उससे उत्पन्न संघर्ष को समायोजित करने और क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित करता है। राज्य को स्वतः व्यक्ति की किसी भी नयी विचित्र आवश्यकता के प्रति अनुक्रिया करना है जो संगठन के किसी अन्य रूप द्वारा संतुष्ट नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रारम्भिक व्यक्तिवाद की इकाई व्यक्ति था जबकि आधुनिक व्यक्तिवाद की समुदाय। आधुनिक व्यक्तिवाद बहुलवाद और श्रेणीमूलक समाजवाद के अधिक निकट है। प्राचीन व्यक्तिवाद जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा हेतु राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहता था वहीं आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य की शक्तियों को विकेन्द्रित कर उन्हें समुदायों को सौंपता है। आधुनिक व्यक्तिवाद के प्रवर्तकों में सर नार्मन ऐजिल, ग्राहम वालास, बेलॉक तथा मिस फॉलेट प्रमुख हैं।

नार्मन एजिल ने अपने विचारों में अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति तथा सुरक्षा की दृष्टि से राज्य की शक्ति के केन्द्रीयकरण का विरोध किया है। अपनी पुस्तक 'दी ग्रेट इल्यूजन' (The Great Illusion) में कहा है कि मनुष्य आर्थिक हितों को प्रमुखता देते हुए सामान्यतः वही कार्य करते हैं, जिनमें उन्हें सर्वाधिक लाभ होता है। अतः व्यक्ति स्वयं को आर्थिक संघ का सदस्य समझे जिसकी विशेषता शान्ति है न कि ऐसे सीमित राजनीतिक संघ या समाज की जिसकी विशेषता युद्ध है। उसका मानना था कि व्यक्ति अवश्य ही इस तथ्य को समझते हुए राष्ट्रीय संघों के स्थान पर आर्थिक संघों की स्थापना करेगा। उसके अनुसार राज्य 'प्रशासकीय यंत्र' है और यदि इससे श्रेष्ठ यंत्र का निर्माण हो जाता है तो इसे समाप्त किया जा सकता है। राष्ट्रीय राज्य आर्थिक आधार पर निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय संघ में समय अपने पर परिवर्तित हो सकता है। **ग्राह्म वालास** ने राज्य की शक्ति के केन्द्रीयकरण का विरोध करते हुए शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बात कही है। अपनी पुस्तक 'महान समाज' (The Great Society) में उसने प्रचलित प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संसद के गठन का विरोध करते हुए व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन किया है। उसका कहना था कि मतदाता मिथ्या प्रचार और छलावे में आकर अयोग्य उम्मीदवार को निर्वाचित कर देते हैं। अतएव व्यवसाय और वृत्ति के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों का गठन और विशेष कार्यों के लिए निर्मित लोक संस्थाओं के निर्वाचन तथा शक्ति के विकेन्द्रीकरण की बात कही। **हिलेयर बेलॉक** ने श्रेणी समाजवादियों की भाँति शक्तियों के केन्द्रीयकरण एवं अनियंत्रित राज्य का विरोध किया है। अपनी पुस्तक 'दास राज्य' (The Servile State) में बेलॉक ने श्रमिक संघों एवं उत्पादक एवं उपभोक्ताओं की समितियों को महत्व देते हुए शक्ति के विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया है। **मिस फॉलेट** ने भी अपनी पुस्तक 'नवीन राज्य (New State) में व्यक्ति समूहों के संगठन को लोकतांत्रिक समस्याओं के निदान एवं व्यक्ति की वास्तविक स्वतंत्रता प्राप्ति का आधार बताया है। व्यक्ति समूहों को महत्व देते हुए भी मिस फॉलेट व्यक्ति व राज्य को महत्व देती हैं और इनकी

उपेक्षा का विरोध करती हैं। उनके अनुसार व्यक्ति, समूह तथा राज्य सभी के अपने–अपने कार्यक्षेत्र हैं तथा अपना–अपना महत्व है। समाज का आधारभूत तत्व 'मैं तथा अन्य' न होकर 'मैं अन्यों में तथा उनके द्वारा हूँ' है अतः समूह संगठन ही राजनीति की नवीन पद्धति होनी चाहिए क्योंकि इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति कर सकता है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि आधुनिक व्यक्तिवाद राज्य की बढ़ती हुई भूमिका के विरुद्ध नहीं है वरन् वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को राज्य की असीमित शक्ति के हनन से बचाना चाहता है। इसके विचारों को राजनीतिक उदारवाद, राजनीतिक बहुलवाद तथा श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्तों में स्वीकृति मिल चुकी है तथा सकारात्मक उदारवाद ने इसे अंगीकृत कर लिया है।

16.8 सारांश

व्यक्ति व राज्य के मध्य सम्बन्धों अथवा राज्य के कार्यक्षेत्र को लेकर राजनीति विज्ञान में अनेक विचारों का प्रतिपादन किया गया है और व्यक्तिवादी विचारधारा उन्हीं में से एक है जो राज्य को कम से कम अधिकार क्षेत्र प्रदान करना चाहती है जिससे व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा हो सके परन्तु साथ ही साथ राज्य के अस्तित्व को भी स्वीकार करती है जिससे व्यक्ति की सुरक्षा हो सके। अतः व्यक्तिवाद राज्य को आवश्यक बुराई मानता है। व्यक्तिवाद, व्यक्ति केन्द्रित अवधारणा है जो व्यक्ति को साध्य एवं राज्य को साधन मानता है। इसका विकास का प्रारम्भ पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी से माना जाता है। सत्रहवीं एवं अट्ठाहरवीं शताब्दी के यूरोप के सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों ने इसे गति प्रदान की। पुनर्जागरण, धर्मसुधार आन्दोलन एवं औद्योगिक क्रान्ति ने व्यक्तियों की विचारधारा में व्यापक परिवर्तन किया। मार्टिन लूथर किंग ने धार्मिक क्षेत्र में, सामाजिक समझौते ने राजनीतिक तथा औद्योगिक क्रान्ति ने आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद को जन्म दिया तथा अहस्तक्षेप का सिद्धान्त (Laissey Faire) आया। व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों में प्रमुख रूप से जॉन लॉक, जॉन स्टुअर्ट मिल, एडम स्मिथ, जरमी बेंथम एवं हर्बर्ट स्पेन्सर का नाम सामने आता है। लॉक द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्त बने तो जॉन स्टुअर्ट मिल ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन किया। मिल ने विचार अभिव्यक्ति की असीमित एवं कार्य करने की स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबन्ध स्वीकार किये। एडम स्मिथ ने आर्थिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवाद का समर्थन किया और अहस्तक्षेप की नीति का प्रतिपादन किया। जरमी बेंथम ने उपयोगिता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और व्यक्ति को साध्य मानते हुए व्यक्ति को अपने हितों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक माना। स्पेन्सर ने जीव विज्ञान के 'जीवन के लिए संघर्ष' एवं 'योग्यतम की विजय' सिद्धान्त को मूल आधार मानकर व्यक्तिवाद का समर्थन किया। इस प्रकार अनेक विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों के अनुसार व्यक्तिवाद के मूल सिद्धान्त है राज्य एक आवश्यक बुराई है, व्यक्ति साध्य एवं राज्य साधन है अतः राज्य के नकारात्मक कार्य होने चाहिए जिससे व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। विचारकों ने व्यक्तिवाद के समर्थन में नैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक तथा व्यावहारिकता के तर्क प्रस्तुत किये हैं। परन्तु फिर भी व्यक्तिवाद के आलोचकों का मानना है कि राज्य एक आवश्यक बुराई नहीं वरन् सकारात्मक भलाई है तथा राज्य के कार्यों और व्यक्ति की स्वतंत्रता परस्पर विरोधी नहीं है। व्यक्ति अपने हित का स्वयं सर्वश्रेष्ठ निर्णायक नहीं होता है तथा जीव विज्ञान के प्राणियों पर लागू नियमों को व्यक्तियों पर समान रूप से लागू करना उचित नहीं है। व्यक्तिवाद के आर्थिक दृष्टिकोण की

TESLA-024

आलोचना करते हुए आलोचकों का मानना है कि इससे जन व सम्पत्ति का केन्द्रण होगा व वास्तविक रूप से व्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लंघन होगा। व्यक्तिवादियों द्वारा व्यक्ति को महत्व व समाज की उपेक्षा करना भी उचित नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद के पश्चात् प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न विचारधारा की प्रतिक्रियास्वरूप 20वीं शताब्दी में पुनः व्यक्तिवादी विचारों को प्रधानता मिली जिसे आधुनिक व्यक्तिवाद कहा गया। आधुनिक व्यक्तिवादी विचारकों में ग्राह्म वालास, नार्मन एन्जिल, बेलॉक एवं मिस फॉलेट के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक व्यक्तिवाद व्यक्ति की तुलना में व्यक्ति समूह को महत्व देता है तथा बहुमत के निरंकुश शासन के स्थान पर अल्पसंख्यकों के हित संरक्षण हेतु व्यावसायिक प्रतिनिधित्व का समर्थन करता है। आधुनिक व्यक्तिवाद समुदायों में शक्ति विकेन्द्रीकरण का समर्थन करता है और यह बहुलवाद और श्रेणीमूलक समाजवाद से साम्यता रखता है।

16.9 शब्दावली

गौरवपूर्ण क्रान्ति (1688) – इंग्लैण्ड की महत्वपूर्ण घटना जब राजा जेम्स द्वितीय को अपदस्थ कर उसकी पुत्री मेरी तथा मेरी के पति विलियम ऑफ ऑरेंज का राज्याभिषेक किया गया था और राजमुकुट (Crown) की शक्तियाँ बहुत सीमित कर दी गई थीं। इस प्रकार बिना रक्तपात के इंग्लैण्ड में असीमित राजतंत्र के स्थान पर संवैधानिक राजतंत्र स्थापित हो गया।

धर्म सुधार आन्दोलन – इस आन्दोलन का नेतृत्व जर्मनी के मार्टिन लूथर किंग ने किया। इस आंदोलन ने कैथोलिक चर्च के अनन्य अधिकार को चुनौती दी तथा दावा किया कि ईश्वर का भक्त धर्मग्रन्थों की सहायता से ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है और कैथोलिक चर्च को माध्यम बनाने की आवश्यकता नहीं है। इससे व्यक्ति की विवेकशक्ति में लोगों का विश्वास दृढ़ हुआ और व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला।

औद्योगिक क्रान्ति – आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तनों का सूचक जिसमें नये–नये यंत्रों और उपकरणों के अविष्कार ने उत्पादन प्रणाली की कृषि प्रधान व्यवस्था से उद्योग व्यवस्था में बदल दिया।

16.10 उपयोगी पुस्तकें

1. अम्बादत्त पंत, मदन गोपाल गुप्ता, हरिमोहन जैन (2004), राजनीति शास्त्र के आधार, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद – संशोधित संस्करण।
2. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
3. ए0डी0 आर्शीवादम्, कृष्णकान्त मिश्रा (2001), राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0, नई दिल्ली।
4. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
5. C.E.M. Joad - (1987) Introduction to Modern Political Theory, Oxford University Press, New Delhi

16.10 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) व्यक्तिवाद का अर्थ एवं उसके सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।

(ब) व्यक्तिवाद के समर्थन के आधारों का वर्णन करते हुए व्यक्तिवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

(स) आधुनिक व्यक्तिवाद पर लेख लिखिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) व्यक्तिवादी विचारक जॉन लॉक के विचारों का वर्णन कीजिए।

(ब) एडम स्मिथ के आर्थिक व्यक्तिवाद का वर्णन कीजिए।

(स) स्पेन्सर के वैज्ञानिक आधार पर व्यक्तिवाद का विश्लेषण कीजिए।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) निम्न से कौन महान व्यक्तिवादी विचारक है?

(v) कार्ल मार्क्स

(vi) लेनिन

(vii) लॉक

(viii) ऐंजिल्स

(ब) वैज्ञानिक आधार पर व्यक्तिवाद का किसने समर्थन किया?

(v) स्पेन्सर

(vi) लॉक

(vii) लास्की

(viii) लेनिन

(स) व्यक्तिवाद किस अन्य रूप में भी जाना जाता है –

(v) समाजवाद

(vi) अहस्तक्षेप सिद्धान्त

(vii) अराजकतावाद

(viii) साम्यवाद

(द) व्यक्तिवादी राज्य को मानते हैं –

(v) एक वर्ग समाज

(vi) राज्य विहीन समाज

(vii) असीमित शक्ति वाला राज्य

(viii) निम्नतम कार्यों वाला राज्य

(य) 'पुलिस राज्य' की धारणा का समर्थन किसने किया?

(v) व्यक्तिवाद

(vi) आदर्शवाद

(vii) फासीवाद

(viii) साम्यवाद

(र) 'वैल्थ ऑफ नेशन्स' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

(v) मिल

(vi) बेन्थम

(vii) एडम स्थिम

(viii) मार्क्स

16.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 16.2 एवं 16.4 अंश

(ब) देखिए इकाई का 16.5 एवं 16.6 अंश

(स) देखिए इकाई का 16.7 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 16.3.1 अंश

(ब) देखिए इकाई का 16.3.2 अंश

(स) देखिए इकाई का 16.3.5 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (iii)

(ब) (i)

(स) (ii)

(द) (iv)

(य) (i)

(र) (iii)

इकाई 17

कल्याणकारी राज्य

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा

17.3 कल्याणकारी राज्य की विशेषताएं

17.4 कल्याणकारी राज्य का इतिहास एवं विकास

17.5 विकासशील देश और कल्याणकारी राज्य

17.6 भारत में कल्याणकारी राज्य

17.7 कल्याणकारी राज्य के कार्य

17.8 कल्याणकारी राज्य की आलोचना

17.9 लोक कल्याणकारी राज्य की समस्याएँ

17.10 कल्याणीकारी राज्य की सफलता के उपाय

17.11 सारांश

17.12 शब्दावली

17.13 उपयोगी पुस्तकें

17.14 सम्बन्धित प्रश्न

17.15 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

राज्य का कल्याणकारी सिद्धान्त, व्यक्तिवादी तथा मार्क्सवादी सिद्धान्त के मध्य का सिद्धान्त है। इस इकाई का अध्ययन करके आप :

- कल्याणकारी राज्य का अर्थ समझ सकेंगे।
- कल्याणकारी राज्य के उदय, विकास एवं विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- कल्याणकारी राज्य के कार्य और आलोचना को समझ सकेंगे।
- भारत में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को समझ सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

हम सभी जानते हैं कि आधुनिक प्रजातांत्रिक देशों में अधिकांश 'कल्याणकारी राज्य' हैं। 20वीं शताब्दी में कल्याणकारी राज्यो की स्थापना विकास का महत्वपूर्ण परिचायक है। लोक कल्याणकारी राज्यों में सरकार के कार्य व भूमिका विस्तृत एवं विविधितापूर्ण होती है। आधुनिक समय में सरकार के कार्य और उत्तरदायित्व असीमित हो गये हैं, पूर्व में (19वीं शताब्दी के अन्त तक) राज्य की अवधारणा 'पुलिस राज्य' के रूप में थी अर्थात् सरकार को जनता के लिए शान्ति एवं सुरक्षा के कार्य करने थे और यही राज्य के प्राथमिक कार्य माने गये। कल्याण के कार्य व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों पर छोड़ दिये गये। परन्तु प्रजातंत्र ने सरकार के कार्यों और भूमिका को परिवर्तित कर दिया है। आज लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने प्रजातंत्र के कार्य को पुर्नपरिभाषित कर दिया है।

इस इकाई में हम लोक कल्याणकारी राज्य के अर्थ, विकास एवं कार्यों का विवेचन करेंगे।

17.2 कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं परिभाषा

कल्याणकारी राज्य वह राज्य व सरकार है जो कल्याण से या जनता की कुशलता से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दों में यह वह सरकार है जो जनता के कल्याण को अपना प्राथमिक उद्देश्य मानती है। एक कल्याणकारी राज्य नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक हित और कल्याण की जिम्मेदारी का निवर्हन करता है। कल्याणकारी कार्य लाभ प्रदान करके अथवा अन्य विभिन्न उपायों द्वारा जनता हेतु किये जाते हैं। यह धन अथवा सेवाओं के रूप में हो सकते हैं। नगद भुगतान, सब्सिडी, छूट, अनुदान और सार्वजनिक वितरण कल्याणकारी कार्यों के अन्तर्गत आते है। ये सभी कल्याणकारी उपाय सरकारी, राजस्व का जरूरतमन्दों हेतु पुर्नवितरण के रूप में आते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक संघ है जिसका लक्ष्य नागरिक जीवन को सुखी, सम्पन्न तथा समृद्ध बनाना है।

कल्याणकारी राज्य में बीमार, निर्धन, असहाय, बेरोजगार और समान समूह के लोगों की देखभाल की जाती है। आर्थिक असमानता को दूर करके नागरिकों में औचित्यपूर्ण समानता स्थापित करना कल्याणकारी राज्य का लक्ष्य है और सम्मानजनक न्यूनतम जीवन निर्वाह की परिस्थितियाँ उत्पन्न करना लोककल्याणकारी राज्य का दायित्व है। शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधा, सामाजिक बीमा, घर, प्रौढ़ावस्था पेंशन, चिकित्सा सुविधा लोककल्याणकारी राज्यों की जिम्मेदारी बन चुकी है। यहाँ तब कि वे बेरोजगार लोगों को बेराजगारी भत्ता भी प्रदान करते हैं। आज के युग में लोक कल्याणकारी सिद्धान्त विभिन्न राज्यों में प्रतिष्ठा का सूचक हो गया है और इसे अंगीकृत करने के लिए राज्यों में प्रतिस्पर्द्धा हो रही है। यह अपने नागरिकों के मानसिक, सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक एवं अन्य पहलुओं को विकसित करने का कार्य करता है। यह अनावश्यक रूप से व्यक्ति के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता है और केवल वहीं हस्तक्षेप करता है जहाँ तक स्वतंत्रता की रक्षा और जीवन समृद्धिशाली हो।

लोक कल्याणकारी राज्य की विविध परिभाषायें दी गयी हैं।

1918 में प्रकाशित 'सामाजिक विज्ञानों के शब्दकोष (Encyclopaedia of Social Sciences) में लोक कल्याणकारी राज्य को ऐसा राज्य बताया गया है जो अपने सभी

नागरिकों को न्यूनतम जीवन स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है। डॉ0 अब्राहम ने कल्याणकारी राज्य की आर्थिक दृष्टिकोण से परिभाषा इस प्रकार की है – 'वह लोकसमाज जहाँ राज्य–शक्ति का उपयोग जानबूझ कर देश के सामान्य आर्थिक प्रवाहों को इस प्रकार मोड़ने में किया जाता है कि हर व्यक्ति को आय का अधिक समान अंश मिले और उसकी आधारभूत न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी हों, उसके कार्य और सम्पत्ति का मूल्य बाजार में कुछ भी हो।' इस संकुचित परिभाषा की तुलना में अधिक व्यापक परिभाषा टी. डब्ल्यू. केंट ने दी है। उनके अनुसार कल्याणकारी राज्य 'वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए दूरगामी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है।' हॉबमैन ने कल्याणकारी राज्य को दो अतियों – साम्यवाद और शुद्ध व्यक्तिवाद में समझौता माना है। गार्नर के अनुसार कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय धन तथा जीवन के भौतिक, बौद्धिक तथा नैथ्तक स्तर को विकसित करना है। हॉढसन ने कहा कि राज्य एक डॉक्टर, नर्स, शिक्षक, व्यापारी, उत्पादक, बीमा–कम्पनी के एजेन्ट, मकान बनाने वाला, नगर योजना तैयार करने वाला तथा रेलवे नियंत्रक आदि हो गया है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के अनुसार 'लोक कल्याणकारी राज्य का मूल आधार समान अवसर की व्यवस्था, गरीब और अमीर का भेद दूर करना तथा जीवन स्तर उठाना है।' श्री वेंकटगिरि के अनुसार 'कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो स्वयं को केवल पुलिस कार्यों को सम्पादित करने तक सीमित नहीं रखता वरन् उत्तरदायित्वों का विस्तृत दृष्टिकोण वहन करता है और उन सभी गतिविधियों को करता है जो सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिए अपेक्षित और आवश्यक हैं तथा जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करता है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य में राज्य द्वारा व्यक्तियों को दी जाने वाली सहायता दया या सद्भावनावश नहीं वरन् व्यक्ति अधिकार के रूप में होती है। एक कल्याणकारी राज्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहता है। सभी को इस सिद्धान्त – 'प्रत्येक सभी के लिए, सभी प्रत्येक के लिए' पर विश्वास कर व्यक्ति को कार्य करना चाहिए, इसकी प्रेरणा देता है। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि वह समाज का हिस्सा है और यह उसका कर्तव्य है कि वह सभी के लिए यथासम्भव अच्छा करे और केवल अपनी भलाई तक सीमित नहीं रहे।

17.3 कल्याणकारी राज्य की विशेषताएं

(1) कल्याणकारी राज्य सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। कल्याणकारी राज्य में अर्थव्यवस्था मिश्रित होती है यद्यपि पूंजीवादी व्यवस्था के लक्षण भी दिखाई देते हैं, पूंजीवादी और समाजवादी अर्थव्यवस्था के लक्षणों के उपरान्त भी सरकार आर्थिक गतिविधियों और जनता के सामाजिक कल्याण के कार्यों पर प्रभावी नियंत्रण रखता है।

(2) कल्याणकारी राज्य प्रकृति के समाजवादी है। यह समानता के सिद्धान्त पर आधारित है और सभी को समान अवसर प्रदान करने हेतु तत्पर रहता है। यह सम्पत्ति के औचित्यपूर्ण वितरण को प्रभावी करने का लक्ष्य रखता है।

(3) यह सभी आर्थिक गतिविधियों पर नियंत्रण रखता है। कल्याणकारी राज्यों में सभी निजी उद्यम सरकार द्वारा नियंत्रित होते हैं।

(4) यह नागरिकों को मूलभूत सुविधाएं प्रदान करता है। प्रत्येक व्यक्ति को सेवा और सुविधा प्रदान करना इसका कर्तव्य है। कल्याणकारी राज्य आर्थिक और सामाजिक सेवाएं प्रदान करने हेतु तत्पर रहता है जैसे सामान्य शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक यातायात, गृह तथा जनता को अन्य आर्थिक सहायता।

(5) यह विविध उद्यमों को चलाता है, औद्योगिक उद्यमों का स्वामित्व और संचालन, व्यापार और अन्य व्यावसायिक गतिविधियाँ भी लोक कल्याणकारी सरकारों द्वारा सम्पादित की जाती हैं।

(6) यह सभी को न्याय प्राप्ति सुनिश्चित करता है। कल्याणकारी राज्य में सामान्य व्यक्ति को अपनी विविध आवश्यकताओं हेतु अधिकारियों से सम्पर्क करना पड़ता है। उदाहरण के लिए प्रशासनिक अधिकारी, नियंत्रक अधिकारी, अनुमोदन अधिकारी, सामाजिक सेवा के अधिकारी, सार्वजनिक उद्यमों के कार्यकारी आदि। इन सभी सम्पर्कों एवं सम्बन्धों में कल्याणकारी राज्य का दायित्व है कि वह न्याय को सुनिश्चित एवं व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

(7) नियोजन सम्बन्धी कार्य – आर्थिक गतिविधियों में उत्पादन व वितरण सम्मिलित है। कल्याणकारी राज्य का दायित्व है कि वे राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण करे और संतुलित रूप में प्रत्येक आर्थिक गतिविधि की योजना बनायें। औद्योगिक नीति, व्यापार नीति, व्यावसायिक एवं बैंकिंग नीति का निर्माण इन गतिविधियों को नियंत्रित करने हेतु किया जाता है।

(8) कल्याणकारी राज्य का यह दायित्व है कि वह आर्थिक गतिविधियों में संलिप्त सभी निजी उद्यमों को व्यवस्थित और नियंत्रित करे। ऐसे नियंत्रणों में पंजीकरण, लाइसेन्स प्रदान करना और करारोण आदि सम्मिलित है।

(9) श्रमिकों का कल्याण भी कल्याणकारी राज्य के कर्तव्यों की परिधि में आता है। वे श्रमिकों का शोषण रोकने हेतु विधि निर्माण करने लिए बाध्य है। उनकी सुरक्षा एवं कल्याण सुनिश्चित करने के लिए बाध्य है। कल्याणकारी राज्य औद्योगिक उक्रमों, कारखानों, कम्पनियों और अन्य सेक्टरों में कार्यरत लोगों की सुरक्षा एवं कल्याण सुनिश्चित करने का कार्य भी करता हैं।

(10) कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता पर बल देता है और उसे समाज में सम्मानजनक जीवन व्यतीत करने में सहायता देता है। सामाजिक और आर्थिक स्तर का भेद किए बिना यह सभी व्यक्तियों को समान समझता है।

(11) कल्याणकारी राज्य प्रगतिशील उपायों को लागू करना चाहता है जैसे भूमि सुधार, कृषि विकास, मूल्य नियंत्रण, आवश्यक वस्तुओं की सार्वजनिक वितरण प्रणाली, स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई, संचार आदि के प्रावधान।

(12) कल्याणकारी राज्य जनता की भलाई के लिए विस्तृत क्षेत्र में सामाजिक सेवाएं संचालित करता है। इसमें सम्मिलित कुछ उपाय हैं – छुआछूत हटाना, दहेज, बाल विवाह आदि। यह निरक्षरता, निर्धनता और बेरोजगारी दूर करने के उपाय करता है। यह स्कूलों, अस्पतालों और जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अन्य संस्थाओं की स्थापना करता है। यह बेरोजगारी भत्ता, मातृत्व लाभ, वृद्धावस्था एवं अन्य लाभ प्रदान करता है।

17.4 कल्याणकारी राज्य का इतिहास और विकास

इतिहासकार राबर्ट पैक्सटन का कहना है कि कल्याणकारी राज्य प्रारम्भिक रूप में रूढ़िवादियों द्वारा स्थापित किये गये और सामान्यतः समाजवादियों और श्रमिक संघों द्वारा इनका विरोध किया गया। समाजवादियों और श्रमिक संघों द्वारा प्रारम्भ में विरोध का आधार यह था कि यह धारणा उन्हें उनके लक्ष्य से पृथक कर देगी। राबर्ट पैक्सटन ने 1880 में जर्मन चान्सलर बिस्मार्क द्वारा जर्मनी में स्थापित कल्याणकारी राज्य का उदाहरण दिया और यही बात कुछ सालों पश्चात् टैफे ने आस्ट्रो–हंगरी साम्राज्य के विषय में कही। ब्रिटेन में कल्याणकारी राज्य की स्थापना 1910 में उदारवादी दल के डेविड लायड जार्ज द्वारा स्थापित की गई। यद्यपि यह सत्य है कि फ्रान्स में कल्याणकारी राज्य की स्थापना समाजवादी राजनीति के विकास के साथ हुआ परन्तु पैक्सटन का मानना है कि इसका विकास 1940 के दशक में विन्सी साम्राज्य के समय में भी कुछ मात्रा में हुआ था। पैक्सटन ने कहा कि बीसवीं शताब्दी की सभी आधुनिक यूरोपीय तानाशाही–फासीवादी और सर्वसत्तावादी कल्याणकारी राज्य थे.....इन सभी ने स्वास्थ्य सुविधा, पेंशन, सस्ते गृह, जनपरिवहन की व्यवस्था की थी इस उद्देश्य से कि उत्पादकता, राष्ट्रीय एकीकरण और सामाजिक शान्ति बनी रहे। प्रमुख देशों में कल्याणकारी राज्य का उदय अलग–अलग समयों में हुआ है।

जर्मनी के प्रथम चान्सलर बिस्मार्क ने आधुनिक कल्याणकारी राज्य की स्थापना प्रशा और सैक्सन राज्यों में कल्याणकारी कार्यक्रमों की शुरूआत करके की। 1840 के दशक में प्रारम्भ कार्यक्रमों को उद्योगों का समर्थन मिला। बिस्मार्क ने वृद्धावस्था पेंशन, दुर्घटना बीमा और स्वास्थ्य सुविधा का प्रारम्भ किया जो आधुनिक यूरोपीय कल्याणकारी राज्य का आधार बना। उसके द्वारा शुरू किये गये कार्यक्रमों को जर्मनी के उद्योग धन्धों का समर्थन मिला क्योंकि इसका उद्देश्य जर्मन साम्राज्य को कामकाजी वर्ग का समर्थन प्राप्त करना था और संयुक्त राज्य में अप्रवासियों की संख्या को कम करना था। संयुक्त राज्य अमेरिका में पारिश्रमिक दरें तो ज्यादा थीं परन्तु लोककल्याणकारी कार्य अस्तित्व में नहीं थे। बिस्मार्क ने कालान्तर में उद्योगों और प्रशिक्षित कर्मचारियों का उच्च सीमा शुल्क नीतियों पर समर्थन प्राप्त किया। यह अमरीकी प्रतियोगिता से लाभ और श्रम मूल्यों से सुरक्षित करता था। यद्यपि इससे मुक्त व्यापार समर्थक उदारवादी बुद्धिजीवी अलग हो गये थे। जर्मनी में कल्याणकारी राज्य 'समाज राज्य' के विचार पर आधारित थी और कभी–कभी इसे 'सामाजिक बाजार अर्थव्यवस्था' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यहाँ तीन सिद्धान्त प्रचलित थे प्रथम सामाजिक कल्याण प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ तरीका आर्थिक विकास है। सामाजिक सेवाओं के ढ़ाचें में इसको प्राथमिकता मिलनी चाहिए। दूसरा सिद्धानत जर्मनी की अर्थव्यवस्था और कल्याणकारी व्यवस्था का विकास निगमों के आधार पर हुआ है जिसका प्रारम्भ बिस्मार्क ने किया था और तीसरा सिद्धान्त पूरक सिद्धान्त है। इसके अनुसार जर्मनी में सेवाओं का विकेन्द्रीकरण अथवा स्वतंत्र प्रबन्धन होना चाहिए और राज्य के हस्तक्षेप का स्तर अवशेष सिद्धान्त होने पर होना चाहिए, यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

इंग्लैण्ड में कल्याणकारी राज्य का विचार महारानी ऐलिजाबेथ प्रथम के काल में देखा जा सकता है जब ब्रिटिश संसद ने प्रथम निर्धन कानून अधिनियम पारित किया जिसमें शारीरिक रूप से सक्षम भिखारियों के लिए कार्यगृहों तथा अक्षम के लिए सहायता कार्य का प्रावधान किया गया था। कानून के उपबन्ध लागू हुए या नहीं यह देखने के लिए निर्धनों के संरक्षकों की नियुक्ति की गयी।

TESL-024

आधुनिक कल्याणकारी राज्य के रूप में यूनाईटेड किंगडम का उद्‌भव उदारवादी कल्याणकारी सुधारों (1906–1914) के साथ हुआ जिसका श्रेय उदारवादी प्रधानमंत्री हरबर्ट एसम्थि को जाता है। इन सुधारों में वृद्धावस्था पेंशन अधिनियम (1908) का पारित होना, 1909 में स्कूलों में मुफ्त भोजन का प्रारम्भ, और 1909 का श्रमिक विनिमय अधिनियम तथा आर्थिक विकास में राज्य के व्यापक हस्तक्षेप की अनुमति देने वाला विकास अधिनियम 1909, राष्ट्रीय बीमा अधिनियम 1911 सम्मिलित थे। इंग्लैण्ड में दिसम्बर 1942 में प्रकाशित बेवरिज रिपोर्ट ने निर्धन या सहायता की प्रतीक्षा में लोगों हेतु अनेक उपाय सुझाये। बेवरिज ने सरकार को पाँच दानवों – दरिद्रता, बीमारी, अज्ञानता, मलिनता और बेकारी को दूर करने हेतु सरकार को प्रयास करने हेतु सुझाव दिये। इन समस्याओं को दूर करने के लिए उन्होंने सरकार द्वारा लोगों को पर्याप्त आय उपलब्ध कराने, पर्याप्त स्वास्थ्य सुविधा, पर्याप्त शिक्षक, पर्याप्त आवास और पर्याप्त रोजगार उपलब्ध कराये जाने का सुझाव दिया। 1945 में आम चुनावों में मजदूर दल की विजय के पश्चात् बेवरिज के सुधार विविध अधिनियमों – राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, राष्ट्रीय सहायता अधिनियम, राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा अधिनियम द्वारा लागू किये गये। बीसवीं शताब्दी के अन्त में कल्याणकारी व्यवस्था को पुर्नव्यवस्थित किया गया और कुछ कार्य गैर–सरकारी संगठनों द्वारा किये जाने लगे जो सामाजिक सेवाओं के महत्वपूर्ण प्रदाता बन गये हैं। ए. ब्रिग्स ने ब्रिटेन के कल्याणकारी राज्य के विषय में तीन मुख्य तत्वों का उल्लेख किया है – न्यूनतम आय सहित न्यूनतम जीवन स्तर की गारंटी, दुर्घटना के समय सामाजिक संरक्षण और यथा संभव श्रेष्ठ सेवाओं का प्रावधान।

फ्रान्स के नैपोलियन तृतीय ने सामाजिक हित सम्बन्धी ऐसे अनेक कार्यों का सम्पादन किया जिससे फ्रांस में भी लोग कल्याण की भावना का विकास हुआ। नैपालियन तृतीय ने अपने देश के नागरिकों को खुश करने के लिए सार्वजनिक अधिकार, मजदूर संघ, मजदूरी में वृद्धि और गृह एवं राज्य सहायता प्राप्त बीमा योजना के सिद्धान्तों को कार्यरूप दिया। इन सारे कार्यों से लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में काफी सहायता मिली।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कल्याणकारी शब्द बहुत लोकप्रिय नहीं है क्योंकि लोग व्यक्तिगत उपक्रमों का समर्थन करते हैं और राज्य के विभिन्न क्षेत्रों पर नियंत्रण को अस्वीकृत करते हैं। राष्ट्रपति हूवर के अनुसार कल्याणकारी राज्य 'सामूहिकतावाद' की ओर वापस जाने वाला मार्ग है जो संयुक्त राज्य में अत्यधिक अलोकप्रिय है। राष्ट्रपति रुजवेल्ट का न्यूडील और राष्ट्रपति ट्रूमैन का 'फेयरडील' को समाजवाद की ओर अग्रसर कदम के रूप में वर्णित किया गया है। सीनेटर टैफ्ट का मानना है कि कल्याणकारी राज्य की अवधारणा संयुक्त राज्य को दिवालिया कर देगी। संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्व राज्य सचिव डब्ल्यू. जे. ब्रायन्स ने कल्याणकारी राज्य के विरुद्ध चेतावनी दी है। अमेरिकी नागरिक नौकरशाही से भयभीत हैं। वे स्वयं सहायता पर विश्वास करते हैं और ऐसी प्रत्येक वस्तु का विरोध करते हैं जो इस गुण को नष्ट कर दे। इस सब के उपरान्त भी राष्ट्रपति टू मैन ने दस सूत्रीय कार्यक्रम दिया जिसमें मूल्य समर्थन, प्रतिघंटा 75 सेन्ट न्यूनतम पारिश्रमिक, प्राकृतिक संसाधनों का विकास, चिकित्सा सुविधा, शिक्षा को अनुदान और बीमारी, वृद्धावस्था, दुर्घटना तथा बेरोजगारी के विरुद्ध बीमा सम्मिलित है। सामाजिक सुरक्षा योजना इतनी विस्तृत है कि इसमें उच्च श्रेणी कर्मचारी, विश्वविद्यालय शिक्षक और स्वव्यवसायी व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। आज वहाँ सामाजिक सुरक्षा तथा निःशुल्क शिक्षा आदि की व्यवस्था की गयी है।

समाजवादी राज्य भी कल्याणकारी राज्य है परन्तु उनका कल्याणकारी कार्य नियोजित और ऊपर से निर्देशित होता है। नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण की तुलना में भौतिक कल्याण पर अधिक जोर दिया जाता है।

सउदी अरब, ब्रुनेई, कुवैत, कतर, बहरीन, ओमान और यूनाइटेड अरब अमीरात अपने नागरिकों के लिए कल्याणकारी राज्य बन गये हैं। वहाँ सभी विदेशी नागरिक जिसमें वैध निवासी और वैध दीर्घ अवधि कर्मचारी भी सम्मिलित हैं उन्हें कल्याणकारी राज्य द्वारा प्रदत्त लाभ प्राप्ति की मनाही है।

इस्पिंग–एण्डरसन ने अपनी पुस्तक 'दि थ्री वर्ल्डस ऑफ वेल्फेयर कैपिटलिज्म' (1990) में तीन प्रकार के कल्याणकारी राज्यों का वर्गीकरण किया है। यद्यपि इसकी आलोचना की गयी है परन्तु ये वर्गीकरण सामान्य रूप से आधुनिक कल्याणकारी राज्यों के प्रकारों का विश्लेषण करने में सर्वाधिक प्रयुक्त होते हैं :

1. आदर्श सामाजिक–प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य जो सावभौमिकतावाद के सिद्धान्त पर आधारित हैं और नागरिकता के आधार पर सेवाएं और सुविधाएं प्रदान करते हैं। इस प्रकार के कल्याणकारी राज्य उच्च स्तर की स्वायत्ता प्रदान करते हैं और परिवार बाजार पर निर्भरता को सीमित करते हैं। इस सन्दर्भ में सामाजिक नीतियाँ 'बाजार विरुद्ध राजनीति' के रूप में देखी जाती हैं।

2. ईसाई–प्रजातांत्रिक कल्याणकारी राज्य अवशेष अधिकारों के सिद्धान्त तथा सामाजिक बीमा योजनाओं की प्रधानता पर आधारित है।

3. उदारवादी व्यवस्था बाजार की प्रधानता और निजी प्रावधानों पर आधारित है। आदर्श रूप में राज्य केवल निर्धनता दूर करने और मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हस्तक्षेप करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न राष्ट्रों में 'कल्याणकारी राज्य' का अर्थ भिन्न–भिन्न रूपों एक आदर्श मॉडल, राज्य द्वारा कल्याण कार्य और सामाजिक संरक्षण के रूप में लिया जाता है।

1. एक आदर्श मॉडल अर्थात् राज्य अपने नागरिकों के व्यापक एवं सार्वभौमिक कल्याण के लिए प्रावधान करने का उत्तरदायित्व लेता है।

2. राज्य कल्याण अर्थात् राज्य द्वारा उपलब्ध कल्याण, कल्याण कार्य के रूप में लेते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रमुख रूप से इसका प्रचलन है।

3. सामाजिक संरक्षण–कुछ कल्याणकारी राज्यों विशेष रूप से पश्चिमी यूरोप और स्कैण्डेवेनिया में सामाजिक संरक्षण न केवल राज्य द्वारा बल्कि सरकारों के सम्मिश्रण, स्वतंत्रता, स्वैच्छिक और स्वायत्तशासी लोकसेवाओं द्वारा प्रदान किया जाता है। ये देश सामान्यतः कल्याणकारी राज्य के रूप में देखे जाते हैं।

भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के विकास ने राष्ट्रों की कल्याणकारी नीतियों पर प्रभाव डाला है। राष्ट्र राज्य की धारणा निरर्थक हो रही है और राष्ट्र की शक्तियाँ स्थानीय स्तर, स्वतंत्र संगठनों और राष्ट्रेत्तर संगठनों जैसे नाफ्टा और यूरोपीय संघ में निहित होती जा रही हैं। भूमण्डलीकरण ने राष्ट्र राज्यों की सामाजिक संरक्षण की क्षमता को सीमित कर दिया है। भूमण्डलीय प्रवाह ने सशक्त नव उदारवादी विचारधारा को प्रश्रय देकर असमानता को प्रोत्साहित किया है। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विकासशील देशों के लिए एक

TESLA-024

विशिष्ट सामाजिक और आर्थिक नीति संचालित कर रहे हैं वहीं पूर्वी यूरोप के देश सीमित सरकारी व्यय, चयनित सामाजिक सेवाओं और निजी प्रावधानों पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं।

17.5 विकासशील देश और कल्याणकारी राज्य

विकासशील देशों की केन्द्रीय समस्या गरीबी है। विश्व बैंक के अनुसार विश्व की आधी जनसंख्या 2 डॉलर प्रतिदिन पर जीवन निर्वाह करती रही है, यह वाक्य है लेकिन यह स्पष्ट करता है कि औपचारिक अर्थव्यवस्था के बहुत से लोग भाग नहीं हैं। अर्मत्य सेन के अनुसार गरीबी इसीलिए नहीं बढ़ती क्योंकि संसाधनों का अभाव है बल्कि अधिकार देने के अभाव में, भुखमरी होता है इसलिए नहीं कि पर्याप्त भोजन नहीं है वरन् इसलिए कि उपलब्ध भोजन गरीबों को खाने की अनुमति नहीं दी जाती।

आर्थिक विकास कल्याणकारी राज्य के लिए आवश्यक है। यह भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करता है, एकीकरण और पारस्परिक निर्भरता को बढ़ावा देता है और लोगों के अधिकार क्षेत्र का विस्तार करता है। यह स्पष्ट रूप से सामाजिक कल्याण द्वारा जनता को लाभान्वित करता है। पिछले 30–40 सालों में दीर्घआयुता में वृद्धि, मृत्यु दर में कमी आई है, जल और तेल सप्लाई में वृद्धि हुयी है और स्वास्थ्य देखभाल और शिक्षा के क्षेत्र में भी वृद्धि हुयी है। परन्तु विकास के अन्य दुष्परिणाम भी सामने आये हैं। यह गरीब लोगों को नुकसान पहुँचाता है और पारम्परिक जीवन शैली की जड़ों पर कुठाराघात करता है। यह सामाजिक धुव्रीकरण की ओर अग्रसर कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा समर्थित संरचनात्मक व्यवस्था विकासशील देशों को औपचारिक बाजार व्यवस्था की ओर अग्रसित करता है। इसके कारण विकासशील देशों के गरीब असुरक्षित स्थिति में आ जाते हैं।

यद्यपि आर्थिक विकास मूलभूत आवश्यकता है परन्तु यह सामाजिक संरक्षण की गारन्टी नहीं देता है। बहुत से देशों ने सामाजिक सुरक्षा योजनाएं बनाई हैं विशेष रूप से विशेष वर्ग के कामकाजी लोगों को ध्यान में रखकर। इनमें से केवल कुछ छोटे अल्पसंख्यक प्रभावी संरक्षण प्राप्त कर पाते हैं परन्तु कुछ देशों ने अपनी बड़ी जनसंख्या को तुलनात्मक दृष्टि से कम समय में संरक्षण प्रदान करने में सफलता पाई है।

17.6 भारत में कल्याणकारी राज्य

लोककल्याणकारी राज्य वह राज्य है जिसमें शासन शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याण हेतु नहीं वरन् सम्पूर्ण जनता के कल्याण के लिए किया जाता है। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है कल्याणकारी राज्य की विचारधारा नई नहीं है। भारत में प्राचीन काल में प्रचलित रामराज्य की धारणा एक ऐसे राज्य की धारणा है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों में राजपद के दैवी उत्पत्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है परन्तु साथ ही साथ राजपद के कर्त्तव्यों की विशद् विवेचना कर यह स्थापित किया गया है कि राजा के सभी कार्य लोककल्याण की दृष्टि से ही किए जाने चाहिए। महाभारत, पाराशर की स्मृतियाँ तथा मार्कण्डेय, मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने इसी तथ्य का समर्थन किया है।

स्वतंत्र भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की विचारधारा को स्वीकृत एवं प्रोत्साहित किया गया है। भारतीय संविधान के तृतीय और चतुर्थ भाग में सामाजिक न्याय के विधि उपायों का वर्णन किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत भूमि पर कानून के समक्ष सभी समान हैं और सबको समान संरक्षण प्राप्त है। अनुच्छेद 15 धर्म, मूल–वंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान आदि के आधार पर विभेद का निषेध करता है। अनुच्छेद 16 के द्वारा सरकारी पदों पर नियुक्तियों के सम्बन्ध में सब नागरिकों को अवसर की समानता प्रदान की गई है। अनुच्छेद 23 द्वारा मानव क्रय–विक्रय और बलात् श्रम अथवा बेगार का अन्त किया गया है। अनुच्छेद 24 द्वारा कारखानों में बच्चों से कार्य करवाने की मनाही की गई है। अनुच्छेद 29 तथा 30 द्वारा अल्पसंख्यकों की शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी हितों तथा अधिकारों के संरक्षण की व्यवस्था की गई है। मौलिक अधिकारों में निहित उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त संविधान निर्माताओं ने राज्य नीति निदेशक तत्वों के माध्यम से लोककल्याणकारी राज्य की प्राप्ति का प्रयास किया है। अनुच्छेद 38 से अनुच्छेद 51 तक वर्णित विविध नीति निदेशक तत्वों से कल्याणकारी राज्य की प्राप्ति के कुछ प्रमुख प्रावधान इस प्रकार हैं – अनुच्छेद 42 के अनुसार कहा गया है कि राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य और विकास की सीमाओं के भीतर काम पाने, शिक्षा पाने तथा बीमारी, बुढ़ापा, बेकारी आदि के अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्यसाधक प्रयास करेगा। अनुच्छेद 42 में संविधान ने राज्य को निर्देश दिया है कि वह काम की यथोचित और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने के लिए तथा प्रसूति–सहायता के लिए उपबन्ध करे। अनुच्छेद 43 श्रमिकों के लिए निर्वाह मजदूरी का प्रबन्ध, अनुच्छेद 44 नागरिकों के लिए समान व्यवहार–संहिता, अनुच्छेद 45 बालकों के लिए निःशुल्क शिक्षा और अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध, अनुच्छेद 46 अनुसूचित जातियों अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ सम्बन्धी हितों की उन्नति और अनुच्छेद 47 आहार पुष्टि और जीवन–स्तर को ऊँचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सुधार करने का राज्य का कर्त्तव्य आदि, ऐसे मूल सिद्धान्त है जिनका पालन करने से भारत में सामाजिक न्याय की स्थापना है। संविधान के अनुच्छेद 39 में राज्य से कहा गया है कि वह अपनी नीति का संचालन ऐसा करे जिससे समान रूप से सभी नर–नारियों को आजीविका से पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और वितरण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे अधिकाधिक हित सम्भव हो सके, आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन का उत्पादन और वितरण के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकर केन्द्रण न हो, पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, श्रमिकों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमारता का दुरुपयोग न हो, आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर किसी को ऐसे व्यवसाय में न जाना पड़े जो उसकी आयु तथा शक्ति के उपयुक्त न हो, शैशव और किशोर अवस्था का शोषण तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से संरक्षण हो।

भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् लोककल्याण की दिशा में किए गए कुछ महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं –

1. सामिजक न्याय की स्थापना के लिए आर्थिक विकास जरूरी है। आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए भारत में पंचवर्षीय योजनाएं बनाई गईं। 11वीं योजना (2007–12) के पश्चात् 12वीं योजना निरन्तर चल जारी है।

2. आर्थिक क्षेत्र में जागीरदारी और जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया। भूमि सुधारों को लागू किया गया और इस हेतु संघ व राज्य सरकारों ने विभिन्न कानून बनाए हैं। चकबन्दी, सहकारी खेती, ग्रामोद्योग और रोजगार सम्बन्धी कानून बनाये गए हैं और योजनाएं लागू की गयी हैं।

3. श्रमिकों के कल्याण के लिए अनेक कानूनों का निर्माण किया गया है और उनके लिए जीवन बीमा योजनाएं, भविष्य निधि योजना, व बोनस देने की योजना लागू की गयी है, जिनसे लाखों श्रमिकों को लाभ प्राप्त हो रहा है।

4. 14 वर्ष की आयु तक के सभी बालकों के लिए निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा हेतु वर्ष 2002 में 86वें संविधान संशोधन द्वारा देश के सभी 6–14 वर्ष की उम्र के बच्चों को शिक्षा का मौलिक अधिकार प्रदान करने का प्रयास किया गया और वर्ष 2010 में शिक्षा का अधिकार कानून पूरे देश में लागू कर दिया गया है। अब राज्य सरकारों द्वारा 6–14 वर्ष के बच्चों की निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। 2 अक्टूबर, 1978 से प्रौढ़ शिक्षा का भी राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

5. सरकार द्वारा अनुसूचित जाति, जनजाति अन्य पिछड़ वर्गों व बच्चों के लिए कई कल्याणकारी योजनाएं लागू की जा रही हैं।

6. ग्रामीण रोजगार के क्षेत्र में अब तक की सबसे महत्वाकांक्षी योजना राष्ट्रीय रोजगार गारंटी योजना को फरवरी 2006 में लागू किया गया है। अक्टूबर 2009 में इसका नामकरण महात्मा गाँधी के नाम पर किया गया है। इस योजना के अन्तर्गत प्रत्येक बेरोजगार को 100 दिन के रोजगार की गारण्टी है। अन्यथा पंजीकरण के 15 दिन बाद सरकार द्वारा व्यक्ति को रोजगार भत्ता दिया जायेगा।

7. पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश में गरीबी को समाप्त करने तथा लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठाने के प्रयास किये गये। तीव्र औद्योगीकरण एवं आधारभूत उद्योगों का विकास करके अधिकतम व्यक्तियों को रोजगार प्रदान करने के प्रयास किए गए हैं।

8. स्वतंत्रता तथा लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का विकास करने का प्रयास किया गया है जिसमें राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं के अन्तर्गत सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो। समाजवादी, समतायुक्त और शोषण–रहित शासन व्यवस्था की स्थापना की दिशा में प्रयत्न किए गए हैं।

9. महिलाओं के कल्याण के लिए विविध कार्यक्रम निर्धारित किए गये हैं। महिलाओं के कल्याण के लिए केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड तथा राज्य समाज कल्याण बोर्ड प्रमुख भूमिका निभाते हैं। राष्ट्रीय एवं राज्य महिला आयोग महिलाओं के उत्थान एवं सुरक्षा की दिशा में विशिष्ट दायित्वों का निवर्हन करते हैं। महिलाओं के पुनर्वास, प्रशिक्षण और रोजगार की व्यवस्था करने, राष्ट्रीय ऋण कोष से ऋण दिलाने, महिला साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए विविध कार्यक्रमों का संचालन किया जा रहा है। दहेज प्रतिषेध अधिनियम, सती निवारण अधिनियम तथा उच्च शिक्षा के लिए महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने के लिए विभिन्न सुविधाएं प्रदान करना जैसे विशिष्ट कार्यक्रमों का सहारा लिया जा रहा है।

10. वर्ष 2013 में संसद द्वारा पारित खाद्य सुरक्षा अधिनियम देश की दो तिहाई आबादी को दो वक्त की रोटी का कानूनी हक देने वाला ऐतिहासिक अधिनियम स्वीकृत हो गया है। इस अधिनियम द्वारा ग्रामीण इलाके में 75% और शहरी इलाके में 50% लोगों को हर महीने पाँच किलो अनाज न्यूनतम दर पर मिलेगा।

17.7 कल्याणकारी राज्य के कार्य

लोककल्याणकारी राज्य सरकार का वह प्रकार है जिसमें राज्य अपने नागरिकों के आर्थिक एवं सामाजिक हितों के संरक्षण एवं संवर्धन में केन्द्रीय भूमिका निभाता है। यह उन व्यक्तियों के लिये जा न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति में सक्षम नहीं हैं उनके लिए अवसरों की समानता, सम्पत्ति के समान (औचित्यपूर्ण) वितरण की व्यवस्था करता है। यह लोक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसके अन्तर्गत विविध प्रकार के आर्थिक एवं सामाजिक संगठन सम्मिलित हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री टी0एच0 मार्शल ने लोककल्याणकारी राज्य को प्रजातंत्र, कल्याणकारी और पूंजीवाद का अद्‌भुत संगम बताया है। संक्षेप में कल्याणकारी राज्य के निम्नलिखित कार्य हैं –

1. अन्य राज्यों की भाँति कल्याणकारी राज्य का प्रथम कार्य आन्तरिक सुव्यवस्था एवं विदेशी आक्रमणों से रक्षा करना है। राज्य के अनिवार्य कार्य के रूप में सम्मिलित इस कार्य हेतु राज्य सेना और पुलिस, सरकारी कर्मचारी व न्याय की व्यवस्था करती है। इस कार्य के व्यय हेतु जनता पर कर लगाती है।

2. व्यक्तियों की स्वतंत्रता एवं राज्य की सत्ता को सुरक्षित रखने हेतु कल्याणकारी राज्य व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों और राज्य एवं व्यक्तियों के सम्बन्धों की व्यवस्था करता है। इस हेतु पुलिस, कानून और न्यायालय की स्थापना करता है।

3. कल्याणकारी कार्य आर्थिक विकास पर निर्भर करते हैं। इस हेतु राज्य द्वारा कृषि, उद्योग तथा व्यापार के नियमन व विकास का कार्य अनिवार्य हो जाता है। मुद्रा निर्माण, प्रमाणिक नाप और तौल, व्यवसायों का नियमन, कृषकों को राजकोषीय सहायता, सिंचाई व्यवस्था बीज वितरण के गोदाम खोलना, कृषि सुधार, प्राकृतिक संसाधनों और सम्पत्ति की रक्षा तथा कृषि व उद्योगों के मध्य सन्तुलन स्थापित करना प्रमुख एवं आवश्यक कार्य हैं।

4. कल्याणकारी राज्य का एक प्रमुख कार्य आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी है। इसके अन्तर्गत व्यक्तियों को रोजगार एवं अधिकतम समानता सम्मिलित है। यदि राज्य रोजगार प्रदान नहीं कर पाता तो जीवन निर्वाह भत्ते की व्यवस्था होनी चाहिए। व्यक्तियों को न्यूनतम जीवन स्तर की गारन्टी अर्थात भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा और स्वास्थ्य की सुविधाएं उपलब्ध करानी चाहिए। अधिकतम समानता भी आर्थिक सुरक्षा के अन्तर्गत आता है और राज्य को हर सम्भव प्रयास द्वारा व्यक्तियों की आय में न्यूनतम और अधिकतम स्तर की दूरियों को कम से कम करना चाहिए जिससे धन के आधार पर कोई दूसरे का शोषण न कर सके।

5. लोककल्याणकारी राज्य के सार्वजनिक सुविधा सम्बन्धी कार्य यथा–परिवहन, संचार–साधन, रेडियो, सिंचाई के साधन, बैंक, विद्युत, कृषि

TESLA-024

के वैज्ञानिक साधनों आदि से सम्बन्धित कार्य करने चाहिए। यद्यपि इस हेतु राज्य द्वारा जनता से शुल्क लिया जाता है परन्तु यह शुल्क सार्वजनिक कोष में जाता है और उसका उपयोग अधिक सुविधाएं प्रदान करने के लिए ही किया जाता है।

6. कल्याणकारी राज्य समाज सुधार सम्बन्धी कार्य भी करता है राज्य द्वारा समाज में उत्पन्न विभिन्न आधारों पर विभेद समाप्त कर समानता स्थापित की जाती है और परम्परागत सामाजिक कुरीतियों मद्यपान, बालविवाह, छुआछूत, जातिप्रथा आदि को दूर करने का कार्य किया जाता है।

7. कल्याणकारी राज्य द्वारा व्यक्तियों को राजनीतिक सुरक्षा प्रदान की जाती है और इस हेतु लोकतंत्र को प्रोत्साहन दिया जाता है। विचार अभिव्यक्ति, संगठन, सम्मेलन आदि की स्वतंत्रता प्रदान की जाती है।

8. कल्याणकारी राज्य जनता को स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था भी करता है। राज्य द्वारा सार्वजनिक पार्कों, क्रीडास्थलों, तरणतालों, सिनेमा गृहों, रंगमंच, रेडियो और दूरदर्शन का प्रबन्ध किया जाता है।

9. कल्याणकारी राज्य का आदर्श सार्वभौमिक है अतः इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा और युद्ध के स्थान पर सहयोग और सद्भावना को प्रोत्साहित किया जाता है। लोककल्याणकारी राज्य को अपनी समृद्धि को स्थायी बनाये रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धि को ध्यान रखना आवश्यक है। प्राचीन आदर्श 'वसुधैव कुटुम्बकम' को यथार्थ में चरितार्थ करना कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य है क्योंकि इससे ही इसका कल्याण और आदर्श स्थायी हो सकते हैं।

10. कल्याणकारी राज्य का आधारभूत कार्य नियोजन है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से राज्य का सम्बन्ध है और प्रत्येक कार्य में सफलता नियोजित कार्य द्वारा ही सम्भव है। जिन–जिन क्षेत्रों में राज्य को कार्य करना है, उनका प्राथमिकता के आधार पर वर्गीकरण, उसके सम्पादन हेतु साधनों का विकास, कार्यावधि का निर्धारण, आदि को यह निश्चित करता है। इसीलिए समस्त विकासशील देश तीव्रगति से आर्थिक विकास हेतु नियोजन की प्रक्रिया को अपनाते हैं।

17.8 कल्याणकारी राज्य की आलोचना

वर्तमान समय की सर्वाधिक लोकप्रिय शब्दावली कल्याण्कारी राज्य की व्यक्तिवादियों और समाजवादियों दोनों ने ही आलोचना की है। व्यक्तिवादी राज्य के नकारात्मक कार्यों को आधार मानते हुए आलोचना करते हैं वहीं समाजवादी वास्तविक कल्याण को पूंजीवादी व्यवस्था में असम्भव मानते हैं। कल्याणकारी राज्य की कुछ आलोचनाएं संक्षेप में निम्नानुसार हैं :–

1. व्यक्तिवादियों का मानना है कि कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से राज्य का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो जाता है और परिणामस्वरूप राज्य की शक्तियों में वृद्धि होती है। राज्य के अति शक्तिशाली होने पर व्यक्ति की स्वतंत्रताओं का हनन होता। पूर्व अमरीकी राज्य सचिव बायर्नेस ने इसीलिए इसे 'विकराल सरकार' कहा था।

2. कल्याणकारी कार्यों से व्यक्ति की योग्यता और चरित्र का पतन होता है। परिश्रमी और योग्य व्यक्तियों के परिश्रम से अकर्मण्य लोगों को सुख और आराम पहुँचाया जायेगा जिससे समाज की प्रगति रुकेगी और योग्य व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा। वहीं दूसरी ओर जनता आलसी और अकर्मण्य हो जायेगी। लोगों की प्रत्येक कार्य के लिए राज्य पर निर्भरता की भावना निरन्तर बढ़ेगी और राज्य की प्रगति अवरुद्ध होगी।

3. कल्याणकारी राज्य की आलोचना अति व्यय साध्य होने के कारण भी की जाती है। कल्याणकारी कार्यों एवं योजनाओं को सम्पादित करने के लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है। सामान्य आर्थिक साधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय–भार वहन नहीं कर सकता। इसीलिए अमरीकी सीनेटर टैफ्ट ने विरोध करते हुए कहा था कि 'लोककल्याण की नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जायेगी।' धन जुटाने हेतु धनी वर्ग पर अधिक कर लगाया जायेगा जिससे वे हतोत्साहित होंगे और उत्पादन पर प्रभाव पड़ेगा।

4. लोक कल्याणकारी प्रवृत्ति अपनाने से राज्य में नौकरशाही की शक्ति और कार्यों में अधिक वृद्धि होगी जिससे लालफीताशाही, भाई–भतीजावाद और भ्रष्टाचार जैसे बुराइयाँ उत्पन्न होंगी।

5. समाजवादी, पूंजीवादी व्यवस्था में कल्याणकारी राज्य को एक दिखावा मात्र मानते हैं। उनका कहना है कि पूंजीवादी व्यवस्था को शोषित जनता के आक्रमण से बचाने के लिए और समाजवादी विचारों के प्रभाव को कम करने के लिए यह एक उपाय है। पूंजीवादी राज्य कभी वास्तविक अर्थ में कल्याणकारी हो ही नहीं सकता और वास्तविक अर्थ में समाजवादी राज्य ही कल्याणकारी हो सकते हैं।

17.9 कल्याणकारी राज्य की सफलता के उपाय

विभिन्न समस्याओं और बाधाओं के कारण लोक कल्याणकारी राज्य अपने चरम उद्देश्य की प्राप्ति करने में असफल रहा है। भारत जैसे विकासशील देश में उत्पादन का स्तर निम्न होने से कल्याणकारी उद्देश्य की पूर्ति पूर्णतया संभव नहीं है। यद्यपि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुयी है परन्तु फिर भी यह बड़ी समस्या अभी भी विद्यमान है। लोगों में काम के प्रति उत्साह की कमी है। धनी वर्ग काम को निम्न दृष्टि से देखते हैं और उससे दूर भागना चाहते हैं। त्याग, अनुशासन तथा आकांक्षा जैसे गुण लोक कल्याणकारी राज्यों के लिए आवश्यक हैं जिनका नागरिकों में अभाव पाया जाता है। कल्याणकारी कार्यों के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है जो करों के माध्यम से पूरा किया जाता है और इसी के कारण अत्यधिक कर भार की समस्या उत्पन्न होती है। भूस्वामित्व एक समस्या है विशेष रूप से भारत में। भूमि का अधिकांश भाग केवल कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित है अधिकांश लोग भूमिहीन हैं। जब तक भूमि का न्यायपूर्ण बँटवारा नहीं होता उत्पादन के स्तर में वृद्धि भी नहीं होगी। जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। ए.डी. गोरवाल ने भी कहा है कि 'जनसंख्या की समस्या के समाधान के बिना लोक कल्याण के सारे प्रयास व्यर्थ हो जायेंगे। जनता की अशिक्षा और संकीर्ण निष्ठाएं कल्याणकारी राज्य की सबसे बड़ी बाधा है। इसके कारण जनता कल्याणकारी कार्य के अर्थ एवं महत्व को नहीं समझती है और राज्य

TESLA-024

के कार्यों में बाधा पहुँचाती है। बेरोजगारी की समस्या कल्याणकारी राज्य के मार्ग की एक अन्य बाधा है जिसका समाधान करना राज्य के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। मजदूर वर्ग से लेकर शिक्षित समुदाय तक फैली बेरोजगारी की समस्या को दूर किये बिना कोई भी कार्यक्रम असफल सिद्ध होगा।

17.10 कल्याणकारी राज्य की सफलता के उपाय

कल्याणकारी राज्य की सफलता के लिए कुछ बातों का होना आवश्यक है। कल्याणकारी राज्य एक व्यय साध्य राज्य है और इसलिए राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाने के लिए जनता के नैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक है। परिश्रम ही सब कुछ है इस बात को स्वीकार कर जनता को परिश्रमी होना और कल्याणकारी राज्य के प्रति उत्साह रखना आवश्यक है। अनुशासन कल्याणकारी राज्य के लिए आवश्यक है जिससे जनता राज्य की विधियों का आदर करे, पालन करे और राज्य को सवार्थ सिद्धि का साधन न बनाये। कल्याणकारी देश की जनता को कर देने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए।

कल्याणकारी राज्य में लक्ष्य और लक्ष्य प्राप्ति के साधनों पर भलीभाँति विचार करना आवश्यक होता है। जनता के बौद्धिक एवं सक्रिय सहयोग हेतु प्रशासक व जनता के मध्य दूरी कम होनी चाहिए तथा कल्याणकारी कार्यों के प्रत्येक स्तर पर जनता का सहयोग होना चाहिए। जनता की आवश्यकताओं एवं भावनाओं के अनुरूप कार्यक्रम में परिवर्तन होना चाहिए। कल्याणकारी प्रशासन एवं अन्य प्रशासन को समय–समय पर अपनी सफलताओं एवं विफलताओं का मूल्यांकन करना चाहिए जिससे गलत नीतियों के क्रियान्वयन पर रोक लग सके। हर कल्याणकारी अधिकारी को जनता का धन व्यय करने में पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए तथा अपव्यय से बचना चाहिए, जिससे सार्वजनिक धन से जनता को अधिक से अधिक लाभ पहुँचे। सार्वजनिक प्रशासन व सामाजिक प्रशासन में उचित समन्वय होना चाहिए और विभिन्न योजनाएं बनाते समय पारस्परिक विचार विमर्श करना चाहिए। प्रशासन को लालफीताशाही व नौकरशाही के अन्य दोषों से बचना चाहिए। अन्त में प्रत्येक अधिकारी को ईमानदारी से अपने कर्तव्यों का निर्वहन करना चाहिए और लक्ष्य प्राप्ति तक सेवा कार्य चलते रहना चाहिए। प्रशासन में कल्पना व दूरदर्शिता होनी आवश्यक है। कल्याणकारी राज्य को सफल बनाने के लिए भारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण बहुत जरूरी है। विधि द्वारा न्यूनतम मजदूर का निर्धारण भी आवश्यक है जो जितना और जैसा काम करे उसी के अनुसार न्यूनतम मजदूरी हो।

अन्ततः इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या कल्याणकारी राज्य की अवधारणा प्रभावी हो चुकी है यह कहा जा सकता है कि बहुत कुछ मात्रा में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा प्रभावी हो चुकी है और इसने नागरिकों के कल्याण हेतु सरकार के कार्यक्षेत्र को भी विस्तृत कर दिया है। परन्तु अन्य राजनीतिक नीतियों की भाँति कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में कुछ छिद्र–बिन्दु हैं। प्रबन्धन एवं भ्रष्टाचार के प्रसार ने इसे कलंकित कर दिया है। राजनीति व्यवस्था के निम्न से लेकर सर्वोच्च शिखर तक अपने कार्यों को करवाने के लिए सामान्य जनता को रिश्वत देने हेतु बाध्य किया जाता है। फिर भी वर्तमान सन्दर्भ में लोकतंत्रों में कल्याणकारी राज्य प्रभावी हैं और इसके संरक्षक, सामाजिक सेवाओं के प्रदाता, औद्योगिक प्रबन्धक तथा आर्थिक नियंत्रक के रूप में कार्य जन स्वीकार्य हैं।

17.11 सारांश

राज्य के व्यक्तिवादी सिद्धान्त के विपरीत कल्याणकारी राज्य सरकार के असीमित कार्य एवं उत्तरदायित्वों का समर्थन करता है। कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो नागरिकों के सामाजिक एवं आर्थिक हित एवं कल्याण की जिम्मेदारी स्वयं वहन करते हैं। कल्याणकारी राज्य की विभिन्न विद्वानों ने भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषा दी है और इन परिभाषाओं का निष्कर्ष है कि कल्याणकारी राज्य में राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्य सद्भावना या दया की दृष्टि से नहीं वरन् व्यक्ति के अधिकार की दृष्टि से सम्पादित किये जाते हैं। कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की गरिमा एवं महत्ता पर बल देता है, प्रगतिशील उपायों को लागू करना चाहता है और विस्तृत सामाजिक सेवाएं प्रदान करता है। कल्याणकारी राज्य व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सुरक्षा हेतु विविध कार्य करता है। कल्याणकारी राज्य का उदय व्यक्तिवादी विचारधारा की प्रतिक्रया स्वरूप उत्पन्न हुआ। 19वीं शताब्दी में यूरोप में अनेक देशों में यही विचारधारा प्रचलित थी जिसके अनेक घातक परिणाम हुए। औद्योगिक क्रान्ति ने समाज को दो टुकड़ों में बाँट दिया और श्रमिकों की स्थिति को सुधारने के लिए राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप की आवश्यकता हुई और सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में मजदूरों के लाभ के लिए कुछ कानून बनाये गये और कल्याणकारी धारणा का सूत्रपात हुआ। उसी समय यूरोप में समाजवादी विचारधारा के उदय ने पूंजीवादी लोकतांत्रिक देशों को भयाक्रान्त कर दिया और इन देशों में इसके फलस्वरूप कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का तेजी से प्रचार हुआ और यह लोकप्रिय सिद्धान्त बन गया।

विकाशील देशों में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में निर्धनता सबसे बड़ी बाधा है और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा समर्थित व्यवस्था विकाशील देशों को औपाचारिक बाजार व्यवस्था की ओर अग्रसर करती है। भारत में प्राचीन समय से ही कल्याणकारी अवधारणा का समर्थन हुआ है। भारतीय संविधान के भाग तीन और चार में उल्लिखित मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों द्वारा इसे पुष्ट करने का प्रयास किया गया है। विभिन्न योजनाओं एवं कार्यक्रमों द्वारा इसे व्यावहारिक रूप प्रदान किया जा रहा है। कल्याणकारी राज्य की अत्यधिक व्यय साध्य, लोगों को अकर्मण्य बनाने, योग्यता एवं चरित्र के पतन तथा नौकरशाही की निरंकुशता का आरोप लगता है। इन आलोचनाओं के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य आज सर्वाधिक लोकप्रिय शब्द हैं और यदि व्यक्ति में दृढ़ इच्छा शक्ति, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में कर्तव्यनिष्ठा एवं ईमानदारी, साध्य एवं साधन का सामंजस्य हो तो इसे सफल बनाया जा सकता है।

17.12 शब्दावली

व्यक्तिवाद – एक ऐसा सिद्धान्त जो व्यक्ति को महत्व देता है तथा उसकी स्वतंत्रता व स्वायत्ता का गुणगान करता है, एक सीमित प्रकार के राज्य का प्रतीक।

लालफीता शाही – कर्मचारियों द्वारा कार्य करने की प्रक्रिया, आवश्यकता से भी अधिक देरी करने की प्रक्रिया, देरी करने के तरीके।

नौकरशाही – कर्मचारियों का शासन, प्रशासनिक यंत्र, राज्य का लोक प्रशासकों द्वारा शासन

भूमण्डलीकरण – एक ऐतिहासिक प्रक्रिया जिसके फलस्वरूप मानवीय संबंध दूर–दूर के संघ समुदायों व समाजों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास करते हैं, समाजों के बीच निकटता व संबद्धता के दायरे में लाना, दूरियों को दूर करने का यत्न, मानव संबंधों की एक ऐसी स्थिति जहाँ पूरा संसार एक हो जाने के मार्ग पर चलना चाहता है।

न्यू डील – अमरीका में रुजवेल्ट की सरकार (1933–45) द्वारा गरीबें की सहायता के लिए अपनाएं गए सामाजिक–आर्थिक कार्यक्रम

फेयरडील – अमरीका में राष्ट्रपति हैरी एस ट्रूमैन (1945–53) द्वारा 1945 में कांग्रेस को आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण हेतु दिये गये 21 सूत्रीय प्रस्ताव।

17.13 उपयोगी पुस्तकें

1. ए0डी0 आर्शीवादम् एवं कृष्णकान्त मिश्रा (2001), राजनीति विज्ञान, एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।
2. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3. डॉ. पुखराज जैन एवं बी.एल. फाड़िया राजनीतिक सिद्धान्त पारम्परिक और समकालीन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
4. Gosta Esping-Andeson (1990) The Three Worlds of Welfare Captalism Princton University Press, Princeton, New Jersey

17.14 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) कल्याणकारी राज्य का अर्थ एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

(ब) कल्याणकारी राज्य के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

(स) भारत में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

(द) कल्याणकारी राज्य के विकास का वर्णन कीजिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) विकासशील देशों में कल्याणकारी राज्य का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

(ब) कल्याणकारी राज्य की सफलता के उपायों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

(स) कल्याणकारी राज्य की व्यक्तिवादी और समाजवादी आलोचना क्या है?

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) कल्याणकारी राज्य को निम्न में से क्या नहीं करना चाहिए?

(v) आर्थिक कार्य

(vi) सामाजिक सुरक्षा के कार्य

(vii) राजनीतिक कार्य

(viii) जनमत पर प्रतिबन्ध

(ब) 'कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपने नागरिकों के लिए दूरगामी सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करता है।' यह कथन निम्न में से किसका है?

(v) टी.डब्ल्यू. केन्ट

(vi) जी.डी.एच. कोल

(vii) गार्नर

(viii) डॉ. अब्राहम

(स) कल्याणकारी राज्य की विशेषता कौन सी है?

(v) कल्याणकारी राज्य को निरक्षरता, निर्धनता और बेरोजगारी हटाने के कार्य करने चाहिए।

(vi) कल्याणकारी राज्य को स्कूलों, अस्पतालों और जनता की आश्यकताआ पूर्ति हेतु अन्य संस्थाओं की स्थापना करनी चाहिए।

(vii) मानव गरिमा और व्यक्तित्व का सम्मान तथा सभी को न्याय प्रदान करना चाहिए।

(viii) उपरोक्त सभी

(द) निम्न में से कल्याणकारी राज्य को क्या करना चाहिए –

(v) जनता के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप

(vi) जनमत पर प्रतिबन्ध

(vii) कला, संस्कृति और नैतिकता में हस्तक्षेप

(viii) राजनीतिक कार्य

(य) लोक कल्याणकारी राज्य का सिद्धान्त

(v) व्यक्तिवाद के अनुरूप है

(vi) व्यक्तिवाद के विपरीत है

(vii) व्यक्तिवाद से असम्बद्ध है

(viii) इसमें से कोई नहीं

(र) लोक कल्याणकारी राज्य –

(v) युद्धों का समर्थन करता है

(vi) अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध करता है

(vii) युद्धों का विरोध करता है

(viii) इसमें से कोई नहीं

17.15 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 17.2 एवं 17.3 अंश

(ब) देखिए इकाई का 17.7 अंश

(स) देखिए इकाई का 17.6 अंश

(द) देखिए इकाई का 17.4 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 17.5 अंश

(ब) देखिए इकाई का 17.10 अंश

(स) देखिए इकाई का 17.8 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (iv)

(ब) (i)

(स) (iv)

(द) (iv)

(य) (ii)

(र) (iii)

इकाई 18

राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त

इकाई की रुपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 मार्क्स का वर्ग–सिद्धान्त और राज्य

18.2.1 बुर्जुआ वर्ग और राज्य

18.2.2 सर्वहारा वर्ग और राज्य

18.2.3 वर्गीय चेतना का उद्भव

18.3 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त

18.3.1 आदिम अवस्था में राज्य

18.3.2 व्यक्तिगत सम्पत्ति

18.3.2 श्रम–विभाजन का सिद्धान्त

18.4 राज्य का क्रमिक विकास और उत्पादन प्रणाली

18.4.1 आदिम साम्यवादी युग

18.4.2 दास युग

18.4.3 सामंतवादी युग

18.4.4 पूंजीवादी युग

18.4.5 समाजवादी (आदर्श) युग

18.5 राज्य की भूमिका एवं कार्य

18.5.1 समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

18.5.2 आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

18.5.3 राज्य की 'विलुप्त' अवस्था

18.6 राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त की समीक्षा

18.7 सारांश

18.8 शब्दावली

18.9 उपयोगी पुस्तके

18.10 सम्बन्धित प्रश्न

18.11 प्रश्नोत्तर

TESLA-024

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन करते हुए उसकी समूची रुपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसे पढ़ने के पश्चात् आपः–

- राज्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी सिद्धान्त की आधारभूत संकल्पना को भलीभांति समझ सकेंगे।
- राज्य का वर्ग–सिद्धान्त एवं वर्गीय चेतना के उद्भव पर टिप्पणी कर सकेंगे।
- राज्य की उत्पति के सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धान्त के सम्बन्ध में मार्क्सवादी अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगें।
- राज्य के विकासात्मक स्वरुप और सम्बन्धित उत्पादन प्रणाली का तुलनात्मक अवलोकन कर सकेंगें।
- राज्य के कार्यो के सम्बन्ध में मार्क्सवादी संकल्पना को भलीभांति समझते हुए उसकी विवेचना कर सकेंगे है।

18.1 प्रस्तावना

कार्ल हेनरिक मार्क्स (1818–83) जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक था जिसने वैज्ञानिक समाजवाद का प्रतिपादन कर राजनीति विज्ञान को एक क्रान्तिकारी दिशा प्रदान की। वह आदर्शवादी विचारक जी. डब्ल्यू. एफ. हेगल के चिंतन से बहुत प्रभावित हुआ तथा इसके द्वन्दात्मक पद्धति के आधार पर ही अपने 'द्वन्दात्मक भौतिकवाद' सम्बन्धी सिद्धान्त की संकल्पना प्रस्तुत की। पेरिस में समाजवाद के गूढ़ अध्ययन के दौरान उसकी मुलाकात फैद्रिकएगेल्स (1820–95) से हुई। कुछ विषयों पर वैचारिक समानता के आधार पर दोनों में घनिष्ठता स्थापित हुई। आगे चलकर दोनो ने एक अच्छे सहयोगी, रचनाओं के सह–संपादक आदि के रुप में मार्क्सवादी सिद्धान्त के विकास में अविस्मरणीय भूमिका निभायी। इसलिए मार्क्सवादी सिद्धान्त में मार्क्स और एजिल्स दोनों की विचारधारायें सम्मिलित हैं। मार्क्सवादी विचारों का नेतृत्व यद्यपि मार्क्स ने ही किया, परन्तु उसका एक बड़ा भाग एंजिल्स की ही देन है, जिसे कभी नकारा नहीं जा सकता है।

मार्क्सवादी सिद्धान्त के अर्न्तगत मार्क्स और एंजिल्स ने 19वीं शताब्दी के यूरोप में पूंजीवाद से जुड़ी हुई सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारधारा उदारवाद को चुनौती देते हुए एक नवीन एवं क्रान्तिकारी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विचारधारा को बढ़ावा दिया। आधुनिक समय में यह विचारधारा अपने द्वन्दात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग संघर्ष, संक्रमणकालीन समाजवाद तथा आधुनिक साम्यवाद की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहा है। राज्य के सम्बन्ध में व्यवस्थित सिद्धान्त यद्यपि मार्क्सवादी में नही पाया जाता, परन्तु राज्य की वास्तविक भूमिका का जो निरुपण मार्क्स और एजिल्स ने किया वह आज उसी रुप में विभिन्न देशों में दिखायी पड़ रही है। राज्य से सम्बन्धित उसके विचार उसकी विभिन्न रचनाओं में समय–समय पर प्रकट हुए। उसकी प्रमुख रचनायें है – दि

पावर्टी आफ फिलॉसफी (1847), दि कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो–(1848) 'वैल्यू', प्राइस एण्ड प्राफिट (1867), और 'दास कैपिटल तथा हीगल्स फिलांसफी ऑफ ला (1843), सोशलिज्म फार्म यूटोपिया टु साइन्स' आदि इन सभी महत्वपूर्ण रचनाओं में राज्य का मार्क्सवादी सिद्धान्त स्पष्ट रुप से निरुपित हुआ है। अपनी एक महत्वपूर्ण रचना 'कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टों के अन्तर्गत मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद में राज्य के विकासात्मक स्वरुप का वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है।

18.2 राज्य का वर्ग–सिद्धान्त–मार्क्सवादी अवधारणा

राज्य का वर्ग–सिद्धान्त सम्बन्धी मार्क्सवादी अवधारणा का विवेचन उसके ऐतिहासिक भौतिवाद को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो जाता है। क्यों कि राज्य के विकास की यात्रा हमें क्रमशः वाद–प्रतिवाद–संवाद के रुप में ही इस सिद्धान्त के अन्तर्गत स्पष्ट होती है। अतः सर्वप्रथम यही राज्य का वर्ग सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा अपरिहार्य हो जाती है।

18.2.1 बुर्जुआ वर्ग और राज्य

मार्क्सवाद के अनुसार यह वहीं बुजुर्आ वर्ग है जिसके हाथ में सत्ता होती है और राज्य एक 'यन्त्र' की भांति होता है। यह समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग होता हैं जो शोषण के आधार पर जीता है। समस्त उत्पादन की शक्तियां इसी वर्ग के हाथ में होती है। एमाइल बर्न्स ने बुजुर्आ वर्ग को व्याख्यायित किया है कि ''यह वर्ग उत्पादन कार्यो में लगे हुए वर्गो की परिश्रम की कमाई पर पिस्सू की तरह जीता है और स्वयं कोई कार्य नहीं करता है।'' उत्पादक वर्ग द्वारा अतिरिक्त समय कार्य करके कमाया गया धन या परिश्रमिक 'जिसे मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य कहा हैए वह उसे स्वयं हड़प जाता है। इसमें राज्य की भूमिका 'शोषण के यन्त्र' की रहती है।

18.2.2 सर्वहारावर्ग और राज्य

मार्क्स और एजिल्स के अनुसार यह एक ऐसा वर्ग होता है जो सही रुप में उत्पादन का काम करता है। उदाहरण के लिए दास, किसान और मजदूर जो कठिन परिश्रम करके कमाते हैं किन्तु उसे बुर्जुआ वर्ग जो शोषक होता है। हड़प जाता है। इसलिए जब समाज में कुछ लोग श्रम करने के लिए बाध्य होते है और दूसरे लोग उसके जी–तोड़ परिश्रम का लाभ स्वयं हड़प जाते है तो समाज वर्गों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार वर्गों का जन्म इस आर्थिक विषमता के कारण होता है और आर्थिक विषमता उत्पादन के साधनों के अनुचित वितरण और श्रम के असमान विभाजन से उत्पन्न होती है। इन दोनो वर्गों के हितों में टकराहट होने के कारण ही मार्क्स क्रान्ति को अवश्यम्भावी मानता है।

18.2.3 वर्गीय चेतना का उद्‌भव

ऐतिहासिक भौतिकवाद की अवधारणा के अनुसार समाज का अब तक का इतिहास वर्ग–संधर्षों का इतिहास मात्र है। प्राचीन काल से चाहे वह आदिम साम्यवादी युग रहा हो या वर्तमान में पूंजीवादी युग हमेशा पस्पर विरोधी वर्ग विद्यमान रहे हैं। आधुनिक युग में कामगार और पूंजीपति परस्पर विरोधी वर्गों के रुप में विद्यमान रहा है। मार्क्स के अनुसार आधुनिक युग में वर्ग संघर्ष अपने चरम

TESL-024

पर पहुँच चुका है। वर्गों का विभेदीकरण एवं वर्ग–चेतना पूरी तरह विकसित हो चुकी है। मध्य वर्ग में भी यह वर्ग चेतना जागृत होती है और वह अन्ततः विवश होकर कामसार वर्ग में शामिल हो जाता है। इससे सर्वहारा वर्ग का संगठन और विस्तृत एवं सुदृढ़ हो जाता है। इस प्रकार अन्ततः सर्वहारा वर्ग मुट्ठी भर पूंजीपतियों को पराजित करने में सफल हो जाता हैं।

मार्क्स कहता है कि इस वर्गीय चेतना के परिणाम स्वरुप जो कान्ति होगी वह पिछली सभी क्रान्तियों से भिन्न एवं अद्वितीय रहेगी। क्यों कि इस क्रान्ति के पश्चात् जो समाजवादी व्यवस्था स्थापित होगी वहाँ वास्तविक लोकतन्त्र कायम होगा। यही पर राज्य स्वयं सर्वहारा का सहयोगी बनकर शोषक वर्ग का विनाश करेगा। अन्ततः एक वर्ग–विहीन एवं राज्य–विहीन साम्यवादी व्यवस्था का उदय होगा जिसमें सभी व्याक्तयों का कल्याण होगा। इस प्रकार समाजवाद ही वह सक्रमणकालीन अवस्था होगी जिसके पश्चात ही साम्यवाद के अन्तिम पड़ाव पर पहुचना संभव हो सकेगा। किन्तु जब तक वर्गीय चेतना जागृत नहीं होगी तब तक सर्वहारा वर्ग को शोषण से मुक्ति भी नहीं मिलेगी। इस वर्गीय चेतना की जागृति का आधार होता है उनकी एक सी स्थिति जो शोषण के कारण आज हुई है। मार्क्स भी मानता है कि फ्रांसीसी मजदूरो और किसानों के विपरीत सर्वहारा वर्ग में वर्गीय चेतना जागृत हो रही है। इतिहास भी साक्षी है कि समय–समय पर इसी चेतना के कारण परिवर्तन हुआ है। इससे यह स्पष्ट होता है कि–''आज तक के सभी समाजो का इतिहास वर्ग–संघर्ष का इतिहास है।''इसी लिए मार्क्स और एंजिल्स दोनो का यह विश्वास है कि निरन्तर बढ़ती हुई वर्गीय चेतना के परिणाम स्वरुप ही होने वाली क्रान्ति के द्वारा एक साम्यवादी व्यवस्था स्थापित होगी।

18.3 राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति का ऐतिहासिक सिद्धान्त के अर्न्तगत अथवा मार्क्सवादी सिद्धान्त राज्य को अन्य संस्थाओं की भांति ऐतिहासिक विकास की अंतिम परिणति मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य न तो कोई दैवी संस्था है और न ही कोई बल प्रयोग का परिणाम, अपितु सामाजिक संगठन की प्रक्रिया में विकसित विभिन्न संगठनों में राज्य भी क्रमिक विकास का परिणाम है। प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक जे. डब्ल्यू वर्गेस भी कहते है कि ''राज्य इतिहास की उपज है।''राज्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित ऐतिहासिक सिद्धान्त के सन्दर्भ मे माक्सवादी दृष्टिकोण का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व फैड्रिफ एगेल्स करते है। ये विचार अपनी कृति 'द ओरिजिव आफ द फैमिली, प्रइवेट प्रापर्टी एण्ड दि स्टेट' (1889) में पूर्णतया अभिव्यक्त किया है। राज्य की उत्पत्ति समाज के वर्गो मे विभाजन के बाद वर्गीय अनतर्विरोधों पर अंकुश रखने की आवश्यकता के कारण हुआ है। स्पष्टतः हम कह सकते है कि राज्य एक ऐसी संस्था है जो एक वर्ग विशेष द्वारा दूसरे वर्गो के शोषण के उद्देश्य से स्थापित की गयी।

18.3.1 आदिम अवस्था में राज्य

जैसा कि एंजिल्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति में कहा है कि ''राज्य का अस्तित्व अनंत काल से नही है। ऐसे समाज भी रहे है जिसमें राज्य नहीं था, उस समय जिसमें राज्य या कोई अन्य शक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। कालानतर में अर्थिक विकास के क्रम में एक ऐसी अवस्था आती है जब समाज में विद्यमान वर्गो का विभाजन हो गया और इस विभाजन का अनिवार्य परिणाम राज्य

की उत्पत्ति हुई।'' इस प्रकार से हम कह सकते है कि राज्य की उत्पत्ति वर्ग–विभाजन एवं वर्गीय संघर्ष का परिणाम है। ऐजिल्स ने राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था को आदिम साम्यवाद कहकर संबोधित किया।

आदिम साम्यवाद की इस पूर्वावस्था का यदि ऐतिहासिक अवलोकन किया जाय तो हमें यह जानकारी होगी कि राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की जो अवस्था थी उसका पहला स्वरुप जंगली था। इस जंगली अवस्था में लोग पूर्णतया प्रकृति पर निर्भर थे। इसके पश्चात् बर्बर अवस्था आती है जब लोग पशुपालन कृषि आदि कार्य प्रारम्भ करते है। इसके बाद तीसरी अवस्था संक्रमणकालीन होती है जब संपत्ति का जन्म होता है और एक प्रभुत्वशाली वर्ग समाज की सभी महत्वपूर्ण संस्थाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। इसीलिए एंजिल्स कहते भी हैं कि ''राज्य समाज की अपनी उपज है जो विकास के एक चरण में समने आती है।'' इस प्रकार आर्थिक समाज के आदिम ढांचे में परिवर्तन के साथ राज्य का अस्तित्व धीरे–धीरे सामने आता है।

18.3.2 व्यक्तिगत सम्पत्ति

मार्क्सवाद के अर्न्तगत राज्य की उत्पत्ति का आधार व्यक्तिगत सम्पत्ति को माना गया है। आदि साम्यवाद की प्रथम दो अवस्थाओं (बंगाली और बर्बर अवस्थाओं) में निजी सम्पत्ति का अस्तित्व नही था। लोगों का समूचा जीवन प्रकृति की छाँव में बीतता था। लोग कृषि और पशुपालन करने लगे। इसके पश्चात् अन्ततः उत्पादन की शक्तियों का क्रमशः विकास हुआ जिसके आधार पर उत्पादन सम्बन्ध बने। व्यक्तिगत सम्पत्ति समाज के कुछ ही वर्गो तक सिमट कर रह गयी। इस प्रकार से एक प्रभुत्वशाली वर्ग अस्तित्व में आता है जो आर्थिक आधार पर अपनी शोषणवादी प्रवृत्ति को कायम करता है। यही वह या पूँजीपतिवर्ग धनवान वर्ग होता है जो राज्य का अपने हित के अनुसार–प्रयोग करता है। इसीलिए यह कहा गया कि ''राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति की दासी होती है।'' अर्थात जिस वर्ग के हाथ में आर्थिकशक्ति होती है उसका पूरे समाज पर वर्चस्व होता है।

18.3.3 श्रम–विभाजन का सिद्धान्त

मार्क्सवाद के अनुसार राज्य की उत्पत्ति से पूर्व आदिम साम्यवादी अवस्था में निजी सम्पत्ति के अस्तित्व में आने के बाद श्रम का विभाजन किया जाता है। इससे समुदाय के सदस्यों के मध्य परस्पर अलगाव व अन्तर्विरोध पैदा होता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के विरुद्ध अपने हितों को हरसंभव संरक्षित करना चाहता है। इससे हितो में टकराहट पैदा होती है। निजी संपत्ति जिस वर्ग के हाथ में होती है वही सबसे शक्तिशाली वर्ग होता है जो अपनी निजी सम्पत्ति और श्रमविभावन के कारण पैदा होने वाले अन्तर्विरोधो का दमन करने हेतु राज्य का सहारा लेता है। राज्य केवल शक्तिशाली अर्थात पूँजीवादी वर्ग के हितों को ही संरक्षित करता है।

18.4 राज्य का क्रमिक विकास और उत्पादन प्रणाली

मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन की विभिन्न पद्धतियाँ जो हमें समय–समय पर विभिन्न युगों में दिखायी पड़ती है उसी के अनुरुप विभिन्न प्रकार के राज्यों का अभ्युदय भी होता है। इसीलिए राज्य की प्रकृति और कार्य भी उत्पादन प्रणाली पर ही निर्भर रहा। राज्य का कार्य एवं स्वरुप भी इसीलिए प्रत्येक युग में अलग–अलग रहा है। यह भी सच है कि किसी भी राष्ट्र या समाज के विकास की प्रक्रिया में

TESLA-024

अर्थिक तत्व (उत्पादन प्रणाली) जिसके आधार पर उत्पादन संबन्ध बनता है, की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जैसा मार्क्स अपने संरचनात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत कहता है कि आर्थिक संरचना जिसे वह आधार कहता है राजनीतिक अधिरचनाओं को नियन्त्रित करती है। अर्थात किसी भी युग में राजनीतिक संरचना का स्वरुप एवं कार्य क्या होगा यह उत्पादन प्रणाली के आधार पर बने आर्थिक संरचनाओं पर आधारित होता है। मार्क्स इसीलिए उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर इतिहास को पाँच युगो में विभाजित करता है जिस पर हम, विस्तृत रुप से आगामी इकाई में प्रकाश डालने का हर संभव प्रयास करेंगे।

18.4.1 आदिम साम्यवाद का युग

जैसा हमने पूर्व में पढ़ा कि आदिम साम्यवादी अवस्था राज्य विहीन तथा वर्ग विहीन थी। लोगो का जीवन पूर्णतया प्रकृति पर आश्रित था। मार्क्स और एजिल्स के अनुसार इस अवस्था में कृषि और पशुपालन का भी विकास नही हुआ था। समाज में वर्ग चेतना का भी अस्तित्व नहीं था। लोग प्रकृति से अपनी समूची आवश्यकताओ की पूर्ति करके पूरी तरह खुश थे। यहीं सभी व्यक्ति उत्पादक एवं उपभोक्ता दोनो था। कालान्तर में लोगों को धीरे–धीरे कृषि का ज्ञान होने लगा और जीवन की भौतिक दशाओं में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। निजी सम्पत्ति एवं श्रम–विभाजन के परिणाम स्वरुप अब दास वर्ग का भी अस्तित्व सामने आया।

18.4.2 दास प्रथा युग

मार्क्स के अनुसार दास युग में अनेक अनुसंधान हुए और विभिन्न प्रकार के कृषि से जुड़े यन्त्रों व साधनों का विकास होने के कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति तेजी से बढ़ने लगी। कृषि की भूमि के स्वामित्व के आधार पर सामन्ती वर्ग का जन्म हुआ। इस वर्ग के जन्म लेने से एक दूसरा वर्ग दास भी सामने आया जिसका जीवन कृषि कार्यो एवं श्रम पर आधारित हुआ। इस दास वर्ग के कठिन परिश्रम से जो उत्पादन होता था उसको भूमि का स्वामी सामन्त हड़प लेता था। इससे शक्तिशाली वर्ग के द्वारा गरीब व निर्धन वर्ग के शोषण की करुण दासतान की शुरुआत यहीं से होती है। इसीलिए मार्क्स एवं एजिल्स मानव जीवन के समूचे इतिहास को शोषण का इतिहास कहते है। इस युग में शोषणकर्ता सामन्त वर्ग जो शक्तिशाली था। अन्ततः इस प्रणाली में जो वर्गीय श्रेणी उभर कर सामने आयी उसे स्वामी और दास की संज्ञा दी गयी। स्वामी इस लिए कि वह कृषि भूमि पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था जबकि दास कठोर श्रम द्वारा उत्पादन का कार्य करता था।

18.4.3 सामंतवादी युग

इस सामन्तवादी प्रणाली से एक नवीन सामाजिक व्यवस्था का जन्म होता है। अब धीरे–धीरे शक्तिशाली वर्ग को राजनीतिक आधार प्राप्त होता है और राजा का अस्तित्व सामने आता है। राजा द्वारा अपने अधीनस्थ सामन्तों को भूमि प्रदान की जाती है जिसके बदले सामन्त राजा को आर्थिक व सैन्य सहायता देता है। अब छोटे–छोटे किसान वर्ग का अस्तित्व सामने आता है जो समन्तो से भूमि लेकर कृषि कार्य करते हैं और बदले मे समन्त को लगान देते है। इस प्रकार हम देखते है कि उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का प्रभुत्व था। इस युग में आर्थिक संगठन के स्वरूप को ''गिल्ड'' कहा जाता था जो कुशल कारीगरों का एक समूह था इस

युग में उत्पादन कार्य में संलग्न किसानों की स्थिति ठीक नहीं थी। किसान जिन्हें 'सर्फ' कहा जाता था दासो के समान ही शोषण के शिकार थे। किन्तु धीरे–धीरे उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन होने लगा उद्योगो का विकास तथा विभिन्न कल कारखानों एवं यन्त्रों के विकास के कारण पुराना राजनीतिक ढ़ाँचा भी ढहने लगा जो केवल भूमि के स्वामित्व पर आधारित था अब पूंजीवादी व उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था का जन्म हुआ।

18.4.4 पूंजीवादी युग

मार्क्सवाद के अनुसार राज्य के विकासात्मक स्वरुप के अर्न्तगत पूंजीवादी प्रणाली सबसे महत्वपूर्ण प्रणाली कही जाती है। यह औद्योगिक युग का दौर था, जब स्व–हस्तचालित यन्त्रों के स्थान पर वाह्यचालित यन्त्रों के निर्माण के साथ ही साथ बड़े–बड़े उद्योगो धन्धो का तेजी से विकास हुआ। राज्य पर पूंजीपति वर्ग का एकाधिकार हो गया। अब केवल पूंजीपतियों के हितों को ही संरक्षित किया जाने लगा। इतना ही नही पूंजीवाद के संरक्षण हेतु अनेक सिद्धान्तों का विकास भी किया गया। कारखानों की बढ़ती हुई संख्या के कारण उत्पादन अत्यधिक बढ़ गया और अब एक गम्भीर समस्या उसके उपभोग को लेकर आयी। अब बहुत से श्रमिको को काम से हटा दिया जाता है जिससे मजदूरों का भी एक बड़ा वर्ग संगठित होता जाता है दूसरी तरफ छोटे–छोटे ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग, आदि सब बन्द हो जाते है। सर्वसाधारण बेरोजगार होता चला जाता है। पूँजीपति मुनाफाखोरी के लिए अतिरिक्त मूल्य कमाने में निरन्तर लगा होता है। यह अतिरिक्त मूल्य वास्तव में सर्वहारा वर्ग से हड़पा जाता है। जीवन निर्वहन हेतु अतिरिक्त श्रम करना सर्वहारा वर्ग की विवशता होती है जिसका लाभ पूँजीपति वर्ग उठाता है और उसको दोहरा लाभ मिलता है। इस अतिरिक्त उत्पादन के खपत हेतु दूसरे देशों में उपनिवेश भी बनाये जाते है और वहाँ भी शोषण किया जाता है। इससे पूँजी का संचय बहुत चन्द लोगो के हाथों में केंद्रित होता जाता है। सामाजिक विषमता बहुत तेजी से बढ़ती है। बड़े–2 पूँजीपति छोटे–2 पूंजीपतियों का निगल जाते है। इस प्रकार पूँजीपति वर्ग अपने विनाश का मार्ग स्वयं ही बनाते जाते है।

18.4.5 समाजवादी युग

मार्क्स ने समाजवादी प्रणाली को एक सक्रमणकालीन अवस्था बताया जिसके पश्चात् ही साम्यवादी व्यवस्था को स्थापित करना संभव होगा। इस समाजवादी व्यवस्था में सर्वहारावर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होता है। यहाँ पर एक वर्ग के व्यक्तिगत स्वामित्व को खत्म किया जाता है। किन्तु यह अवस्था स्थायी नहीं होती है अपितु साम्यवाद की यह आधारशिला कहीं जा सकती है। यह सर्वहारा का अधिनायकवादी राज्य होता है जो पूँजीपतियों को विनष्ट करता है। इस समाजवादी व्यवस्था में राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति छीनकर उसे समाजवादी सम्पत्ति बनाता है। इस व्यवस्था के अर्न्तगत हर प्रकार के विशेषाधिकारों को समाप्त करके समानता की स्थिति पैदा की जाती है और प्रत्येक के लिए श्रम को अनिवार्य बनाया जाता है। इस प्रकार यह समाजवादी व्यवस्था एक परिवर्तनकारी व सक्रमणकालीन अवस्था है जो अन्ततः साम्यवादी व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करेगी। क्योंकि एक आदर्श साम्यवाद व्यवस्था को स्थापित करना ही मार्क्सवाद का उद्देश्य और अंतिम लक्ष्य है।

18.5 राज्य की भूमिका एवं कार्य

इस इकाई के अर्न्तगत हम राज्य के कार्य के सम्बन्ध में मार्क्सवादी

TFSLA-024

दृष्टिकोण का भलीभांति अध्ययन करेंगे। यद्यपि मार्क्स ने राज्य के कार्य के सम्बन्ध में व्यवस्थित रुप से कोई विचार प्रतिपादित नहीं किया है फिर भी इससे सम्बन्धित जो भी विचार मिलते हैं वे बहुत ही सारगर्भित है।

18.5.1 समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

जैसा कि इससे पूर्व की इकाईयों में हमने पढ़ा कि समाजवादी व्यवस्था एक सक्रमणकालीन व्यवस्था है जो साम्यवाद हेतु मार्ग प्रशस्त करती है। इस अवस्था में राज्य आवश्यक बुराई के रुप में सक्रिय भूमिका निभाता है। सर्वहारा वर्ग इस राज्य के सहयोग से पूँजीवाद के शोषण के अवशेषों को विनष्ट करता है। राज्य के सहयोग से ही सर्वहारा का अधिनायकवाद स्थापित किया जाता है। राज्य समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे महत्वपूर्ण कार्य, व्यक्तिगत सम्तत्ति को सार्वजनिक सम्पित्ति में परिवर्तित कर एक समरसतापूर्ण व्यवस्था स्थापित करता है। इसके पश्चात् आगे चलकर राज्य की भूमिका स्वतः खत्म हो जाती है; क्यों कि अब पूँजीपतियों की शोषणवादी मनोवृत्ति का सफाया हो चुका होता है और उत्पादन के समाजीकरण की प्रक्रिया के **अन्ताति** राज्य का एक मात्र कार्य पूँजीपति वर्ग के शोषणकारी अवशेषों को नष्ट करना ही रहता है।

18.5.2 आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य

साम्यवादी अवस्था मार्क्स का अंतिम लक्ष्य है। इस अवस्था में न तो कोई वर्ग होता है और नही ही वर्ग शोषण होता है। इसीलिए राज्य की भी कोई आवश्यकता यहीं होती है। क्योंकि राज्य शोषण का यन्त्र है इसीलिए जहाँ शोषण नहीं होगा वहाँ राज्य भी नहीं होगा। राज्य का कार्य सिर्फ समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही होती है। यहाँ एक आदर्शवादी व्यवस्था स्थापित होती है। लोग अपनी–अपनी क्षमता के अनुसार परिश्रम करते है और अपनी आवश्यकता के अनुसार उपभोग करते है। इस व्यवस्था में हर व्यक्ति श्रमिक होता है। अतः इस आदर्शवादी व्यवस्था में राज्य का कार्य खत्म हो जाता हैं साथ ही उसका अस्तित्व स्वतः विनष्ट हो जाता है।

18.5.3 राज्य की लुप्त अवस्था

मार्क्स और एजिल्स दोनो यह मानते है कि समाजवादी व्यवस्था (सक्रमणकालीन) के पश्चात जो आदर्श साम्यवादी अवस्था आयेगी उसमें राज्य स्वतः विलुप्त हो जायेगा। शोषणवादी अवषेशों को विनष्ट करने तक ही राज्य का अस्तित्व रहेगा। केवल समाजवाद व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य अधिनायकवादी सर्वहारा वर्ग के हाथों में एक आदर्शव्यवस्था को कायम करने हेतु प्रयाशरत रहता है। इसलिए साम्यवादी–व्यवस्था वर्ग विहीन होने के साथ ही साथ राज्य विहीन भी होगी। एसी ही राज्य विहीन आदर्श समाज व्यवस्था की परिकल्पना महात्मा गाँधी भी करते है।

18.6 राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त की समीक्षा

अन्ततः राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त का यदि समीक्षात्मक अवलोकन किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि राज्य पूँजीपतियों के हाथ में सर्वहारा वर्ग के शोषण का यन्त्र है। जैसा कि ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त के अर्न्तगत राज्य की उत्पत्ति के विकासात्मक स्वरुप को दर्शाते हुए क्रमशः उत्पादन सम्बन्धों के आधार या बदलती हुई राजनीतिक प्रणाली के स्वरुप का निरुपण करता है। आदिम साम्यवादी अवस्था से शुरु हुई राज्य की विकासात्मक यात्रा अन्ततः समाजवादी

व्यवस्था के पश्चात् साम्यवादी व्यवस्था में खत्म होती है। पूँजीवादी व्यवस्था में जहाँ राज्य के माध्यम से खूब शोषण किया जाता है। वहाँ वर्ग–संघर्ष की स्थिति सदैव बनी रहती है। किन्तु समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अब यही राज्य सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व में पूँजीपतिवर्ग का शोषण करता है। लेकिन इस मार्क्सवादी अधिनायकवादी प्रवृत्ति की घोर आलोचना की जाती है। इस अवस्था के पश्चात् जो आदर्श साम्यवादी अवस्था आती है उसमें श्रम अनिवार्य होता है। और हर व्यक्ति अपनी आवश्यकता अनुसार उपभोग करता है। यहाँ अत्यधिक उत्पादन होता है। यह उत्पादन किसी लाभ के लिए नहीं अपितु सार्वजनिक जीवन–स्तर को ऊँचा उठाने के लिए होता है। यह अवस्था वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन होती है। हर व्यक्ति सुख एवं समृद्धिपूर्ण जीवन यापन करता है। संघर्ष की जगह सहयोग का बोलबाला होता है। किन्तु धर्म को इस अवस्था में नकारात्मक माना जाता है। मार्क्स इसे अफीम के नशे के समान मानता है। अगर गांधीवाद के अन्तर्गत देखा जाय तो यह भी राज्य को शोषण का यन्त्र मानता है परन्तु किसी भी प्रकार के अधिनायकवाद का पूरी तरह विरोध करता है। गाँधीवाद में जहाँ साध्य की अपेक्षा साधन महत्वपूर्ण है वही मार्क्सवाद में साध्य ही सब कुछ है, और उसकी प्राप्ति के लिए साधन चाहे हिंसक हो या अहिंसक। किन्तु दोनों अन्ततः एक ऐसी आदर्श समाज व्यवस्था की कल्पना करते है जहाँ सभी के लिए श्रम अनिवार्य होगा और एक राज्य–विहीन अवस्था स्थापित होगी।

18.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आप लोगों ने राज्य के मार्क्सवादी सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया। राज्य का वर्ग–सिद्धान्त का अध्ययन करते हुए हमने यह जाना कि किस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में बुर्जुआ वर्ग सर्वहारा वर्ग का हरसंभव शोषण करता है। इसी प्रकार राज्य की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सिद्धान्त एवं ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत आदिम सम्यवादी व्यवस्था से लेकर आधुनिक साम्यवादी व्यवस्था तक राज्य के स्वरुप एवं कार्यों का विस्तार से अध्ययन किया गया। हमने देखा कि जहाँ पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य बुर्जुआ वर्ग के हाथों शोषण का यन्त्र होता है वहीं मार्क्सवादी समाजवादी व्यवस्था में सर्वहारावर्ग के हाथों में शोषण का यन्त्र बनता है। इस प्रकार इस विस्तृत अध्ययन के पश्चात् हम यह भली–भाँति समझ चुके है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त समूचे विश्व में पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकल्प बनकर उभरा। इसमें सभी वर्गो के कल्याण की भावना निहित है। एक समरसता पूर्ण समाज की स्थापना इसका परम लक्ष्य है। इसमें हर व्यक्ति अपनी–अपनी क्षमता के अनुसार राष्ट्र के समग्र विकास में परिश्रमिक (श्रम द्वारा) योगदान देगा और अपनी आवश्यकतानुसार प्राप्त करेगा। इस प्रकार समानता एवं न्याय पर आधारित यह व्यवस्था आज सभी समाजों के लिए अपरिहार्य हो चुकी है।

18.8 शब्दावली

- बुर्जुआवर्ग – पूँजीपति वर्ग
- सर्वहारावर्ग – मजदूर वर्ग
- व्यक्तिगत सम्पत्ति – निजी सम्पत्ति
- राज्य की लुप्त अवस्था – जहाँ राज्य का अस्तित्व नही होगा।

18.9 उपयोगी पुस्तकें

1. लेनिन, वाई. वी. (1973) ''दि स्टेट एण्ड ऐव्यूल्यूशन, प्रोग्रेस प्रकाशन मास्को
2. राल्फ, मिलिबैंड (1977) ''मार्सिज्म एण्ड पोलिटिक्स'' आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. पारिख, भीखू (1978) '' मार्सिज्म थियरी ऑफ दि स्टेट''।
4. वर्मा,के,एन, (''पश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें '' रस्तोगी पब्लिकेशन मेरठ)
5. गावा, ओपी (2003) ''राजनीतिक सिद्धान्त की रुपरेखा'' मयूर पेपर बैक्स प्रकाशन नोयडा।
6. मिलिनैंड, राल्फ (1977),'' मर्सिज्म एण्ड पॉलिटिक्स'' आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।
7. मार्क्स , कार्ल (1977),''इकोनामिक एण्ड फिलॉसफिकल मैन्यूस्क्रिप्ट 1844' प्रोग्रेस प्रकाशन मास्को।

18.10 सम्बन्धित प्रश्न

(1) मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में मुख्यतः कितने वर्ग थे ?

(A) एक वर्ग

(B) दो वर्ग

(C) तीन वर्ग

(D) चार वर्ग

(2) राज्य के विकासात्मक स्वरुप की पहली अवस्था थी।

(A) दास प्रथा प्रणाली

(B) आदिम साम्यवादी प्रणाली

(C) सामन्तवादी प्रणाली

(D) समाजवादी प्रणाली

(3) मार्क्सवादी के अनुसार आधुनिक साम्यवादी युग में राज्य।

(A) लुप्त हो जायेगा

(B) सुदृढ़ होगा

(C) शोषण का यन्त्र होगा

(D) अधिनायक होगा

18.11 प्रश्नोत्तर

(1) (B) (2) (B) (3) (A)

इकाई 19

राज्य का अराजकतावादी दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 अराजकतावाद का अर्थ एवं परिभाषा
19.3 अराजकतावाद का विकास
19.4 अराजकतावाद के प्रमुख सिद्धान्त
19.5 अराजकतावाद की आलोचना
19.6 अराजकतावाद और साम्यवाद
19.7 गाँधी जी और अराजकतावाद
19.8 सारांश
19.9 शब्दावली
19.10 उपयोगी पुस्तकें
19.11 सम्बन्धित प्रश्न
19.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

व्यक्तिवाद के विपरीत एवं साम्यवाद के समान राज्यविहीन समाज की समर्थक विचारधारा अराजकतावाद का इस इकाई में अध्ययन करके आप –

- अराजकतावाद का अर्थ समझते हुए विभिन्न विचारकों के विचार जान पायेंगे।
- अराजकतावाद के विभिन्न सिद्धांतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर पायेंगे।
- अराजकता के राज्यविहीन व वर्गविहीन समाज की रूपरेखा समझ पायेंगे।
- अराजकतावाद व साम्यवाद में अन्तर कर पायेंगे।

19.1 प्रस्तावना

मानव जीवन तथा समाज में राज्य के महत्व के सम्बन्ध में विविध विचारधाराएं प्रचलित हैं उनमें अराजकतावाद एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली विचारधारा है। व्यक्तिवाद और साम्यवाद की भाँति अराजकतावाद भी राज्य का विरोध करने वाली विचारधारा है, परन्तु इसका स्वरूप इन दोनों विचारधाराओं से कहीं अधिक उग्र है। व्यक्तिवाद राज्य के कार्यों को केवल सुरक्षा तथा सुव्यवस्था तक ही सीमित रखना चाहता है वहीं अराजकतावाद राज्य के कार्यों को ही सीमित नहीं करना चाहता वरन् राज्य के अस्तित्व को ही समाप्त कर देना चाहता है। साम्यवाद पूंजीवाद का घोर विरोधी है और क्रान्ति के बाद राज्य को संक्रमणकाल के लिए सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के रूप में सुरक्षित रखना चाहते है वहीं अराजकतावादी राज्य का घोर विरोधी है और अराजकतावादियों की क्रान्ति का मुख्य उद्देश्य राज्य का अन्त कर देना है। इस प्रकार अराजकतावाद में

TESLA-024

व्यक्तिवाद व साम्यवाद के आदर्शों का सम्मिश्रण है। व्यक्तिवाद से अराजकतावाद ने राज्य के प्रति अविश्वास की भावना तथा व्यक्ति की सहज प्रेरणा के सिद्धान्त को प्राप्त किया तथा साम्यवाद से अराजकतावाद ने निजी सम्पत्ति के प्रति घृणा के भाव को सीखा। प्रस्तुत इकाई में अराजकतावाद के अर्थ, विकास विविध विचारधाराओं के अध्ययन करने के साथ–साथ अराजकतावाद के प्रमुख लक्षणों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करके इस दर्शन को समझ सकेंगे।

19.2 अराजकतावाद का अर्थ एवं परिभाषा

अराजकतावाद (Anarchism) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द 'अनार्किया' (Anarchia) से हुई है, जिसका अर्थ है – शासन का अभाव। अराजकतावाद एक ऐसी विचारधारा है जो प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सत्ता का विरोध करती है। अराजकतावाद के सम्बन्ध में भ्रान्ति है कि यह अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता को प्रोत्साहित करती है परन्तु यह सत्य नहीं है। अराजकतावाद का सम्बन्ध व्यवस्था के अभाव से नहीं, बल्कि शक्ति या दबाव के अभाव से है। यह एक ऐसी विचारधारा है जो राज्य का पूर्णतः अन्त कर सभी मानव संबंधों में न्याय की स्थापना करना चाहती है तथा यह राज्य के स्थान पर व्यक्तियों, समूहों या समुदायों, क्षेत्रों एवं राष्ट्र के बीच सर्वथा स्वतंत्र एवं स्वाभाविक सहयोग की भी स्थापना करना चाहती है। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य एक अनावश्यक बुराई है, जो नितान्त हानिकारक है और जिसका प्रभाव व्यक्ति पर अत्यन्त विनाशकारी होता है। राज्य संस्था के कारण शासक एवं शासित दोनों का नैतिक का पतन होता है तथा उसके अनुसार राज्य शोषण का एक यंत्र है। उनका मानना है कि मनुष्य स्वाभावतः विवेकपूर्ण, तर्कशील तथा शुभकामना वाला प्राणी है परन्तु राज्य–संस्था या सत्ता के कारण वह भ्रष्ट हो गया है। मनुष्य अपने स्वाभाविक सदाचार, सद्व्यवहार एवं सहानुभूति के कारण राज्य के बिना निर्विरोध विकास कर सकता है। क्रोपोटकिन के अनुसार 'अराजकतावाद राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है। शक्ति और कानून के अभाव में पारस्परिक प्रेम और समझौते के आधार पर शांति और व्यवस्था स्थापित की जायेगी। राज्य के अन्त होने पर उत्पादन एवं उपभोग और नाना प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज में अनेक प्रादेशिक एवं व्यावसायिक समुदायों का स्वतः ही जन्म होगा। ये समुदाय आपस में प्रेमपूर्वक समझौते के आधार पर व्यवस्था स्थापित करेंगे। अराजक समाज की व्यवस्था प्राकृतिक एवं स्वाभाविक होगी, उसमें बल का प्रयोग कर किसी को एक विशेष प्रकार का आचरण करने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा।' हक्सले के अनुसार 'अराजकतावाद समाज की वह व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक होगा।' डिकिन्सन ने अराजकतावाद का अर्थ बताते हुए कहा है कि 'यह व्यवस्था का अभाव नहीं वरन् शक्ति का अभाव है। इसका अर्थ–स्वतंत्रता, एकता और प्रेम है।' स्डॉल्फ रॉक्र के अनुसार 'अराजकतावाद सामाजिक दर्शन की वह बौद्धिक विचारधारा है जिसमें आर्थिक एकाधिकार तथा राजनीतिक और सामाजिक शोषण की संस्थाएँ नहीं रहेंगी।' कोकर ने अपनी पुस्तक 'रिसेन्ट पॉलिटिकल थॉट' में कहा है कि 'अराजकतावाद वह मत है जहाँ अपने किसी भी रूप में राजनीतिक सत्ता अनावश्यक तथा अवांछनीय है।' तथा आगे उसने यह भी कहा है कि 'हालिया अराजकतावाद में राज्य के प्रति सैद्धान्तिक विरोध को निजी सम्पत्ति की संस्था तथा साथ ही संगठित धार्मिक सत्ता के विरोध को भी शामिल कर लिया गया है।'

अराजकतावाद की विभिन्न विचारकों ने अलग–अलग परिभाषा दी है। हर अराजकतवादी राज्य, शासन तथा किसी भी रूप में सत्ता से घृणा करता है परन्तु

उनमें इस बात पर मतभेद है कि राज्य को किस सीमा तक तथा किन तरीकों से समाप्त किया जाए। इस सम्बन्ध में विचारकों को दो समूहों में विभक्त किया जा सकता है – हिंसात्मक या क्रान्तिकारी अराजकतावादी तथा दार्शनिक या शान्तिपूर्ण या धार्मिक अराजकतावादी। हिंसात्मक या क्रान्तिकारी अराजकतवादी हिंसात्मक साधनों द्वारा अराजकतावादी समाज की स्थापना के पक्षपाती हैं और इस श्रेणी में बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन का नाम आता है। दार्शनिक अराजकतावादी शांतिपूर्ण साधनों के पक्ष में है और हिंसा को अनुचित बताते हैं तथा वैधानिक साधनों के प्रयोग के पक्षपाती हैं। ईसाई क्रान्तिवाद दार्शनिक अराजकतवााद से काफी साम्यता रखता है। दार्शनिक अराजकतावादियों में विलियम गॉडविन, प्रोधों तथा टालस्टॉय के नाम उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में अराजकतावाद वह विचारधारा है जो किसी भी प्रकार की सत्ता को स्वीकार नहीं करती। उनके अनुसार सभी प्रकार की सरकारें दमनकारी हैं, अतः अवांछनीय होती हैं और इस कारण इनका समाप्त किया जाना ही अच्छा है। अराजकतावाद सभी प्रकार के उत्पीड़न व राजनीतिक सत्ता का तिरस्कार करता है।

19.3 अराजकतावाद का विकास

यद्यपि अराजकतावादी सिद्धान्त का पूर्ण विकास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, परन्तु इसकी जड़ें प्राचीनकाल में भी दिखायी पड़ती हैं। राज्य सत्ता की औचित्यता सम्बन्धी सन्देह राजनीतिक विचारधारा के प्रारम्भ से ही उठाया जाता रहा है। प्राचीन यूनान के स्टोइक दर्शन में हमें इसका आभास मिलता है। स्टोइक विचारकों में जैनो (Zeno) को अराजकतावाद का मुख्य प्रतिपादक कहा जा सकता है। स्टोइक दार्शनिक ने राजनीतिक संस्थाओं को अनावश्यक मानकर यह कहा कि श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति समुचित रूप से संगठित राज्य में नहीं वरन् ऐसी सामाजिक अवस्था में हो सकती है जिसमें मुनष्य अपनी सामाजिकता तथा न्याय की नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुसार स्वतंत्र रूप से कार्य कर सके। राज्य का बल प्रयोग अव्यावहारिक तथा निरर्थक है। मध्य युग के कुछ सम्प्रदाय यह प्रचार करते थे कि धर्म उपयुक्त तथा सुव्यवस्थित नागरिक जीवन के लिए पर्याप्त गारण्टी है और जो लोग ईसाई धर्म के संरक्षण में एकत्रित हैं उन्हें उसी धर्म के अन्तर्गत रहने देना चाहिए और उन पर राज्य की ओर से कोई नियंत्रण नहीं होना चाहिए। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में राजतंत्र विरोधी विचारकों के विचारों में भी अराजकतावादी विचार मिल जाते हैं। अठारहवीं सदी के अन्त तक व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके प्राकृतिक अधिकारों पर बल देने वाले साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। फिजियोक्रेटर्स का समाज की प्राकृतिक अवस्था में विश्वास, एडम स्मिथ जैसे विद्वानों द्वारा समर्थित आर्थिक व्यक्तिवादी सिद्धान्त तथा श्रमिकों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाने वाला समाजवादी सिद्धान्त अराजकतावादी विचारधारा के प्रेरणा स्रोत हैं।

आधुनिक काल में विलियम गॉडविन (William Godwin, 1756-1836) प्रथम अराजकतावादी विचारक कहा जाता है। गॉडविन ने 1793 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'एन एक्वायरी कंसर्निंग पोलिटिकल जस्टिस' में राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का खुला विरोध किया। उसने समाज तथा सरकार में अंतर करते हुए समाज को मनुष्य के लिए वरदान तथा सरकार को अभिशाप बताया। उसके अनुसार सरकारें छल–बल, अत्याचार और भ्रष्टाचार का प्रयोग करके मनुष्य–मनुष्य को आपस में लड़ाती हैं। इसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से विवेकयुक्त एवं न्यायप्रिय

TESLA-024

होता है और यदि उसके इन गुणों का हनन राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था द्वारा न किया जाये तो वह एक–दूसरे के साथ सहयोग और एकता की भावना से रह सकेगा। उसने क्रान्ति के लिए लोगों को उत्प्रेरित नहीं किया वरन् धीरे–धीरे स्वैच्छिक प्रबंधों की स्थापना कर राज्य समाप्त करने की बात कही है। गॉडविन ने अपने विचारों में यद्यपि अराजकतावाद शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उसका दृष्टिकोण राज्य के प्रति प्रायः वही है, जो आधुनिक अराजकतावादी विचारकों का है। इसके बाद थॉमस हॉजस्किन (Thomas Hodgskinn 1787-1869) ने अराजकतवादी विचारों का समर्थन किया। वह अतिव्यक्तिवादी विचारक था और वह राजनीतिक सत्ता के इतना विरुद्ध नहीं था जितना कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के। फ्रांसीसी विचारक पीयर जोसेफ प्रूधौं (Pierre Joseph Produdhon 1809-1865) ने सर्वप्रथम स्वयं को अराजकतावादी कहा। अपनी प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'व्हाट इज प्रापर्टी (What is property) में उसने कहा कि 'सम्पत्ति चोरी है।' इसी पुस्तक में उसने घोषणा की कि मैं पूर्ण अर्थ में अराजकतावादी हूँ। सम्पत्ति को चोरी कहकर उसने यह खोज की कि राज्य का उद्भव निजी सम्पत्ति की प्रणाली से हुआ है जिसे बनाये रखना राज्य का उद्देश्य है। उसने कहा कि मनुष्य पर मनुष्य द्वारा शासन प्रत्येक रूप में अत्याचार है। समाज का सबसे उच्चतम रूप सुव्यवस्था और अराजकता का संगम है। उसने राजनीतिक सत्ता की निंदा इस आधार पर की कि इसमें विवेक, न्याय तथा समझदारी पर उद्देश्य का प्रभुत्व निहित है। उसने श्रम मुद्रा जारी करने के लिए 'लोगों के बैंक' की योजना तैयार की। इन बैंकों से बिना ब्याज ही ऋण मिलेगा। उसने मुद्रा सम्बन्धी अनोखा सुझाव दिया। उसके अनुसार नोटों का मापदण्ड श्रम होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने माल के बदले में श्रम नोट प्राप्त होंगे जिनका मूल्य उस माल के उत्पादन में लगाये गये समय द्वारा निर्धारित होगा। वह एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना करता है जिसमें व्यक्ति पूर्णतः स्वतंत्र है, उस पर कोई आर्थिक एवं राजनीतिक बन्धन नहीं है और सहयोग तथा स्वैच्छिक संघों द्वारा उत्पादन एवं सामाजिक व्यवस्था का प्रबन्ध होता है। अमरीकी विचारक थोरियो (Thorean 1817-1862) के विचारों में भी अराजकतावादी विचारों को प्रोत्साहन मिला। वह अपने लेख –सिविल डिसओबीडियन्स' (Civil Disobedience) के लिए प्रसिद्ध है। उसकी भी मान्यता थी मनुष्य स्वभाव से अच्छा होता है अतः राज्य द्वारा उसे नियंत्रित न करके यदि उसे उसके विवेक के आधिपत्य में स्वतंत्र छोड़ दिया जाए तो उसके अधिकतम नैतिक विकास की संभावना है। उसने कहा था 'वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल शासन नहीं करती।' उसने यह भी कहा था कि 'व्यक्ति या तो विधि विधान के अन्तर्गत शासित होता है या उस पर कोई अत्याचारी शासन करता है।'

अराजकतावादी विचारकों को दो समूहों में विभाजित किया जा सकता है – व्यक्तिवादी अराजकतावादी तथा साम्यवादी या समूहवादी अराजकतावादी। इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी श्रेणी ईसाई अराजकतावादियों की हो सकती है। व्यक्तिवादी अराजकतावाद मुख्य रूप से जर्मनी में फला–फूला। मैक्स स्टरनर (Max Stirner 1806-1856) इसका प्रतिनिधि विचारक है। उसने अपनी रचना 'द इगो एण्ड हिज ओन' में अहंवादी अराजकतावादी होने का प्रमाण दिया। उसके अनुसार व्यक्ति ही एकमात्र वास्तविकता है। व्यक्ति पर यदि कोई कानून लागू होता है तो वह है उसका व्यक्तिगत हित। उसके विचारों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता सबसे महत्वपूर्ण है और व्यक्ति की स्वार्थपरता उसके लिए सबसे उच्च नियम राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का विरोधी है अतः वह कहता है 'मैं तथा राज्य परस्पर एक दूसरे के शत्रु हैं, संपूर्ण संसार एक बंदीगृह है।' स्टरनर के विचार नीत्शे के दर्शन में पुनः प्रकट हुए। उसके दर्शन की विशेषता अतिमानव के अधिकारों का उन्नयन था। अमेरिका में व्यक्तिवादी अराजकतावाद के सिद्धान्त को लोकप्रिय जोशाय वारेन

(Josiah Warren 1799-1814) तथा बेन्जामिन टकर (Benjamin Tucker) ने बनाया। वारेन का विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति की स्वयं की ही सरकार होनी चाहिए। राज्य के कानूनों के स्थान पर उन्होंने स्वैच्छिक सहयोग का समर्थन किया तथा बल प्रयोग युक्त राज्य के स्थान पर विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति का समर्थन किया जो विवेक और सहमति से शासन करे, बल प्रयोग से नहीं। बेन्जामिन टकर ने भी राज्य सत्ता का विरोध किया और राज्य को कर संचालन, न्याय प्रशासन और सैनिक सुरक्षा के नाम पर अतिक्रमण का दोषी माना। वे राज्य के स्थान पर ऐसी स्वैच्छिक संस्थाओं का समर्थन करते हैं जिसमें कोई भी स्वेच्छा से सम्मिलित हो सके और स्वेच्छा से अलग हो सके। अमेरिका में अराजकतावादी विचार अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका।

साम्यवादी अराजकतावादियों ने भी वैयक्तिक अधिकारों तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर बल दिया परन्तु उन्होंने स्टरनर के आत्मवादी व्यक्तिवाद का विरोध किया तथा मानवता के विचार को प्रथम स्थान दिया। साम्यवादी अराजकतावादियों में बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। साम्यवादी अराजकवादियों के अनुसार प्रत्येक को अपनी स्वतंत्रता नहीं वरन् अन्य की स्वतंत्रता की आकांक्षा रखनी चाहिए। पारस्परिक सद्भाव तथा मानवीय समानता आवश्यक है। परन्तु राज्य एवं सत्ता के प्रति घृणा में वे व्यक्तिवादी अराजकतावादियों के समान थे। साम्यवादी अराजकतावादियों का विश्वास था कि सरकार सदैव विशेषाधिकार तथा भ्रष्टाचार की प्रतिनिधि रही है। अतः उन्होंने राज्य के स्थान पर ऐच्छिक समूहों की स्थापना करना चाहा तथा अपनी इच्छा के परिवर्तनों को लाने के लिए विकासवादी तरीकों की अपेक्षा उनका विश्वास क्रांतिकारी तरीकों में रहा। रूसी अराजकतावादी मिखाइल बाकुनिन (1814–1876) साम्यवादी अराजकतावाद का सर्वोत्तम प्रतिपादक था। वह कोई व्यवस्थित विचारक नहीं था परन्तु उसने समय–समय पर जो विचार प्रतिपादित किए वे अत्यंत प्रभावशाली थे। बाकुनिन ने राजनीतिक सत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धर्म का विरोध किया और अन्ततः उनके लुप्त हो जाने की भविष्यवाणी की। बाकुनिन ने राजनीतिक सत्ता का विरोध करते हुए कहा कि राजनीतिक सत्ता असमान आर्थिक अवस्था को बनाए रखती है तथा मानवीय नैतिकता को दूषित कर देती है। राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के लुप्त होने के बाद पारस्परिकता के आधार पर एक मुक्त समाज की स्थापना होगी। ऐसे समाज में व्यक्तियों की निष्ठा का सिद्धान्त वैधानिक न रहेगा जैसा कि राज्य में होता है बल्कि सहज व स्वैच्छिक होगा। साम्यवादी अराजकतावादी विचारों को आगे बढ़ाने तथा अधिकारिक व्याख्याता का श्रेय रूसी अराजकतावादी प्रिंस क्रोपाटकिन (1842–1921) को जाता है। क्रोपाटकिन के अनुसार राज्य अप्राकृतिक तथा बनावटी है क्योंकि वह मानव की स्वभावतः सहयोगी प्रवृत्तियों तथा मनोवेगों पर प्रतिबन्ध तथा नियंत्रण लगाता है। राज्य के अनेक कानून उस छोटे वर्ग के लाभ के लिए होते हैं जिनका सम्पत्ति पर स्वामित्व होता है। क्रोपाटकिन का मानना था कि राज्य द्वारा सम्पादित किए जाने वाले सभी कार्य स्वयं मानव और उसके ऐच्छिक समूहों द्वारा सम्पादित हो सकते हैं। वह पूंजीवाद व धर्म का भी विरोधी है और उसका विचार है कि धर्म साधारण जनता को पूंजीपतियों का दास बनाए रखने में उनकी सहायता करता है क्योंकि पूंजीपतियों और धर्मगुरूओं के हित एक ही हैं। उसने राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धर्म को विकास मार्ग की बाधा बताते हुए क्रान्ति द्वारा इसके विनाश का समर्थन किया। उसके अनुसार सहयोग और पारस्परिक सहायता द्वारा ही व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति संभव हो सकती है तथा समाज में न्याय, समानता और सुदृढ़ता स्थापित हो सकती है।

TESL-A-024

इसाई अराजकतावाद के प्रमुख समर्थक रूसी विचारक, लेखक उपन्यासकार टॉलस्टाय (Tolstoy 1323–1390) थे। टॉलस्टाय ने मानव जीवन के नैतिक पक्ष को महत्व देते हुए राज्य और उसकी समस्त संस्थाओं का विरोध किया। उसने राज्य के नियंत्रण और स्वतंत्रता को परस्पर विरोधी माना। उसका विचार था कि यदि ईसाई धर्म के सिद्धान्तों का सच्चाई से पालन किया जाए तो राज्य व सरकार की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। पूर्णतया ईसाई अवस्था ही अराजकता की अवस्था है और इसी कारण टॉलस्टाय के विचारों को ईसाई अराजकतावाद कहा जाता है। टॉलस्टाय ने मानव प्रेम की शिक्षा देते हुए बुराई का मुकाबला भलाई से करने का रास्ता दिखाया। टॉलस्टाय का अराजकतावाद हिंसा प्रधान नहीं था और उसके साधन शांतिवाद के साधन हैं।

इसके अतिरिक्त जॉर्ज सॉरेल (1847–1922) ने 1908 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लैकशन्स ऑन वायलेंस' में अराजकतावादी विचार को नया स्वरूप प्रदान किया। उसने न तो मनुष्य की उत्तम प्रकृति को सराहा, न वैयक्तिक स्वतंत्रता पर बल दिया। उसका मुख्य विषय था कि कामगार वर्ग किस प्रकार पूंजीवादी राज्य को धाराशायी कर सकता है? इसके लिए उसने 'आम हड़ताल' को मुख्य अस्त्र के रूप में प्रस्तुत कर इसे सर्वहारा वर्ग में जागृति लाने का साधन माना। उसने मजदूर संघों को क्रांति के वाहन के रूप में मान्यता दी। सारेल के इस दृष्टिकोण को अराजकतावादी श्रमाधिपत्यवाद की संज्ञा दी जाती है।

समकालीन अमरीकी दार्शनिक राबर्ट नॉजिक को अर्ध अराजकतावादी कहा जाता है। 1974 में प्रकाशित पुस्तक 'एनार्की, स्टेट एण्ड यूटोपिया' में व्यक्ति को सामाजिकता की धुरी माना। उसके अनुसार समाज, राज्य या अन्य कोई समष्टि व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य निर्धारित नहीं कर सकती। उसके अनुसार कोई भी समष्टि केवल स्वैच्छिक समूहन के रूप में विधि सम्मत हो सकती है और उसने न्यूनतम राज्य शक्ति के प्रयोग को उचित ठहराया। नॉजिक के अनुसार राज्य को अपना कार्य पुलिस बल के कार्य क्षेत्र तक सीमित रखना चाहिए और उसने राज्य के पूर्णतः समाप्ति की बात नहीं कही। अन्य अराजकतावादियों के विपरीत उसने सम्पत्ति के अधिकार को प्रमुख मानव अधिकार मानते हुए राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त रखने का समर्थन किया। मरे बुकचिन ने अपनी चर्चित पुस्तक 'पोस्ट–स्केयर्सिटी एनार्किज्म' में नवीन प्रवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा कि समकालीन समाज में प्रौद्यौगिकी की अपूर्व उन्नति के कारण ऐसे अभाव का युग बीत चुका है जो समाज में कलह और संघर्ष का कारण था। अतः अब राज्य और अर्थव्यवस्था दोनों का विकेन्द्रीकरण संभव हो गया है। मानवता का भविष्य उज्जवल करने हेतु छोटे–छोटे आत्मनिर्भर और स्वाधीन समुदायों का गठन करना चाहिए जिनमें लोग मिलजुल कर रहेंगे और मिल बाँट कर खायेंगे। इनके संगठन में सत्तावाद, श्रेणी तंत्र और अधिकारी तंत्र के प्रयोग की संभावना नहीं होनी चाहिए।

19.4 अराजकतावाद के प्रमुख सिद्धान्त

अराजकतावाद के विकास का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विचारधारा को विभिन्न विचारकों ने अलग–अलग दृष्टिकोण से विकसित किया है। अराजकतावाद में दो मुख्य विचारधाराओं व्यक्तिवाद तथा साम्यवाद का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। सामूहिक रूप में अराजकतावाद के निम्न प्रमुख सिद्धान्त हैं–

1. **मानव का स्वरूप** – अराजकतावादी मानते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है अतः वह स्वभाव से सहयोगी है। वह विवेकवान है इसलिए समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भलीभाँति समझता है। व्यक्ति आत्मकल्याण के साथ–साथ दूसरों के हित और समान लाभ का पूरा–पूरा ध्यान रखता है। वह श्रम के प्रति उदासीन नहीं है। परन्तु राज्य, पूंजीवाद तथा धर्म के बन्धनों में जकड़ा होने के कारण वह अपने स्वभाव के अनुसार स्वेच्छा तथा स्वतंत्रता से अपनी नैतिक चेतना के आलोक में कार्य नहीं कर पाता है। फलस्वरूप मानव के स्वाभाविक गुण लुप्त होते जा रहे हैं। अतः व्यक्ति के सर्वांगीण विकास एवं नैतिक स्वरूप के निखार हेतु राज्य, पूंजीवाद तथा धर्म के अस्वाभाविक बन्धनों से मुक्ति आवश्यक है।

2. **राज्य सम्बन्धी विचार** – अराजकतावादी राज्य के घोर विरोधी हैं। क्रोपाटकिन के अनुसार राज्य का न तो प्राकृतिक और न ही ऐतिहासिक औचित्य है। यह मनुष्य की स्वाभाविक सहयोगी प्रवृत्तियों का विरोधी है। अराजकतावादियों ने विभिन्न आधारों पर राज्य का विरोध किया है। विरोध का पहला आधार अस्वाभाविकता का है। क्रोपाटकिन ने ऐतिहासिक आधार पर राज्य का विरोध किया। उसके अनुसार राज्य ने सदैव सुधारों और नवीन विचारों का विरोध किया है। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य की उत्पत्ति से पूर्व भी मनुष्य समूह बनाकर स्वतंत्र और सुखी जीवन व्यतीत करते थे। मानव प्रकृति से विवेकी और तर्कशील है, राज्य उसे पदलोलुप और अनैतिक बना देता है। राज्य की उत्पत्ति का कारण मानव स्वभाव नहीं, वरन् वर्गभेद है और यदि वर्गभेद न रहे तो राज्य की आवश्यकता नहीं होगी। बाकुनिन के अनुसार सत्ता सत्ताधारियों और सत्ता मानने वालों को समान रूप से भ्रष्ट करती है। धीरे–धीरे होने वाले इसके प्रभाव से कुछ लोग लालची व महत्वाकांक्षी निर्दयी शासक बन जाते हैं और अपने या अपने वर्ग के हितों के लिए समाज का शोषण करते हैं, जबकि और लोग उसके दास बनकर रह जाते हैं। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक बताते हैं। राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों देश की सुरक्षा, आन्तरिक व्यवस्था, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण, शिक्षा आदि को यदि स्वतंत्र संघों को दे दिया जाये तो उनका सम्पादन अधिक सफलता से हो सकता है। उनके अनुसार यदि श्रमिकों को स्वयं सुशिक्षित होने के लिए समुचित अवसर दे दिया जाये तो वे अन्य को शिक्षित करने के लिए भी उत्सुक रहेंगे। परिणामस्वरूप अनेक ऐच्छिक समितियों के उद्भव के साथ सर्वोत्तम शिक्षा के लिए स्पर्धा चलती रहेगी। वाह्य आक्रमण से रक्षा हेतु राज्य की अनावश्यकता को क्रोपाटकिन ने इस प्रकार सिद्ध किया है। स्थायी सेनाएँ सदैव ही आक्रान्ताओं द्वारा परास्त होती रही हैं और इतिहास की दृष्टि से उन्हें देश के बाहर निष्कासित करने में जनक्रान्तियाँ अधिक सफल हुई हैं। अराजकतावादियों के अनुसार राज्य आंतरिक सुरक्षा कार्य में भी असफल रहा है। व्यक्तियों की अवांछनीय तत्वों से रक्षा करने की अपेक्षा राज्य अवांछनीय तत्वों की उत्पत्ति करता है। इस प्रकार वह व्यक्तियों को अपराध करने के लिए मजबूर करता है। राज्य के वर्गीय चरित्र एवं आर्थिक दृष्टिकोण से भी अराजकतावादी राज्य का विरोध करते हैं। पूंजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग के शोषण एवं दमन के लिए राज्य रूपी साधन का उपयोग करता है। अराजकतावादियों का मानना है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के गर्भ से जन्म लेकर राज्य ने व्यक्तिगत सम्पत्ति को ही बढ़ावा दिया है। राज्य पूंजीवाद और शोषण का पक्ष लेता है तथा श्रमिकों के साथ अन्याय करता है। यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति नष्ट हो जाय तो झगड़ों के निपटारे के लिए

न्यायालयों की आवश्यकता नहीं रहेगी तथा कानून व्यवस्था भी अनावश्यक होगी। अराजकतावादियों के अनुसार सभी प्रकार की शासन व्यवस्थाएँ अनावश्यक हैं। क्रोपाटकिन के अनुसार 'सभी कुछ प्रत्येक का है और यदि प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में अपना योगदान देता है तो उन्हें सेवा द्वारा उत्पादन में से हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार है।' परन्तु सरकार का अब तक कार्य यह सुनिश्चित करना रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा गलत है। अतः सरकार अनावश्यक है। यही कारण है कि अराजकतावादी समाज सरकार–विहीन समाज होगा। इस प्रकार के समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए किसी कानून अथवा सत्ता के आदेशों का पालन करने के लिए समर्पण करना आवश्यक नहीं होगा। ऐसे समाज में सामंजस्य उत्पादन तथा उपभोग तथा एक सभ्य प्राणी की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की संतुष्टि के लिए स्वतंत्र रूप से संगठित, विभिन्न क्षेत्रीय तथा व्यावसायिक समूहों की ऐच्छिक तथा स्वतन्त्र समझौते की नीति से उत्पन्न होगा।

3. **पूंजीवाद और व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध में विचार** – अराजकतावादी पूंजीवाद के कट्टर विरोधी हैं और इसे प्राकृतिक न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं। अतः वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के भी विरोधी हैं। उनका मानना है कि पूंजीवाद तथा शोषण एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। साम्यवादियों की भाँति श्रम को मूल्य का आधार मानते हुए अराजकतावादी यह कहते हैं कि किसी वस्तु से जो लाभ होता है वह श्रमिकों को ही मिलना चाहिए किन्तु व्यवहार में पूंजीपति इसे प्राप्त करता है। प्रौधां ने अपने प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ 'व्हाट इज प्रापर्टी' में सम्पत्ति को चोरी कहा है। अराजकतावादी व्यक्ति को सरकार द्वारा सुरक्षा की आवश्यकता का कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति को मानते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति अनेक प्रकार के भौतिक एवं नैतिक दोषों को उत्पन्न करती है। इसके कारण श्रमिकों में आर्थिक निर्भरता, कठिन श्रम, अज्ञानता, सामाजिक तथा आध्यात्मिक निश्चलता, अभाव तथा गरीबी अल्पविकसित बच्चे तथा ऋण से ग्रसित कृषक उत्पन्न होते हैं परन्तु पूंजीपति जिनका इस पर स्वामित्व होता है उनमें यह अत्यधिक विलासिता, अकर्मण्यता तथा कलात्मक एवं बौद्धिक आनन्द उत्पन्न करती है। अपनी प्रकृति से ही यह न्याय के विपरीत है क्योंकि एक अल्पमत उन लोगों पर प्रभुत्व करता है जो बहुसंख्यक हैं। गॉडविन का कहना था कि विधि निर्माण लगभग सभी देशों में धनवानों के पक्ष में तथा निर्धनों के विपक्ष में होता है अतः व्यक्ति सम्पत्ति का अन्त करने हेतु राज्य की समाप्ति आवश्यक है।

4. **धर्म सम्बन्धी विचार** – अराजकतावादी धर्म तथा 'ईश्वर' के नाम के कट्टर विरोधी हैं क्योंकि उनके अनुसार पूंजीपति इसका दुरूपयोग करके सामाजिक अन्याय की व्यवस्था को बनये रखना चाहते हैं। उनके अनुसार धर्म में आकर मनुष्य अपना विवेक खो बैठता है और वह भाग्यवादी हो जाता है। धर्म दोष है क्योंकि वह बुरी संस्थाओं को मान्यता देता है और मानव के मूल स्वभाव का विरोधी है। क्रोपाटकिन ने वैज्ञानिक तथा प्राकृतिक दोनों आधारों पर धर्म को अस्वीकार किया है। यह मनुष्य की अज्ञानता तथा अंधविश्वास का सहारा लेकर आर्थिक तथा राजनीतिक ढ़ाँचे से होने वाले अन्याय को सहने की क्षमता विकसित करता है। बाकुनिन के अनुसार 'सब निरंकुश शासन–प्रणालियों में खोखले सिद्धान्तवादी और धर्मान्धों का निरंकुश शासन सबसे अधिक खराब होता है।' बाकुनिन ने तो

यहाँ तक कहा कि 'ईश्वर बहुत कुछ जार के समान था और जार ईश्वर के समान था, दोनों ही अत्याचारी थे। इस प्रकार अराजकतावादी धार्मिक विश्वास को समाप्त कर उसका स्थान ज्ञान और विज्ञान को देना चाहते थे।

5. **प्रतिनिधि शासन के सम्बन्ध में विचार** – राज्य तथा सरकार के विरोधी अराजकतावादी न केवल राजतंत्र, कुलीन तंत्र वरन् प्रतिनिध्यात्मक सरकार की भी आलोचना करते हैं। क्रोपाटकिन का यह विश्वास था कि निरंकुश राजतंत्र से संसदीय शासन में परिवर्तन ने राज्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं किया है। सार्वजनिक मताधिकार पर आधारित प्रतिनिधि प्रणाली व्यवहारिक नहीं है। इसमें जनता द्वारा कुछ ऐसे व्यक्तियों को निर्वाचित करके एक निश्चित अवधि के लिए जनता की इच्छाओं को कार्यान्वित करने का दायित्व सौंपा जाता है। परन्तु सत्यता यह है कि कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से दूसरे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता और अनेक व्यक्तियों के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस व्यवस्था में जनता द्वारा प्रतिनिधियों का निश्चित अवधि हेतु निर्वाचन जनता को स्वामी का पद प्रदान करता है परन्तु सत्यता यह है कि एक बार निर्वाचित होने के पश्चात् प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की परवाह नहीं करते और राजनीतिक स्वामी बन जाते हैं। अराजकतावादियों के अनुसार प्रतिनिधि शासन व्यवस्था उन व्यक्तियों के द्वारा चलायी जाने वाली शासन व्यवस्था है जो प्रत्येक वस्तु के बारे में मात्र इतना जानकारी रखते हैं कि वह उन्हें प्रत्येक कार्य को खराब ढंग से ही करने की क्षमता प्रदान करती है।

6. **सत्ता–सम्बन्धी विचार** – अराजकतावादी सत्ता का विरोध करते हुए कहते हैं कि सत्ता का प्रयोग व्यक्ति को स्वार्थी, घमण्डी, दमनकारी अमानवीय बनाता है। यदि सत्ता न दी गई होती तो घृणित मंत्री एक श्रेष्ठ मानव होता। बल का तत्व ही सामाजिक एकता को समाप्त करता है। विरोधी समूहों, वर्गों राष्ट्रीयताओं में स्वार्थी राजनीतिज्ञों द्वारा बल प्रयोग से ही मानवता विखण्डित होती है। राजनीतिज्ञ अपनी दुष्ट प्रकृति के कारण नहीं वरन् अपनी स्थिति के कारण होता है। वह इसलिए दुष्ट नहीं होता क्योंकि वह मनुष्य है बल्कि इसलिए कि वह राजनीतिज्ञ है। वह जिस पद पर है उस पद की शक्तियों का प्रयोग उसे भ्रष्टाचारी, स्वार्थी, अहंकारी तथा अत्याचारी बना देता है। अतः किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को अपने साथियों पर शासकीय सत्ता नहीं होनी चाहिए।

7. **समाज सम्बन्धी विचार** – अराजकतावादी राज्यविहीन एवं वर्गहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य रखते हैं। वर्गवादी व्यवस्था को उत्पन्न एवं प्रोत्साहित करने का कार्य राज्य के द्वारा ही किया गया है और मानव समाज में व्याप्त सभी बुराईयों की जड़ राज्य और वर्गवादी व्यवस्था ही है। अराजकतावादी इस वर्गवादी व्यवस्था को समाप्त कर एक ऐसे सहकारी समाज की स्थापना करना चाहते हैं जो एक संयुक्त परिवार के समान जीवन व्यतीत करे। इसमें एक सबके लिए और सब एक के लिए जीवित रहेंगे और किसी भी आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं होगा। समाज में वर्ग और व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाप्त होने से पारस्परिक संघर्ष के स्थान पर स्वतंत्रता, समानता और सहयोग पर आधारित वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना होगी। अराजकतावादी अपने आदर्श समाज

TESLA-024

में व्यवस्था और प्रबन्ध के विकेन्द्रीकरण पर बल देते हैं और चाहते हैं कि समाज का पुननिर्माण स्थानीय संस्था एवं संघों के आधार पर हो जो पुनः विशालतर संगठनों में संयुक्त होकर एक देशव्यापी संगठन का रूप धारण कर ले। इस प्रकार अराजकतावाद समाज को स्वतंत्र संघों में संगठित व संघात्मक रूप देना चाहता है। अराजकतावादी एक ऐसे नवीन समाज की कल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक प्रकार की सत्ता का अभाव हो। अराजकतावाद मनुष्य को मुक्त करना चाहता है– उत्पादन के रूप में पूंजीपति के बन्धन से, नागरिक के रूप में राज्य के बन्धन से तथा व्यक्ति के रूप में उस धार्मिक नैतिकता की सत्ता से जो कि काल्पनिक, आध्यात्मिक तत्वों जैसे कि एक सर्वशक्तिमान ईश्वर से ली गयी है।

8. **कार्य विधि सम्बन्धी विचार** – अराजकतावादियों द्वारा प्रतिपादित राज्य रहित, वर्गरहित तथा धर्मरहित समाज की स्थापना कैसे होगी, इस सम्बन्ध में अराजकतावादियों के विचारों में भिन्नता है। दार्शनिक अराजकतावादियों को अहिंसात्मक साधनों–समझाने, विचार–विनिमय तथा प्रचार में विश्वास है तो क्रान्तिकारी अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते हैं। दार्शनिक अराजकतावादियों का विश्वास है कि एक बार राज्य सत्ता से उत्पन्न संकट तथा राज्य सत्ता की अनुपयोगिता के साथ अराजकतावादी समाज की आवश्यकता तथा श्रेष्ठता व्यक्तियों को समझ में आ जायेगी तो वे स्वतः ही अराजकतावादी समाज में लग जायेंगे। परन्तु क्रान्तिकारी अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों द्वारा अराजकतावादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। उनके अनुसार क्रान्ति की ज्वाला नगरों से प्रारम्भ होकर गाँवों की ओर बढ़नी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर शक्ति व बल का भी प्रयोग करना चाहिए। क्रोपाटकिन के अनुसार सबका कल्याण संसद द्वारा निर्मित कानूनों से नहीं वरन्, उन सब पर तुरन्त और प्रभावशाली आधिपत्य करके किया जा सकता है।

19.5 अराजकतावाद की आलोचना

1. अराजकतावादियों द्वारा राज्यविहीन और वर्गविहीन समाज की कल्पना आदर्शवादी अधिक और व्यवहारिक कम है। अराजकतावादियों का यह विचार भी स्वीकृति योग्य नहीं है कि उनके समाज में व्यक्ति अपनी स्वार्थी और प्रतिस्पर्धी भावनाओं का त्याग कर अचनाक सहयोगी और सामाजिक बन जायेगा। यह भी कहाँ तक सम्भव है कि प्रस्तावित अराजकतावादी समाज में विद्यमान ऐच्छिक समूहों में परस्पर संघर्ष नहीं होंगे।

2. मानव स्वभाव सम्बन्धी अराजकतावादी धारणा उचित नहीं है। अराजकतावादियों ने मानव स्वभाव के एकपक्ष सामाजिक एवं सहयोगी प्रवृत्तियों पर ही ध्यान देते हैं तथा स्वार्थी व प्रतिस्पर्धात्मक प्रवृत्तियों की उपेक्षा करते हैं। मनुष्य को निःस्वार्थी मानना न केवल तथ्यों को अस्वीकार करना है वरन् मानव मनोविज्ञान के सिद्धान्त के विपरीत है। मानव में दुर्गुणों के लिए राज्य तथा उसके कानून को उत्तरदायी ठहराना उचित नहीं है क्योंकि अधिकांश कानून दोषों के जनक नहीं, सुधारक होते हैं। फिर भी यदि मनुष्य को विविध गुणों से युक्त स्वीकार कर भी लिया जाय तो फिर वही मानव दुराचारी और स्वार्थपूर्ण कैसे हो सकता है?

3. स्वतंत्रता के सम्बन्ध में भी अराजकतावादियों की धारणा त्रुटिपूर्ण है। राज्य के कानून द्वारा स्वतंत्रता सीमित होती है–इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। स्वतंत्रता बन्धनों का अभाव नहीं है वरन् कानूनों द्वारा स्वतंत्रता की रक्षा की जाती है। अतः अराजकतावादियों द्वारा असीमित तथा निर्बाध स्वतंत्रता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

4. अराजकतावादियों की राज्य सम्बन्धी अवधारणा भी त्रुटिपूर्ण है। राज्य एक अनावश्यक बुराई नहीं है। राज्य व्यक्तियों में दुर्गुणों का विकास नहीं करता है। राज्य की प्रत्येक विधि अनिवार्य रूप से शोषणकारी नहीं होती है। तथ्य यह है कि राज्य के बहुत से कार्य मानवीय एवं कल्याणकारी प्रवृत्ति के होते हैं। उदाहरण के लिए अनिवार्य एवं मुफ्त शिक्षा जनता की भलाई के लिए आरम्भ किया गया है न कि राज्य द्वारा शोषण एवं दमन हेतु। अराजकतावादियों का यह विश्वास कि समाज में अपराधों का कारण राज्य है उचित नहीं है। राज्य कुछ व्यक्तियों की आपराधिक गतिविधियों को नियंत्रित व समाप्त करता है। राज्य के अभाव में जिसकी लाठी उसकी भैंस कहावत चरितार्थ होगी। यदि समाज कानून लागू करने वाली संस्था से विहीन होगा तो कोई भी अच्छा व्यक्ति उस समाज में नहीं रह सकता। सरकार के विकल्प के रूप में अराजकतावादियों द्वारा स्वैच्छिक समूहों की व्यवस्था गम्भीर एवं जटिल समस्याओं का निराकरण कर पायेंगी यह भी सन्देहास्पद है।

5. अराजकतावादियों की धर्म सम्बन्धी अवधारणा कि यह उन लोगों के हाथों में है जिनके पास आर्थिक व राजनीतिक सत्ता है, यह गरीबों के शोषण का साधन है, उचित नहीं है। धर्म मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में इतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि दिन–प्रतिदिन का जीवन। अतः धर्म समाज का अभिन्न अंग है। धर्म का दुरुपयोग करने वाले धर्म गुरु और कार्यकर्ता को बुरा कहा जा सकता है धर्म को नहीं।

6. व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्बन्धी अराजकतावादियों की धारणा उचित नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्ति व्यक्ति में दुर्गुण नहीं वरन् अपनेपन व उत्तरदायित्व की भावना को जन्म देती है। इससे प्रतिस्पर्द्धा का जन्म होता है जिसके अभाव में जीवन नीरस हो जायेगा।

7. अराजकतावादियों द्वारा हिंसात्मक साधनों का समर्थन उचित नहीं है क्योंकि हिंसा हिंसा को जन्म देती है और इससे जन व धन दोनों की हानि होने की सम्भावनाएं बनी रहती हैं।

19.6 अराजकतावाद तथा साम्यवाद

राज्यविहीन और वर्ग विहीन समाज के समर्थक अराजकतावादी विचारकों में थोड़ी बहुत भिन्नता है। इसीलिए अराजकतावादी विचारकों को दो प्रमुख समूहों में बाँटा गया है – व्यक्तिवादी अराजकतावादी और साम्यवादी अराजकतावादी। मार्क्स के समकालीन बाकुनिन को साम्यवादी अराजकतावादी विचारधारा और आन्दोलन का प्रणेता माना जा सकता है। बाकुनिन के पश्चात् प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराकतावादी विचारधारा और आन्दोलन के विकास में योगदान दिया। अराजकतावाद और साम्यवाद प्रायः एक दूसरे के पूरक कहे जाते हैं और दोनों ही विचारधारा का लक्ष्य वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है। साम्यवाद में ऐसे समाज की स्थापना के साधनों का उल्लेख किया गया है परन्तु

TESLA-024

समाज की व्यवस्था के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। अराजकतावादी साधनों का विशेष उल्लेख नहीं करते हैं परन्तु उस व्यवस्था का विस्तार से उल्लेख करते हैं, जो राज्य और वर्गों का अन्त के बाद समाज में स्थापित होगी। इस प्रकार साम्यवाद का सम्बन्ध विशेषकर साधनों से है जबकि अराजकतवाद का सम्बन्ध लक्ष्य से है। जोड के अनुसार 'यह एक ही पूर्ण वस्तु के दो भाग हैं'। साम्यवाद व अराजकतावाद की तुलना की जाय तो दोनों में कुछ साम्यता है तो कुछ असमानताएँ भी हैं।

समानताएँ – अराजकतावाद व साम्यवाद में निम्नलिखित समानताएँ हैं :–

1. राज्य के सम्बन्ध में दोनों ही विचारधाराओं के दृष्टिकोण समान हैं। दोनों ही राज्य को व्यक्ति के लिए अहितकर मानते हैं, साम्यवाद राज्य का विरोध पूंजीवाद का सहायक होने के कारण करते हैं अर्थात् राज्य सर्वहारा वर्ग का शोषण करता है जबकि अराजकतावादियों के विरोध का आधार व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन है।

2. अराजकतावाद और साम्यवाद दोनों ही पूंजीवाद का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि पूंजीवाद श्रमिकों के श्रम से उत्पन्न धन की चोरी पर पर आधारित है।

3. साम्यवादियों ने राज्यविहीन तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना के लिए साधनों का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा कि पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के दो वर्ग होते हैं जिनमें संघर्ष होना स्वाभाविक है। वे श्रमिक वर्ग की हिंसात्मक क्रान्ति को प्रोत्साहित करते हैं। अराजकतावादी विचारक भी प्रायः साम्यवादियों के इन साधनों में विश्वास रखते हैं।

4. अराजकतावादी तथा साम्यवादी दोनों ही लोकतंत्र की प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली तथा संसदात्मक व्यवस्था का विरोध करते हैं। दोनों ही इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि लोकतंत्र में जनता के प्रतिनिधि कहे जाने वाले ये लोग वास्तव में जनता के प्रतिनिधि नहीं होते हैं इस प्रकार इन दोनों ही विचारधाराओं का लोकतंत्र में कोई विश्वास नहीं है।

5. दोनों ही विचारधाराएं समान रूप से धर्म–विरोधी हैं और उनका विचार है कि धर्म मानव को भाग्यवादी और अकर्मण्य बनाकर व्यक्ति के प्रगतिपथ में बाधा उत्पन्न करने का कार्य करता है।

6. साम्यवादी उस सामाजिक व्यवस्था की कल्पना नहीं करते जो वर्गों और राज्य के अन्त के बाद होगी। अराजकतावादी ने इस सम्बन्ध में कुछ विचार किया और स्वैच्छिक समुदायों को व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समाज में न्याय व व्यवस्था की स्थापना के लिए उत्तरदायी बताया है। साम्यवादी अराजकतावादियों द्वारा वर्णित सामाजिक व्यवस्था को समर्थन देते हैं।

असमानताएँ – समानताओं का उल्लेख करने के पश्चात् दोनों विचार–धाराओं के मध्य निम्न अन्तर हैं :–

1. अराजकतावाद का मुख्य शत्रु राज्य और गौण शत्रु पूंजीवाद है जबकि साम्यवाद का मुख्य शत्रु पूंजीवाद है और गौण शत्रु राज्य है। इसीलिए साम्यवाद पूंजीवाद का अन्तर कर अन्तरिम रूप में 'सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व' के द्वारा कुछ समय के लिए राज्य के अस्तित्व को स्वीकार

करता है परन्तु अराजकतावाद पूंजीवाद और राज्य दोनों को एक साथ समाप्त करना चाहता है।

2. साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का कट्टर विरोधी है जबकि, सभी अराजकतावादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोधी नहीं हैं। अराजकतावादी विचारकों के दो समूह हैं–व्यक्तिगत अराजकतावादी जो व्यक्तिगत सम्पत्ति को बनाये रखना चाहते हैं और दूसरे साम्यवादी अराजकतावादी जो व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध करते हुए इसे सामाजिक कल्याण के लिए ऐच्छिक समूहों को सौंपना चाहते हैं।

3. साम्यवादी लक्ष्य प्राप्ति के लिए केवल हिंसात्मक साधनों में विश्वास करते हैं जबकि अराजकतावादी हिंसा के साथ–साथ जनता को अराजकतावादी दर्शन से सम्बन्धित शिक्षा भी देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अराजकतावाद साम्यवाद साधनों के सम्बन्ध में अधिक तर्कसंगत है।

4. अराजकतावाद के आदर्श को आज तक व्यवहारिक रूप में किसी भी देश में क्रियान्वित नहीं किया जा सका है, किन्तु इसके विपरीत साम्यवाद को व्यावहारिक रूप में अंगीकृत किया गया है।

5. अराजकतावादियों की तरह मार्क्सवादी क्रान्ति के पश्चात् धर्म संगठनों को बलपूर्वक समाप्त करने में विश्वास नहीं रखते हैं वरन् धीरे–धीरे विज्ञान और भौतिकवादी द्वन्दवाद के प्रचार द्वारा धार्मिक अंधविश्वासों को मिटाना चाहते हैं।

इस प्रकार अराजकतावाद व साम्यवाद में समानता और असमानताएं हैं। दोनों में राज्यविहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना के आदर्श में समानता है परन्तु उसकी प्राप्ति के साधन व क्रियान्वित में अन्तर है।

19.7 गाँधीजी और अराजकतावाद

जहाँ तक भारतीय राजनीतिक विचारों के परिदृश्य में अराजकतावादी विचारों की बात है प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों में राज्यविहीन समाज की कल्पना की गयी है वहीं आधुनिक विचारों में गाँधी जी के विचार अराजकतावादी विचारों से प्रभावित लगते हैं। जयप्रकाश नारायण एवं आचार्य बिनोबा भावे के विचारों में भी अराजकतावाद का प्रभाव दिखायी देता है। मनु में मनुस्मृति में एक ऐसे समाज की कल्पना की है जो अराजकतावादी विचारों के समीप है।

गाँधी जी के विचारों पर दार्शनिक अराजकतावादी थोरो तथा लियो टॉलस्टाय का प्रभाव था। थोरों के विचार से प्रभावित गाँधी जी ने कहा कि 'मैं इस आदर्श को ह्रदय से स्वीकार करता हूँ कि वह सरकार सबसे अच्छी होती है जो बिल्कुल शासन नहीं करती।' गाँधी जी ने राज्य के व्यापक कार्यक्षेत्र का समर्थन नहीं किया और वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य स्वयं करे। वे ग्राम–स्तर पर स्वेच्छा से प्रेरित सहयोग पर बहुत जोर देते थे। उनका कहना था कि राज्य द्वारा बहुत अधिक काम किये जाने से जनता द्वारा पहल करना समाप्त हो जाता है और भ्रष्टाचार एवं परिवाद को प्रोत्साहन मिलता है। दार्शनिक अराजकतावादियों की भाँति गाँधी जी का भी विश्वास था कि बातों को जबरदस्ती मनवाने वाला राज्य का स्वरूप वैयक्तिक काम को नैतिकता से अलग कर देता है। जब मनुष्य मशीन की तरह काम करते हैं तो नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उठता है। थोरो के समान गाँधी जी राज्य को आत्माहीन मशीन मानते थे। यंग इण्डिया (2 जुलाई, 1931) में उन्होंने

TESL-A-024

लिखा 'इस तरह के (अराजकतापूर्ण) राज्य में हर व्यक्ति स्वयं अपना शासक है। वह अपना काम इस प्रकार से करता है कि उसके किसी काम से उसके पड़ोसी को कभी किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती। इसलिए आदर्श राज्य में राजनीतिक शक्ति नहीं होती क्योंकि राज्य ही नहीं होता'। यद्यपि गाँधी जी का झुकाव दार्शनिक अराजकतावाद की ओर था परन्तु यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण वे कट्टरतापूर्वक उन पर अडिग नहीं रहते थे। वे चाहते थे कि राज्य कम से कम काम करे और अपने अधिकाधिक कार्य स्वेच्छाप्रेरित संस्थाओं को हस्तान्तरित कर दे। गाँधी जी का विश्वास था कि राज्य हिंसा पर आधारित होता है, गरीबों का शोषण करता है और अपनी बात लोगों पर जबरदस्ती लादकर व्यक्ति के स्वशासन क्षेत्र को कम करता है इसलिए अहिंसा पर आधारित राज्य कम से कम शासन और कम से कम शक्ति का प्रयोग करेगा। जनता के नैतिक स्तर के धीरे–धीरे उठने के साथ–साथ राज्य के कार्य कम होते जायेंगे और एक दिन ऐसा आयेगा कि राज्य का अन्त होकर स्वनियंत्रित और नियमित अराजकता का उदय होगा। गाँधी जी ने राज्य के साथ संसदीय लोकतंत्र, राजनीतिक दलों और चुनाव आदि का भी विरोध किया। गाँधी जी ने विकेन्द्रीकरण का समर्थन किया क्योंकि उनके अनुसार उपर्युक्त बल प्रयोग के अभाव में केन्द्रीकरण को बनाये रखना संभव नहीं है।

इस प्रकार गाँधी जी की विचारधारा में पश्चिमी अराजकतावादी विचारधारा में कुछ न कुछ समानता अवश्य है परन्तु पूर्णतया गाँधी जी को अराजकतावादी नहीं कहा जा सकता है।

19.8 सारांश

ग्रीक भाषा के शब्द 'Anarchia' जिसका अर्थ शासन का अभाव है, से अराजकतावाद का जन्म हुआ है। यह एक ऐसी विचारधारा है जो प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक सत्ता का विरोध करता है परन्तु इसका सम्बन्ध व्यवस्था के अभाव से नहीं है। अराजकतावादी राज्य को एक अनावश्यक बुराई मानते हैं जिससे शासक एवं शासित दोनों का नैतिक पतन होता है। अराजकतावाद को विचारकों ने अलग–अलग परिभाषा दी है सभी राज्य को समाप्त करना चाहते हैं परन्तु किस सीमा तक तथा किन साधनों द्वारा इस सम्बन्ध में उनमें मतभेद है। एक समूह दार्शनिक अराजकतावादियों का है जो शान्तिपूर्ण एवं वैधानिक साधनों में विश्वास करते हैं उनमें विलियम गॉडविन, प्रोधों तथा टालस्टॉय के नाम प्रमुख हैं जबकि क्रान्तिकारी अराजकतावादी हिंसात्मक साधनों में विश्वास करते हैं। बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन इसी श्रेणी के विचारक हैं। अराजकतावाद का बीजारोपण स्टोइक विचारक जैनो (Zeno) के विचारों में हो चुका था और विलयम गॉडविन प्रथम आधुनिक विचारक माना जाता है। अराजकतावादियों के दो समूह हैं व्यक्तिवादी तथा साम्यवादी या समूहवादी तथा तीसरी श्रेणी ईसाई अराजकतावादियों की कही जा सकती है। व्यक्तिवादी विचारधारा जर्मनी में मैक्स स्टरनर तथा अमेरिका में जोशाय वारेन और बेन्जामिन टकर के विचारों से प्रस्फुटित हुयी। साम्यवादी अराजकतावादियों में बाकुनिन तथा क्रोपाटकिन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अराजकतावादी मानव विवेक में विश्वास करते हैं तथा राज्य का विविध आधारों पर विरोध करते हैं। पूंजीवाद को ये प्राकृतिक न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध मानते हैं तथा धर्म या ईश्वर के नाम को पूंजीपतियों द्वारा दुरुपयोग का आधार मानते हैं। प्रतिनिधि शासन का विरोध करते हुए सत्ता का भी विरोध करते हैं क्योंकि सत्ता व्यक्ति को भ्रष्ट बनाती है। अराजकतावादी ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक प्रकार की सत्ता का अभाव हो। परन्तु अराजकतावादी विचारधारा आदर्श

अधिक और व्यावहारिक कम है। स्वतंत्रता तथा राज्य सम्बन्धी अवधारणा त्रुटिपूर्ण है। अराजकतावाद व साम्यवाद दोनों ही राज्य व पूंजीवाद का विरोध करते हैं तथा लोकतंत्र तथा संसदात्मक व्यवस्था को अस्वीकार करते हैं। दोनों ही विचारधारा धर्म विरोधी हैं परन्तु फिर भी दोनों में कुछ असमानताएं हैं। साम्यवाद का मुख्य शत्रु पूंजीवाद है जबकि अराजकतावाद का मुख्य शत्रु राज्य है। साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोधी हैं जबकि अराजकतावदी सभी विचारक इससे सहमति नहीं रखते। साम्यवाद हिंसात्मक साधनों में विश्वास करता है जबकि अराजकतावादी कुछ विचारक हिंसात्मक तथा कुछ अहिंसात्मक साधनों के समर्थक हैं। जहाँ तक भारतीय परिदृश्य की बात है गाँधी जी के विचारों में प्रमुख रूप से अराजकतावादी विचारों के दर्शन होते हैं। राज्य हिंसा पर आधारित है इसलिए गाँधी जी ने राज्य का विरोध किया। वे राज्य के कम से कम काम करने के पक्ष धरे थे। गाँधी जी का झुकाव दार्शनिक अराजकतावाद की ओर अधिक था परन्तु उन्हें पूर्ण अराजकतावादी नहीं कहा जा सकता।

19.9 शब्दावली

शोषण – किसी व्यक्ति को अपने हित व स्वार्थ हेतु मजबूर करना अथवा किसी व्यक्ति व समूह का अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग।

व्यक्तिवाद – एक ऐसा सिद्धान्त जो व्यक्ति को महत्व देता है तथा उसकी स्वतंत्रता व स्वायत्ता का गुणगान करता है, एक सीमित प्रकार के राज्य का प्रतीक।

साम्यवाद – कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का एक उच्चतम रूप जिसमें जहाँ एक ओर पूंजीवाद का अंत होता है वहीं दूसरी और पूरी तरह समाजवाद की स्थापना की जाती है, प्रत्येक व्यक्ति को कार्यों के अनुसार उसकी जरूरतों की पूर्ति।

सामाजिक न्याय – एक ऐसी आदर्श व्यवस्था जहाँ एक समाज में सभी सदस्यों को एक समान सारयुक्त अधिकार, सामाजिक लाभ, समानांतर वितरण आदि उपलब्ध होते हैं।

नौकरशाही – कर्मचारियों का शासन, प्रशासनिक यंत्र, राज्य का लोक प्रशासकों द्वारा प्रशासन

पूंजीवाद – एक आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था जिसमें राज्य के उद्योग एवं व्यापार को निजी मालिकों द्वारा लाभ हेतु नियंत्रित किया जाता है।

19.10 उपयोगी पुस्तकें

1. अम्बादत्त पंत, मदन गोपाल गुप्ता, हरिमोहन जैन (2004), राजनीति शास्त्र के आधार, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद – संशोधित संस्करण।
2. डॉ. पुखराज जैन एवं बी.एल. फाड़िया राजनीतिक सिद्धान्त पारम्परिक और समकालीन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
3. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
4. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
5. Atindranath Bose (1976), A History of Anarchism, World Press, Calcutta.

6. Joad C.E.M. (1973) Introduction to Modern Political Theory Oxford University Press, Delhi
7. Russel, Bertrand (1949), Authority and the Individual, George Allen and Unwin Ltd., London

19.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) अराजकता का अर्थ बताते हुए उसके सिद्धान्तों का विश्लेषण करें।

(ब) अराजकता के विकास का विश्लेष्ण करें।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) अराजकता एवं समाजवाद में समानता का विश्लेषण करें।

(ब) गाँधी जी के अराजकतावादी विचारों का संक्षेप में वर्णन करो।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) 'व्हाट इज प्रापर्टी' किसकी रचना है।

(v) प्रौधाँ
(vi) बाकुनिन
(vii) क्रोपाटकिन
(viii) स्टरनर

(ब) 'द किंगडम ऑफ गॉड इज विदइन' पुस्तक के लेखक कौन हैं?

(v) बाकुनिन
(vi) क्रोपाटकिन
(vii) टॉलस्टाय
(viii) प्रौधाँ

(स) निम्न में से अहम्वादी अराजकतावाद से किसका संबंध है –

(v) स्टरनर
(vi) प्रौधाँ
(vii) बाकुनिन
(viii) गॉडविन

(द) निम्न में से कौन सा राजनीतिक विचारक अराजकतावादी दर्शन का समर्थक है?

(v) लॉस्की
(vi) फ्रीमैन
(vii) स्पेन्सर
(viii) प्रिन्स क्रोपाटकिन

(य) निम्न में से कौन सा कथन अराजकतवादी सिद्धान्त की आलोचना है?

(v) राज्य अक्सर अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करता है।
(vi) राज्य की समाप्ति 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' को चरितार्थ करता है।
(vii) राज्य के अन्त से अपराधों में कमी आयेगी।
(viii) आधुनिक समय की जटिल समस्याओं का समाधान केवल संघों द्वारा हो सकता है।

(र) स्वैच्छिक संघ' का कार्य होगा –

(i) सरकार का निर्वाचन
(ii) सरकार की शक्तियों को परिभाषित करना
(iii) सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्यों को करना
(iv) सरकार को कार्य करते हुऐ परामर्श देना

(ल) अराजकतावादी वे राजनीतिक विचारक हैं जो –

(i) राज्य के चरित्र में परिवर्तन करना चाहते हैं।
(ii) राज्य की शक्तियों को कम करना चाहते हैं।
(iii) राज्य की शक्तियों में वृद्धि करना चाहते हैं।
(iv) राज्य को समाप्त करना चाहते हैं।

(व) निम्न में से कौन सा कथन अराजकतावादियों के लिए सही है?

(i) जनता के प्रतिनिधि सभी समस्याओं के प्रभावशाली समाधान में अक्षम हैं।
(ii) राज्य वस्तुओं के समान वितरण का प्रबन्ध करता है।
(iii) राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करता है।
(iv) राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता सुनिश्चित करता है।

19.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई 19.2 एवं 19.4 अंश
(ब) देखिए इकाई 19.3 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 19.6 अंश
(ब) देखिए इकाई का 19.7 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (i)
(ब) (iii)
(स) (i)
(द) (iv)
(य) (iii)
(र) (iii)
(ल) (iv)
(व) (i)

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–6

राज्य की विचारधाराओं

इकाई – 20 सर्वाधिकारवाद	**317–329**
इकाई – 21 फासीवाद	**330–348**
इकाई – 22 साम्राज्यवाद	**349–366**
इकाई – 23 राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद	**367–376**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

41. प्रो. एल. आर. गुर्जर

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

42. डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच

43. डॉ के. डी. सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया

44. डॉ नीलिमा सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

45. डॉ एच. के. शर्मा, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

46. डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज

47. डॉ ए. पी. सिंह, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

48. डॉ मोहम्मद शाहिद, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN- 979-93-83328-35-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
प्रकाशक–कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–2020
मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

यू.जी.पी.एस.–101 खण्ड परिचय

खण्ड–6 में 'राज्य की विचारधाराओं' के अन्तर्गत

ईकाई–20 'सर्वाधिकारवाद' ईकाई का अध्ययन कर आप राज्य के अर्थ एवं विकास का अध्ययन कर उसके दोषों को भी जान सकेंगे। अधिनायक तंत्र से सर्वाधिकारवाद के अन्तर को समझ सकेंगे।

ईकाई–21 में 'फासीवाद' के अर्थ व विकास एवं फासीवाद के सिद्धान्त के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। इस ईकाई के अन्तर्गत फासीवाद और साम्यवाद के भी अन्तर को आप समझ सकेंगे।

ईकाई–22 इस ईकाई के अन्तर्गत साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा के अध्ययन, कारणों तथा साम्राज्यवादी विचारों के तथा उसके विविध रुपों का अध्ययन कर सकेंगे। साम्राज्यवाद, उपनिवेषवाद और नव–उपनिवेषवाद के अन्तर को भी समझ सकेंगे।

ईकाई–23 के अन्तर्गत राष्ट्रवाद के विकास, अर्थ, परिभाषा, राष्ट्रीयता के तत्वों एवं अन्तर्राष्ट्रवाद के उद्‌भव एवं सहायक तत्वों का अध्ययन कर सकेंगे।

इकाई 20

सर्वाधिकारवाद

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 सर्वाधिकारवाद का अर्थ एवं परिभाषा

20.3 सर्वाधिकारवाद की विशेषताएँ

20.4 सर्वाधिकारवाद का इतिहास एवं विकास

20.5 सर्वाधिकारवाद के प्रकार

20.5.1 साम्यवादी व फासीवादी

20.5.2 सर्वाधिकारवाद व स्वेच्छाचारवाद

20.6 सर्वाधिकारवाद की आलोचना

20.7 सारांश

20.8 शब्दावली

20.9 उपयोगी पुस्तकें

20.10 सम्बन्धित प्रश्न

20.11 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

सर्वाधिकारवाद अधिनायक तंत्र या अधिनायकवाद का एक रूप है। इस इकाई का अध्ययन करके आप :

- सर्वाधिकारवादी राज्य का अर्थ समझ सकेंगे।
- सर्वाधिकारवादी राज्य के विकास एवं विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- सर्वाधिकारवादी राज्य के प्रकार को समझ सकेंगे।
- सर्वाधिकारवादी राज्य के दोषों को जान सकेंगे।
- एक दलीय शासन, स्वेच्छाचार (Autocracy) और अधिनायक तंत्र (Dictatorship) से सर्वाधिकारवाद के अन्तर को समझ सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

सर्वाधिकारवाद अंग्रेजी शब्द Totalitarian का हिन्दी अनुवाद है। यह लोकतंत्र का कटु आलोचक एवं उससे प्रतिद्वन्दिता करने वाली शासन प्रणाली व विचारधारा है। तुलनात्मक दृष्टि से यह लोकतंत्र की अति विरोधी व्यवस्था है। प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध के बीच की कालावधि में सर्वाधिकारवादी शासन का उद्‌भव यूरोप के अनेक देशों में हुआ। सर्वाधिकारवाद लोकतंत्र के विपरीत स्वतंत्रता का विरोध करता है तथा जनइच्छा के स्थान पर व्यक्ति, व्यक्ति समूह या दल की इच्छा को महत्व देता है। लोकतंत्र के विपरीत यह विचारों के दमन नियंत्रण व राज्य के आदेश पालन हेतु बल प्रयोग पर विश्वास करता है। इस इकाई में हम सर्वाधकारवाद के अर्थ, विकास, विशेषताओं और आलोचनाओं का अध्ययन कर सर्वाधिकारवाद को समझने का प्रयास करेंगे।

20.2 सर्वाधिकार का अर्थ एवं परिभाषा

सन् 1918 से 1939 के मध्य यूरोप व अन्य कई देशों में लोकतांत्रिक सरकारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई तथा कई देशों में सर्वाधिकारवादी सरकारों की स्थापना हुई। इटली में उदारवादी सरकार का तख्ता पलट हुआ और 1922 में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवादी सत्ता स्थापित हुई। इससे पहले 1917 में रूस में साम्यवादी सत्ता की स्थापना हुई। यही स्थिति स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी और जापान में उत्पन्न हुई और अधिनायकवादी सरकारों की स्थापना हुई। ये सभी शासन सर्वाधिकारवादी शासन के रूप में जाने गये क्योंकि जैसा हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt) ने उल्लिखित किया कि यह सरकार का नया रूप था न कि अधिनायकवादी शासन का आधुनिक रूप।

सर्वाधिकारवाद शब्द का प्रयोग 1928 में इटली में फासीवाद के विरोधियों द्वारा किया गया था। विरोधियों ने इसे मुसोलिनी की राजनीति और सरकार का नकारात्मक रूप में वर्णन करने हेतु प्रयोग किया था। हालाँकि फासीवादियों ने इसे अपने शासन के शुद्ध उद्‌देश्य और प्रकृति हेतु इसे सर्वाधिक उपयुक्त माना। जब मुसोलिनी ने 1925 में अपने भाषण, राज्य के अन्तर्गत सब कुछ राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो उसमें सर्वाधिकारवादी राज्य की मूल आवश्यक प्रकृति को सामने लाने का प्रयास किया। राज्य के बाहर कुछ नहीं हो सकता, अतः मुक्त बाजार नहीं हो सकता, मुक्त राजनीतिक दल नहीं हो सकते, मुक्त परिवार और मुक्त चर्च नहीं हो सकते। इस प्रकार सर्वाधिकारवाद उदार लोकतंत्र के विरोधी ध्रुव पर स्थित है। सर्वाधिकारवादी शासन के अन्तर्गत राज्य व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक पक्ष को नियंत्रित करता है और राज्य के उद्‌देश्य द्वारा निर्देशित न होने वाले किसी भी कार्य, व्यक्ति या समूहों को सहन नहीं करता है। मुसोलिनी ने इस शब्द (सर्वाधिकारवाद) को इटली में अपने शासन के लिए प्रयुक्त किया, लियोन ट्राट्स्की ने इसे फासीवाद और स्टालिनवाद दोनों के लिए प्रयुक्त किया। महान विचारक हन्ना आरेन्ट ने इसे नाजी जर्मनी और स्टालिन के सोवियत संघ में समानता का उल्लेख करने में प्रयुक्त किया और लोकप्रिय बनाया। इस प्रकार सर्वाधिकारवादी शासन के मुख्य उदाहरणों में फासीवादी इटली, नाजी जर्मनी और स्टालिन के अधीन सोवियत संघ का उदाहरण है।

TESLA-024

विलियम एबन्सटीन (William Ebenstein) ने सर्वाधिकारवादी राज्य की प्रकृति का वर्णन करते हुए कहा कि सरकार व समाज का ऐसा संगठन जो एक दलीय

तानाशाही, अति राष्ट्रवादी, नस्लवादी और साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा संगठित हो। सर्वाधिकारवाद राज्य शक्ति की पूजा को प्रोत्साहित करता है। इसका मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन केवल उससे सम्बन्धित नहीं है वरन केवल राज्य से सम्बन्धित है। गिवानी जेन्टाल्स (Giovanni Gentiles) ने सर्वाधिकारवादी राज्य की व्याख्या करते हुए कहा कि यह राज्य की वह परिस्थिति है जहाँ नागरिक समाज की सभी गतिविधियाँ अनिच्छा अथवा इच्छा से अन्ततः राज्य रूपी संस्था में ही समाहित होती हैं।

व्यक्तियों को राज्य की सेवा करने से ही महत्व प्राप्त होता है और यदि वे स्वयं को राज्य में समाहित नहीं कर पाते तो वे मात्र एक अणु के समान हो जाते हैं। इस प्रकार सर्वाधिकारवादी राज्य स्वायत्त संस्थाओं की अनुमति प्रदान नहीं करता है और सभी संगठनों के उद्देश्य, गतिविधियाँ और सदस्यता राज्य द्वारा नियंत्रित होती हैं। राज्य सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी हो जाता है। धर्म, नैतिकता और शिक्षा राज्य के अधीनस्थ है। सर्वाधिकारवाद का उद्देश्य समाज और राज्य के मौलिक भेद को समाप्त करना तथा राज्य को असीमित बनाना है। नाजी सिद्धान्तवादी फ्रैन्ज शानवेकर (Franz Schanwecher) का कहना था कि 'राष्ट्र की ईश्वर से प्रत्यक्ष एवं गहरी एकता है.....जर्मनी ईश्वर का साम्राज्य है।'

सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त क्रमिक रूप से व्यावहारिक आन्दोलनों और वास्तविक सामाजिक राजनीतिक परिस्थितियों से विकसित हुआ है। इसलिए इसका सम्बन्ध व्यवहार से पहले और सिद्धान्त से बाद में है। सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त एवं आन्दोलनों का विश्लेषण करने वाले चिन्तकों में हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt), कार्ल फ्रैड्रिक (Carl Friendrich), ब्रैजन्सिकी (Brazenyinsky) और जीन किकपैट्रिक (Jean Kiskpatrick) के नाम प्रमुख हैं।

20.3 सर्वाधिकारवादी राज्य की विशेषताएं

सर्वाधिकारवादी राज्य की निम्न विशेषताएं हैं –

1. उदार – प्रजातांत्रिक विचारधारा के विवेक में विश्वास के विपरीत, सर्वाधिकारवादी मूलप्रवृत्ति और भावनाओं को गौरवान्वित करते हैं। यह बौद्धिकता के विरोधी हैं और मनुष्य की गतिविधियों की प्रेरक शक्ति मूल प्रकृति और इच्छा को मानते हैं। इनका विश्वास है कि तर्कशीलता एवं विवेक में विश्वास करने से मुनष्य आगे नहीं बढ़ता है वरन् स्वाभाविक प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों के अनुरुप कार्य करने से वास्तविक उन्नति एवं विकास हो सकता है।

2. यह प्रजातंत्र और समाजवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। यह संसदीय व्यवस्थाओं को तुच्छ समझते हैं और उन्हें मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट और मन्द गतिशीलता के आधार पर आलोचना करते हैं। सर्वाधिकारवादी प्रजातंत्र को 'एक सड़ती हुई लाश' कहते हैं। संसद को बातों की दुकान बताते हुए इनके महत्व को अस्वीकार करते हैं। सर्वाधिकारवादियों के अनुसार संकटकाल में लोकतंत्रीय शासन बिल्कुल ही अयोग्य होता है। यह प्रजातंत्र के विविधता एवं बहुलवाद के स्थान पर राजनीतिक शक्ति को एक अधिनायक और एक दल में निहित करना चाहते हैं। यह समानता के सिद्धान्त के स्थान पर पदानुक्रम सिद्धान्त को महत्व देता है और इस प्रकार राजनीति में अभिजनवादी सिद्धान्त को प्रोत्साहन देता है।

3. सर्वाधिकारवादी राज्य स्वतंत्रता विरोधी है और व्यक्ति की स्वतंत्रता को भूतकाल की भूल मानते हैं, उनके अनुसार व्यक्ति भाषण, विचार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की माँग नहीं कर सकता है। संघ बनाने की स्वतंत्रता को भी ये अस्वीकार करते हैं। सर्वाधिकारवादी राज्य में प्रेस, किताबों के प्रकाशन तथा रेड़ियों एवं टेलीविजन जैसे जनसंचार माध्यमों पर राज्य का कठोर नियंत्रण रहता है। राजनीतिक विरोध के अस्तित्व को पूरी तरह से अस्वीकार किया जाता है। समय–समय पर राजनीतिक विरोधियों को समाप्त कर देना इटली, जर्मनी एवं रूस (स्टालिन के काल) में सर्वाधिकारवादी राज्य की विशिष्टि पहचान थीं कार्यरत वर्ग को हड़ताल का कोई अधिकार नहीं था। डॉ0 ओटो डायट्रिक (Dr. Otto Dietrich) वैयक्तिक स्वतंत्रता की निरर्थकता पर जोर देते हुए कहा है कि 'व्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं है, केवल लोगों की, राष्ट्रों या जातियों की स्वतंत्रता होती है, क्योंकि वे ही एकमात्र महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक यथार्थ हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन का अस्तित्व है। सर्वाधिकारवाद, दल–राज्य के विरुद्ध किसी भी अधिकार को स्वीकार नहीं करता है।

4. सर्वाधिकारवाद का राष्ट्रवाद में अतिविश्वास है। उग्र राष्ट्रवाद, सैन्यवाद और विस्तारवाद सर्वाधिकारवादी राज्यों की मुख्य विशेषता थी। राष्ट्रहित के लिए यह राष्ट्र–राज्य की आंगिक एकता में विश्वास करता है। यह मार्क्सवाद के वर्गहित एवं वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का खण्डन करता है और उसे अस्वीकार करता है। सर्वाधिकारवादी राज्य राजनीतिक मिथ का प्रयोग करते हुए समाज के हर वर्ग का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करता है। इटली का फासीवादी राज्य और जर्मनी का नाजीवादी राज्य इसके उदाहरण हैं। सर्वाधिकारवादी राज्य विस्तारवादी नीति का समर्थन करते हुए युद्ध को अनिवार्य और अपरिहार्य मानते हैं क्योंकि युद्ध ही अच्छे और बुरे, उत्कृष्ट और निकृष्ट, स्थायी और क्षणिक के बीच का मुख्य निर्णायक होता है। हिटलर व मुसोलिनी ने युद्ध को पुरुषोचित गुणों के विकास हेतु आवश्यक माना था। इस बात से हम सभी अवगत हैं कि सर्वाधिकारवादी राज्यों की विस्तारवादी सिद्धान्त ही द्वितीय विश्व युद्ध का मूल कारण था।

5. सर्वाधिकारवादी राज्य को एकीकृत करने के लिए धर्म को भी राज्य के अधीनस्थ रखना चाहते हैं। राष्ट्रहित और राष्ट्र राज्य के विकास एवं विस्तार हेतु वे धर्म को साधन के रूप में प्रयुक्त करना चाहते हैं।

6. सर्वाधिकारवादी विचारधारा प्रचार एवं आतंक इन दो साधनों से जनता को एकत्र और नियंत्रित करना चाहती है। चर्च और स्कूल, स्टेज, सिनेमा और रेडियो, कला और साहित्य सभी सर्वाधिकारवादी विचारधारा को प्रचारित–प्रसारित करने का कार्य करते हैं। नाजियों ने स्वयं को शक्तिशाली संगठनकर्ता और निपुण प्रचारक सिद्ध किया। गोयाबाल (Goebbles) गौरिंग (Goering) और लेवी (Levy) जैसे विद्वान पटकथा तैयार करते थे और पलक झपकते ही यह राज्य के कोने–कोने में प्रसारित हो जाती थी। हिटलर अपनी निर्दयी वाक्पटुता से एवं मुसोलिनी अपने चतुर और सावधानीपूर्ण तरीकों से जनमानस को सम्मोहित एवं प्रभावित कर लेते थे। दोनों ही विचारधारा अपने गहन प्रचार और हर संभव मनोवैज्ञानिक तरीकों से जनता से अपील करती थी। जनता इतनी प्रभावित होती थी कि वे अधिनायक द्वारा दिये गये निर्देशों का आँख बन्द कर पालन करती थी और दिये गये कार्यों को पूरा करना चाहती थी। परन्तु यह प्रचार भय व

आतंक के सहयोग से किया जाता था। बन्दीगृह, ध्यानकेन्द्र और विशिष्ट टुकड़ियाँ आतंक और भय उत्पन्न करने का कार्य करते थे। सर्वाधिकारवाद 'शक्ति ही सत्य है' के सिद्धान्त में विश्वास करता है और नैतिक मूल्यों को कोई महत्व नहीं देता।

7. सर्वाधिकारवाद का आर्थिक सिद्धान्त सामान्य हित को व्यक्तिगत हित के ऊपर रखता है और आर्थिक स्व–सक्षमता के उद्देश्य से निरंकुश तानाशाही की नीति का पालन करता है। मुसोलिनी की 'निगमनात्मक राज्य' की धारणा सामूहिकता की धारणा है जो उत्पादक एवं उपभोक्ता, नियोक्ता एवं कर्मचारी सभी के हितों एवं दावों को सुरक्षित करता है।

20.4 सर्वाधिकारवाद का इतिहास एवं विकास

सर्वाधिकारवाद को समान्य अर्थ में शासन करने की एक व्यवस्था कह सकते हैं जो जनता के जीवन की प्रत्येक गतिविधियों राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक पर प्रोपोगन्डा और आतंक के द्वारा पूर्ण नियंत्रण रखता है। 'सर्वाधिकारवाद' का प्रथम प्रयोग 1923 में जिवोनी अमेन्डोला (Giovanni Amendola) ने इटली के फासीवाद की परम्परागत अधिनायकवाद से मूलभूत भिन्नता स्थापित करने के सन्दर्भ में प्रयोग किया था। बाद में इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं फासीवादी विचारक जिवोनी जेन्टाइल (Giovanni Gentiles) के लेखों में सर्वाधिकारवाद को सकारात्मक अर्थ प्राप्त हुआ। उन्होंने 'totalitario' शब्द का प्रयोग नवीन राज्य के लक्ष्य एवं ढाँचे के सन्दर्भ में किया। जिसके द्वारा नवीन राज्य को पूर्ण प्रतिनिधित्व व राज्य के लक्ष्यों को पूर्ण मार्गदर्शन प्रदान करना था। उन्होंने सर्वाधिकारवाद को ऐसा समाज कहा जहाँ यदि राज्यों की शक्ति का नहीं तो, राज्य की विचारधारा का उसके अधिकांश नागरिकों पर प्रभाव था। मुसोलिनी ने भी सहर्ष इस शब्द का प्रयोग किया, हिटलर ने इस शब्द के प्रयोग से बचने का प्रयास किया और स्टालिन ने इसे रूस के स्थान पर फासीवादी इटली और नाजीवादी जर्मनी के लिए अधिक उपयुक्त माना। 1945 के पश्चात् शीतयुद्ध काल में यह ज्यादा प्रचलन में आया और स्कूली किताबों में प्रमुख जगह बनाई। उसी समय अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान कार्ल फ्रेडरिक और बर्जेजिन्सकी (Friedrich and Breginski) ने अपनी पुस्तक 'Totalitarian Dictatorship and Autocracy' में इसे पूर्ण रूप से परिभाषित करने का प्रयास किया। फ्रैडिक और बर्जेजिन्सकी ने 20वीं सदी के इतिहास का अध्ययन कर इसकी छः मुख्य विशेषताएँ बताई हैं।

1. एक सरकारी विचारधारा जिसके प्रति सामान्य भक्ति की माँग, वह विचारधारा जो मानव जाति के पूर्ण और अन्तिम चरण को प्राप्त करना चाहती है।

2. व्यापक जनाधारवाला एक दल, श्रेणीबद्ध संगठन, राज्य नौकरशाही और विशिष्ट रूप से एक व्यक्ति नेतृत्व के मध्य घनिष्ठ सामंजस्यता।

3. सैन्य शक्तियों पर एकाधिकारी नियंत्रण।

4. जनसंचार साधनों पर समान रूप से प्रभावी एकाधिकारी नियंत्रण।

5. आतंकी पुलिस नियंत्रण की व्यवस्था

6. सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर केन्द्रीय नियंत्रण व निर्देशन।

समकालीन विश्व में सर्वाधिकारवाद का प्रसार स्वतंत्रता के लिए सबसे बड़ी चुनौती रही है। कार्ल पॉपर (1902–1994) और हन्ना आरेन्ट (1906–1975) ने सर्वाधिकार के प्रसार में विचारधारा को विशेष महत्व दिया है। बीसवीं शताब्दी की प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक हन्ना आरेन्ट (Hanna Arendt) ने अपनी पुस्तक 'The Origin of Totalitarianism' में सर्वाधिकारवादी राज्य की तीन मूलभूत विशेषताओं का उल्लेख किया है–

1. सर्वाधिकारवादी स्वेच्छाचारिता एक विशिष्ट प्रकार की स्वेच्छाचारिता है क्योंकि यह स्वेच्छाचारिता संविधानवाद का छद्मरूप ग्रहण करती है।

2. सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में विचारधारा का विचारों एवं विश्वासों से बहुत कम सम्बन्ध होता है परन्तु विचार एवं विश्वास जनमानस को अपने पक्ष में जोड़ तोड करने का साधन है। इस प्रकार सत्ताधारी अभिजन का उन पर नियंत्रण होता है।

3. आतंक का प्रयोग केवल विरोधियों को भयभीत एवं समाप्त करने के लिए नहीं वरन् लोगों को नियंत्रित एवं पृथक करने के साधन के रूप में प्रयुक्त होता है। इसका प्रयोग अधिनायक की आज्ञाओं का पूर्णतया पालन सुनिश्चित करता है।

इस प्रकार हन्ना आरेन्ट सर्वाधिकारवाद को एक ऐसी व्यवस्था मानती है जो सभी देशों, विश्व के सभी लोगों की मध्य एक सत्ता, एक जीवन मार्ग, एक विचारधारा के अस्तित्व की पूर्वकल्पना बताती हैं।

आस्ट्रिया में जन्मे ब्रिटिश दार्शनिक कार्ल पॉपर ने तर्क दिया है कि विचारधारा केवल सर्वाधिकारवादी समाज में पाई जाती है, क्योंकि वहाँ सब मनुष्य को एक ही साँचे में ढालने की कोशिश की जाती है, मुक्त समाज में इसके लिए कोई स्थान नहीं है।

शीतयुद्ध काल में विचारधारात्मक द्वन्द में सर्वाधिकारवाद शब्द का प्रयोग उदार प्रजातंत्रों द्वारा साम्यवादी राज्यों की राजनीतिक व्यवस्था की आलोचना करने के लिए इसका प्रयोग किया गया था। यदि कार्ल फ्रैडरिक एवं वर्जेजिन्सकी द्वारा वर्णित छः मुख्य विशेषताओं का विश्लेषण करें तो वास्तव में ये वे साधन हैं जिनके द्वारा सर्वाधिकारवादी राज्य स्थापित करने का प्रयास किया गया और यदि अलग–अलग ऐसे राज्यों का विश्लेषण किया जाये तो उनमें थोड़ी बहुत भिन्नता अवश्य मिलती है। इटली में मुसोलिनी ने केवल एकमात्र विचारधारा विकसित नहीं की वरन् फासीवादी विचारधारा रोमन कैथलिक चर्च और राजतंत्र के साथ अस्तित्व में बनी रही। इटली के फासीवाद की तुलना सोवियत संघ व नाजी जर्मनी से की जाये तो इटली की आतंकी पुलिस की गतिविधियाँ सीमित थीं, मुसोलिनी की एकल आर्थिक नीति–निगमनात्मक व्यवस्था का शिथिलता से क्रियान्वयन हुआ। मुसोलिनी ने अपनी पत्रकारिता के क्षेत्र में गहन अनुभव के कारण फासीवादी विचारधारा को प्रोपोगण्डा के द्वारा कुशलतापूर्वक फैलाया।

सोवियत संघ में स्टालिन ने साम्यवादी दल की शक्ति को बढ़ाने की नीति का अथक प्रयास किया। जर्मनी में हिटलर ने जब सत्ता प्राप्त की तो उसने शक्तिशाली राष्ट्रवाद, नस्लीय विचारधारा का पूर्ण प्रचार किया। हिटलर ने डॉ0 जोसेफ गोयबल्स (Dr. Joseph Goebbles) के साथ मिलकर जनसंचार साधनों का भरपूर प्रयोग किया और नियंत्रण किया परन्तु हिटलर को सैन्य शक्तियों को

TESLA-024

नियंत्रित करने में कुछ समय लगा। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण करने में भी हिटलर को संघर्ष करना पड़ा।

नाजीवादी, फासीवादी और स्टालिनवादी आन्दोलनों के अतिरिक्त कुछ अन्य आन्दोलन भी हैं जो सर्वाधिकारवाद की श्रेणी में आते हैं। स्पेन के ऐतिहासिक रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के 'स्वायत्त अधिकारों के स्पेनिश परिसंघ' के नेता ने घोषणा कर अपने इरादे प्रकट किये – 'स्पेन को सच्ची एकता, नया उत्साह, एक सर्वाधिकारवादी सत्ता दो.....' और आगे कहा कि प्रजातंत्र एक लक्ष्य नहीं है वरन् नवीन राज्य के विजय का साधन है। जब समय आयेगा या तो संसद समर्पण कर देगी और या फिर हम समाप्त कर देंगे।'

समकालीन विश्व में शासन प्रणाली के रूप में सर्वाधिकारवाद धीरे–धीरे समाप्त हो रहा है परन्तु यह ऐसे प्रकट या गुप्त संगठनों के रूप में परिवर्तित हो गया है जो अपने सदस्यों का ब्रेनवाश करके इन्हें किसी सच्चे या झूठे लक्ष्य प्राप्ति के नाम पर जान न्यौछावर करने के लिए तैयार करते हैं इसी से वर्तमान समय की सबसे गम्भीर समस्या आतंकवाद का जन्म हुआ।

20.5 सर्वाधिकारवादी राज्य के प्रकार

सर्वाधिकारवाद लोकतंत्र और उदारवादी विचारधारा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है जो व्यक्ति को साधन तथा राज्य को सध्य मानते हुए सम्पूर्ण शक्ति राज्य को प्रदान करना चाहती है। साम्यवाद, फासीवाद और नाजीवाद सब सर्वाधिकारवादी राज्य के रूप हैं परन्तु साम्यवादी सर्वाधिकारवाद फासीवादी सर्वाधिकारवाद से भिन्न है, साम्यवादी सर्वाधिकारवाद वामपंथी कहलाता है और फासीवादी सर्वाधिकारवाद दक्षिणपंथी कहलाता है। साम्यवादी पूंजीवाद का अन्त कर उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग के राज्य की स्थापना के पक्ष में है। व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकार की व्यवस्था का विरोध करने के कारण इसे 'वामपंथी सर्वाधिकारवाद' कहा जाता है। दक्षिणपंथी सर्वाधिकारवाद के अन्तर्गत फासीवाद व नाजीवाद आते हैं क्योंकि ये पूंजीवाद का अन्त नहीं करना चाहते और यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं।

20.5.1 फासीवादी और साम्यवादी सर्वाधिकारवादी व्यवस्था में अन्तर

यद्यपि साम्यवादी और फासीवादी व्यवस्थाएँ सर्वाधिकारवाद के ही दो रूप हैं परन्तु कुछ विद्वानों ने इसमें मूलभूत अन्तर बताए हैं। ये दोनों प्रकार की शासन व्यवस्था प्रायः एक प्रकार के साधनों और उपायों का प्रयोग करती हैं परन्तु इनके लक्ष्यों और उद्देश्यों में अन्तर होने के कारण विद्वान इन्हें अलग–अलग श्रेणी में रखते हैं। स्वयं साम्यवादी स्वयं को सर्वाधिकारवादी नहीं मानते केवल उनके विरोधी ही उनके लिए इस शब्द का प्रयोग करते हैं। हम सब इस तथ्य से परिचित हैं कि द्वितीय विश्व युद्ध (1939–45) में फासीवादी और नाजीवादी राज्यों (इटली, जर्मनी और जापान) को चुनौती देने के लिए तत्कालीन सर्वाधिक शक्तिशाली साम्यवादी शक्ति सोवियत संघ ने ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका जैसे लोकतंत्रीय देशों का साथ दिया था और फासीवाद की पराजय के बाद साम्यवाद निरंतर शक्तिशाली होता गया। साम्यवाद के तौर तरीकों के कारण कई देशों में साम्यवादी व्यवस्था का पतन हुआ और सन् 1991 में सोवियत संघ का भी विघटन हो गया परन्तु आज भी कई देशों – जनवादी चीन गणराज्य, वियतनाम आदि में यह

व्यवस्था अभी भी अस्तित्व में है। हाँ यह बात जरूर है कि उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु इसकी कार्यप्रणाली व साधनों में शिथिलता लाई गई हैं।

आमन्ड और पॉवेल ने अपनी रचना 'कंपेरेटिव पॉलिटिक्स : ए डेवलेपमेंटल एप्रोच' में राजनीतिक प्रणाली की चार तरह की कार्यक्षमताओं का विवरण दिया है—विनियमन क्षमता, दोहन क्षमता, वितरण क्षमता और प्रत्युत्तर क्षमता। सर्वाधिकारवादी प्रणालियों में विनियमन और दोहन की भरपूर क्षमताएँ पाई जाती हैं। वे अपने समाज के विनियमन के लिए व्यापक बल प्रयोग करती हैं और अपनी जनसंख्या के संसाधनों का अधिकतम दोहन करती हैं। फासीवादी सर्वाधिकारवाद की तुलना में साम्यवादी सर्वाधिकारवाद की मुख्य विशेषता उसकी प्रबल वितरण क्षमता है। फासीवाद प्रणाली अपने राष्ट्र अथवा जाति की समृद्धि और गौरव वृद्धि के लिए, सत्तारूढ़ वर्ग की शक्ति वृद्धि के लिए देश के अन्दर और देश के बाहर हिंसक साधनों द्वारा दमन का प्रयास करती है जबकि साम्यवादी प्रणाली अपने नागरिकों को सामाजिक और आर्थिक अधिकार एवं सुरक्षा प्रदान करने के लिए देश की आर्थिक शक्ति और संसाधनों पर कठोर नियंत्रण स्थापित कर लेती है। साम्यवाद का घोषित लक्ष्य वर्गविहीन समाज की स्थापना है परन्तु सत्ता साम्यवादी दल और उसमें भी केन्द्रीय नेतृत्व में निहित होती है इसलिए इस प्रणाली में भी भ्रष्टाचार और उत्पीड़न का प्रभाव बढ़ा है।

20.5.2 सर्वाधिकारवाद और स्वेच्छाचारवाद

स्वेच्छाचारवाद से तात्पर्य ऐसी शासन प्रणाली से है जिसमें शक्ति किसी एक व्यक्ति (अधिनायक) एक समिति या एक समूह या राजनीतिक अभिजनों के छोटे से समूह में निहित होती है जो राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार रखता है। हालाँकि सर्वाधिकारवादी शासन व्यक्ति व समाज के जीवन के प्रत्येक पक्ष आर्थिक, शैक्षिक, कला विज्ञान, व्यक्तिगत जीवन और नागरिकों की नैतिकता सभी पर नियंत्रण रखता है। इसमें सरकार की ओर से एक आधिकारिक विचारधारा (official ideology) को मान्यता दी जाती है और समाज के ढाँचे पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है तथा सरकार नागरिकों के विचारों एवं क्रियाओं पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। पॉल सी सॉन्डराल (Paul C. Sondral) ने स्वेच्छाचारवाद और सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्थाओं की विशेषताओं का अध्ययन किया और तुलना करते हुए बताया है कि सर्वाधिकारवाद में उच्च करिश्माई नेता का नेतृत्व होता है, शक्ति का स्रोत जनता होती है, भ्रष्टाचार कम होता है, अधिकारिक विचारधारा होती है, नेता की भूमिका कार्य पर निर्भर होती है, सीमित बहुलवाद नहीं होता है और शासन में वैधता होती है जबकि स्वेच्छाचारवाद में तुलनात्मक रूप की करिश्माई नेता कम होते हैं, नेता की भूमिका व्यक्तिगत रूप में निर्धारित होती है, शक्ति का स्रोत व्यक्तिगत होता है, भ्रष्टाचार अधिक होता है, आधिकाधिक विचारधारा नहीं होती, सीमित बहुलवाद होता है और शासन वैध नहीं होता है।

20.6 सर्वाधिकारवाद की आलोचना

सर्वाधिकारवाद के प्रस्तावकों के अतिरिक्त सभी ने इसकी आलोचना की है। यह वह विचारधारा है जिसने विश्व को भयानक एवं हानिकारक विश्वयुद्ध की ओर धकेला और लोगों को अकथनीय पीड़ा एवं अपमान सहना पड़ा। प्रो0 हैलावल (Prof. Hallowell) ने इसे 'आध्यात्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अराजकता की सार्वजनिक घोषणा' कहा है।

TESLA-024

सर्वाधिकारवाद की मुख्य आलोचना निम्नवत् है –

1. सर्वाधिकारवाद कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त नहीं है। यह प्रायः विरोधी विचारों का अवसरवादी संग्रह है इसके सिद्धान्त और व्यवहार में बहुत अन्तर है।

2. सर्वाधिकारवाद के उदारवादी आलोचक इसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं स्वायत्ता के हनन के आधार पर इसकी आलोचना करते हैं क्योंकि सर्वाधिकारवादी व्यक्ति को राज्य की सम्पूर्ण शक्ति के अधीनस्थ मानते हुए व्यक्ति को राज्य की लक्ष्य प्राप्ति का साधन कहते हैं। इसके अतिरिक्त यह व्यक्ति की प्राकृतिक समानता में कोई विश्वास नहीं करते और इसकी नायक पूजा का समर्थन और जातीय उच्चता की धारणा पतन की ओर अग्रसर करती है।

3. सर्वाधिकारवादी राज्य बहुलवाद और संविधानवाद के कट्टर शत्रु हैं। इसकी एकदलीय एकाधिकार की स्थापना और राजनीतिक शक्ति प्राप्ति की स्वतंत्र एवं खुली प्रतियोगिता की समाप्ति राजनीतिक शक्ति के एकाधिकार एवं समाज के सैन्यक्रम के मार्ग को प्रशस्त करती है। सर्वाधिकारवाद शक्ति और हिंसा को महिमा मंडित करते हैं जिससे पूर्ण अनुरूपता एवं निश्चित आज्ञाकारिता को स्थापित किया जा सके। यह संवैधानिक सिद्धान्तों और नैतिक मापदण्डों को बहुत कम सम्मान देता है। यह केवल और केवल मात्र इस सिद्धान्त का समर्थन करता है कि शक्ति ही केवल सत्य है और उसको बढ़ाने और स्थिर रखने वाले कारक ही मूल्य हैं। इस प्रकार सर्वाधिकारवाद मनुष्य के विवेक के उदारवादी विश्वास तथा चर्चा के द्वारा सरकार गठन की धारणा को पूर्णतया अस्वीकार करता है। जैसा कि प्रो0 लास्की ने कहा कि एक फासीवादी राज्य आतंक पर आधारित और आतंक के भय से संगठित और व्यवस्थित शक्ति है।

4. सर्वाधिकारवाद अति साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देता है। यह राज्य में गहन शस्त्रीकरण और सैन्यकरण के सिद्धान्त को प्रोत्साहन देता है। यह युद्ध का समर्थन करता है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में गैर कानूनी और अनैतिक व्यवहार को रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जर्मनी, इटली और जापान की सर्वाधिकारवादी सत्ता सभ्यता पर घातक खतरा मानी गयी थी। प्रो0 लास्की ने सत्य ही कहा है कि फासीवादी राज्य अनिवार्य रूप से डाकुओं और निर्वासितों की सरकार थी जो अपने जीवन के लिए देश के अन्दर सतत् गृहयुद्ध और बाहर स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष पर निर्भर थी।

5. मार्क्सवादी भी सर्वाधिकारवाद के कटु आलोचक रहे हैं। उनके अनुसार सर्वाधिकारवाद पतनोन्मुख पूंजीवाद है। राष्ट्र राज्य की मिथ्या धारणा उत्पन्न कर ये एक ओर वर्ग संघर्ष को महत्वहीन दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विकास को कम करने का प्रयास करते हैं। इटली के मार्क्सवादी विचारक ग्रामसी ने फासीवादी सरकार पर नागरिक समाज में पूंजीवादी आधिपत्य (Hegemony) संरक्षित करने का आरोप लगाया।

20.7 सारांश

प्रथम विश्वयुद्धोत्तर काल जर्मनी, इटली, सोवियत संघ, स्पेन, जापान आदि में सर्वाधिकारवादी राज्य के उत्थान पतन का साक्षी था। ये शासन उदारवादी

प्रजातंत्र और उसके संगठनों की धुर विरोधी थे। इनका व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकार में कोई विश्वास न था। सर्वाधिकारवादी राज्य सरकार चलाने में शक्ति व बल पर निर्भर करते थे। उन्होंने वृहद् स्तर पर गोपनीय पुलिस को विरोधियों को ढूँढने व समाप्त करने के लिए गठन किया था। रूस में ओग्पू (Ogpu) जर्मनी में गेस्टपो (Gestapo) इसके उदाहरण हैं। उनका सिद्धान्त था सत्ताधारी दल का तथा दल के अन्दर कोई विरोध नहीं। वे संगठित अल्पसंख्यकों को असहनीय मानते थे और जनमत निर्माण के साधनों प्रेस, रेडियो, थियेटर, फिल्म आदि पर एकाधिकार स्वीकार करते थे। सर्वाधिकारवादी उग्र राष्ट्रवादी थे, ये राज्य पूजा और राष्ट्र एकता में विश्वास करते हैं, इनका राष्ट्रवाद संकुचित था। ये अन्तर्राष्ट्रीयवाद को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायरों का सपना है। ये विस्तारवादी नीति के समर्थक थे और स्वाभाविक रूप से युद्ध को प्रोत्साहन देते थे।

सर्वाधिकारवाद, राज्य पूजा का सिद्धान्त है। यह राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानता है। मुसोलिनी के अनुसार 'सब कुछ राज्य के अन्दर, राज्य के बाहर तथा शासन के विरुद्ध कुछ नहीं।' जहाँ तक सर्वाधिकारवाद के आर्थिक दर्शन का सम्बन्ध है यह पूंजीवाद या समाजवाद के सिद्धान्त का प्रयोग राज्य की अर्थव्यवस्था को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए करते हैं। सशक्त और आत्मनिर्भर राज्य बनाने के लिए सभी आर्थिक गतिविधियाँ राज्य द्वारा निर्देशित व नियंत्रित होती थीं। इस प्रकार इनका आर्थिक सिद्धान्त पूर्णतया राष्ट्रवादी था और ये आवश्यकता एवं सुविधानुसार पूंजीवादी अथवा समाजवादी सिद्धान्तों का प्रयोग करते थे। मुसोलिनी द्वारा निगमनात्मक राज्य की अवधारणा सर्वाधिकारवादी दर्शन का आर्थिक संगठन है।

कुछ विद्वान् इटली और जर्मनी के दक्षिणपंथी, सर्वाधिकारवाद और स्टालिनवादी रूस के वामपंथी सर्वाधिकारवाद में भेद करते हैं, परन्तु जैसा कि कार्ल जासपर कहते हैं 'सर्वाधिकारवाद न तो साम्यवाद है और न ही फासीवाद और न ही राष्ट्रीय समाजवाद परन्तु यह इन तीनों प्रकार में प्रकट होता है।

20.8 शब्दावली

हिंसा – बल प्रयोग, जोर जबरदस्ती, किसी को मानसिक व शारीरिक हानि पहुँचाना

भ्रष्टाचार – निजी लाभ के लिए सार्वजनिक पद का दुरुपयोग, प्रभाव का अनुचित प्रयोग अथवा गैर कानूनी ढंग से किसी लाभ के लिए व्यवहार करना, राजनीतिक पद का धन एकत्रित करने के साधन के रूप में प्रयोग

साम्यवाद – कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का उच्चतम रूप जिसमें जहाँ एक ओर पूंजीवाद का अंत होता है, वहाँ दूसरी ओर पूरी तरह समाजवाद की स्थापना की जाती है, प्रत्येक व्यक्ति को कार्यों के अनुसार आवश्यकताओं की पूर्ति

उदारवादी लोकतंत्र –प्रतिनिधि प्रकार के लोकतंत्र का एक रूप है जिसके अन्तर्गत लोगों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के पास निर्णय निर्माण की शक्ति होती है तथा जिन पर लोगों का नियंत्रण होता है।

20.7 उपयोगी पुस्तकें

1. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
2. डॉ. पुखराज जैन एवं बी.एल. फाड़िया राजनीतिक सिद्धान्त पारम्परिक और समकालीन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा
3. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

20.8 सम्बन्धित प्रश्न

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) सर्वाधिकारवाद का अर्थ व विशेषताएं बताइए।

(ब) सर्वाधिकारवाद की आलोचना कीजिए।

(स) सर्वाधिकारवाद के इतिहास एवं विकास पर प्रकाश डालिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) सर्वाधिकारवाद के दो प्रमुख रूप बताइए।

(ब) फासीवादी एवं साम्यवादी सर्वाधिकारवाद में अन्तर बताइये।

(स) स्वेच्छाचारवाद एवं सर्वाधिकारवाद में अन्तर बताइए।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) सर्वाधिकारवादी राज्य वह है जिसमें –

(ix) जो पूर्णतया जनता की इच्छा के अधीनस्थ है।

(x) अधिनायकवादी सत्ता को पूर्णतया अस्वीकार करता है।

(xi) व्यक्ति के जीवन व समाज के प्रत्येक पक्ष पर पूर्ण नियंत्रण रखता है।

(xii) यह व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करता है।

(ब) 'राज्य के अन्तर्गत सब कुछ, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ नहीं' यह कथन निम्न में से किसका है?

(ix) मुसोलिनी

(x) हिटलर

(xi) मार्क्स

(xii) लास्की

(स) सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त का विश्लेषण करने वाले चिन्तकों में निम्न में से कौन सम्मिलित नहीं है।

(ix) हन्ना आरेन्ट

(x) फ्रैड्रिक

(xi) जीन किकपैट्रिक

(xii) बेथम

(द) हन्ना आरेन्ट की पुस्तक का नाम था –

(ix) Meaning of Totalitarianism

(x) Origin of Totalitarianism

(xi) Totalitarianism and Marxism

(xii) Totalitarian State

(य) दक्षिणपंथी सर्वाधिकारवाद का उदाहरण है –

(ix) सोवियत संघ

(x) चीन

(xi) क्यूबा

(xii) इटली

20.9 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 20.2 एवं 20.3 अंश

(ब) देखिए इकाई का 20.6 अंश

(स) देखिए इकाई का 20.4 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) देखिए इकाई का 20.5 अंश

(ब) देखिए इकाई का 20.5.1 अंश

(स) देखिए इकाई का 20.5.2 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) (iii)

(ब) (i)

(स) (iv)

(द) (ii)

(य) (iv)

इकाई 21

फासीवाद

इकाई की रूप रेखा

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 फासीवाद का अर्थ

21.3 फासीवाद का विकास

21.4 फासीवाद के स्रोत

21.5 फासीवाद के सिद्धान्त

21.5.1 फासीवाद की कार्यविधि

21.5.2 फासीवादी शासन की विशेषताएं

21.6 फासीवाद की आलोचना

21.7 फासीवाद और साम्यवाद

21.8 सारांश

21.9 शब्दावली

21.10 उपयोगी पुस्तकें

21.11 सम्बन्धित प्रश्न

21.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करके आप राज्य के कर्तव्यों की व्याख्या करने वाले सिद्धान्तों में से एक फासीवाद के विषय में जान सकेंगे। इसका अध्ययन करके आप :

- फासीवाद का अर्थ समझ सकेंगे।
- फासीवादी विचारधारा के उदय की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे।
- फासीवाद के मूल सिद्धान्तों को समझ सकेंगे।
- फासीवाद का साम्यवाद से अन्तर समझ सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

हमने इकाई–20 में सर्वाधिकारवाद का अध्ययन किया जिसमें हमने जाना कि सर्वाधिकारवाद लोकतंत्र और उदारवादी विचारधारा के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया है जो व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानते हुए सम्पूर्ण शक्ति राज्य को प्रदान करना चाहती है। फासीवाद को प्रायः

सर्वाधिकारवाद का दक्षिणपंथी रूप कहा जाता है क्योंकि साम्यवाद के विपरीत ये पूंजीवाद का अन्त नहीं करना चाहते और यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। बीसवीं सदी में दक्षिणपंथी सर्वाधिकारवाद के दो प्रमुख रूप उभरकर सामने आये हैं–फासीवाद और नाजीवाद। फासीवाद का प्रादुर्भाव मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में हुआ था तथा नाजीवाद का विकास एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में हुआ। प्रस्तुत इकाई में हम फासीवाद का अर्थ, विकास, विशेषताएँ समझने के साथ ही साथ इसकी साम्यवाद व लोकतंत्र से भिन्नता भी समझ सकेंगे।

21.2 फासीवाद का अर्थ

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के पश्चात् मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में जिस विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ उसे फासीवाद (Fascism) के नाम से जाना जाता है। फासीवाद अंग्रेजी शब्द फासिज्म (Fascism) का हिन्दी रूपान्तरण है जिसकी व्युत्पत्ति इटालियन भाषा के शब्द 'फासियो' (Fascio) से हुई है जिसका अर्थ लकड़ियों के बँधे हुए बण्डल व कुल्हाड़ी होता है। प्राचीनकाल में रोम का राजचिन्ह फासियो था जिसमें लकड़ियों का बँधा गट्ठर राष्ट्रीय एकता और कुल्हाड़ी शक्ति का प्रतीक थी। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली के फासी दल ने इसी चिन्ह का प्रयोग किया जो इस बात का सूचक था कि फासीदल का लक्ष्य वर्ग संघर्ष पर आधारित समाजवादी समाज व्यवस्था के स्थान पर राजकीय नियंत्रण के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता पर आधारित समाज व्यवस्था है। कालान्तर में मुसोलिनी ने इसे ही राज–चिन्ह के रूप में अंगीकृत किया था जिसमें कुल्हाड़ी सत्ता और लकड़ियों का गट्ठर 'एकता में ही शक्ति होती है' का सूचक बन गया। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त इटली में जन्मी यह विचारधारा जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को अपरिमित, असीम और अमर्यादित अधिकार प्रदान करती है, और इस प्रकार यह अधिनायक तंत्र का ही एक रूप है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक राजनीतिज्ञों की यह मान्यता थी कि लोकतंत्र की स्थापना से विश्व में शांति स्थापित हो जायेगी और प्रथम विश्वयुद्ध को लोकतंत्र की रक्षा हेतु लड़ा जाने वाला युद्ध कहा गया। परन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त विश्व के अनेक देशों में लोकतंत्र का अन्त हुआ और संसदात्मक व्यवस्था का अंत करने वाला विश्व का प्रथम देश इटली बना जिसका नेतृत्व मुसोलिनी कर रहा था। मुसोलिनी के दल का नाम फासीदल था इसीलिए मुसोलिनी और उसके दल की विचारधारा को फासीवाद कहा जाता है। फासीवाद लोकतंत्रीय धारणाओं और आदर्शों का विरोधी है तथा उदारवाद एवं समाजवाद के विपरीत अंतर्राष्ट्रीय शांति का शत्रु और युद्ध को गौरव प्रदान करने वाला है। फासीवाद का एक ही नारा है–एक राष्ट्र, एक दल एवं एक नेता। यद्यपि मूलरूप से इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में इसका जन्म हुआ परन्तु इसकी थोड़े परिवर्तनों सहित पुनरावृत्ति हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में हुई जिसे हिटलर का फासीवाद या नाजीवाद के नाम से जाना जाता है।

TESLA-024

21.3 फासीवाद का विकास

फासीवाद उदारवादी व्यवस्था के विरूद्ध बीसवीं शताब्दी का क्रान्तिकारी, सर्वाधिकारवादी विद्रोह है। इटली वह प्रथम देश है, जिसने फासीवाद को अपनाया। प्रथम विश्वयुद्ध में इटली विजयी मित्र राष्ट्रों के साथ था परन्तु युद्ध के पश्चात् पेरिस शान्तिवार्ता में उसे समुचित अंश प्राप्त नहीं हुआ विशेष रूप से उसे वे क्षेत्र नहीं मिले जिनकी वह माँग कर रहा था। परिणामस्वरूप इटलीवासी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वयं को अपमानित महसूस कर रहे थे। साथ ही साथ युद्ध के कारण इटली में गम्भीर आन्तरिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी जैसे–मुनाफाखोरी, युद्ध के अतिशय व्यय की पूर्ति हेतु मुद्रास्फीति, वेतनवृद्धि के लिए हड़तालें, बढ़ती हुई बेरोजगारी, राष्ट्रीय बजट में निरन्तर बढ़ता घाटा तथा युद्ध से वापसी करने वाले सैनिकों में असंतोष। इटली की तत्कालिक सरकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इटली का संघर्ष सफल बनाने तथा आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में अयोग्य सिद्ध हो रही थी जिससे जनता का तत्कालिक संस्थाओं एवं नीतियों में अविश्वास उत्पन्न हुआ तथा मुसोलिनी के नेतृत्व में फासीवाद का जन्म हुआ।

मुसोलिनी का उद्भव इटली की एकता के समर्थक के रूप में हुआ। वह इटली में व्यवस्था, अनुशासन तथा एक मजबूत सरकार के पक्ष में था। वह इटली को प्राचीन रोमन साम्राज्य का गौरव पुनः प्रदान करना चाहता था। उसके अनुसार उत्तरदायी सरकार एक विलासिता है जिसे इंग्लैण्ड, अमेरिका व फ्रांस जैसे धनी देश अपनाने की सामर्थ्य रखते हैं न कि इटली जैसे निर्धन देश।

1920 के अन्त तक फासीवादी दल की सदस्य संख्या बहुत कम थी, किन्तु वे अत्यधिक उग्र थे परन्तु 1922 के प्रारम्भ तक उनकी संख्या में वृद्धि होने लगी। अगस्त 1922 में इटली में एक आम हड़ताल की घोषणा की गयी और फासीवाद को जनता का समर्थन प्राप्त करने का एक समुचित अवसर मिल गया। समस्त आवश्यक सेवाओं को अपने नियंत्रण में कर फासीवादियों ने 24 घण्टे के अन्दर हड़ताल समाप्त करवा दी तथा अधिकांश जनता का समर्थन व विश्वास प्राप्त कर लिया। 28 अक्टूबर, 1922 को फासीवादियों के समूह रोम पहुँचने लगे जिसकी समाप्ति सम्राट द्वारा मुसोलिनी को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्ति द्वारा हुई। मुसोलिनी ने प्रांरभ में तत्कालिक राजनीतिक संस्थाओं के वाह्य रूप में कोई विशेष परिवर्तन किये बिना इटली के गणतंत्र को अपनी व्यक्तिगत तानाशाही में परिवर्तित करना आरम्भ कर दिया। उसका उद्देश्य राजनीतिक सत्ता पर फासीवादी दल का नियंत्रण कर अपना आधिपत्य स्थापित करना था। प्रारम्भ में उसके मंत्रिमंडल में विभिन्न दलों के सदस्य होते थे परन्तु 1926 के पश्चात् वे पूर्णतया फासीवादी हो गये। अनेक अधिनियमों द्वारा मंत्रिमंडल का संसद के प्रति उत्तरदायित्व समाप्त कर दिया गया। मुसोलिनी शासनाध्यक्ष व तानाशाह बन बैठा। उसे आदेश जारी करने का अधिकार था जो कि कानून के समान प्रभावी होते थे। वह नाममात्र के लिए सम्राट के प्रति उत्तरदायी था। मंत्रिमंडल के सदस्य उसके सहयोगी नहीं वरन् अधीनस्थ थे। नवम्बर 1926 में फासीवादी दल के अतिरिक्त अन्य सभी दलों का दमन कर दिया गया। मुसोलिनी फासीवादी दल तथा फासीवादी सरकार दोनों का प्रमुख बन गया।

उधर जर्मनी में भी आर्थिक पराभव हुआ। जर्मन मुद्रा का मूल्य गिरता जा रहा था जिसका परिणाम मुद्रास्फीति था। बेरोजगारी बढ़ती जा रही थी। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय तथा वर्साई की संधि के कारण हुए अपमान से जर्मनी जल रहा था। ऐसे ही समय में नवंबर 1918 में मजदूर वर्ग ने वहाँ

समाजवादी क्रान्ति की, जिसे सुधारवादी समाजवादियों द्वारा असफल बना दिया गया। 1920 में जर्मनी में नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्क्स पार्टी (नाजी दल) की स्थापना हुई और दल ने आकर्षक 25 सूत्रीय सामाजिक–आर्थिक कार्यक्रम दिया। 1919 से 1933 तक जर्मनी में सरकारों की अस्थिरता बनी रही और कम से कम 31 मंत्रिमंडल सत्तासीन और सत्ताहीन हुये। हिटलर की पुस्तक 'मेरा संघर्ष' जिसमें उसने जर्मनी के भविष्य की रूपरेखा प्रस्तुत की थी अत्यन्त लोकप्रिय हुई और नाजीदल की भी लोकप्रियता बढ़ती गयी। 1933 के संसदीय चुनावों में नाजीदल को 288 सीट मिली और जनवरी 1933 में राष्ट्रपति ने हिटलर को जर्मनी का चांसलर नियुक्त कर सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया और नाजीदल राजनीतिक सत्ता का स्वामी बन गया। चुनावों ने हिटलर, उसके हथियार बन्द तूफानी दस्तों ने विपक्षी दलों को आतंकित किया और गहरे आतंक की छाया में हुए चुनाव में हिटलर ने लोकतंत्रीय तथा संवैधानिक तरीके से सत्ता पर अधिकार कर लिया। सत्ता प्राप्ति के बाद हिटलर ने निर्दयता से विपक्षी दलों को समाप्त कर दिया, विभिन्न स्वतंत्रताएँ छीन ली गयीं और आर्य जाति की उच्चता के नाम पर अंधराष्ट्रवादी हिटलर ने 60 लाख यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध हिटलर की अंधराष्ट्रवादी तथा साम्राज्यवादी नीति का परिणाम था। जर्मनी की हार के बाद हिटलर ने आत्महत्या कर ली।

जर्मनी में नाजियों की सफलता के परिणामस्वरूप कुछ अन्य देशों में फासीवादी अथवा अर्धफासीवादी शासन परिवर्तन हुए–1933 में आस्ट्रिया में, 1934 में बुल्गारिया में तथा 1936 में स्पेन में। 1930 तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जापान, इजिप्ट, घाना, दक्षिणी अफ्रीका, अर्जेण्टाइना तथा चिली के सैनिक, राष्ट्रवादी तथा तानाशाही शासन व्यवस्थाओं को भी फासीवादी कहा जाता है।

21.4 फासीवाद के स्रोत

फासीवाद अनेक तत्वों से प्रभावित विचारधारा है। श्री ओ0पी0 गाबा के अनुसार फासीवाद प्रारंभ में व्यक्तिवाद (Individualism) और राज्यसत्तावाद (Etatism) में से कभी किसी को अपनाता रहा, कभी किसी को। बाद में उसने राज्य सत्तावाद को पूरे मन से स्वीकार कर लिया। इसी तरह पहले वह लोकतंत्र (Democracy) और सत्तावाद (Authoritarianism) में भी दोनों को स्वीकारता रहा परन्तु बाद में सत्तावाद को अंतिम रूप से अपना लिया। 19वीं शताब्दी में राज्यसत्तावाद और सत्तावाद की पैरवी अनेक दृष्टिकोण से की जाती थी जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थे और फासीवाद ने इन सबसे प्रभावित हो एक नयी विचारधारा उत्पन्न की। मैक्गवर्न (McGovern) ने लिखा है कि फासीवाद तथा नाजीवाद पर चार विचारधाराओं का प्रभाव पड़ा–(1) सामाजिक डार्विनवाद जिसमें गम्प्लोविज (Gumplowicz), बैजहट (Bagehot) आदि विचारक सम्मिलित हैं। (2) अबौद्धिकवाद जिसके अन्तर्गत जेम्स, सोरेल, वर्गसाँ, नीत्शे इत्यादि दार्शनिक आते है। (3) परंपरावाद जिसके मुख्य प्रवर्तक मैजिनी, ट्रीट्श्के, हीगल इत्यादि हैं। (4) आदर्शवाद जिसमें कान्ट, तथा हीगल प्रमुख हैं। इन चारों विचारधाराओं में फासीवाद के स्रोत पाये जाते हैं यद्यपि आवश्यकतानुसार फासीवादियों ने उनमें परिवर्तन किया है। संक्षेप में उपर्युक्त चार विचारधाराओं का वर्णन निम्नवत् है–

1. सामाजिक डार्विनवाद–चार्ल्स डार्विन ने प्रकृति में निरन्तर चलने वाले कठिन जीवन संघर्ष और योग्यतम प्राणी के जीवित रहने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और उसे प्रसिद्ध समाजशास्त्री गम्प्लोविज आदि कुछ विचारकों ने सामाजिक क्षेत्र में लागू करते हुए कहा कि यह संघर्ष केवल

व्यक्तियों के मध्य ही नहीं वरन् समुदायों में भी होता है और वही समुदाय विजयी होते हैं, जो शक्तिशाली, सुदृढ़ और अनुशासनबद्ध हों। इसे ही सामाजिक डार्विनवाद कहा जाता है। इसी से प्रभावित होकर मुसोलिनी व हिटलर ने संघर्ष को मानव प्रगति का मूलमंत्र माना था। मुसोलिनी राष्ट्रवाद का पुजारी था और हिटलर जाति शुद्धता का। मुसोलिनी और हिटलर दोनों ही नीत्शे द्वारा प्रतिपादित 'एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व प्राप्त करने का संघर्ष ही मानव इतिहास है' से प्रभावित हो युद्ध व साम्राज्यवाद का समर्थन किया।

2. अबौद्धिकवाद–डेकार्ट के बौद्धिकवाद के विपरीत अबौद्धिकवाद विचारधारा यह मानती है कि व्यक्ति विवेक व बुद्धि के स्थान पर अन्तः प्रेरणा (Intuition) अन्धश्रद्धा (Myth) एवं विश्वास से प्रेरित होकर कार्य करता है। नीत्शे के अतिमानव (Superman) और वीरपूजा से प्रभावित हो फासीवाद में अन्धश्रद्धा को अपनाने पर बल दिया गया और दल के नेता को श्रेष्ठ माना गया। मुसोलिनी के अनुसार 'हमारी अन्धश्रद्धा हमारा राष्ट्र है, हमारी अन्धशक्ति हमारे राष्ट्र की महानता है। विश्वास ही पर्वतों को हिला सकता है, तर्क नहीं।' इटली में नारा प्रसिद्ध था– 'मुसोलिनी सदैव ठीक होता है और ठीक कार्य करता है।'

3. परम्परावाद–फासीवाद मैजिनी और ट्रीट्स्के के परम्परावादी दर्शन से बहुत अधिक प्रभावित है। प्रारम्भ में मुसोलिनी प्राचीन रूढ़ियों, संस्थाओं और मूल्यों का विरोधी था परन्तु 1922 में सत्तासीन होने के पश्चात् उसने उच्चतम राष्ट्रवाद के लिए परम्पराओं की पवित्रता तथा उनके बल पर महत्व दिया। इटली के इतिहास को गौरवपूर्ण बताते हुए उसने कहा कि इटली को पुनः तीसरी बार मानवता का नेतृत्व करना है। राष्ट्र की सुरक्षा हेतु उसने नास्तिक होते हुए भी 1927 में पोप के साथ समझौता किया।

4. आदर्शवाद–फासीवाद पर सबसे अधिक प्रभाव रूसो, काण्ट, फिक्टे और हीगेल के आदर्शवाद का रहा है। फासीवाद को हीगेल के आदर्शवाद का राजनीतिक शिशु भी कहा गया है। फासीवाद भौतिकवाद को अस्वीकार कर 'सर्वाधिकारवादी राज्य की धारणा' का समर्थन करते हैं और आदर्शवाद से प्रेरित होते हैं। व्यक्ति की स्वतंत्रता, नैतिकता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि में फासीवाद पर आदर्शवाद का प्रभाव अधिक है। रूसो, ग्रीन, बोसांके आदि राज्य को समाज की सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति मानते हैं। फासीवाद कहता है कि राज्य जनता की आत्मा को अभिव्यक्त करता है। फासीवादी दार्शनिक रोक्को, जेन्टाइल आदि ने माना कि राज्य एक राजनीतिक संस्था मात्र न होकर एक आध्यात्मिक एवं नैतिक तथ्य है। फासीवाद मानता है कि व्यक्ति के अस्तित्व का आधार उसके कर्त्तव्य हैं न कि अधिकार। राज्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हुए व्यक्तियों की निरपेक्ष स्वतंत्रता का विरोध करता है और किसी भी स्थिति में राज्य के विरोध को अस्वीकार करता है।

5. व्यवहारवाद–व्यवहारवादी विचारक जेम्स का मत है कि सत्य की कोई शाश्वत सत्ता नहीं है, परिस्थितियों के अनुसार सत्य बदलता रहता है और स्थिति विशेष में सत्य वही है जो हितकर है। मुसोलिनी ने स्वयं स्वीकार किया कि फासीवाद का मूल आधार व्यवहारवाद ही है।

21.5 फासीवाद के सिद्धान्त

फासीवाद का प्रारम्भ किसी निश्चित दर्शन के आधार पर नहीं हुआ है फिर भी इसकी विशेषताओं अथवा सिद्धान्तों को मुसोलिनी, रोक्को, तथा जेन्टाइल आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। रोक्को फासीवाद में नागरिक जीवन की एक नवीन धारणा और नवीन संस्कृति का प्रारम्भ पाता है। फासीवाद सोरेल से प्रत्यक्ष कार्यवाही के तरीके, नीत्शे से संकल्प से शक्ति, बर्गेस से बुद्धि–विरोध तथा हीगेल से राष्ट्रवाद व सर्वाधिकारवाद को अपनाता है। इस प्रकार अनेक दार्शनिकों से प्रभावित होते हुए भी फासीवाद की अपनी कुछ मान्यताएँ व सिद्धान्त हैं–

1. विवेक के प्रति अविश्वास फासीवाद की सबसे महत्वपूर्ण मान्यता है। यह विवेक विरोधी है और भावनाओं तथा मनोयोगों का सहारा लेता है। प्रत्येक फासीवादी शासन की अपनी कल्पना होती है जैसे जाति, साम्राज्य अथवा नेता जिसके द्वारा लोगों की भावनाओं को उत्तेजित किया जाता है। फासीवाद के अनुसार जीवन का मार्गदर्शन करने वाली शक्ति तर्क या बुद्धि नहीं है बल्कि जीवन की प्रेरक शक्ति भावनाएँ, आवेश, तथा शक्ति–प्राप्ति की इच्छा है। फासीवाद विश्वास श्रद्धा, निष्ठा, आवेश इच्छा जोशीले नारे, वीर पूजा, जातिवाद, अंधराष्ट्रवाद को बढ़ावा देता है। यह बुद्धिवाद का कट्टर विरोधी है।

2. फासीवाद में क्रमबद्ध दर्शन अथवा सुसंगठित सिद्धान्त व विचारधारा का अभाव है। फासीवाद कार्य प्रधान आन्दोलन है। मुसोलिनी के अनुसार 'फासीवाद पूर्व विचारित किसी सिद्धान्त का पोषण नही करता है। यह क्रियात्मक आवश्यकता के परिणामस्वरूप पैदा हुआ है।' फासीवाद का कोई वैचारिक संस्थापक नहीं था। मुसोलिनी, एल्फ्रेडो, जेण्टाइल, एनरिको, रोक्को, कोरेडिनी जैसे फासीवाद के अनेक सिद्धान्तकारों ने इसको सैद्धान्तिक आधार प्रदान करने का प्रयास किया और इनमें से मुसोलिनी को फासीवादी विचारधारा के निर्माण में प्रमुख योगदान देने का श्रेय दिया जाता है और स्वयं मुसोलिनी ने किसी एक विचारधारा या सिद्धान्त का समर्थन न करते हुए कहा है 'देशकाल और वातावरण की परिस्थितियों के अनुसार हम कुलीनतंत्रीय या जनतंत्रीय, रूढ़िवादी या प्रगतिशील, प्रतिक्रियावादी या क्रांतिकारी तथा नियमवादी या अनियमवादी सभी कुछ हो सकते हैं। वास्तव में उद्देश्य प्राप्ति हेतु फासीवाद विचारों में परिवर्तन करते हैं और उसके पश्चात् सिद्धान्त निर्माण करते हैं।

3. फासीवाद व्यक्तिगत स्वतंत्रता, समानता तथा अधिकारों के सिद्धान्त को राष्ट्र को दुर्बल बनाने वाले सिद्धान्त कहकर अस्वीकार करता है और इनके स्थान पर राष्ट्र के आंगिक पद सोपान की प्रणाली पर संगठित राष्ट्र की धारणा को स्वीकार करते हैं जिसमें कुछ तेजस्वी तथा कुशाग्र बुद्धि नागरिक सामान्य जनता को अपनी आज्ञाकारिता में रखते हैं। जिससे नागरिकों के स्वार्थी हितों के स्थान पर व्यापक राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हो सके। लोकतंत्र के 'स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के स्थान पर फासीवाद 'उत्तरदायित्व, अनुशासन एवं पदसोपान व्यवस्था के आदर्श को स्वीकार करते हैं। फासीवाद स्वतंत्रता को अधिकार के रूप में नहीं वरन् कर्तव्य के रूप में समर्थन प्रदान करते हैं अर्थात् स्वतंत्रता का अर्थ विधि के प्रति अधीनता तथा राज्य के द्वारा प्रदत्त एक सुविधा है। जहाँ तक समानता की बात है फासीवाद न केवल व्यक्तिगत समानता को अस्वीकार करता है

वरन् मानवीय असमानता को स्वीकार करता है। मानवीय असमानता श्रेष्ठता व हीनता के रूप में स्पष्ट होती है तथा फासीवादियों के अनुसार पुरुष स्त्रियों से, सैनिक असैनिकों से, दलीय सदस्य निर्दलीय सदस्यों से, शक्तिशाली दुर्बल से, युद्धों में विजयी पराजितों से श्रेष्ठ है।

4. फासीवाद राज्य में 'एक दल रहता है जिसमें राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ केन्द्रित रहती हैं जो नीतियों का निर्धारण करता है तथा सम्पूर्ण प्रशासन को नियन्त्रित करता है। अन्य अतिरिक्त दलों का दमन कर दिया जाता है। फासीवादी दल एक नेता के निर्देशन और नियंत्रण में कार्य करता है। फासीवादियों का मानना था कि सम्पूर्ण शक्तियाँ एक ही व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित रहनी चाहिए क्योंकि सर्वसाधारण जनता अपने नेता द्वारा ही सोच सकती है और कार्य कर सकती है।

5. फासीवाद सर्वाधिकारवादी राज्य का समर्थक है। फासीवाद राज्य को समस्त क्षेत्रों पर नियंत्रण का अधिकार देता है अर्थात राज्य को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में सर्वोच्च मानता है। मुसोलिनी के अनुसार राज्य एक नैतिक एवं जीवित प्रणाली है जो वर्तमान में ही जीवित नहीं रहता, वरन् अतीत और भविष्य में वैध है,' उसके हस्तक्षेप और नेतृत्व से कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहता था। मुसोलिनी की मान्यता थी कि 'सब राज्य के अन्तर्गत, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरूद्ध कुछ नहीं।' फासीवाद व्यक्ति को राज्य के अधिनायकवादी स्वरूप में पूर्ण विश्वास रखने का आदेश देता है और जैसा कि टीट्स्के ने कहा 'दण्डवत होकर राज्य की पूजा करनी चाहिए।

6. फासीवाद अंध एवं उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास करता है और उसके अनुसार राष्ट्र या राष्ट्र की महानता कल्पित धारण (Myth) है और संप्रभुता का निवास स्थल कोई व्यक्ति या संघ न होकर राष्ट्र है। मुसोलिनी के अनुसार राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है जिसमें नस्ल, भाषा, संस्कृति तथा सभ्यता की समानता पायी जाती है। राष्ट्र ऐसा सावयवी जीव है जो लगातार बहुत पीढ़ियों तक विकसित होने के पश्चात् पूर्णता प्राप्त करता है। वह राष्ट्र को स्वयं में आत्मनिर्भर मानता है। फासीवाद अपने लोगों को एकताबद्ध, शक्तिशाली तथा अनुशासनबद्ध होने का उपदेश देते हैं ताकि एक शक्तिशाली राज्य बनाया जा सके जो अतीत के वैभव को पुनः स्थापित करने में सक्षम हो। देशभक्ति की भावनाओं को प्रेरित करने के लिए महान अतीत का महिमा मंडन किया जाता है। मुसोलिनी ने भी प्राचीन काल के महान रोमन साम्राज्य को पुनः स्थापित करने का लोगों से आह्वाहन किया। हिटलर ने भी सर्वजर्मनवाद के नाम पर वैसा ही किया तथा इस हेतु आस्ट्रिया व चैकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता का हनन किया। 'विस्तार करो या नष्ट हो जाओ' फासीवाद राज्य का मूलमंत्र है।

7. फासीवाद स्त्रियों को अधिकार व स्वतंत्रता देने का विरोधी है। नाजीवाद में स्त्रियों को घर की चाहारदीवारी तक सीमित रहने की बात कही गई है। उनके अनुसार स्त्रियों को किसी भी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी जानी चाहिए। वे स्त्रियों को शिक्षा देने के विरूद्ध हैं। फासीवादियों के अनुसार चूंकि स्त्रियाँ शस्त्र नहीं धारण कर सकतीं अतः, फासीवादी राज्य में उन्हें द्वितीय श्रेणी का नागरिक माना जाना चाहिए और न तो सरकार और न ही दल में उन्हें उत्तरदायित्व के पद मिलने चाहिए। उन्हें मत देने का अधिकार है, परन्तु फासीवादी राज्य में एक दल व एक नेता के विचार को

स्वीकृति मिलती है। अतः इस अधिकार का वास्तविकता में कोई महत्व नहीं है। यहाँ तक कि परिवार में भी पति को पत्नी तथा बच्चों पर सत्तावादी नेतृत्व प्राप्त है। नाजी जर्मनी ने स्त्रियों के प्रति अपनी उग्रतम घृणा का प्रदर्शन करते हुए विवाह की संस्था को अस्वीकार कर जर्मन स्त्रियों को बिना विवाह किये राज्य के लिए अधिक से अधिक बच्चे पैदा करने के लिए प्रोत्साहित किया।

8. फासीवाद उग्रराष्ट्रवाद का समर्थक होने के साथ ही साथ युद्ध और हिंसा का पुजारी है। यह अन्तर्राष्ट्रीयता एवं शान्ति का विरोधी है। फासीवाद के अनुसार युद्ध मानवता का विरोधी नहीं वरन् राज्यों को स्वस्थ रखने का साधन है। युद्ध राज्य के लिए वैसा ही है जैसा कि नारी के लिए मातृत्व। फासीवाद के लिए युद्ध व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चरित्र को शुद्ध करने का साधन है। हिटलर ने कहा था' युद्ध सदाबहार तथा विश्वव्यापी है। युद्ध जिन्दगी है। हर संघर्ष युद्ध है, हर चीज की उत्पत्ति युद्ध के माध्यम से हुई है।' युद्ध से नागरिकों का मनोबल बढ़ता है तथा अनुशासन और एकता की भावना मजबूत होती है। फासीवाद के युद्ध–प्रेम का मुख्य कारण यह है कि इस प्रकार यह देश की जनता का ध्यान देश के अंदर के हालात से हटाकर देश की सीमाओं पर टिका देता है। इस प्रकार फासीवाद विश्व शांति का सबसे खतरनाक दुश्मन है।

9. युद्ध प्रेम एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का विरोधी होने के साथ ही साथ फासीवाद साम्राज्यवाद का समर्थक है। सर्वाधिकारवादी राज्य साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देते हैं और सर्वाधिकारवादी राज्य का समर्थक होने के कारण फासीवाद भी साम्राज्यवादी विस्तार में विश्वास रखते हैं। वे साम्राज्यवाद को एक शक्तिशाली तथा विकसित राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं। उनके अनुसार राष्ट्र को अपने साम्राज्य की स्थापना करनी चाहिए। इटली में फासीवादियों का मानना था कि साम्राज्यवादी विस्तार ही इटली के विकास का मार्ग है। मुसोलिनी के अनुसार इटली का विस्तार जीवन तथा मृत्यु का प्रश्न है या तो उसका विस्तार होना चाहिए या उसको नष्ट हो जाना चाहिए। उसके लिए साम्राज्यवाद जीवन का शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील नियम है।

10. फासीवाद जातीय श्रेष्ठता अथवा रक्तीय शुद्धता की मिथ्या धारणा में विश्वास करता है। हिटलर ने अन्य जातियों के ऊपर जर्मन नागरिक जाति को श्रेष्ठ कहा और सामान्यतः इसका अभिप्राय नागरिक तथा राजनीतिक स्तर का श्रेणीकरण था जिसमें कि शक्ति व विशेषाधिकार जर्मन जाति के लिए आरक्षित थे और अन्य जातियाँ उसके नीचे अवरोही क्रम में थीं। हिटलर ने नोर्दिक लोगों को आर्यों की नस्ल कहा तथा यहूदियों को मिश्रित रक्त वाला कहकर निंदा की तथा जर्मनी में नाजियों द्वारा अमानवीय ढंग से यहूदियों का नरसंहार किया। यद्यपि प्रारम्भ में मुसोलिनी जातीय या नस्लीय श्रेष्ठता का पक्षकार नहीं था परन्तु 1936 के उपरान्त वह भी इसका समर्थक बन गया और उसने सगर्व रोमन नस्ल की श्रेष्ठता घोषित की। फासीवादी अपनी साम्राज्यवादी नीति व आक्रमणों का 'असभ्यों को सभ्य बनाने' के नाम पर न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

11. फासीवाद आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण राष्ट्रहित के लिए करता है। यह आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद का उसी प्रकार खण्डन करता है जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में करता है। फासीवाद व्यक्तिवाद का खण्डन करने के

साथ ही साथ समाजवाद व साम्यवाद का भी विरोध करता है। फासीवाद समाजवादियों द्वारा पूंजीवाद की बताई गई दुर्बलताओं को स्वीकार करता है परन्तु समाजवादी समाधान पूंजीवादी वर्ग की समाप्ति को स्वीकार नहीं करता। फासीवाद मानता है कि राष्ट्रीय उत्पादन को उच्चतम स्तर तक ले जाने के लिए पूंजीवादी वर्ग की आवश्कता है। यह आर्थिक समृद्धि के लिए श्रमिक वर्ग एवं पूंजीपति वर्ग के बीच सामंजस्य पूर्ण सहयोग आवश्यक मानता है। न तो यह उद्योगों को श्रमिक संघों के नियंत्रण में जाने देने का पक्षपाती है और न ही यह उद्योगपतियों को उद्योगों पर अपने वैयक्तिक हितों हेतु स्वामित्व देने का पक्षधर है। फासीवाद अपना नया विचार देता है राष्ट्रीय हित के लिए वर्ग सहयोग, अधिकतम उत्पादन एवं औद्योगिक शान्ति।

12. फासीवाद निगमात्मक राज्य की स्थापना करने में विश्वास करता है। फासीवाद की मान्यता है कि राज्य का निर्माण व्यक्तियों द्वारा न किया जाकर राष्ट्र की सर्वोच्चता में विश्वास करने वाले समुदायों के द्वारा किया जाता है। फासीवाद विभिन्न व्यवसायों के पृथक संगठन बनाने के पक्षकार थे किन्तु उनका कहना है कि ये सब राज्य के अधीन होने चाहिए जो उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करे। वस्तुतः निगमात्मक राज्य के द्वारा व्यक्तिवाद व समाजवाद के दोषों को दूर करते हुए बीच का मार्ग निकालने का प्रयास किया गया है। निगमात्मक राज्य के लिए फासीवाद दो प्रकार की संस्थाओं की व्यवस्था करता है– सिंडीकेट तथा निगम। प्रत्येक व्यवसाय के लिए प्रत्येक जिले में दो सिण्डीकेट होंगे जिसमें एक में स्वामी तथा दूसरे में श्रमिक होंगे। प्रत्येक जिले में सिण्डीकेटों को मिलाकर विभिन्न उद्योगों का राष्ट्रीय संघ होगा तथा स्वामियों एवं श्रमिकों के मतभेदों के निराकरण हेतु तीन संस्थाएं– सिण्डीकेट, राष्ट्रीय संघ एवं राष्ट्रीय महासंघ होंगे। सिण्डीकेटों के अतिरिक्त 22 निगम होंगे। जिसमें स्वामी व श्रमिकों के अतिरिक्त राज्य द्वारा नियुक्त उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि भी होंगे। इन निगमों की एक केन्द्रीय समिति होगी जिसका अध्यक्ष राज्य का प्रधान (स्वयं मुसोलिनी) होगा। इस निगमात्मक राज्य में नागरिक की राजनीतिक जीवन में कोई भागीदारी नहीं होगी सबकी अपने व्यवसाय के माध्यम से अप्रत्यक्ष भागीदारी संभव है। इस राज्य में निजी उद्योग प्रोत्साहित किया जायेगा। पूरे राज्य की अर्थव्यवस्था निगम के अधिकार में होगी। इस प्रकार फासीवाद अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत, सामूहिक एवं श्रमिकों के हितों में सामंजस्य लाना चाहता है।

13. फासीवाद लोकतंत्र का कट्टर विरोधी है। यह लोकतंत्र को एक ओर कमजोर राजनीतिक व्यवस्था, जाहिलों का शासन कहता है और लोकतांत्रिक मूल्यों की अवहेलना करता है। जनता द्वारा शासन के सिद्धान्त के विपरीत यह एक विशिष्ट वर्ग अर्थात् एक छोटे शासकीय वर्ग द्वारा शासन का सिद्धान्त प्रस्तावित करते हैं। मुसोलिनी व हिटलर दोनों ही आम जनता से घृणा करते थे। हिटलर के अनुसार किसी भी राष्ट्र का बहुसंख्यक वीर व बुद्धिमान नहीं होता, अच्छा या बुरा न होकर औसत दर्जे का होता है तथा बौद्धिक एवं वैज्ञानिक तर्कों का इन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह बहुसंख्यक वर्ग केवल घटिया और तीक्ष्ण भावनाओं–घृणा, मदान्धता तथा उन्माद से प्रभावित होता है। इसके विपरीत विशिष्ट वर्ग अथवा शासकीय वर्ग होता है जो स्वाभाविक रूप से कुलीन होता है। वह बुद्धि व निर्देशन प्रदान करता है। विशिष्ट वर्ग के चयन की प्रक्रिया शक्ति

के लिए निरन्तर संघर्ष से होती है। इस प्रक्रिया से जातीय रूप से योग्य शासकीय वर्ग का उद्‌भव होता है जो जनमानस के स्वाभाविक नेता होते हैं।

21.5.1 फासीवादी कार्यविधि

अपने राजनीतिक उद्‌देश्यों को पूरा करने के लिए फासीवादी हिंसा का सहारा लेते हैं। फासीवादियों के लिए हिंसा किसी वस्तु को प्राप्त करने का एक छोटा मार्ग है जो कि शान्तिपूर्ण तरीकों से या तो प्राप्त नहीं की जा सकती अथवा देर में प्राप्त की जा सकती है। 1922 में आम हड़ताल के दमन करते हुए मुसोलिनी ने कहा था 'अड़तालीस घंटों तक हिंसा का प्रयोग करने के बाद हमने उससे जो परिणाम प्राप्त किए हैं उन्हें हम अड़तालीस वर्षों तक उपदेश एवं प्रचार करके भी प्राप्त नहीं कर सकते थे।'

विरोधियों का पूर्ण विनाश फासीवादियों की दूसरी कार्यविधि है। फासीवाद में विरोध व विरोधियों का कोई स्थान नहीं होता और यदि कोई है तो वह शत्रु माना जाता है और शत्रु का पूर्ण विनाश ही फासीवाद का मुख्य ध्येय होता है।

फासीवादी शासन व्यवस्था द्वारा तीसरा तरीका प्रयोग में लाया जाता है वह है नजरबन्दी शिविर तथा श्रम शिविर। जो लोग शासन का विरोध करते हैं उन्हें इन शिविरों में भेज दिया जाता है जहाँ उनसे कठोर श्रम लिया जाता है और उनका ब्रेनवाश किया जाता है। इन शिविरों का प्रयोग उन लोगों की हत्या के लिए भी किया जाता है जो शासन का अनुग्रह प्राप्त करने में असफल होते हैं।

फासीवादी झूठ के प्रयोग पर बल देते हैं। फासीवादी सिद्धान्त के अनुसार यदि किसी झूठ को सौ बार दुहराया जाय तो वह सच बन जाता है।

21.5.2 फासीवादी शासन की विशेषताएं

डॉ0 लॉरेन्स ब्रिट (Dr. Lawrence Britt) ने हिटलर (जर्मनी), मुसोलिनी (इटली), फ्रैंको (स्पेन), सुहार्तो (इण्डोनेशिया) और कई लैटिन अमेरिकी देशों की फासीवादी सत्ताओं का परीक्षण किया और उन्होंने 14 विशेषताएं बताईं जो सभी शासनों में विद्यमान थीं–

1. शक्तिशाली और स्थायी राष्ट्रवाद–फासीवादी शासन देशभक्ति सम्बन्धी आदर्श वाक्य, स्लोगन, चिन्ह, गीत और अन्य सामग्रियों का निरंतर प्रयोग करते हैं। इनके प्रतीक चिन्ह हर जगह देखे जा सकते हैं यथा कपड़ों पर चिन्ह के रुप में और सार्वजनिक स्थानों पर प्रदर्शन के रूप में।

2. मानवाधिकारों की मान्यता की अवहेलना–शत्रुओं के भय और सुरक्षा की आवश्यकता के कारण फासीवादी राज्य में जनता को यह मानने के लिए बाध्य किया जाता है कि कुछ निश्चित मामलों में आवश्यकता के अनुरूप मानव अधिकारों की अवहेलना की जा सकती है। जनता को दूसरा पक्ष देखने को मजबूर किया जाता है और यहाँ तक कि अत्याचार को स्वीकार करने, हत्याओं, त्वरित फाँसी तक को स्वीकार किया जाता है।

3. सेना की सर्वोच्चता–व्यापक घरेलू समस्याओं की विद्यमानता के उपरान्त भी सेना को सरकारी कोष से अनुचित अनुपात में धन उपलब्ध कराया जाता

है और घरेलू आवश्यकताओं की अवहेलना की जाती है। सैनिकों और सैन्य सेवाओं को गौरव प्रदान किया जाता है।

4. जन संचार साधनों का नियंत्रण–कभी मीडिया को सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित किया जाता है और कभी सरकारी अधिनियमों द्वारा अप्रत्यक्ष रुप से। सरकार के प्रति सहानुभूति रखने वाला मीडया जनता और कार्यपालकों से बात करता है। सेन्सरशिप विशेष रूप से युद्ध काल में बहुत सामान्य बात है।

5. राष्ट्रीय सुरक्षा की सनक–सरकार द्वारा भय को एक प्रेरक यंत्र के रूप में जन समूह के ऊपर प्रयोग किया जाता है।

6. धर्म और सरकार अन्तर्सम्बन्धित हैं–फासीवादी राष्ट्रों में सरकारों द्वारा धर्म को जनमत निर्माण को प्रभावित करने के यंत्र के रुप में प्रयुक्त किया जाता है। धार्मिक वाकपटुता और शब्दावली सरकारी नेताओं के लिए आम बात है। यहाँ तक कि तब भी जब धर्म के प्रमुख तत्व या सिद्धान्त सीधे रुप से सरकार की नीतियों तथा कार्यों का सीधा विरोध करते हों।

7. मजदूर शक्ति को कुचल देना–चूँकि फासीवादी सरकार को संगठित मजदूर शक्ति से केवल वास्तविक खतरा है इसलिए या तो मजदूर संघों को पूर्णतया समाप्त कर दिया जाता है या फिर बुरी तरह कुचल दिया जाता है।

8. अपराध और दण्ड के प्रति अति जोश–फासीवादी शासन में पुलिस को कानूनों को लागू करने हेतु असीमित अधिकार प्रदान किये जाते हैं। लोग अक्सर पुलिस अत्याचार को अनदेखा करने की इच्छा रखते हैं और यहाँ तक कि देशभक्ति के नाम पर नागरिक स्वतंत्रओं को त्यागने के लिए तत्पर रहते हैं।

9. कला और बुद्धिजीवियों की अवहेलना–फासीवादी राष्ट्र उच्च शिक्षा एवं शिक्षा जगत का खुला विरोध करते हैं। प्रोफेसर और अन्य शिक्षाविद्ों पर प्रतिबन्ध और उनकी गिरफ्तारी कोई असामान्य बात नहीं है। कला और साहित्य में स्वतंत्र अभिव्यक्ति का कठोर विरोध होता है।

10. कार्पोरेट शक्ति की रक्षा–फासीवादी राज्य में औद्योगिक एवं व्यावसायिक कुलीनतंत्रता अक्सर सरकारी नेताओं को सत्ता प्रदान करती है। जिससे व्यावसायिक/सरकारी और शक्ति अभिजनों के मध्य पारस्परिक लाभप्रद सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं।

11. एकीकरण हेतु शत्रुओं/बलि के बकरों की पहचान–जनता को एकीकृत करने एवं देशभक्ति की भावना हेतु शत्रुओं को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है– जातीय, धार्मिक, अल्पसंख्यक, उदारवादी, साम्यवादी, समाजवादी, आतंकवादी आदि शत्रु के रुप में देखे जाते हैं।

12. फासीवादी राज्यों में सरकार लगभग पुरूष प्रधान होती है। फासीवादी शासन में पारम्परिक लैंगिक भूमिका और कठोर बना दी जाती है। तलाक, गर्भपात और समलैंगिकता का दमन किया जाता है और राज्य को परिवार रूपी संस्था के अन्तिम संरक्षक के रूप में प्रतिबिम्बित किया जाता है।

13. फासीवादी शासन लगभग प्रायः मित्रों एवं सहयोगियों के समूह द्वारा शासित होता है जो सरकारी पदों पर एक दूसरे को नियुक्त करते हैं और

सरकारी शक्ति और सत्ता का प्रयोग अपने मित्रों को जवाबदेही (accontibility) से बचाने के लिए करते हैं। फासीवादी राज्य में यह असामान्य नहीं है। राष्ट्रीय संसाधन और यहाँ तक कि कोष को सरकारी नेताओं द्वारा अलग कर दिया जाता है या प्रत्यक्षतः हड़प लिया जाता है।

14. कभी–कभी फासीवादी राज्यों में निर्वाचन पूर्णत्या पाखण्ड होते हैं। निर्वाचनों में जोड़–तोड़ होता है या गलत प्रचार या विपक्षी उम्मीदवारों की हत्या, मतदान संख्या या राजनीतिक जिलों की सीमा को नियंत्रित करने हेतु विधायन का प्रयोग किया जाता है और मीडिया में भी जोड़–तोड़ की जाती है। निर्वाचन को नियंत्रित या जोड़–तोड़ करने हेतु न्यायपालिका का भी विशिष्ट रूप से प्रयोग किया जाता है।

21.6 फासीवाद की आलोचना

फासीवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने से पूर्व हमें इसकी कुछ उपलब्धियों पर ध्यान अवश्य देना चाहिए। फासीवाद के प्रशंसक तत्कालीन परिस्थितियों में इटली में मुसोलिनी के कार्यों की प्रशंसा करते हैं। इटली में फासीवाद ने तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक–प्रभावी प्रशासन, आन्तरिक शांति व सुरक्षा, राष्ट्रीय वित्त में वृद्धि, औद्योगिक प्रतिष्ठानों का अनुशासनपूर्ण प्रबंध तथा अधिक उत्पादन, राष्ट्र के प्राकृतिक संसाधनों का प्रभावी दोहन, श्रम व पूंजी में सौहार्द एवं सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध, संचार के बेहतर साधन, सड़कों, पुलों और नालियों की बेहतर व्यवस्था। मुसोलिनी के आविर्भाव से पूर्व इटली पतन की अवस्था में था परन्तु फासीवादी नेताओं ने उत्थान और नई एकता उत्पन्न करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। फासीवादी शासन में इटली का सरकारी तंत्र अत्यधिक प्रभावी था। शीघ्र निर्णय लिये गये और ज्यादातर प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किये गये। इटली यह सिद्ध करने में सफल रहा कि शीघ्र निर्णय लेने और उनके प्रभावी क्रियान्वयन में संसदीय शासन की तुलना में अधिनायक व्यवस्था अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।

यद्यपि इटली में फासीवाद के सन्दर्भ में कही गयी उपर्युक्त बातें सत्य हैं किन्तु फासीवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। फासीवाद की आलोचना के विविध आधार निम्नवत हैं–

1. फासीवाद कोई सुसंगत विचारधारा नहीं है। यह अस्पष्ट है। यह विभिन्न स्रोतों से एकत्रित किये हुए विचारों का वह समूह है जो परिस्थितियों के अनुसार अनुकूल करने के लिए एक सूत्र में बाँध दिया जाता है। इसमें हीगल के राष्ट्रवाद, प्लेटो के कुलीनतंत्रीय शासन, बर्गसां का अबौद्धिकवाद तथा नीत्शे की शक्ति की इच्छा को एक राजनीतिक दर्शन में समाहित करने का प्रयास किया और इसलिए अस्पष्ट व असंगत बना रहा।

2. फासीवाद लोकतंत्र का विरोधी है। यह व्यक्ति की स्वतंत्रता को स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार राज्य साध्य हैं और व्यक्ति साधन। स्वतंत्रता, समानता तथा व्यक्ति के अधिकारों का विरोध करते हुए फासीवाद में सर्वोच्च नेता के नेतृत्व में सत्ताधारी दल अथवा विशिष्ट शासकीय वर्ग का गौरवगान किया जाता है। न्यायालय व प्रेस की स्वतंत्रता नहीं होती तथा निर्वाचन कार्य मात्र दिखावा होता है। यह प्रगतिशील नहीं प्रतिगामी विचारधारा है।

3. फासीवाद शक्ति पर अधिक विश्वास रखता है। प्रत्येक राजनीतिक क्रिया का श्रेष्ठ साधन शक्ति को मानता है परन्तु शक्ति कभी भी स्थायी और बाध्यकारी परिणाम न देने के रुप में जानी जाती है। किसी भी समाज के लिए शक्ति पर निर्भर रहना और उसे बनाये रखना एक दुष्कर कार्य है। किसी भी सरकार की विश्वसनीयता, स्थिरता एवं स्थायित्व तभी संभव है जब वह जनता की सहमति पर आधारित हो। शक्ति जर्मनी व इटली के फासीवादी राज्यों को बहुत दिनों तक जीवित नहीं रख सकी। जिसे शक्ति उत्पन्न करती है उसे शक्ति ही नष्ट करती है।

4. फासीवाद की स्वतंत्रता तथा समानता के विषय में अवधारणा दोषपूर्ण है। फासीवाद का यह मानना कि स्वतंत्रता मात्र कर्तव्य है और सशक्त राज्य में ही स्वतंत्रता सम्भव है, असत्य धारणा है। सत्यता यह है कि स्वतंत्रता तभी संभव है जब संविधान के अनुसार सीमित शक्तियों का प्रयोग करती है। असीमित सरकार की धारणा में व्यक्ति की स्वतंत्रता संभव नहीं होती है। स्वतंत्रता के बिना व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है। इसी प्रकार समानता की अवधारणा का अभिप्राय है कि सभी मनुष्यों को अपनी क्षमता के अनुसार स्वयं के विकास के समान अवसर प्राप्त होना परन्तु फासीवाद व्यक्तियों के कुछ समूह को श्रेष्ठ तथा अन्य को हीन मानते हैं और मानवीय असमानता में विश्वास करते हैं।

5. फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीय शांति, संगठन एवं कानून को अस्वीकार करता है जो वर्तमान युग में कोई भी राज्य स्वीकार नहीं करेगा। फासीवाद राष्ट्रों के मध्य युद्ध का समर्थन करते हैं जबकि युद्ध विजयी व पराजित दोनों ही राष्ट्रों के लिए हानिकारक एवं समस्या उत्पन्न करने वाला होता है। अगर फासीवाद द्वारा महिमा मंडित युद्ध को स्वीकार कर लिया जाये तो राष्ट्र का विकास बाधित होता है क्योंकि राष्ट्र के समस्त स्रोत युद्ध में लगा दिये जाते हैं। इसी तरह फासीवाद द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का विरोध भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसे संगठन राष्ट्रों के मध्य आर्थिक एवं सांस्कृतिक सहयोग की व्यवस्था करते हैं और सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र भी ऐसे संगठनों की अवहेलना नहीं कर पाते। भूमण्डलीकरण और नागरिक समाज के कारण फासीवाद की इन धारणाओं को स्वतः चुनौती मिलती है। साम्राज्यवाद की अवधारणा भी राष्ट्रों के मध्य निरन्तर संघर्ष को प्रोत्साहन देती है।

6. फासीवाद राज्य अत्यधिक केन्द्रित तथा बल प्रयोग पर आधारित होने के कारण शासन के प्रति अनुशासित व निष्ठावान नागरिकों को तो जन्म दे सकता है परन्तु ऐसा वातावरण ज्ञान–कला, विज्ञान तथा साहित्य के मार्ग में बाधा उत्पन्न करता है। यही कारण है कि फासीवादी इटली में सबसे अधिक कला एवं साहित्य प्रभावित हुआ।

7. फासीवादी अपने राष्ट्र तथा जाति की अत्यधिक प्रशंसा करते हैं। जातीय श्रेष्ठता की अवधारणा संकीर्ण धारण है। वास्तविकता यह है कि विश्व में सभी राष्ट्र समान हैं और कोई भी जाति किसी अन्य जाति से उच्च या निम्न नहीं है।

8. फासीवाद राज्य को अतिमहत्ता प्रदान करते हुए राज्य को साध्य और व्यक्ति को साधन मात्र मानता है जो उचित नहीं है। राज्य महत्वपूर्ण है तो व्यक्ति भी महत्वपूर्ण है। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा विकसित

होने पर फासीवाद राज्य की अवधारणा कटु आलोचना का पात्र बन गई है। राज्य हित व व्यक्तियों के हितों का उचित सामंजस्य ही किसी राज्य की सफलता का आधार हो सकता है।

9. फासीवाद द्वारा प्रतिपादित निगमात्मक राज्य की अवधारणा पूंजीपति व श्रमिकों के हितों के बीच तालमेल और सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास है परन्तु वास्तव में व्यवहारिक रूप में यह निकृष्ट और त्रुटिपूर्ण भी सिद्ध हुआ। इन निगमों द्वारा व्यवहार में फासीवादी व्यवस्था के प्रचार का एकमात्र कार्य सम्पादित किया गया और इनके द्वारा श्रमिाकों का शोषण और पूंजीपतियों का समर्थन देखने को मिलता है।

इस प्रकार फासीवाद अनेक आलोचनाओं से पूर्ण है। परन्तु हम अगर व्यापक दृष्टि से देखें तो संकटकाल में शीघ्र निर्णय, कठोर, अनुशासन और राष्ट्रीय एकता को महत्व प्रदान करने में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

21.7 फासीवाद और साम्यवाद

फासीवाद एवं साम्यवादी अवधारणाएँ 19वीं शताब्दी में लोकतंत्र के विरूद्ध प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुयीं, दोनों में कुछ समानताएं हैं तो कुछ विशिष्ट असमानताएं भी हैं। सर्वप्रथम फासीवाद व साम्यवाद में निम्न समानताएं हैं–

1. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही विश्वयुद्ध की परिस्थितियों का परिणाम है। इटली एवं सोवियत संघ के नेताओं ने अपने–अपने देश में उत्पन्न परिस्थितियों का लाभ उठाकर अपनी सत्ता स्थापित की।

2. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही सर्वाधिकारवादी राज्य की अवधारणा में विश्वास करते हैं। प्रजातांत्रिक साधनों में उनका कोई विश्वास नहीं है। संसदीय प्रजातंत्र को वे असक्षम एवं अप्राकृतिक कहकर आलोचना करते हैं। दोनों ही शक्ति में विश्वास और जनता के स्वैच्छिक सहयोग को अस्वीकार करते हैं। दोनों ही अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वैध व शान्तिमय साधनों के प्रयोग के पक्ष में नहीं है।

3. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही एकाधिकारवादी अवधारणाएँ हैं। दोनों के ही अनुसार राज्य की सत्ता और अधिकारों की कोई सीमा नहीं है। दोनों ही यह मानती हैं कि राज्य को व्यक्ति के समग्र जीवन पर नियंत्रण रखना चाहिए और दोनों ही व्यक्तिवाद विरोधी अवधारणा है।

4. फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही एक दल के अधिनायकत्व में विश्वास करते हैं और दूसरे दलों के अस्तित्व एवं कार्यों को अनुमति नहीं देते हैं।

5. फासीवाद व साम्यवाद दोनों ही हीगल की राज्य की अवधारणा से प्रभावित हैं। दोनों ही विस्तारवादी अवधारणा है और दोनों राजनीति में नैतिकता की स्वीकार नहीं करते।

6. आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक प्रतियोगिता की उपादेयता को दोनों ही अवधारणाएँ स्वीकार नहीं करतीं। इन दोनों के अनुसार समाज के आर्थिक जीवन पर पूर्ण राजकीय नियंत्रण होना चाहिए जिससे आर्थिक व्यवस्था को सार्वजनिक हित साधन की दृष्टि से चलाया जा सके।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी फासीवाद व साम्यवाद में निम्नलिखित असमानताएँ हैं–

1. फासीवाद एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना करना चाहता है जो व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर नियंत्रण कर समाज का विकास करना चाहता है। अतः फासीवाद राज्य के स्थायित्व में विश्वास करता है जबकि साम्यवाद वर्गविहीन समाज की स्थापना के बाद राज्य के विलुप्त होने की बात करता है।

2. साम्यवादी निजी सम्पत्ति की समाप्ति के द्वारा वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं, जबकि फासीवादी पूंजीपति व श्रमिक दोनों वर्गों के अस्तित्व को स्वीकारते हैं और निगमात्मक राज्य में दोनों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं।

3. साम्यवाद धर्म विरोधी है और धर्म को अफीम की भाँति मानता है। फासीवाद धर्म को बनाये रखना चाहता है। यहाँ तक कि फासीवादियों ने इटली में चर्च से समझौता किया और यथासंभव चर्च से सहयोग प्राप्त किया।

4. साम्यवाद पूंजीवाद का कट्टर विरोधी है। उत्पादन और वितरण के सभी साधनों पर निजी स्वामित्व को समाप्त करना चाहता है। इसके विपरीत फासीवाद पूंजीवाद एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार पर आधारित अर्थव्यवस्था को अनुचित न बताकर उपयोगी मानता है, क्योंकि उसी के अन्तर्गत देश की आर्थिक व्यवस्था की क्षमता में वृद्धि होती है।

5. साम्यवाद वर्ग–संघर्ष के अस्तित्व को स्वीकर कर वर्गविहीन समाज की कल्पना करता है जबकि फासीवाद वर्ग सहयोग और विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को बनाये रखने का समर्थन करता है।

6. फासीवाद मानवीय असमानता को स्वीकार करता है तथा नस्ल, जाति की श्रेष्ठता की बात करता है। फासीवाद स्त्री–पुरूष असमानता का प्रतिपादन करता है जबकि साम्यवाद समानता की बात करता है उसका नस्ल, जातीय श्रेष्ठता तथा स्त्री–पुरूष असमानता में कोई आस्था नहीं है।

7. साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास करता है और इसके प्रभाव क्षेत्र का फासीवाद की तुलना में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। यह विश्व के श्रमिकों को एक होने की बात करता है। फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार चाहे पूंजीपति हो और चाहे श्रमिक सभी को राष्ट्रहित हेतु अपना सर्वस्व त्यागने के लिए तत्पर रहना चाहिए। फासीवाद राष्ट्रवाद का समर्थक है और साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीयवाद का।

8. नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फासीवाद का नीतिशास्त्र एक विकृत नीतिशास्त्र था। साम्यवाद बुद्धि प्रधान विचारधारा है जबकि फासीवाद बुद्धि–विरोधी दर्शन है।

21.8 सारांश

बीसवीं शताब्दी में मुसोलिनी के नेतृत्व में जिस विचारधारा का उदय हुआ उसे फासीवाद कहा जाता है। फासीवाद एकता व शक्ति के प्रतीक इटालिन भाषा

के fascio शब्द से उत्पन्न हुआ है। इटली में फासीदल का लक्ष्य वर्ग संघर्ष पर आधारित समाजवादी समाज व्यवस्था के स्थान पर राजकीय नियंत्रण के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता पर आधारित समाज का निर्माण करना था। फासीवाद का एक ही नारा था– एक दल, एक राष्ट्र एवं एक नेता। थोड़े परिवर्तन के साथ यही विचारधारा जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में प्रस्फुटित हुई जिसे नाजीवाद के नाम से जाना गया। फासीवाद व नाजीवाद पर कई विचारधाराओं–सामाजिक डार्विनवाद, अबौद्धिकवाद, परंपरावाद, आदर्शवाद और व्यवहारवाद का प्रभाव पड़ा, इन्हें फासीवाद के स्रोत के रूप में जाना जाता है। फासीवाद अविवेक में विश्वास करता है तथा लोकतंत्रीय धारणाओं–स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृत्व अधिकार को महत्व नहीं देता और स्वतंत्रता को जनता के कर्तव्य के रूप में स्वीकार करता है। फासीवाद मात्र एक दल की व्यवस्था में विश्वास करता है और सर्वाधिकारवादी राज्य की अवधारणा में निष्ठा रखता है। स्त्रियों को पुरूषों की तुलना में निम्न स्थान दिया जाता है और जातीय एवं नस्लीय श्रेष्ठता के साथ ही विशिष्ट वर्ग के शासन को प्रश्रय देता है। उग्र राष्ट्रवाद को अपनाने के कारण फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, संगठनों के विरूद्ध है और युद्ध और हिंसा को राज्य के जीवन में आवश्यक मानता है। साम्यवाद के विपरीत यह पूंजीवादी वर्ग को समाप्त नहीं करना चाहता वरन् पूंजीपति वर्ग एवं श्रमिक वर्ग में सहयोग एवं सामंजस्य स्थापित करना चाहता है। फासीवाद निगमात्मक राज्य की कल्पना द्वारा अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत, सामूहिक एवं श्रमिकों के हितों का सामंजस्य करना चाहता था। फासीवाद अपने लक्ष्य एवं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु हिंसा एवं बल प्रयोग का सहारा लेता है और विरोधियों को पूर्णतया समाप्त करने का प्रयास करता है। नजरबन्दी एवं श्रम शिविरों द्वारा विरोधियों का ब्रेनवाश करने या समाप्ति का कार्य किया जाता है। इस प्रकार फासीवादी शासन में स्थायी राष्ट्रवाद को मान्यता दी जाती है, सेना की सर्वोच्चता, जनसंचार साधनों पर राजकीय नियंत्रण, कला व साहित्य की अवहेलना की जाती थी। निर्वाचन का कार्य मात्र पाखण्ड होता है और विशिष्ट वर्ग प्रभावी रहता है। फासीवाद की अनेक आधारों पर आलोचना की जाती है। फासीवाद इटली व जर्मनी में बहुत दिनों तक प्रभावी नहीं रह सका। फासीवाद वह विचारधारा है जिसे द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। फासीवाद कोई सुसंगत, क्रमबद्ध व स्पष्ट विचारधारा नहीं है। राज्य को साध्य व व्यक्ति को साधन मानना व लोकतंत्र का विरोध करना, शक्ति व हिंसा पर विशेष बल देना, स्वतंत्रता व समानता की अवहेलना करना फासीवाद की सबसे बड़ी कमजोरी थी। फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही लोकतंत्र के विरूद्ध प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए हैं तथा सर्वाधिकारवादी राज्य तथा हीगल की राज्य की अवधारणा से प्रभावित हैं दोनों ही एकदल में विश्वास करते हैं पर फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फासीवाद पूंजीपति वर्ग को समाप्त नहीं करना चाहते वरन् श्रमिक व पूंजीपति दोनों वर्गों में सहयोग चाहते हैं जबकि साम्यवाद वर्गविहीन समाज की कल्पना करते हैं। दोनों में पर्याप्त अन्तर है। फासीवाद असमानता तथा साम्यवाद समानता, फासीवाद अंश राष्ट्रवाद और साम्यवाद राज्य के विलुप्त होने की बात करता है। वर्तमान भूमण्डलीकरण के युग में जब सीमाएं संकुचित हो रही हैं नागरिक समाज प्रभावी हो रहे हैं वहाँ फासीवाद की अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति संगठन को अस्वीकार करना, नस्लीय एवं जातीय श्रेष्ठता को प्रोत्साहित करना कहीं से भी स्वीकार्य नहीं है।

21.9 शब्दावली

TESLA-024

सत्तावाद – वह सिद्धान्त जिसमें कोई प्रामाणिक या आधिकारिक सत्ता स्थापित कर दी जाती है तथा उसी के आदेशों या निर्देशों को

उपयुक्त मानकर उनका पालन किया जाता है। इनसे प्रभावित व्यक्तियों की व्यक्त या अव्यक्त सहमति प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती।

राज्यसत्तावाद – वह सिद्धान्त जिसके अनुसार प्रभुसत्ता राष्ट्र में निहित है, जनसाधारण में नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार सब व्यक्तियों और संघों का उद्देश्य राज्य की शक्ति, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य को बढ़ाना है।

व्यक्तिवाद – 19वीं शताब्दी की विचारधारा जिसके अनुसार व्यक्ति को अपना विकास करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए और राज्य को केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में आने वाली वाह्य एवं आन्तरिक बाधाओं को दूर करना चाहिए।

21.10 उपयोगी पुस्तकें

1. ओम प्रकाश गाबा (2004), राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा।
2. डॉ. बी.आर. पुरोहित (2007), राजनीति शास्त्र के मूल सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3. पंत, जैन, गुप्ता राजनीतिकशास्त्र के आधार, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस इलाहाबाद, 2009।
4. सं0 ज्ञान सिंह संधु, राजनीति सिद्धान्त हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली 2004।
5. जे0सी0 जौहरी एवं सीमा जौहरी, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा0 लि0 2001।

21.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न** :

   (अ) फासीवाद का अर्थ व फासीवादी शासन की विशेषताएं संक्षेप में बताइए।

   (ब) फासीवाद के मूल सिद्धान्तों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

   (स) फासीवाद के विकास का वर्णन कीजिए।

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न**

   (अ) फासीवादी दर्शन के स्रोतों का वर्णन कीजिए।

   (ब) फासीवाद की कार्यविधि का वर्णन कीजिए।

   (स) फासीवाद और साम्यवाद की तुलना कीजिए।

3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**

(अ) फासीवाद किसका पक्षधर है–

(i) क्षेत्र–प्रतिनिधित्व

(ii) साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व

(iii) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

(iv) उक्त सभी

(ब) फासीवाद के अनुसार अधिकारों का स्रोत है–

(i) प्रकृति

(ii) ईश्वर

(iii) व्यक्ति

(iv) राज्य

(स) मुसोलिनी द्वारा गठित दल का नाम था–

(i) नाजी दल

(ii) बोल्शेविक दल

(iii) फासीदल

(iv) अनुदारवादी दल

(द) निम्न में से कौन सा कथन फासीवादी विचारधारा के अनुरूप है–

(i) जनता के लिए धर्म अफीम के समान है।

(ii) राज्य को हमेशा विस्तार के लिए प्रयास करना चाहिए।

(iii) उद्योगपतियों को अपनी उत्पादन नीति स्वयं निर्धारित करनी चाहिए।

(iv) फासीवाद राज्य का अन्तर करना चाहता है।

(य) फासीवाद स्वीकार करता है–

(i) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भूमिका को

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून को

(iii) स्थायी शान्ति को

(iv) हिंसा अपरिहार्य साधन के रूप में

(र) फासीवाद स्वीकार करता है–

(i) लोकप्रिय सम्प्रभुता के सिद्धान्त को

(ii) सम्प्रभुता के बहुलवादी सिद्धान्त को

(iii) राज्य की सम्प्रभुता को

(iv) उपर्युक्त में से किसी को नहीं

21.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. दीर्घउत्तरीय प्रश्न

(अ) देखिए इकाई का 21.2 एवं 21.5.2 अंश

(ब) देखिए इकाई का 21.5 एवं 21.8 अंश

(स) देखिए इकाई का 21.3 अंश

2. लघुउत्तरीय प्रश्न

(अ) देखिए इकाई का 21.4 अंश

(ब) देखिए इकाई का 21.5.1 अंश

(स) देखिए इकाई का 21.9 अंश

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(अ) (iii)

(ब) (iv)

(स) (iii)

(द) (ii)

(य) (iv)

(र) (iii)

इकाई 22

साम्राज्यवाद

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा

22.3 साम्राज्यवाद का विकास

22.4 साम्राज्यवाद के कारण

22.5 साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

22.5.1 लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

22.5.2 मार्गेन्थाऊ के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

22.6 साम्राज्यवाद के विविध रूप

22.7 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नव–उपनिवेशवाद

22.8 सारांश

22.9 शब्दावली

22.10 उपयोगी पुस्तकें

22.11 सम्बन्धित प्रश्न

22.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

एक देश की विस्तारवादी नीति साम्राज्यवादी कहलाती है और इस इकाई का अध्ययन करके आप :

- साम्राज्यवाद का अर्थ समझ सकेंगे।
- साम्राज्यवाद के विकास के विविध चरणों को समझ सकेंगे।
- साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में विचारकों के विचारों को जान सकेंगे।
- साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद एवं नव उपनिवेशवाद को समझ सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

TESLA-024

साम्राज्यवाद एक सरकार द्वारा दूसरों पर शासन अथवा प्रभाव का विस्तार है। यह नियंत्रण अथवा प्रभाव औपचारिक, अथवा अनौपचारिक प्रत्यक्ष अथवा

अप्रत्यक्ष, राजनीतिक अथवा आर्थिक किसी भी रूप में हो सकता है। इसके द्वारा नये उपनिवेशों को प्राप्त करना व पुरानों को बनाए रखने का प्रयास किया जाता है। यह पूंजीवादी संबंधों के आर्थिक विकास का एक चरण है। साम्राज्यवाद आधुनिक समय की विचारधारा नहीं है वरन् व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ के साथ ही यह आरम्भ हो गई थी। वरन् व्यक्ति के राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ के साथ ही यह आरम्भ हो गई थी। प्राचीनकाल में सिकन्दर महान की विश्व विजय की आकांक्षा, रोमन साम्राज्य, भारत में राजसूय यज्ञ, विशाल साम्राज्यों की स्थापना जिसमें राजनीतिक नियंत्रण का विस्तार प्रमुख उद्देश्य होता था साम्राज्यवाद के लक्षण हैं। परन्तु 15वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के बाद उत्पादित माल के खपत और कच्चे माल की प्राप्ति हेतु शक्तिशाली देशों यथा ब्रिटेन, फ्रांस, इंग्लैण्ड, पुर्तगाल, जर्मनी, इटली, हालैण्ड, स्पेन आदि ने नये बाजार क्षेत्रों की तलाश में व्यापारिक कम्पनियों के माध्यम से आर्थिक साम्राज्यवाद को प्रोत्साहित किया। साम्राज्यवाद के लक्ष्यों की समय–समय पर भिन्नता के उपरान्त भी यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि साम्राज्यवाद साम्राज्य–निर्माण की व्यवस्था का प्रतीक है। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें शक्तिशाली देश निर्बल देशों के भाग्य पर अधिकतम सीमा तक नियंत्रण रखना चाहते हैं। कभी पिछड़ों का उत्थान करने, असभ्यों को सभ्य बनाने, गोरे लोगों के दायित्व आदि तर्कों के माध्यम से शक्तिशाली देश इसे सही सिद्ध करना चाहते हैं जबकि निर्बल देश इसे अभिशाप मानते हैं। प्रस्तुत इकाई में हम साम्राज्यवाद का अर्थ, परिभाषा, साम्राज्यवाद के विकास के विविध चरण और साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराओं को समझने का प्रयास करेंगे

22.2 साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्यतः साम्राज्यवाद एक देश द्वारा अपनी सीमाओं से पार या दूर अपनी शक्ति के विस्तार की नीति को कहते हैं। साम्राज्यवाद को अलग–अलग विद्वानों ने अलग–अलग रूपों में परिभाषित करने का प्रयास किया है।

पारकर मून के शब्दों में साम्राज्यवाद इच्छुक अथवा अनिच्छकु लोगों पर आर्थिक अथवा राजनीतिक नियंत्रण है। साम्राज्यवाद में एक देश दूसरे पर राजनीतिक प्रभुसत्ता स्थापित करता है या आर्थिक शोषण करने के उद्देश्य से नियंत्रण स्थापित करता है। साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप एक सशक्त व बड़ा राज्य दूसरे अनेकों छोटे–छोटे राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है।

बॉन के अनुसार 'साम्राज्यवाद वह नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य अर्थात एक ऐसे राज्य का निर्माण करना, उसका संगठन करना तथा उसे बनाए रखना होता है जो आकार में विशाल हो और जिसमें न्यूनाधिक रूप से अनेक इकाईयाँ सम्मिलित हों तथा जो एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन हो।

बर्न्स के अनुसार 'विविध देशों व जातियों पर एक प्रकार के कानून व शासन की व्यवस्था साम्राज्यवाद है : यह एक राष्ट्र को साम्राज्य बनाने का एक तरीका है, एक राष्ट्र का प्रसार, उसका फैलाव। कई बार उपनिवेशवाद जिसका अधिकांशतः आर्थिक स्वरूप होता है तथा अधिकांशतः राजनीतिक स्वरूप वाले साम्राज्यवाद में अन्तर किया जाता है। मार्क्सवादी विचारक साम्राज्यवाद को आर्थिक रूप से स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। लेनिन ने अपनी पुस्तक Imperialism : The Highest Stage of Capitalism में साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का उच्चतम् चरण बताया है।

कार्ल काटस्की ने चरम साम्राज्यवाद अथवा अति साम्राज्यवाद को पूंजीवाद की अंतःशक्ति अर्थात् सम्भाव्य शक्ति कहा था। हाब्सन ने अपनी पुस्तक Imperialism में साम्राज्यवाद को उपनिवेशी क्षेत्रों के लिए प्रतिस्पर्द्धा तथा अन्य देशों में बाजार प्राप्त करने का संघर्ष कहा। हॉब्सन के अनुसार साम्राज्यवाद का अर्थ है– (1) नये बाजारों की तलाश (2) कच्चे माल के लिए स्रोतों की प्राप्ति (3) अतिरिक्त पूंजी का निवेश। एस.एल. फ्यूर (S.L. Feur) ने साम्राज्यवाद के दो प्रमुख उप प्रकार बताये हैं–पहला प्रतिगामी साम्राज्यवाद जिसमें पूर्ण विजय, शुद्ध रूप से बल प्रयोग, असंदिग्ध शोषण, अनइच्छित या विरोधी व्यक्तियों को ऐसे क्षेत्रों में बसाना सम्मिलित है। फ्यूर द्वारा चिन्हित साम्राज्यवाद का दूसरा प्रकार प्रगतिशील साम्राज्यवाद है जो मानवता के विश्वव्यापी विचार पर आधारित है जो पिछड़े समाजों के जीवन स्तर को सुधारने के उद्देश्य से सभ्यता का विस्तार और विजित क्षेत्रों में संस्कृति को प्रोत्साहित करते हैं। वे उपनिवेशी व्यक्तियों को साम्राज्यवादी समाज में एकीकृत करने की अनुमति देते हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटिश साम्राज्य जो अपने प्रजाजनों को अनेक सुविधाएँ प्रदान करने का दावा करते हैं।

हिलफ रडिंग ने Finance Capital :"A Study of the Latest Phase in Capitalist Development में पूंजी के संचयन में पूंजीवादी राज्यों के बढ़ते दमन व अत्याचार को देखा जिसके फलस्वरूप औपनिवेशिक प्रतिद्वन्दिता बढ़ती है तथा मानव जाति युद्ध की ओर अग्रसर होती है। शुम्पीटर का मानना है कि साम्राज्यवाद क्षेत्रीय विस्तार हेतु आक्रामक प्रवृत्तियों को जन्म देता है। वैलीस्टीन ने The Modern World-System में कहा कि साम्राज्यवाद क्षेत्रीय, विजय का नाम नहीं है अपितु एक ऐसी विश्वव्यापी व्यवस्था है जिसमें औद्योगिक व विकसित देश, अपने वित्तीय पूंजी के कारण गरीब देशों पर व्यापारिक आधिपत्य स्थापित करते हैं। संभवतः उसका संकेत स्पष्टतः भूमण्डलीकरण की ओर था। इनसाइक्लोपीड़िया ऑफ साइन्सेज में साम्राज्यवाद की परिभाषा इस प्रकार है– 'साम्राज्यवाद एक नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य अथवा एक ऐसे विशाल राज्य का निर्माण, संगठन और अनुरक्षण करना होता है जो न्यूनाधिक भिन्न प्रकार की राष्ट्रीय इकाइयों के संयोग से बना हो और एक केन्द्रीय इच्छा के अधीन हो।' विद्वानों द्वारा प्रतिपादित साम्राज्यवाद की परिभाषाओं में न्यूनाधिक मात्रा में साम्राज्यवाद की निम्न विशेषताएँ स्पष्ट होती हैः–

1. साम्राज्यवाद में राज्य अपनी सीमाओं में निरन्तर वृद्धि करने में विश्वास रखता है।
2. साम्राज्यवाद में राज्य अन्य देशों को अपने अधीन करके उनका शोषण करता है।
3. आधुनिक साम्राज्यवाद का उद्देश्य मुख्यतः आर्थिक शोषण होता है परन्तु कभी–कभी सैनिक व राजनीतिक शोषण भी हो सकता है।
4. साम्राज्यवाद में प्रभुत्व का एक ही केन्द्र होता है और विविध राष्ट्रीय इकाईयों पर एक ही राष्ट्र का प्रभुत्व होता है।
5. साम्राज्यवाद का सम्बन्ध राष्ट्र की विदेश नीति से है।
6. मारगेन्थाऊ के अनुसार जिन राज्यों के पास शक्ति का बाहुल्य है वे निरन्तर अपनी शक्ति वृद्धि करने का प्रयास करेंगे। ऐसे राज्यों की नीति परिवर्तनकारी होती है और जब ऐसे राज्यों की शक्ति विस्तार की लालसा अपने चरम पर पहुँच दूसरों का शोषण करने लगती है तब वह राज्य साम्राज्यवादी नीति अपनाने लगता है। यथास्थितिवादी राज्य यथाशक्ति

विद्यमान शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना चाहते हैं। परन्तु परिवर्तनकारी विद्यमान शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना चाहते हैं परन्तु परिवर्तनकारी विद्यमान शक्ति सन्तुलन को उलटकर और अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

7. साम्राज्यवादी राज्यों के पास अपने अधीनस्थ राज्यों की तुलना में अपेक्षाकृत उन्नत तकनीक, अस्त्र–शस्त्र, रणनीति कौशल, अधिक पूंजी और उत्पादन के उन्नत साधन होते हैं।

22.3 साम्राज्यवाद का विकास

साम्राज्यवाद कोई अर्वाचीन धारणा नहीं है। अति प्राचीनकाल में भी साम्राज्यवाद अस्तित्व में था। सिकन्दर महान की विश्वविजय की महत्वाकांक्षा साम्राज्यवाद का ही रूप था। यूनान के एक छोटे से नगर–राज्य (मकदूनिया) के शासक सिकन्दर ने मध्यपूर्व के क्षेत्र को अपने राज्य में सम्मिलित करके यूनानी राज्य की स्थापना की। सिकन्दर की मृत्यु के बाद यूनानी साम्राज्य बिखर गया। उसके बाद रोमन साम्राज्य स्थापित हुआ और पाँचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यह साम्राज्य विखण्डित हो गया। प्राचीन काल में मिस्र, सुमेर, ईरान आदि भी विशाल साम्राज्य के उदाहरण हैं। भारत में प्राचीन युग में मौर्य, कुषाण, गुप्त तथा मध्ययुग में तुर्क और मुगल साम्राज्य ने अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। इन साम्राज्यों के सम्राटों का मुख्य उद्देश्य विजित जातियों से कर वसूल करना, उनकी भूमि पर अधिकार कर लेना, अपनी राजनीतिक शक्ति तथा प्रतिष्ठा की वृद्धि करना और अपनी सभ्यता व संस्कृति का प्रसार करना होता था। साम्राज्यवाद के विकास का यह युग प्राचीन माना जाता है।

साम्राज्यवाद का आधुनिक युग 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरम्भ माना जाता है। औद्योगिक क्रांति की अपार सफलता के कारण आधुनिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ। उत्पादन में वृद्धि होने से स्थानीय बाजार अपर्याप्त होने लगे और मशीन निर्मित वस्तुएं सस्ती भी होती थीं उनकी खपत के लिए नये बाजारों की उपलब्धता अपरिहार्य हो गयी। अतः यूरोप के कुछ उन्नत देशों जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, बेल्जियम, स्पेन, जर्मनी तथा इटली के नये पूंजीपति वर्ग ने अफ्रीका, एशिया तथा लैटिन अमेरिका के क्षेत्रों में नये बाजार खोजने की कोशिश की। उनके द्वारा गठित व्यापारिक कंपनियों ने उक्त क्षेत्रों में अपने बाजार क्षेत्र बनाने का प्रयास किया, जिसे तृतीय विश्व के नाम से जाना जाता है। उपनिवेश बनाना और व्यापार के द्वारा लाभ कमाना इस साम्राज्य के मुख्य उद्देश्य थे। तृतीय विश्व के देशों पर एकाधिकार की होड़ में विभिन्न देशों के मध्य टकराव व युद्ध हुए। भारत में ब्रिटिश व फ्रांसीसी ईस्ट इण्डिया कम्पनियाँ भी प्रादेशिक विजय, विलय तथा संरक्षण संबंधी नीति के कारण संघर्षरत रही। यूरोपीय जातियों ने पूर्वी देशों में पहुँचने के लिए सामुद्रिक मार्गो को ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया और कोलम्बस ने अमरीका व वास्कोडिगामा ने भारत की खोज की। इस दिशा में स्पेन और पुर्तगाल की पहल के बाद इंग्लैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड और यूरोपीय देश आगे आये। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीपों में अनेक जातियाँ निवास करती थीं और उनमें से कुछ बहुत प्रसिद्ध थीं परन्तु यूरोपीय जातियों विशेषतया स्पेन और इंग्लैण्ड ने इस जातियों को अत्यन्त कुटिल तरीके से, छल–कपट और हिंसा के बल पर संहार किया। 1815 की वाटरलू लड़ाई भी साम्राज्यवादियों का शक्ति संघर्ष का फल था जो वियना समझौते के रूप में सामने आया। संयुक्त राज्य अमरीका का मुनरो सिद्धान्त अमरीका के साम्राज्यवादी उद्देश्यों को द्योतक था। 19वीं शताब्दी

के मध्य तक लगभग पूरा अफ्रीकी, एशियाई और लैटिन–अमरीकी क्षेत्र विकसित देशों की दासता व शोषण के अधीन हो गया और साम्राज्यवाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। परन्तु इस प्रतिस्पर्द्धा में जर्मनी व इटली जैसे कुछ देश पिछड़ गये और उनके स्वार्थो की लड़ाई इंग्लैण्ड, फ्रांस आदि प्राचीन विशाल साम्राज्य वाले राष्ट्रों के बीच कटु संघर्ष में परिवर्तित हो गयी जिसका परिणाम 1914–1918 का प्रथम विश्वयुद्ध के रूप में सामने आया। इस युद्ध में जर्मनी व उसके सहयोगियों की पराजय हुई किन्तु पराजय को विजय में परिवर्तित करने का जर्मनी की प्रयास साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा बनाये रखने में सफल रहा और अन्ततः 1939–45 का द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप आस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की तथा रूस के साम्राज्य समाप्त हो गये। द्वितीय विश्वयुद्ध ने साम्राज्यों का तेजी से विघटन किया। ब्रिटेन को भारत, लंका, वर्मा, मलाया आदि छोड़ना पड़ा, इण्डोनेशिया ने हालैण्ड को और हिन्दचीन ने फ्रांस को बाहर कर राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना की। अफ्रीका महाद्वीप में भी साम्राज्यवाद का तेजी से पराभव हुआ और अनेकों देश यूरोपीय दासता से मुक्त हो गये। एशिया, अफ्रीका व लैटिन अमरीकी देशों की स्वतंत्रता ने एक नये समूह को जन्म दिया जो तृतीय विश्व के रूप में जाने गये।

तृतीय विश्व के देशों एवं पिछड़े देशों में साम्राज्यवाद का नया स्वरूप विकसित हुआ जिसे नव उपनिवेशवाद कहा गया। नव उपनिवेशवाद के द्वारा इन देशों का आर्थिक शोषण होता रहा। हाँ इन देशों पर राजनीतिक प्रभुत्व का अन्त हो गया परन्तु आर्थिक एवं सैन्य दृष्टि से निर्बल होने के कारण पूंजीवादी और शक्तिशाली देशों का उन पर अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण बना ही रहा । नये स्वतंत्र देशों की निर्बलता का अनुचित लाभ उठाते हुए वे उन पर कुटिलता व चालाकी से असमान संधियाँ थोपते हैं, उनके क्षेत्रों में सैनिक अड्डे स्थापित करते हैं और अप्रत्यक्ष रूप से उनके राजनीतिक जीवन में हस्तक्षेप करते हैं और कभी–कभी तो उन देशों में अपनी समर्थक सरकार स्थापना में भी सहयोग देते हैं। नवीन साम्राज्यवाद का उद्देश्य भी आर्थिक लूट करना ही है। बहुराष्ट्रीय निगम इस कार्य में सहयोग प्रदान करते हैं। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसे वर्तमान वित्तीय संस्थाओं को भी कुछ सीमा तक ऐसे अभिकरणों के रूप में देखा जाता है जो तृतीय विश्व के देशों पर औपनिवेशिक प्रभुत्व को सशक्त बनाती है। इच्छुक राष्ट्रों को ऋण प्रदान कर ये उन्हें बाध्यकारी नीतियों का अनुसरण करने को विवश करते हैं और अन्ततः ऐसे राष्ट्र ऋण चक्र में फंस जाते हैं। ब्राजील, पेरू, अर्जेटीना, मैक्सिको और फिलीपीन्स इनके उदाहरण माने जाते हैं।

22.4 साम्राज्यवाद के कारण

साम्राज्यवाद राज्य की नीति, व्यवहार या शक्ति और उपनिवेश का विस्तार है। विशेष रूप से प्रत्यक्ष क्षेत्रीय अधिग्रहण अथवा दूसरे क्षेत्रों पर राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण स्थापित करना है। चूंकि यह सदैव शक्ति का प्रयोग करता है चाहे सैन्य शक्ति अथवा कुछ धूर्त रूप, साम्राज्यवाद को अक्सर नैतिक दृष्टि से निंदनीय समझा जाता है और इसका प्रयोग विरोधी की विदेश नीति की आलोचना एवं निंदा करने हेतु प्रयोग किया जाता है।

प्राचीनकाल में साम्राज्यवाद मिस्र, बेबीलोन, असीरिया, ईरान, यूनान के शक्तिशाली साम्राज्यों के इतिहास में देखा जा सकता है। आतातायी असीरिया साम्राज्य को पर्शियन साम्राज्य द्वारा प्रतिस्थापित किया गया। असीरियन साम्राज्य

की तुलना में पर्शियन साम्राज्य द्वारा प्रजा के साथ उदारवादी व्यवहार के कारण इसका कार्यकाल अधिक रहा। अन्ततः इसने ग्रीस साम्राज्य को मार्ग प्रदान किया। सिकन्दर महान की अधीनता में जब ग्रीक साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा तब पूर्वमध्य तथा पश्चिमी एशिया के संघ की प्राप्ति हुई थी परन्तु विश्व के सभी नागरिक समानता एवं सौहार्द्ध से विश्वराज्य में रह सके, सिकन्दर का यह विचार सपना ही बना रहा। यह कुछ अंश में सच हुआ जब रोमन लोगों में ब्रिटेन से लेकर मिस्र तक अपना साम्राज्य बनाया।

आधुनिक काल में तीन कालखण्डों ने विशाल साम्राज्यों को देखा। प्रथमतः उपनिवेशकाल 15वीं और 18वीं सदी के मध्य इंग्लैण्ड, फ्रांस, नीदरलैण्ड, पुर्तगाल और स्पेन ने अमेरिका, भारत और ईस्टइण्डीज में अपना साम्राज्य फैलाया। उसके पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक साम्राज्यवाद निर्माण के सम्बन्ध में शान्ति रही क्योंकि साम्राज्यवाद के विरूद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई थी। उसके पश्चात् 19वीं शताब्दी के मध्य और विश्वयुद्ध प्रथम के मध्य का दशक तीव्र साम्राज्यवादी नीतियों का साक्षी रहा है। रूस, इटली, जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान साम्राज्यवादी राज्यों की श्रेणी में नवागन्तुक राज्य बने और अप्रत्यक्ष साधन विशेष रूप से आर्थिक नियंत्रण साम्राज्यवाद का प्राथमिक स्वरूप बना। प्रथम विश्वयुद्ध के एक दशक बाद बेहतर विश्व की अपेक्षा राष्ट्र संघ से प्रभावित होकर बढ़ी और साम्राज्यवाद की समस्या को स्थगित कर दिया गया। जापान ने अपने साम्राज्य निर्माण का कार्य 1931 में चीन पर आक्रमण करके किया और सर्वाधिकारवादी राज्य के नेतृत्व में जापान, फासीवादी इटली, नाजी जर्मनी और सोवियत संघ ने 1930 और 1940 के दशक में साम्राज्यवाद का नया काल प्रारम्भ किया।

अपने आधुनिक स्वरूप में साम्राज्यवाद के कारण और मूल्यों को चार प्रमुख समूहों में विभाजित किया जा सकता है–

प्रथम समूह आर्थिक तर्क रखता है और साम्राज्यवाद लाभकारी है या नहीं के प्रश्न के इर्द–गिर्द घूमता है। इस समूह के समर्थक यह तर्क देते हैं कि मानव एवं भौतिक संसाधनों के विकास के लिए साम्राज्यवाद हितकारी है। साम्राज्यवाद वस्तुओं के लिए आउटलेट, पूंजी निवेश और अतिरिक्त जनसंख्या को निवास हेतु एक साम्राज्य प्रदान करता है। इनके विरोध में जिसमें एडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो और जे.ए. हॉब्सन सम्मिलित हैं अक्सर यह स्वीकार करते हैं कि साम्राज्यवाद व्यक्तियों के एक छोटे और समर्थित समूह के लिए हितकारी है परन्तु पूर्ण राष्ट्र के लिए कभी नहीं। मार्क्सवादी सिद्धान्तवादी साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का अंतिम करण कहते हैं जब राष्ट्रीय पूंजीवादी अर्थव्यवस्था एकाधिकारवादी बन जाती है और अन्य पूंजीवादी राज्यों से प्रतिस्पर्धा में अपने अति उत्पादन, अतिरिक्त पूंजी के लिए बाजार जीतने के लिए बाध्य होते हैं। यह विचार लेनिन, और बुखारिन के हैं जो पूंजीवाद और साम्राज्यवाद को समान मानते हैं। इस विचार समूह में कमी यह है कि ऐतिहासिक प्रमाण इसका समर्थन नहीं करते हैं और यह पूंजीवाद से पूर्व की और साम्यवादी साम्राज्यवाद की व्याख्या करने में असफल है।

दूसरा तर्क समूह साम्राज्यवाद को मानव प्रकृति और मानव समूहों जैसे राज्य से जोड़ते हैं। विविध विचारकों जैसे मैकियावली, सर फ्रान्सिस बेकन, एडोल्फ हिटलर, मुसोलिनी ने अलग–अलग कारणों का वर्णन किया परन्तु फिर भी सभी का निष्कर्ष एक ही था। उनके लिए साम्राज्यवाद अस्तित्व के लिए संघर्ष का स्वाभाविक अंग है। जिनके पास श्रेष्ठतर गुण हैं वे दूसरों पर शासन करने के लिए ही बने हैं।

तीसरा तर्क समूह सुरक्षा एवं युद्ध कौशल या व्यूहरचना से सम्बन्धित है। राष्ट्र इस तर्क और विचार का सहारा लेकर सुरक्षा के लिए आधार क्षेत्र, युद्ध कौशल सम्बन्धी वस्तुएँ, बफर राज्य, प्राकृतिक सीमाओं और संचार लाईनों पर नियंत्रण करने का प्रयास करते हैं या अन्य राज्यों को इन्हें प्राप्त करने से रोकने का प्रयास करते हैं। वे लोग जो साम्राज्यवाद के महत्व को इन उद्देश्यों के आधार पर अस्वीकार करते हैं वे ध्यानाकर्षित करते हैं कि इससे सुरक्षा प्राप्त नहीं होती है। राज्य का अपनी सीमाओं से बाहर लोगों पर नियंत्रण का विस्तार मनमुटाव की संभावना उत्पन्न करता है। इसलिए असुरक्षा, प्रतिस्पर्द्धी राज्यों के सुरक्षा परिक्षेत्र और प्रभाव क्षेत्रों का शीघ्र या विलम्ब से परिवर्तित होने के लिए बाध्य है। सुरक्षा उद्देश्यों से सम्बन्धित तर्क है कि राज्यों के अपने हित के लिए शक्ति और सम्मान के प्रयास में राज्य साम्राज्यवादी हो जाते हैं

तर्कों का चौथा समूह नैतिकता पर आधारित है, कभी–कभी आतातायी शासन से जनता को मुक्ति दिलाने की दृष्टि से साम्राज्यवाद को क्षमादान दिया जाता है या जीवन के श्रेष्ठतर साधनों को उपलब्ध कराने की दृष्टि से साम्राज्यवाद का समर्थन किया जाता है।

साम्राज्यवाद विभिन्न मिश्रित कारणों का परिणाम है जिसमें आर्थिक दबाव, मानव की आक्रामकता और लोभ, सुरक्षा की खोज, शक्ति व प्रतिष्ठा की भूख, राष्ट्रवादी भावनाएँ, मानवतावाद और अन्य अनेक कारक अलग–अलग मात्रा में प्रभावी होते हैं। मिश्रित प्रेरकों के कारण साम्राज्यवाद को समाप्त करना कठित है परन्तु राज्यों को स्वयं इसका पीड़ित बताना सरल हो जाता है। तृतीय विश्व के कुछ राज्यों ने पूर्व उपनिवेशवादी शक्तियों और अन्य राज्यों को नव उपनिवेशवाद का दोषी बताया है। उनका भय है कि आर्थिक एवं तकनीकी विकास हेतु सहायता अनुदान और कौशल युक्त कर्मचारियों की आपूर्ति साम्राज्यवाद का बहाना हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के अन्तर्गत शान्तिमय साधनों द्वारा राष्ट्रों की आवश्यकता को वैधता प्रदान और अवैधानिक को रोकने का प्रयास किया गया। इन उद्देश्यों के लिए सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था, आश्रित क्षेत्रों हेतु ट्रस्टीशिप और बाध्यकारी व्यवस्था, राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक संबंधों को बढ़ावा देना, विकासशील देशों को आर्थिक सहायता देना, स्वास्थ्य क्षेत्र में विकास करना और सभी जगह लोक कल्याण करना जैसे कार्य सम्मिलित हैं।

22.5 साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

साम्राज्यवाद के विषय में विचारकों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत किये हैं जिसमें मार्क्सवादी विचारक लेनिन एवं यथार्थवादी विचारक मार्गेन्थाऊ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

22.5.1 लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

1916 में प्रकाशित अपने ग्रन्थ Imperialism : The Highest Stage of Capitalism में लेनिन ने साम्राज्यवाद सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ में प्रतिपादित विचारों द्वारा वह दो बातें सिद्ध करना चाहता था–(1) 1914 का युद्ध दोनों ओर से साम्राज्यवादी था, (2) साम्राज्यवाद, सामान्य पूंजीवाद के आधारभूत तत्वों का निरन्तर क्रम है। साम्यवादी लेनिन की साम्राज्यवाद की व्याख्या

TESL-024

मार्क्सवादी दर्शन को एक मौलिक देन है। लेनिन ने कहा कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था है और लेनिन ने इसे साम्राज्यवादी पूंजीवाद के नाम से सम्बोधित किया है। पूंजीवाद का साम्राज्यवाद से आन्तरिक सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए लेनिन ने कहा कि 'साम्राज्यवाद विकास की स्थिति का वह पूंजीवाद है जिस स्थिति में एकाधिकारवादी आधिपत्य एवं वित्तीय पूंजी का प्रादुर्भाव होता है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टों के द्वारा विश्व का विभाजन आरम्भ हो जाता है और जिसमे संसार के सारे भू–प्रदेश का बड़े से बड़े पूंजीवादी देशों द्वारा बँटवारा सम्पूर्ण कर लिया जाता है। लेनिन ने साम्राज्यवद के निम्न पाँच लक्षणों का उल्लेख किया है–

1. साम्राज्यवाद में केन्द्रीकरण और पूंजी का विस्तार चरम सीमा पर पहुँच जाता है और एकाधिकार का विकास होता है। लेनिन के इस विचार पर मार्क्स के पूंजी संचयन सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव है परन्तु लेनिन ने मार्क्स के इस सिद्धान्त का विस्तार कर तत्कालीन परिस्थितियों पर लागू किया। लेनिन का मानना था कि पूंजीवाद अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है जिसके लिए उत्पादन में वृद्धि आवश्यक है तथा बाजारों पर एकाधिकार नियंत्रण भी। जो पूंजीपति व्यापार में जितनी पूंजी लगाता है उसे उसी अनुपात में लाभ होता है फलस्वरूप छोटे पूंजीपति बड़े पूंजीपतियों का सामना नहीं कर पाते और बड़े पूंजीपतियों का ही एकाधिकार हो जाता है। ऐसे पूंजीपति अपने देश के बाजार से ही संतुष्ट नहीं होते उनकी नजर दूसरे देशों के बाजारों पर भी टिकी रहती है। दूसरे देशों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए वे औद्योगिक समितियों का भी निर्माण करते हैं। विकसित राष्ट्र औद्योगिक क्षेत्र में आर्थिक राष्ट्रीयता की नीति अपनाते हैं। देश में आयातों को प्रतिबन्धित कर निर्यात को बढ़ावा देते हैं। वे अविकसित देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं जिससे साम्राज्यवाद का जन्म होता है। अधिकृत प्रदेशों से कच्चे माल की प्राप्ति कर अपने देश की बनी वस्तुओं की वहाँ खपत कराकर वे दोहरा लाभ कमाते हैं।

2. साम्राज्यवाद में असमान विकास का नियम और भी तीव्र हो जाता है। पूंजीवाद में उत्पादित वस्तुओं का निर्यात हो जाता है। पूंजीवाद में उत्पादित वस्तुओं का निर्यात होता है पूंजी का निर्यात नहीं होता। व्यापार के विस्तार और अधिक लाभ प्राप्ति की दृष्टि से औद्योगिक ट्रस्टों और कारटेल्स (trusts and cartels) का भी निर्माण होता है। इससे बैंक की पूंजी भी औद्योगिक पूंजी के साथ मिला दी जाती है इससे वित्तीय पूंजीवाद (Financial capitalism) और वित्तीय धनतंत्र (Financial oligarchy) का उदय होता है जिससे कुछ देश दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं क्योंकि उनके अधीन उपनिवेश और नये–नये बाजार होते हैं। इसके कारण पूंजीवादी समूह में स्थायित्व नहीं रहता और विश्व शान्ति खतरे में पड़ जाती है।

3. साम्राज्यवाद अन्तर्विरोधों से युक्त होता है इसलिए यह पूंजीवाद का अन्त और भी शीघ्रता से करेगा, विश्व बाजारों के लिए प्रतिस्पर्द्धा विश्व के देशों को शोषक और शोषितों के बीच बाँट देता है। उत्पादकीय शक्तियों में परिवर्तन से उत्पादकीय सम्बन्धों में भी परिवर्तन आते हैं। अविकसित देशों के परिश्रमी मजदूरों का नया सर्वहारा वर्ग उदित होता है जिसके कारण क्रान्ति का संघर्ष एक देश तक सीमित न रहकर विश्व स्तर तक फैल

जाता है और विश्व शोषक राष्ट्र और शोषक और शोषित राष्ट्रों के बीच विभाजित हो जाता है।

4. पूंजी के दृष्टिकोण से सम्पन्न राष्ट्र अपने उत्पादन की खपत कराने और कच्चे माल की प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक क्षेत्रों पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते हैं एक ही उद्देश्य के लिए विभिन्न राष्ट्रों के बीच इसके लिए संघर्ष शुरू हो जाता है जिसके कारण साम्राज्यवादी युद्ध होते हैं। लेनिन ने प्रथम विश्व युद्ध का मूल्यांकन इसी दृष्टिकोण से किया था और उसके अनुयायी द्वितीय विश्वयुद्ध को भी साम्राज्यवाद का अनिवार्य परिणाम मानते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर लेनिन साम्राज्यवाद के अन्त होने की घोषणा करता है। लेनिन इस साम्राज्यवाद से मुक्ति का एकमात्र उपाय व्यक्तिगत पूंजी विनाश को मानता है और उसके अनुसार समाजवाद की स्थापना पूंजीवाद के अन्त के साथ न होकर साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद होगी। आलोचकों ने लेनिन के साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का ऐतिहासिक घटनाक्रम के अनुकूल न होने के कारण आलोचना की है। इस सिद्धान्त के अनुसार इंग्लैण्ड में सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति पहले होनी चाहिए थी परन्तु औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश, रूस और चीन में क्रान्ति पहले हुई। दूसरा लेनिन ने कहा कि जब ट्रस्ट, कार्टेल, सिण्डीकेटों आदि का गठन होता है तो साम्राज्यवाद का विस्तार होता है लेकिन इंग्लैण्ड जैसा देश 19वीं शताब्दी में ही साम्राज्यवादी हो गया था और वहाँ ट्रस्ट, कार्टेल या सिण्डीकेट जैसे संगठनों का निर्माण 20वीं शताब्दी में हुआ।

22.5.2 मार्गेन्थाऊ के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार

हैन्स जे. मार्गेन्थाऊ ने अपनी पुस्तक Politics Among Nations में राज्यों के बीच शक्ति संघर्ष का वर्णन करते हुए साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया है। मार्गेन्थाऊ का मानना है कि जिन राज्यों के पास शक्ति बाहुल्य है वे निरन्तर प्रत्येक क्षेत्र में अपनी शक्ति में वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे राज्यों की नीति परिवर्तनकारी होगी और परिवर्तनकारी राज्य की शक्ति विस्तार की लालसा अपने चरमोत्मकर्ष पर पहुँचकर दूसरे राज्यों का शोषण करने लगती है, तब वह साम्राज्यवादी नीति अपनाने लगता है। मार्गेन्थाऊ ने साम्राज्यवाद के तीन प्रलोभनों की चर्चा की है–

1. युद्ध में विजय प्राप्त करने वाले राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी शक्ति स्थिति को बदलने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, भले ही युद्ध प्रारम्भ होते समय उनकी स्थिति कुछ भी रही हो। कई बार रक्षात्मक युद्ध भी साम्राज्यवादी युद्ध में परिवर्तित हो गए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद वार्साय की सन्धि व उपसन्धियों का रूप साम्राज्यवादी हो गया क्योंकि इसने युद्ध से पूर्व की यथास्थिति में परिवर्तन किया।

2. युद्ध में पराजय भी साम्राज्य के निर्माण में सहायक होती है क्योंकि पराजित राष्ट्र स्वयं की निम्न स्थिति को दूर करने के लिए पुनः शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते है। 1933 से द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति तक जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति ऐसा ही उदाहरण है।

3. कमजोर राज्य शक्तिशाली राज्यों को साम्राज्य निर्माण का आह्वाहन करते है। ऐसे क्षेत्र में जहाँ कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र नहीं होता वे उपनिवेश निर्माण के आकर्षक स्थल होते हैं।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार साम्राज्यवाद तीन विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न होता है इसी कारण साम्राज्यवाद तीन विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करता है। यह तीन लक्ष्य निम्न हो सकते है :–

1. विश्व साम्राज्यवाद अर्थात जब एक शक्तिशाली राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व पर आधिपत्य कर अपने साम्राज्य विस्तार को असीमित करना चाहता है। सिकन्दर महान, रोमन साम्राज्य, 7वीं–8वीं शताब्दी में अरब, नैपोलियन, हिटलर ऐसे ही उदाहरण हैं।

2. महाद्वीपीय साम्राज्य अर्थात एक निश्चित सीमा प्रदेश में अपने राष्ट्र की शक्ति को सुदृढ़ करना। यूरोप के राष्ट्रों ने समय–समय पर इसी नीति को अपनाया। लुई चौंदहवाँ, नैपालियन तृतीय तथा विलियम द्वितीय यूरोप पर नियंत्रण करना चाहते थे। 19वीं शताब्दी में संयुक्त राज्य अमरीका का लक्ष्य भी ऐसा ही था।

3. स्थानीय साम्राज्यवाद के उदाहरण 18 और 19वीं शताब्दी में कई सम्राटों की नीतियाँ हैं। फ्रेडरिक महान, लुई पन्द्रहवाँ, पीटर महान तथा कैथरीन द्वितीय की पर राष्ट्र नीतियाँ स्थानीय साम्राज्य की नीतियाँ थीं। रूस द्वारा फिनलैण्ड, पूर्वी यूरोप, बाल्कन तथा ईरान पर नियंत्रण का प्रयत्न स्थानीय साम्राज्यवाद के उदाहरण हैं।

मार्गेन्थाऊ के अनुसार परिस्थिति विशेष तीन प्रकार साम्राज्यवाद को उत्पन्न करती है तथा लक्ष्य के अनुसार भी तीन प्रकार के साम्राज्यवाद होते हैं। अतः साम्राज्यवाद के साधन में भी तीन प्रकार की विभिन्नताएँ स्थापित करना चाहिए–सैनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद। ये तीनों एक ही साम्राज्यवादी लक्ष्य–यथा स्थिति में परिवर्तन के साधन के रूप में कार्य करते हैं। यह तीन साधन हैं :–

1. सैनिक साम्राज्यवाद–सबसे स्पष्ट, प्राचीन तथा दमनकारी साधन जिसमें प्रत्यक्ष सैनिक आक्रमण द्वारा लक्ष्य प्राप्ति का प्रयास किया जाता है। युद्ध से साम्राज्य का निर्माण के साथ ही साथ विघटन भी होता है।

2. आर्थिक साम्राज्यवाद–अविकसित और निर्बल देशों की घरेलू और विदेशी नीतियों को नियंत्रित करने तथा उनका आर्थिक शोषण करने का अप्रत्यक्ष तरीका है। इसमें विजयी और पराजित का भेद नहीं होता वरन् एक राज्य आर्थिक नियंत्रण से दूसरे देश की समस्त नीतियों का नियंत्रण कर सकता है। बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से पूंजीवादी देशों की पिछड़े देशों में पूंजी लगाना उसका उदहारण है। जिसके द्वारा राष्ट्रीय पूंजीपतियों को लाभ मिलता है, सस्ते दाम पर कच्चा माल प्राप्त होता है और उत्पादित वस्तुओं के लिए बाजार मिल जाता है और अन्य राज्यों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने का माध्यम मिल जाता है।

3. सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के द्वारा व्यक्तियों के मस्तिष्कों पर विजय पाकर उन्हें नियंत्रित करना होता है जिसके द्वारा दो राष्ट्रों के मध्य शक्ति सम्बन्धों को पलट दिया जाए। यह नियंत्रण विशेषतः उस देश के शासन एवं नीति निर्माता वर्ग पर होता है। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद सामान्यतः सैनिक व आर्थिक साम्राज्यवाद के सहायक के रूप में आता है। मार्गेन्थाऊ ने 1917 के बाद संसार के विभिन्न देशों में साम्यवादी विचारधारा के प्रसार को सांस्कृतिक साम्राज्यवाद कहा।

22.6 साम्राज्यवाद के विविध रूप

जैसा कि हम अध्ययन कर चुके हैं कि साम्राज्यवाद का अर्थ ऐसी नीति से है जिसके द्वारा कोई राष्ट्र या शासक अपना नियंत्रण स्थापित करने अथवा कम से कम, उसे बढ़ाने हेतु अपनाते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष साधनों का प्रयोग कर अपनी शक्ति व आधिपत्य विस्तार का प्रयास करते हैं। साम्राज्यवाद ने पूर्व में प्रत्यक्ष रूप धारण किया परन्तु आधुनिक साम्राज्यवाद में अप्रत्यक्ष रूप अधिक मिलता है। विश्व पर नियंत्रण स्थापित करने की मात्राओं के संदर्भ में साम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विविध रूप निम्नलिखित है : –

1. व्यावसायिक अथवा सामरिक कारणों से निर्बल व निर्धन देश अपने देश का कोई भाग निश्चित अवधि के लिए समझौते के आधार पर धनी या शक्तिशाली राज्य को पट्टे (lease) पर दे देता है जिसके फलस्वरूप पट्टा देने वाले राज्य की सम्प्रभुता नाममात्र की व पट्टा प्राप्त करने वाले राज्य की सम्प्रभुता वास्तविक होती है। इसके उदहारण के रूप में चीन द्वारा रूस को दिया गया मन्चूरिया बन्दरगाह संयुक्त राज्य अमेरिका का पनामा नहर पर पट्टे द्वारा अधिकार आते हैं।

2. जब निर्बल राज्य की रक्षा, विदेश संबंध, सुरक्षा, वित्त, संचार तथा कानून व्यवस्था से संबंधित मामले किसी शक्तिशाली राज्य के अधीन हो जाते हैं तो वह संरक्षित प्रदेश (Protectorate) बन जाता है। कभी–कभी आन्तरिक तथा आर्थिक मामलों पर भी साम्राज्यवादी शक्ति का नियंत्रण रहता है। अंग्रेजी राज्य में एक संरक्षित राज्य की स्थिति लगभग वही होती है जो कि एक उपनिवेश (crow colony) की होती है। अंग्रेजों के संरक्षित प्रदेश के उदाहरण 1914 से 1922 तक मिस्र और मलाया प्रायद्वीप और फ्रांस का संरक्षित क्षेत्र ट्यूनिस (1881 से 1957) था। यदि साम्राज्यवादी राज्य का नियंत्रण विदेशी मामलों आदि तक सीमित हो तो इसे 'अर्द्ध संरक्षित प्रदेश' कहा जाता है। अर्द्ध संरक्षित प्रदेश का उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका के अधीन क्यूबा (1960 से पूर्व) तथा हैटी थे। संरक्षित प्रदेश का एक अन्य उदाहरण अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षित क्षेत्र है, जिसका उदाहरण पूर्व अबीसीनिया था जो 1906 के समझौते के अनुसार ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली के संयुक्त, नियंत्रण में था।

3. किसी क्षेत्र पर औपनिवेशिक प्रतिद्वन्दिता बचाने के लिए दो या अधिक राज्यों का संयुक्त नियंत्रण सहराज्य (co-dominion) कहलाता है। इसके उदाहरण ब्रिटेन और मिस्र का सूडान में, फ्रांस, स्पेन और ब्रिटेन का मोरक्को के टैंजियर शहर तथा फ्रांस और ब्रिटेन को न्यू हब्रीडीज पर रहा। इस प्रकार के नियंत्रण में न तो विदेशी राज्य और न ही नियंत्रित देश के देशवासी संतुष्ट हो पाते हैं और विभाजित उत्तरदायित्व के कारण यह अन्ततः असफल साबित होता है।

4. जब साम्राज्यवादी देश को अन्य राज्यों पर ऋण देने, रेल मार्गों का निर्माण करने, खानों के प्रबन्ध अथवा सार्वजनिक विकास के काम करने के बारे में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं तो वह प्रभाव क्षेत्र कहलाता है। अधिकांश मामलों में ये उसे राज्य की सहमति के बिना होते हैं। प्रायः प्रभाव क्षेत्र अन्ततः या तो संरक्षित राज्य बना लिये जाते हैं या एकदम अपने में मिला लिये जाते हैं। यद्यपि वे न तो उपनिवेश और न आश्रित

TESLA-024

राज्य ही होते हैं। आधुनिक युग के एशिया, अफ्रीका तथा प्रशान्त महासागर में प्रभाव क्षेत्र साम्राज्यवाद के सुविधाजनक साधन रहे हैं।

5. प्रादेशिकेत्तर अधिकार अर्थात किसी विदेशी शासन का इस आधार पर पिछड़े देशों में रहने वाले अपने नागरिकों के हित हेतु न्यायालय स्थापित करने का अधिकार है क्योंकि इन देशों में न्याय–प्रक्रिया का समुचित मापदण्ड नहीं है जिसे समानता तथा न्याय के हेतु सभी लोगों पर लागू किया जा सके। परन्तु पिछड़े देशों में विकास होने पर विदेशी शक्ति अपने इस अधिकार को त्याग सकती है। उदाहरण के लिए 1894 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान पर तथा 1929 में सोवियत संघ ने चीन पर अपने दावों का त्याग किया। इन अधिकारों का प्रयोग प्राकृतिक न्यायालयों (consular courts) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा किया जाता है। बहिर्देशिता (extra territoriality) के इस अधिकार में विदेशी नागरिकों को कुछ करों तथा प्रतिबंधों से छूट भी सम्मिलित हो सकती है।

6. साम्राज्यवाद का सबसे स्पष्ट या प्रत्यक्ष नियंत्रण पूर्ण विजय के रूप में दिखता है, जब विजयी राज्य विजित राज्य का विलय करके साम्राज्य निर्माण का कार्य करता है। इस प्रक्रिया से विजित देश विजयी देश के अधीन प्रदेश अथवा उपनिवेश के रूप में परिवर्तित हो जाता है। अफ्रीका व एशिया के बहुत देशों पर ब्रिटेन का शासन इसके उदाहरण है।

7. वित्तीय (financial) और चुंगी (tariff) नियंत्रण भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। वित्तीय नियंत्रण के अन्तर्गत पूंजीपति देश सरकारी कर्मचारियों या बैंकों के प्रतिनिधियों के माध्यम से पिछड़े हुए देशों की आय और व्यय का नियंत्रण करते हैं, यद्यपि अन्य मामलों में ये देश स्वतंत्र होते हैं। यह नियंत्रण कई राज्यों द्वारा मिलजुलकर अथवा एक ही राज्य द्वारा हो सकता है। एक राज्य के नियंत्रण वाले उदाहरण में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा कुछ कैरीबियन, मध्य अमेरिकी राज्यों, लाइबीरिया और ईरान पर नियंत्रण आते हैं। जब पश्चिमी विकसित देशों द्वारा अविकसित देशों को विदेशी वस्तुओं पर चुंगी एक निश्चित सीमा से अधिक न बढ़ाने के लिए बाध्य किया जाता है उसे चुंगी नियंत्रण कहा जाता है। इस नियंत्रण का लक्ष्य पूंजीपति राष्ट्रों द्वारा अपने उत्पादित माल को अविकसित देशों में बेचना तथा उन देशों के उद्योग–धन्धों को विकसित न होने देना है।

8. राष्ट्र संघ के संविधान की धारा 22 द्वारा मैण्डेट या शासनादेश व्यवस्था भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। इसमें विजित प्रदेशों को विजयी राज्यों के साम्राज्य का अंग बनाने के स्थान पर इन्हें राष्ट्र संघ की संरक्षता में लिखित समझौतों की कुछ शर्तों के साथ विजयी राष्ट्रों को सौंपा गया और उन्हें इनके शासन का दायित्व भी सौंपा गया। राष्ट्र संघ द्वारा किये गये ऐसे समझौते या आदेश मैण्डेट कहलाते हैं। शासनादेश वाले ऐसे प्रदेशों को पिछड़ा हुआ समझ सभ्य राष्ट्रों द्वारा इनका उत्थान कर्तव्य समझा गया और बिना राष्ट्र संघ की अनुमति के इन्हें विजेता राष्ट्र अपने प्रदेश में नहीं मिला सकते थे। फिलीस्तीन, ईराक और सीरिया इसके उदाहरण हैं।

9. खुला द्वार और बन्द द्वार नीति (open door and close door policy) भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। साम्राज्यवादी देशों द्वारा आपसी सहमति से निर्बल राज्य पर से व्यापार करने, उद्योग धन्धों में पूंजी लगाने, कारखाने लगाने के समान अधिकार की व्यवस्था को खुला द्वार या मुक्त द्वारा नीति

कहते हैं अर्थात सभी साम्राज्यवादी शक्तियों के लिए निर्बल राज्य के दरवाजे समान रूप से खुले हैं। चीन के विभिन्न भागों पर इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी की एकाधिकार की इच्छा को देखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने विरोध किया और खुला द्वार नीति को अपनाया। इस नीति के ठीक विपरीत यदि निर्बल राष्ट्र पर एक राष्ट्र के प्रभुत्व द्वारा अन्य देशों को इसमें व्यापार आदि के कोई अधिकार नहीं रहते हैं तो इसे बन्द द्वार नीति कहा जाता है। इंग्लैण्ड ने अपने अमरीकी उपनिवेशों के साथ और अमरीका ने फिलीपीन्स द्वीप समूह में इस नीति का अनुसरण किया था।

10. सैनिक गठबन्धन भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। वैसे तो सैनिक गठबन्धन कोई नई चीज नहीं है परन्तु आधुनिक काल में इनका महत्व बढ़ गया है। इन गठबन्धनों में सम्मिलित राष्ट्र की सम्प्रभुता बनी रहती है और वे एक सामान्य सैन्य नीति अपनाते हैं। यह सैनिक गठबन्धन किसी शक्तिशाली राष्ट्र के संरक्षण में किया जाता है– अमेरिका द्वारा सीटो, नाटो, सेन्टो सन्धियाँ ऐसे ही उदाहरण हैं। शक्तिशाली तथा विकसित राज्य द्वारा अन्य राज्यों के साथ संधि द्वारा हस्तक्षेप नीति भी एक उदाहरण है। किसी संभव विदेशी आक्रमण के विरूद्ध उनकी सुरक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेकर उनके आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप की सीमा तक कार्यवाही करना भी साम्राज्यवाद का एक रूप है। 1823 का मुनरो सिद्धान्त (Munro Doctrine) इसका उदाहरण है जिसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका ने किसी भी यूरोपीय शक्ति की ओर से आक्रमण के विरूद्ध सम्पूर्ण पश्चिमी जगत की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लिया तथा पनामा, निकारगुआ, क्यूबा, हैटी जैसे निर्बल राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप किया।

22.7 साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और नव उपनिवेशवाद

उपनिवेशवाद 'नए उपनिवेश' बनाने या प्राप्त करने की नीति है। एक विदेशी सत्ता द्वारा शासित क्षेत्र जिसके निवासियों को पूरे राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं है उसे उपनिवेश कहते हैं। साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को समानार्थी नहीं समझाना चाहिए। राबर्ट यंग दोनों के मध्य अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'साम्राज्यवाद केन्द्रीय शक्ति द्वारा संचालित होता है, यह विचारात्मक और वित्तीय कारणों के लिए विकसित राज्य की एक नीति होती है, जबकि उपनिवेशवाद व्यावसायिक उद्देश्यों या अधिवास के उद्देश्य हेतु विकास से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद में उपनिवेशवाद का कुछ रूप सन्निहित है परन्तु स्वयं उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद नहीं हो जाता क्योंकि इसमें राजनीतिक पक्ष का अभाव होता है। व्यावहारिक दृष्टि से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद में कोई विशेष अन्तर नहीं होता और हॉब्सन ने दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानते हुए जर्मनी और फ्रांस के उपनिवेशवादी दल के उद्देश्यों और कार्यविधि की इंग्लैण्ड के साम्राज्यवादी दल के समरूप बताया। परन्तु ई.एफ. पैनरोज ने अपनी पुस्तक 'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में क्रांति' में साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद में निम्न अन्तर बताये हैं : –

1. साम्राज्यवाद में अधीनस्थ प्रदेश का साम्राज्यवादी राज्य में विलय प्रत्यक्ष रूप से हो जाता है और साम्राज्यवादी राज्य की विधि व्यवस्था व शासन प्रणाली लागू कर दी जाती है जबकि उपनिवेशवाद में अधीनस्थ राज्य की विधि व्यवस्था और शासन व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण नहीं होता और मूल विधि एवं शासन व्यवस्था की कई विशेषताएँ स्वीकार कर ली जाती हैं।

2. साम्राज्यवाद में साम्राज्यवादी राज्य द्वारा नये प्रदेशों को पूर्णरूप से विलय कर निवासियों पर बलपूर्वक सभ्यता, संस्कृति जीवन मूल्य, राजनीतिक संस्थाएँ, आर्थिक नीतियां अपनाने को बाध्य किया जाता है जबकि उपनिवेशवाद में मूल निवासियों की सांस्कृतिक तथा सामाजिक विशेषताएं जीवित रहती हैं।

3. साम्राज्यवाद में पूर्ण विलयन हो जाता है, जबकि उपनिवेशवाद में राष्ट्रीयता के विकास के अवसर अधिक होते हैं।

समय तथा युग परिवर्तन के साथ ही साम्राज्यवाद का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ। सैनिक तथा राजनीतिक साम्राज्यवाद के स्थान पर आर्थिक साम्राज्यवाद आ गया है। आर्थिक साम्राज्यवाद अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से कोई देश साम्राज्यवादी नियंत्रण से मुक्त होता है परन्तु आर्थिक कारणों से अप्रत्यक्ष रूप से उन पर दबाव डालने का प्रयास करते हैं। साम्राज्यवाद के रूप परिवर्तन के साथ उपनिवेशवाद के स्थान पर नव–उपनिवेशवाद की स्थापना हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् परम्परागत साम्राज्यवाद समाप्त हुआ और अधिकांश राष्ट्र उपनिवेशवाद से मुक्त हो गये और नये स्वतंत्र देश कहीं न कहीं अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी शक्ति के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये और इसे ही नव उपनिवेशवाद कहते हैं। नव उपनिवेशवाद का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतंत्रता प्रदान करने के पश्चात् भी उनसे आर्थिक लाभ प्राप्त करते रहना है अर्थात् सैनिक व राजनीतिक प्रभुत्व के स्थान पर आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना करना है। 18वीं शताब्दी में ब्रिटेन ने तेल कूटनीति के द्वारा आर्थिक दृष्टि से अपना प्रभाव बनाये रखा था। अमेरिका द्वारा एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी यूरोपीय निर्धन देशों को आर्थिक सहायता देकर डॉलर साम्राज्यवाद नव उपनिवेशवाद के उदाहरण हैं। नव उपनिवेशवाद द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् की संकल्पना है। नव उपनिवेशवाद में पूँजीवादी समृद्ध पश्चिमी देशों द्वारा तृतीय विश्व के नव स्वतंत्र देशों का आर्थिक और तकनीकी सहायता के नाम पर शोषण होता है। नव उपनिवेशवाद के अन्तर्गत आर्थिक सहायता, सैनिक सहायता, शस्त्रों की सहायता, तकनीकी का निर्यात, व्यापार और उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार द्वारा नियंत्रण का कार्य किया जाता है, दूसरे शब्दों में शोषण का कार्य किया जाता है। आर्गेन्सकी ने उपनिवेशवाद के तीन रूपों राजनीतिक, आर्थिक दृष्टि से पराश्रित देश तथा पिछलग्गू देश (satellites) में से आर्थिक दृष्टि से पराश्रित तथा पिछलग्गू देशों को ही नव उपनिवेशवाद के अन्तर्गत सम्मिलित किया है। आर्थिक रूप से पराश्रित राज्य राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र होते हैं परन्तु उनके उद्योग धन्धे तथा व्यापार पर किसी अन्य राज्य द्वारा नियंत्रण रहता है। ऐसे राज्य आर्थिक दृष्टि से अविकसित होते हैं। यदि किसी देश के अधिकांश उद्योग धन्धे तथा व्यापार विदेशी राज्य के पास हों और राज्य की राष्ट्रीय आय का 51 प्रतिशत भाग विदेशियों को प्राप्त होता है तो वह निश्चित रूप से पराश्रित राष्ट्र है। पराश्रित राष्ट्रों में आर्थिक साधन के माध्यम से विदेशी राष्ट्र की राजनीतिक सत्ता की स्थापना होती है। पिछलग्गू राष्ट्र वह हैं जो औपचारिक रूप से स्वतंत्र होता है। परन्तु आर्थिक व राजनीतिक दोनों पर विदेशी शक्ति का नियंत्रण होता है। आर्गेन्सकी के अनुसार द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् केवल सोवियत रूस ही पिछलग्गू देशों वाला राष्ट्र था।

आज के समय में नव–उपनिवेशवाद या साम्राज्यवादी राज्यों के प्रतीक बहुराष्ट्रीय निगम या कम्पनियाँ है जो लाभ अर्जित करने के लिए सस्ते श्रम, सस्ते कच्चे माल और अनुकूल बाजार की खोज में अपने देश के बाहर अपने क्रिया–कलाप को फैलाती हैं तथा पूंजीनिवेश करती हैं। इन्हें अपने देश की

साम्राज्यवादी सरकार का आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक समर्थन प्राप्त रहता है। लाभ के लिए ये कम्पनियाँ केवल आर्थिक कार्य ही नहीं करती वरन् विभिन्न देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप, नीति प्रभावित करने, अस्थिरता पैदा करने की भी कोशिश करती हैं। तृतीय विश्व में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका के बारे में कतिपय अध्ययनों से पता चलता है कि ये निगम भी शोषणकारी अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का रूप मात्र हैं जिनका उद्देश्य लाभ कमाना है। साम्राज्यवादी देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और सरकारें पूरी तरह से जुड़ी हुई हैं। बहुराष्ट्रीय निगम देशी सीमाओं में विश्वास नहीं करते और एक नई अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति, वर्ग और समाज तैयार करते हैं जो उनके उत्पादनों को विरोध रूप से पसन्द करता है और लोगों की रूचियाँ, भावनाएँ, आदत, स्वभाव सभी बदलते हैं। इस प्रकार उपनिवेशवाद राजनीतिक था तो नव–उपनिवेशवाद आर्थिक है और दोनों ही साम्राज्यवाद के अभिन्न अंग है।

22.8 सारांश

इस इकाई में हमने साम्राज्यवाद को समझने का प्रयास किया और सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि साम्राज्यवाद किसी देश की शक्ति व प्रभाव के विस्तार की नीति है जिसे पूर्ण विजय, उपनिवेशीकरण, सैन्य शक्ति के प्रयोग और अन्य साधनों द्वारा कार्यरूप प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। साम्राज्यवाद कोई नवीन संकल्पना नहीं है। अतः प्राचीन साम्राज्यवाद और आधुनिक साम्राज्यवाद का भेद किया जाता है। 15वीं शताब्दी तक प्राचीन साम्राज्यवाद और तत्पश्चात् आधुनिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ। साम्राज्यवाद को 19वीं और 20वीं शताब्दी में पश्चिम देशों के राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व के रूप में देखा गया। मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साम्राज्यवाद विकसित पूंजीवादी राष्ट्र राज्यों की स्वाभाविक विशेषता है जो एकाधिकारी पूंजीवाद में परिवर्तित हो जाती है। यह सर्वमान्य स्वीकृत है कि आधुनिक युग का उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद की अभिव्यक्ति और इसके अभाव में उसका अस्तित्व संभव नहीं है। औपचारिक उपनिवेशों के बिना अनौपचारिक साम्राज्यवाद विद्वानों के मध्य एक विवादित विषय है। टॉम नेयर्न और पॉल जेम्स ने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को भूमण्डलीकरण का प्रारम्भिक रूप कहा। साम्राज्यवाद को उचित ठहराने के लिए अनेक तर्क दिये जाते हैं और इसके कारकों के रूप में आर्थिक, धार्मिक, मानवीय, सांस्कृतिक आदि का उल्लेख किया गया। साम्राज्यवाद के अनेक रूप सामने आये हैं। साम्राज्यवाद के समर्थक इससे आर्थिक लाभ, शक्ति निर्माण और अविकसित देशों के विकास की दृष्टि से इसे लाभकारी बताते हैं जबकि विरोधी साम्राज्यवाद की सांस्कृतिक और नैतिक पतन, युद्ध और सैन्यवाद को प्रोत्साहन, शोषण की दृष्टि से इसकी आलोचना करते हैं। प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य साम्राज्यवाद अपने चरमोत्कर्ष पर था परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अनेक उपनिवेशों के स्वतंत्र होने के कारण इसका शीघ्रता से विघटन हुआ परन्तु आज भी साम्राज्यवाद का अन्त नहीं हुआ है और नवउपनिवेशवाद के माध्यम से तृतीय विश्व के देशों का आर्थिक शोषण अभी भी जारी है जिसमें बहुराष्ट्रीय निगम भी अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष जैसे संगठन को भी सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है जो निर्धन देशों को ऋण ग्रसित कर उन्हें निर्देशित नीतियों का पालन करने हेतु बाध्य करते है। इस प्रकार राजनीतिक साम्राज्यवाद परिवर्तित होकर आर्थिक साम्राज्यवाद के रूप में अभी भी विद्यमान है।

TESLA-024

22.9 शब्दावली

न्यासिकता – गाँधी जी के आर्थिक विचारों की एक धारणा। इसके अन्तर्गत कारखाने अथवा किसी उद्यम में काम करने वाले मजदूर व मालिक काम के बदले में वेतन प्राप्त करते हैं तथा कारखाने का समस्त लाभ कारखाने के स्वामित्व में होता है। पूंजीपति–मजदूर विवाद का एक समाधान न्यासिकता है।

हिंसा – बल प्रयोग, जोर जबरदस्ती, किसी को मानसिक व शारीरिक हानि पहुँचाना।

नागरिक समाज – गैर–राज्य रूप की अनेक संस्थाओं की ऐच्छिक भागीदारी।

साम्यवाद – कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद का एक उच्चतम रूप जिसमें जहाँ एक ओर पूंजीवाद का अंत होता है वहीं दूसरी ओर पूरी तरह समाजवाद की स्थापना की जाती है।

साम्राज्यवाद – एक राष्ट्र द्वारा अपने नियंत्रण, प्रभुत्व का प्रसार, साम्राज्य का विस्तार अथवा इस विस्तार की नीति, एक राज्य द्वारा अपनी सीमाओं से बाहर अन्य देशों पर नियंत्रण।

कार्टल – फर्मों का समूह जो पारस्परिक सहमति से अपने उत्पादों का निश्चित मूल्य स्वीकृत करते हैं।

22.10 उपयोगी पुस्तकें

1. जे.सी. जौहरी एवं सीमा जौहरी, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रा.लि. 2001।
2. ए.डी. आशीर्वादम एवं कृष्ण कांत मिश्र, राजनीति विज्ञान, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि. 7361 रामनगर, नई दिल्ली।
3. डॉ. बी.एल. फाड़िया राजनीतिक अवधारणाएँ, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

22.11 सम्बन्धित प्रश्न

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) साम्राज्यवाद का अर्थ एवं परिभाषा देते हुए साम्राज्यवाद के कारण बताइए।

   (ब) साम्राज्यवाद के विविध रूपों का वर्णन कीजिए।

   (स) साम्राज्यवाद के विकास का वर्णन कीजिए।

2. लघुउत्तरीय प्रश्न :

(अ) लेनिन के साम्राज्यवाद सम्बन्धी विचार का वर्णन कीजिए।

(ब) साम्राज्यवाद सम्बन्धी मार्गेन्थाऊ के विचारों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

(स) नव–उपनिवेशवाद का वर्णन कीजिए।

(द) साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद का अन्तर बताइए।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न :

(अ) निम्नलिखित में से किसने पूंजीवाद को साम्राज्यवाद से जोड़ा था?

(i) मार्क्स

(ii) लेनिन

(iii) ग्रामसी

(iv) माओ

(ब) साम्राज्यवाद को पूंजीवाद का साम्भाज्य चरण किसने कहा था?

(i) काटस्की ने

(ii) हॉब्सन ने

(iii) शुम्पीटर ने

(iv) लेनिन ने

(स) साम्राज्यवाद, उपनिवेशों के लिए प्रतिस्पर्द्धा है–

(i) हॉब्सन

(ii) लेनिन

(iii) शुम्पीटर

(iv) हिल्फरडिंग

(द) 'इम्पिरियलिज्म' किसकी पुस्तक का नाम है?

(i) शुम्पीटर

(ii) टॉनी

(iii) लेनिन

(iv) हॉब्सन

22.12 सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर

1. **दीर्घउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) देखिए इकाई का 22.2 एवं 22.4 अंश

   (ब) देखिए इकाई का 22.6 अंश

   (स) देखिए इकाई का 22.3 अंश

2. **लघुउत्तरीय प्रश्न :**

   (अ) देखिए इकाई का 22.5.1 अंश

   (ब) देखिए इकाई का 22.5.2 अंश

   (स) देखिए इकाई का 22.7 अंश का पैरा दो

   (द) देखिए इकाई का 22.7 अंश का पैरा एक

3. **बहुविकल्पीय प्रश्न :**

   (अ) (ii)

   (ब) (i)

   (स) (i)

   (द) (iv)

इकाई–23

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद

इकाई की रुपरेखा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 राष्ट्रवाद का विकास

23.3 राष्ट्रीयता का अर्थ एवं परिभाषा

23.4 राष्ट्रीयता के तत्व

23.5 राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद

23.6 अन्तर्राष्ट्रवाद का उद्‌भव एवं विकास

23.7 अन्तर्राष्ट्रवाद का सहायक तत्व

23.8 सारांश

23.9 संदर्भ सूची

23.0 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत आप राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों से परिचित होगें –

- राष्ट्रवाद के विकास एवं उसके तत्वों से अवगत होगें।
- अन्तर्राष्ट्रवाद के उद्‌भव एवं विकास का अध्ययन कर पायेंगे।
- राष्ट्रवाद, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद के बीच अन्तर को जान सकेगें।

23.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अन्तर्गत राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रवाद एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे समाप्त नहीं किया जा सकता है।

राष्ट्रवाद के अन्तर्गत मानव समूह और भावना दिखायी देती है जिसमें व्यक्ति की निष्ठा और राष्ट्रीयता दिखाई देती है। राष्ट्रवाद का जन्म 18वीं शताब्दी के मध्य से प्रारम्भ हो गया था। राष्ट्रवाद ऐसी आध्यात्मिक भावना है जिसमें लोगों के हित समान एवं राजनीतिक एकता के आदर्श प्रत्यक्षित होते हैं। इसके अन्तर्गत मनुष्य स्वतंत्र रुप से स्वाधीन रहता है।

21वीं शताब्दी को अन्तर्राष्ट्रवाद का युग कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रवाद एक ऐसी विश्व व्यवस्था है जिसमें व्यक्ति केवल अपने देश का सदस्य ही नहीं बल्कि विश्व का नागरिक होता है। इसके अन्तर्गत विश्व राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण, सहयोग व पारस्परिक प्रेम की भावना का विकास होता है।

TESLA-024

प्रत्येक राष्ट्र अपने–अपने पारस्परिक हितों के लिए एक दूसरे पर निर्भर है और इनके हित भी समान है। फलस्वरूप आवश्यकता है कि पारस्परिक संबंधों को मजबूत बनाया जाये।

23.2 राष्ट्रवाद का विकास

मध्ययुग से हमें राष्ट्रवाद की शुरुआत देखने को मिलती है। परन्तु इसके पूर्व भी मानव संगठन में राष्ट्रवाद के तत्व दिखायी देते हैं। मानव स्वभाव सदैव समुदाय में रहता रहा है। प्रारम्भ में मनुष्य कुटुम्ब में संगठित था फिर धीरे–धीरे लोगों ने समूह में रहना आरम्भ कर दिया। इसका प्रधान कुटुम्ब का वृद्ध व्यक्ति होता था सभी उसकी छत्रछाया में रहते थे इसमें राष्ट्रीयता देखने को मिलती है। कुटुम्ब से बाद में छोटे–छोटे नगर राज्यों की स्वतंत्र रुप से स्थापना हुई। इनकी अपनी शासन व्यवस्था थी। राज्य को अपना देश मानते थे तथा इनके बीच कभी–कभी युद्ध होता था। धीरे–धीरे राज्य की अपनी संस्कृति, शासन पद्धति, भाषा आदि का विकास हुआ यह स्थिति हमें यूनान में देखने को मिलती है। उसके पश्चात् रोमनों के यूनान विजय के बाद संकुचित यूनानी राष्ट्रीयता का अन्त हो गया। रोमनों का लक्ष्य साम्राज्यवाद था। अतः उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हुआ। इस प्रकार रोमन साम्राज्य में राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हुआ। इसके पश्चात् मध्य युग आया जिसमें सामन्तवाद का प्रभाव अधिक दिखाई देने लगा। सामन्तों के बीच सदैव विवाद होता रहता था। इससे उनके बीच राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न होना असम्भव था। परन्तु धीरे–धीरे समय के साथ यूरोप की परिस्थिति में राष्ट्रीयता की भावना का उत्पन्न होना असम्भव था। परन्तु समय के साथ यूरोप की स्थिति में परिवर्तन हुआ। दाँते जैसे विद्वानों की रचनाओं में देशवासियों के दिल में मातृभाषा के प्रति श्रृद्धा एवं रुचि उत्पन्न हुई। इटली में मैकियावली द्वारा राष्ट्रवाद का प्रचार किया गया। 15वीं शताब्दी में अंग्रेजों और फ्रांसिसियों के बीच 100 वर्षीय युद्ध से उनमें राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। धार्मिक युद्ध के उपरान्त स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिला। जॉन आर्क को फ्रांस की राष्ट्रीयता का जन्मदाता कहा जाता है। सच्ची राष्ट्रीयता एक स्पष्ट बलवान राष्ट्र और जाति के लोगों पर अपना स्थान प्राप्त करने के उचित अधिकार का समर्थन करती है।

राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक अर्थों में पुनरुत्थान एवं सुधार के रुप में आरम्भ माना जाता है। पुनरुत्थान के द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय संस्कृति का विकास प्रारम्भ हुआ। 'वेस्टफेलिया की संधि' (1648) में सम्पन्न हुई इसके द्वारा राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। राष्ट्रीयता की भावना उद्वेलित करने में फ्रांस की राज्यक्रांति की महत्वपूर्ण भूमिका रही। इसके बाद औद्योगिक क्रांति ने भी इसे बल प्रदान किया। इन घटनाओं का इटली और जर्मनी जैसै देशों पर भी काफी प्रभाव पड़ा। जिससे ये राष्ट्र 19वीं सदी में शक्तिशाली राष्ट्र के रुप में उभरे। जर्मनी में हीगल, फिचे तथा इटली में मैजनी का नाम विशेष रुप से राष्ट्रीय भावना को विकसित करने में उल्लेखनीय रहा है।

प्रथम विश्वयुद्ध ने भी राष्ट्रीय राज्यों के विकास को काफी प्रभावित किया। युद्ध की समाप्ति के बाद कुछ राज्यों का उदय हुआ और राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन हुआ। रोमानिया, युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया का निर्माण राष्ट्रीयता के आधार पर ही हुआ। वर्साय की संधि के बाद प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना चरम सीमा पर पहुँच गई। 18वीं शताब्दी के मध्य में राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न होने लगा। जापान आज राष्ट्रीय राज्य के सर्वश्रेष्ठ

उदाहरण के रुप में पेश किया जाता है। भारत देश में भी स्वाधीनता संग्राम के फलस्वरूप ही राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई।

23.3 राष्ट्रीयता का अर्थ एवं परिभाषा

राष्ट्रीयता अंग्रेजी शब्द नेशनलिटी (Nationality) का हिन्दी रुपान्तर है। 'नेशनेलिटी' शब्द नेशियों (Natio) से बना है, जिसका अर्थ जन्म या वंश होता है। साधारणतः लोग राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता का प्रयोग समान अर्थों में ही करते हैं। लेकिन वास्तव में दोनों में अन्तर है। राष्ट्रीयता शब्द के अन्तर्गत विभिन्नता के बावजूद दो तत्वों की प्रधानता पाई जाती है, भावना और मानव समूह की। लास्की, गिलक्राइस्ट, ब्लंटशली, जिर्मान आदि विद्वानों ने राष्ट्रीयता के पीछे भावनात्मक तत्व को अधिक प्रमुखता प्रदान की है। इनके अनुसार सभ्यता, रीति–रिवाज, भाषा आदि के परिणामस्वरुप समूह विशेष में एकात्मक भावना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता एक आन्तरिक भावना है जो मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधती है।

राष्ट्रीयता की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है –

जिर्मान के अनुसार ''राष्ट्रीयता राजनीतिक प्रश्न नहीं है बल्कि आवश्यक रुप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की तरह एक आन्तरिक भावना है। यह एक आध्यात्मिक धारणा है तथा अनुभव करने विचारने और रहने का एक ढंग है।''

गिलक्राइस्ट के अनुसार 'राष्ट्रीयता का अभिप्राय उस आध्यात्मिक भावना से है जो जनसमुदाय में पाई जाती है जिसके सदस्य एक मूल अंश के हो, एक ही भू–खण्ड पर निवास करते हो, एक ही धर्म के अनुयायी हो, जिनके आर्थिक हित समान हो और राजनीतिक एकता के समान आदर्श रखते हो।

राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा न होकर शिक्षा सम्बन्धी धारणा है। कुछ लेखकों का मानना है कि राष्ट्रीयता एक सहज प्रवृत्ति है। सच्ची राष्ट्रीयता बलवान राष्ट्र या राष्ट्रिक जाति के लोगों को धरती पर अपना स्थान प्राप्त करने के उचित अधिकार का समर्थन करती है।

23.4 राष्ट्रीयता के तत्व–(Elements of Nationality)

राजनीति–विज्ञान के लेखकों ने राष्ट्रीयता के तत्वों का विस्तृत विवेचन किया है जिनसे राष्ट्र का निर्माण होता है। कुछ तत्व ऐसे हैं जिनके बिना राष्ट्रीयता का निर्माण नही हो सकता है। कोई ऐसा सार्वभौम नियम नहीं है जिससे उनका सापेक्षिक महत्व बलताया जा सके। यदि किसी देश में राष्ट्रीयता के कुछ तत्व कमजोर हो तो राष्ट्रीयता को मजबूत बनाये रखने के लिए दूसरे तत्वों को बलवान बनाना जरुरी है। सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण इन्हीं तत्वों के द्वारा किया जा सकता है।

(1) भौगोलिक एकता (Geographical Unity)

राष्ट्रीयता के विकास के लिए भौगोलिक एकता का होना जरुरी है यह एक प्रमुख तत्व है। एक लम्बे अर्से तक यहूदियों का अपना कोई देश नहीं था लेकिन एक आशा थी कि यहूदी राष्ट्रीयता को जीवित रख सकें और उसे शक्ति देती रहें कि किसी न किसी दिन पैलेस्टाइन उन्हें वापस मिल

TESLA-024

जायेगा। एक भौगोलिक सीमा में निवास करने वालों के बीच सहयोग एवं सहानुभूति उत्पन्न होती है। अपने पड़ोस में रहने वालों को मनुष्य जितनी अच्छी तरह समझ सकता है उनके प्रति उसके दिल में जो सहानुभूति एवं संवेदना पैदा होती है। वह उससे दूर निवास करने वाले लोगों के लिए सम्भव नहीं है। राष्ट्रीय जन्मभूमि में ही उपयुक्त भौगोलिक इकाई है जिसमें मनुष्य की दूसरों का हित करने की भावनाएँ और प्रेरणाएँ सफल बनायी जा सकती है।

मनुष्यों के चरित्र तथा शारीरिक बनावट को भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु भी प्रभावित करती है। इनमें सामान्य शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक गुण होते हैं जिससे सहयोग और पारस्परिक सहानुभूति में सहायता मिलती है। पहले मनुष्य का दायरा परिवार, समाज, गाँव तक ही सीमित था। इसका कारण यह था कि मात्र इसी दायरे में लोगों के बीच पारसपरिक सहयोग सम्भव था। परन्तु आज यातायात के साधनों एवं संचार के साधनों के विकास तथा वैज्ञानिक विकास के कारण ही यह क्षेत्र काफी विस्तृत हो गया है। आज विशाल राष्ट्र के निवासियों में भौगोलिक एकता की भावना स्पष्ट रुप से दिखायी पड़ती है। मैजिनी, गिलक्राइस्ट, रैम्जेम्योर आदि विद्वानों ने भौगोलिक एकता को राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक माना है। फ्रांस तथा जर्मनी के बीच कोई प्राकृतिक सीमा नहीं है इसके बावजूद उनमें राष्ट्रीयता की भावना पाई जाती है। कुछ विद्वानों ने भौगोलिक एकता सम्बन्धी धारणा की आलोचना की है। प्रो0 हेज का मानना है कि ''जातीय भू–भाग के बीच प्राकृतिक सीमाओं की धारणा एक कोरी कल्पना है।'' इसके साथ ही साथ संसार को प्रकृति के द्वारा निर्धारित प्रदेशों के आधार पर विभक्त करने का परिणाम अनवरत् संघर्ष एवं युद्ध होगा।

(2) जातीय एकता–(Racial Unity)

राष्ट्रीयता के विकास हेतु जातीय एकता एक आवश्यक तत्व है। नस्ल एकता से व्यक्तियों में एक–दूसरे के लिए सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है। जिर्मान जातीय एकता को राष्ट्रीयता के लिए सबसे प्रमुख तत्व मानते हैं। ब्राइस ने भी इसे मुख्य तत्व माना है। परन्तु कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो इसको महत्व नहीं देते हैं। उनमें हेनन, रोज, मुसोलिनी, रैम्जेम्योर प्रमुख है। वर्तमान में एक देश में विभिन्न जाति के लोग निवास करते हैं तथा समान जाति के लोगों द्वारा ही अनेक राष्ट्रों का निर्माण किया जाता है। वर्तमान में राष्ट्रीयता के विकास में जातीय एकता का महत्व न के बराबर रह गया हो, परन्तु फिर भी इसकी भूमिका को पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता है। कभी–कभी जातीय एकता विभिन्न राष्ट्रों को एक साथ करने में सहायक होती हैं।

(3) भाषायी एकता–(Unity of Language)

राष्ट्रीयता के विकास के लिए भाषा भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। भाषा ही मनुष्यों के विचार अभिव्यक्ति का प्रधान माध्यम है। भाषा के माध्यम से मनुष्य अपने विचारों की अभिव्यक्ति एक–दूसरे से कर पाता है। किसी व्यक्ति को भली प्रकार समझने के लिए उसकी भाषा की जानकारी आवश्यक है। भाषा मानवीय एकता का एक प्रमुख एवं सशक्त माध्यम है। जिस कारण यह राष्ट्रीयता के विकास के लिए महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। रैम्जेम्योर का कहना है कि 'विभिन्न जातियों और नस्लों को प्रेम सूची

में बाँधने वाली शक्ति केवल भाषा है।' राष्ट्रीयता के विकास एवं राष्ट्रीय भावना में निःसन्देह रुप से भाषा सम्बन्धी एकता महत्वपूर्ण होती है, परन्तु यह राष्ट्रीयता के लिए अपरिहार्य नहीं है। भाषा की एकता के बगैर भी शक्तिशाली एवं सबल राष्ट्रों का निर्माण सम्भव है। भारत, रुस, स्विट्रलैण्ड आदि इसके प्रमुख उदाहरण है।

(4) सांस्कृतिक एकता–(Cultural Unity)

राष्ट्रीयता के विकास के लिए सांस्कृतिक एकता एक आवश्यक तत्व है। सांस्कृतिक एकता में सामान्य रीतियाँ और व्यवहार, सामान्य परम्पराएँ और साहित्य, लोक कथा, काव्य कला शामिल है। सांस्कृतिक एकता मानव जीवन को एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करती है। जिसमें जीवन के मानदंड कर्त्तव्य और निषेध मौजूद होते है। सांस्कृतिक एकता लोगों को परस्पर एक–दूसरे के करीब लाती है और उनमें ऐसी भावना पैदा कर देती है जो आसानी से नष्ट नहीं की जा सकती है। संस्कृति के निर्माण में इतिहास और परम्पराएँ महत्वपूर्ण है। भारतीय राष्ट्रीयता को सबल और ओजपूर्ण बनाना है तो उसको विचारों और आदर्शों की एकता पर जोर देना चाहिए जो भारतीय संस्कृति के मूल में है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी सांस्कृतिक वर्गों को एक शक्ति सम्पन्न रूप देने में अमेरिकीकरण के रुप में नागरिकता की शिक्षा ने बहुत बड़ा काम किया है।

(5) धार्मिक एकता–(Unity of Religion)

भाषा के समान धर्म भी राष्ट्रीयता के विकास हेतु एक महत्वपूर्ण तत्व रहा है। प्रारम्भिक काल में सामाजिक जीवन में धर्म का प्रमुख स्थान रहा है और उसका केन्द्र रीति–रिवाज, आचार व्यवहार रहा है। धार्मिक भावना के कारण उत्पन्न एकता ने राष्ट्रीयता की भावना को विशेष रुप से जाग्रत किया। आधुनिक समय में कुछ राष्ट्रों का आधार धर्म रहा है। भारत–विभाजन एंव पाकिस्तान निर्माण का आधार भी धर्म ही था। दूसरी ओर धर्म राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में बाधक भी सिद्ध हुआ है। मध्य युग के बाद राजनीति एवं धर्म को पृथक करने का क्रम रहा है। अब यह सर्वमान्य विदित है कि धर्म राजनीति से अलग है। भारत वर्ष एक ऐसा देश है जहाँ विभिन्न धर्मों के होते हुए भी राष्ट्रीयता का विकास होता रहा है। आज कल अधिकांश राज्य धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार करते रहे हैं। धार्मिक विभेद उनके राष्ट्रीय जीवन में हस्तक्षेप नहीं कर पाया है। भारत के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका में भी धर्म राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश नहीं कर पाया है।

(6) समान आर्थिक हित–(Common Economic Interest)

समान आर्थिक हित बहुत से देश के निवासियों को एक सूत्र में बाँधने में सहायक रहे हैं। आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि देशों में नागरिकों एकता की भावना को जाग्रत करने में समान आर्थिक हितों का महत्वपूर्ण योगदान रहा हैं। समान आर्थिक हित साम्राज्यवादी राष्ट्रों के संगठन का मुख्य आधार था। फिर भी यह कहना तर्कसंगत नहीं होगा कि केवल समान आर्थिक हित की भावना ही राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत कर सकती है। परन्तु इतना अवश्य है कि यह राष्ट्रीय एकता को मजबूती प्रदान करती है।

(7) सार्वजनिक इच्छा–(Popular will)

डॉ0 अम्बेडकर भारतीय राष्ट्रीयता पर बहुत जोर देते हैं। उन्हीं के शब्दों में कहा गया है कि 'एकता की सुसंगठित भावना के कारण ही जिन लोगों में यह भावना होती है वो सब अपने को एक–दूसरे से सम्बन्धित समझते हैं।' प्रसिद्ध राजनीतिक दार्शनिक टॉयनवी, मैजिनी आदि ने सार्वजनिक इच्छा को राष्ट्रीयता का आधार माना है। लोगों के बीच सहयोग की आकांक्षा ही 'एक राष्ट्र बनने की इच्छा' को राष्ट्रीयता का मूल आधार माना है।

(8) सामान्य अधीनता–(Common Subjection)

सामान्य अधीनता भी राष्ट्रीयता का सबल कारण है। डॉ0 आर्शीवादम् के अनुसार कभी–कभी मजबूत और सुव्यवस्थित सरकार की अधीनता भी राष्ट्रीयता का सबल कारण होती है। अंग्रेजों के सुदृढ़ शासन ने कुछ हद तक भारतीय राष्ट्रीयता का विकास किया है।

(9) राजनीतिक की एकता–(Political Unity)

लोगों की सामान्य राजनीतिक इच्छा उन्हें एकता के सूत्र में बाँधती है। द्वितीय विश्वयुद्ध तक विश्व के अधिकांश भागों में गुलामी का साम्राज्य था। गुलामी से मुक्ति पाने के लिए देशवासियों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रारम्भ किया स्वतन्त्रता आन्दोलन ने उनके बीच राष्ट्रीयता की भावना को जाग्रत किया। केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था का भी राष्ट्रीयता के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिन देशों में राष्ट्रीय परम्परा व कुशल राज्य संगठन का मिलन हो जाता है। वहाँ राज्य सर्वाधिक स्थायी रहता है। भारत में भी राष्ट्रीयता का विकास कुशल एवं मजबूत शासन की देन है।

(10) अन्य तत्व–(Other Factors)

उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त कुछ तत्व ऐसे भी हैं जो राष्ट्रीयता के विकास में सहायक रहे हैं। उदाहरण राष्ट्रीय प्रतीक, युद्ध आदि।

23.5 राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद (Nation, Nationality and Nationalism)

सामान्यतः आम भाषा में राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रवाद का प्रयोग समान अर्थ में किया जाता है। परन्तु व्यवहार में इनके बीच काफी अन्तर है। कुछ विद्वान भी इसके सम्बन्ध में एकमत नहीं है।

राष्ट्र शब्द अंग्रेजी के नेशन शब्द का हिन्दी रुपान्तर है। नेशन शब्द की उत्पत्ति लैटिन के नेशियो (natio) शब्द से हुई है जिसका अर्थ जन्म लेना होता है। इस शब्द का प्रयोग जातीय अर्थ में होता है। राष्ट्र का सम्बन्ध एक जाति से है। जाति का अर्थ व्यक्तियों के समूह से है। जो परस्पर रक्त सम्बन्ध से बँधे हुए दो या समान नस्ल के हो।

जब ऐसा समूह राजनीतिक संगठन का रुप धारण कर लेता है तो उसे राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्र को जातीय संगठन के रुप में ही नहीं देखा जाना चाहिए बल्कि इसके अतिरिक्त भाषा, धर्म, संस्कृत आदि अनेक तत्व भी समूह को राष्ट्र का रूप प्रदान करते है। इस प्रकार राष्ट्र से तात्पर्य उस मानवीय समूह से है जो भाषा, धर्म, जाति, परम्परा, संस्कृति आदि बंधनों के स्वरूप राजनीतिक एकता के बंधन में बँध जाता है।

राष्ट्र की प्रमुख परिभाषाएं निम्न है –

गार्नर के अनुसार– ''एक राष्ट्र सांस्कृतिक समानता का सामाजिक समूह है जो अपने मानसिक, जीवन और अभिव्यक्ति की एकता के विषय में पूर्ण सचेत तथा निश्चयी होता है।''

बर्गेस–ने राष्ट्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बँधी हुई वह जनता है जो एक अखण्ड भौगोलिक प्रदेश में निवास करती है।'

राष्ट्रीयता–(Nationality)

राष्ट्रीयता अंग्रेजी शब्द नेशनेलिटी का हिन्दी रुपान्तर है। नेशनेलिटी शब्द लैटिन भाषा के शब्द नेशियो (Natio) से बना है, जिसका अर्थ जन्म या वंश होता है। अधिकांश लोग राष्ट्र और राष्ट्रीयता को समान समझते हैं। लेकिन वास्तव में इसके रुप में अन्तर है।

विभिन्न विद्वानों में राष्ट्रीयता को लेकर अलग–अलग मत है। विद्वानों ने राष्ट्रीयता के पीछे भावात्मक तत्वों को अधिक प्रमुखता प्रदान की है और यह माना है कि राष्ट्रीयता में भावना और मानव समूह की प्रधानता पाई जाती है। लॉस्की, गिलक्राइस्ट जैसे विद्वानों ने भी भावात्मक तत्व को अधिक प्रमुखता प्रदान की। इनके अनुसार सभ्यता, रीति–रिवाज, भाषा आदि के परिणाम–स्वरूप समूह विशेष में एकात्मक भावना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राष्ट्रीयता एक आन्तरिक भावना है। जो मनुष्यों को एक सूत्र में बाँधती है।

जिर्मान के अनुसार–राष्ट्रीयता राजनीतिक प्रश्न नहीं है, बल्कि आवश्यक रुप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की तरह एक आन्तरिक भावना है। यह एक आध्यात्मिक धारणा है तथा अनुभव करने और विचारने रहने का एक ढंग है।

राष्ट्रवाद–(Nationalism)

राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता की भावना को प्रकट करता है। राष्ट्रवाद, राष्ट्रीयता की भावना को संगठित कर भावनात्मक शक्ति प्रदान करता है। ग्रीस ने राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'राष्ट्रवाद एक प्रकार की सामूहिक भावना है जिसका आधार विभिन्न प्रकार की एकता या समानताएँ है और जिसका सम्बन्ध मुख्यतः राजनीतिक शक्ति अथवा विकास से है।' इस प्रकार राष्ट्रवाद को राष्ट्रीयता की भावना को संगठित रुप से प्रकट करने का भावात्मक माध्यम कहा जा सकता है। राष्ट्रवाद राष्ट्रीयता को एक राष्ट्र के रुप में संगठित करने हेतु प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देती है।

राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता में भेद–(Difference Between Nation and Nationality)

राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता इन दोनों में जो मौलिक भेद पाया जाता है। वह है राजनीतिक संगठन या राजनीतिक रुप से संगठिन होने की भावना। जब कोई जनसमूह जाति, धर्म, भाषा, इतिहास आदि तत्वों के कारण भावानात्मक एकता में सम्बद्ध रहता है और अपने को जनसमूह से भिन्न समझता है तो उसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। परन्तु यदि वह जनसमूह राजनीतिक रुप से संगठित हो जाता है

TESL-A-024

या उसमें राजनीतिक रुप से संगठन की भावना जाग्रत होती है तो उसे राष्ट्र कहते हैं। राष्ट्रीयता राष्ट्र के प्रारम्भ की स्थिति होती है उदाहरणार्थ, भारत एक राष्ट्र है जिसमें अनेक प्रकार की राष्ट्रीयताएँ है। जैसे–बंगाली, गुजराती, पंजाबी, मराठी, आदि। ये सभी राष्ट्रीयताए है इनके बीच भाषा, संस्कृति, परम्परा आदि के कारण भावनात्मक एकता पाई जाती है। इस प्रकार एक राष्ट्र में भिन्न–भिन्न प्रकार की राष्ट्रीयताएँ हो सकती है या समान राष्ट्रीयता के लोग अलग–अलग राष्ट्रों में हो सकते हैं।

23.6 अन्तर्राष्ट्रवाद का उद्‌भव एवं विकास–(Origin and growth of Internationalism)

19वीं शताब्दी को राष्ट्रवादी युग कहा जाता है। अतः 21वीं शताब्दी को अन्तर्राष्ट्रवाद का युग कहना गलत नहीं होगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को समाप्त कर उसके स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए। वर्तमान में किसी भी राज्य के लिए एकांकी जीवन व्यतीत करना सम्भव नहीं है। आज समस्त विश्व को एक कहा जा रहा है क्योंकि वैज्ञानिक एंव तकनीकि प्रगति ने समूचे विश्व को एक कर दिया है और परिवहन संचार के साधनों ने भी देशों की आपसी दूरी काफी कम कर दी है। लोगों ने राष्ट्रीय अलगाव की भावना को त्यागकर अन्तर्राष्ट्रीय एकता की भावना को अपनाया है। जिससे अन्तर्राष्ट्रीय एकता की भावना बनी रही। कुछ दार्शनिक इसे विश्व सरकार या विश्व एकता के रुप में भी देखते हैं।

अन्तर्राष्ट्रवाद का उद्देश्य आत्म–सम्मान और स्वशासनपूर्ण राष्ट्रों का एक ऐसा परिवार है जो समानता, शान्ति और आपसी एकता में बंधा हो। सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की मित्र है।

अन्तर्राष्ट्रवाद का अर्थ–(Meaning of Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रवाद स्वशासनपूर्ण राष्ट्रों का परिवार है जिसका उद्देश्य शान्ति, सहिष्णुता, समानता, पारस्परिक सहयोग तथा प्रेम है। गोल्ड–स्मिथ के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रवाद ऐसी भावना है जिसमें कि व्यक्ति अपने राज्य का सदस्य नहीं बल्कि विश्व का एक नागरिक है। राष्ट्रीय मनुष्य और मनुष्य जाति की एक आवश्यक कड़ी है। किसी विद्वान के अनुसार अन्तर्राष्ट्रवाद में विद्वेष एवं वैमनस्य को दूर कर पारस्परिक प्रेम की भावना उत्पन्न होती है। अन्तर्राष्ट्रवाद 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना में विश्वास करता है तथा भ्रातृत्व की स्थापना करता है।

23.7 अन्तर्राष्ट्रवाद में सहायक तत्व (Factors of Internationalism)

अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में निम्नलिखित तत्वों का प्रमुख योगदान रहा है–

1. राजनीतिक तत्व–(Political Elements)

अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में राजनीतिक तत्वों का प्रमुख योगदान रहा है। वर्तमान में समस्त विश्व अब एक हो चुका है। क्योंकि उनके मध्य अब दूरी की कोई समस्या नहीं है। राज्य राजनीतिक दृष्टि से भी एक दूसरे के नजदीक आ चुके हैं। उन देशों के बीच पारस्परिक कूटनीतिज्ञ, व्यापारिक

सम्बन्ध स्थापित हुए हैं एवं आपसी सहयोग भी विकसित हुआ है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला है।

2. विश्व बन्धुत्व की भावना–(Feeling of Universal Brother hood)

सभी धर्मों का उद्देश्य मानव सेवा करना है। धर्म के पंडितों महात्माओं ने मानव जाति को एक ही ईश्वर की संतान माना है। इसी आदर्श भावना के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना का उदय होता है। मानव जाति के इसी स्वभाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिला है। मनुष्य में स्वभाविक रुप से सहयोग की भावना रहती है। सभी व्यक्ति समाज में शांति एवं सहयोगपूर्ण जीवन जीना चाहते है। इस प्रकार से विश्वबन्धुत्व की भावना ने अन्तर्राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने में सहयोग किया।

3. अन्तर्राष्ट्रीय विधि–(International Law)

जिस प्रकार किसी देश के शासन संचालन हेतु संविधान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार देश के संचालन हेतु विधि या कानून की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय देशों के संचालन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार प्रारम्भ में लिए गये न्यायिक निर्णय, परम्पराएँ, संधि समझौता आदि होते हैं। जब दो राष्ट्रों के बीच विवाद उत्पन्न होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सहायता से इसका समाधान किया जाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रवाद के विवाद में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

4. मानव अधिकार–(Human Rights)

लोकतंत्र में सभी लोगों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए मानव अधिकार प्रदान किए गए हैं। ये मानव अधिकार नैसर्गिक है जो कि व्यक्ति के जीवन के लिए आवश्यक है। ये मानव–अधिकार पूरे विश्व में मान्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विश्वव्यापी मानवाधिकारों की घोषणा की गई है। मानव अधिकार का अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

5. आर्थिक आत्मनिर्भरता–(Economic Iner cependence)

आर्थिक दृष्टि से देखा जाये तो कोई भी राष्ट्र तब तक आत्मनिर्भर नहीं हो सकता है। जब तक आर्थिक दृष्टि से आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रत्येक राष्ट्र एक–दूसरे पर निर्भर है। वर्तमान में वैज्ञानिक एवं तकनीक प्रगति के फलस्वरुप वर्तमान में व्यापार का स्वरुप भी अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। ये विकास ही अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रगति में सहायक है।

6. प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध–

अन्तर्राष्ट्रवाद के विकास में दोनों विश्वयुद्धों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रथम विश्वयुद्ध के गम्भीर दुष्परिणामों से बचने के लिए राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई है। इसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपार जन–हानि हुई उसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ (UNO) की स्थापना की गई।

23.8 सारांश

राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना ने हमें बहुत प्रभावित किया है। राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक भावना है। यह लोगों को एकीकरण के सूत्र में बाँधती है। सभ्यता, संस्कृति, भाषा में समूह के बीच एकीकरण की भावना पायी जाती है। राष्ट्रवाद का उदय 18वीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था। सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप राष्ट्रवाद का उदय हुआ। यूरोपीय देशों ने पुनरुत्थान के साथ ही राष्ट्रीय संस्कृति का विकास प्रारम्भ किया और राष्ट्रवादी भावना को बल मिला।

आधुनिक युग में अन्तर्राष्टवाद की स्थापना में वैज्ञानिक एवं तकनीकि प्रगति ने काफी सहयोग प्रदान किया है। अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को समाप्त करके विश्व व्यवस्था की स्थापना की बात की गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय एकता को विश्व एकता के रुप में देखा जाने लगा हैं राष्ट्रों के बीच भी परस्पर निर्भरता बढ़ी है। राष्ट्रों ने अपने ऐतिहासिक अनुभवों से भी काफी सबक लिया है। अब राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के माध्यम से सहयोग की स्थापना करना चाहते हैं।

23.9 बोध प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रवाद का अर्थ एवं विकास बताइए।
2. अन्तर्राष्ट्रवाद में सहायक तत्वों की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्र के प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिए।
2. राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद के बीच अन्तर को स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अन्तर्राष्ट्रवाद में मुख्य सहायक तत्व है ?
   (1) विश्वबन्धुत्व की भावना
   (2) अन्तर्राष्ट्रीय विधि
   (3) मानव अधिकार
   (4) उपर्युक्त सभी

उत्तर–1 (4)

23.10 संदर्भ सूची

1. ए.डी. आर्शीवादम् तथा कृष्णकान्त मिश्र–राजनीति विज्ञान
2. Hayes C.J.H., Essays on Nationalism, Macmillan
3. लुई स्नाइडर, 'द मीनिंग ऑफ नेशनलिज्म'।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त
विश्वविद्यालय, प्रयागराज

UGPS-101

राजनीतिक सिद्धान्तों और संस्थाओं का परिचय

खण्ड–7

समाज और अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप

इकाई–24 आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका **380–390**

इकाई–25 राज्य और सामाजिक प्रक्रियाए **391–408**

इकाई–26 राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया **409–420**

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
उत्तर प्रदेश प्रयागराज

UGPS-101

कुलपति एवं मार्गदर्शक

प्रो के. एन. सिंह, राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

विशेषज्ञ समिति

(1) **प्रो. एम. पी. सिंह –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग, 34 उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5,आईपी एक्सटेंशन पटपड़गंज, नई दिल्ली

(2) **प्रो. एस.पी. एम त्रिपाठी –** **सदस्य**
राजनीति विज्ञान विभाग दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

(3) **प्रो.एल.आर.गुर्जर –** **सदस्य**
प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय, कोटा राजस्थान

(4) **डॉ.दीपशिखा श्रीवास्तव –** **सचिव**
शैक्षणिक परामर्शदाता ,राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू ,प्रयागराज

संपादक

प्रो. पी. डी. शर्मा, पूर्व प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान हाउस नंबर 65 ,सेक्टर 5, अर्बन स्टेट, कुरुक्षेत्र

प्रो. एल. आर. गुर्जर, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

लेखक

49. प्रो. एल. आर. गुर्जर

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग वर्धमान महावीर मुक्त विश्वविद्यालय कोटा, राजस्थान

50. डॉ. चंद्र मोहन उपाध्याय, असिस्टेंट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान विभाग, किसान पीजी कॉलेज, बहराइच

51. डॉ के. डी. सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, हंडिया पीजी कॉलेज, हंडिया

52. डॉ नीलिमा सिंह, एसोसिएट प्रोफेसर, राजर्षि टडन मक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

53. डॉ एच. के. शर्मा, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

54. डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू प्रयागराज

55. डॉ ए. पी. सिंह, परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान, यूपी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

56. डॉ मोहम्मद शाहिद, एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. दीपशिखा श्रीवास्तव, शैक्षणिक परामर्शदाता, राजनीति विज्ञान विभाग, यू.पी.आर.टी.ओ.यू, प्रयागराज

2020 (मुद्रित)
© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
ISBN- 979-93-83328-35-2

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। नोट : पाठ्य सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।
प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021
प्रकाशक–कुलसचिव, डॉ. अरूण कुमार गुप्ता उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–2020
मुद्रक – चंद्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड, प्रयागराज (इलाहाबाद)

यू.जी.पी.एस.–101 खण्ड–07 परिचय

खण्ड–07 'समाज और अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप' के अन्तर्गत–

ईकाई–24 'आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका' में राज्य की भूमिका एवं आर्थिक नीतियों का अध्ययन कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त अहस्तक्षेपवाद, कल्याणकारी राज्य का अध्ययन कर सकेंगे।

ईकाई–25 'राज्य और सामाजिक प्रक्रियाओं' के अंतर्गत आप धर्मनिरपेक्षता समान सिविल संहिता और संवैधानिक सुरक्षात्मक उपायों जैस विषयों का अध्ययन कर सकेंगे।

ईकाई–26 'राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया' में राज्य की भूमिका, उदारीकरण से सम्बन्धित मुद्दो, भूमण्डलीकरण, निजीकरण का हम अध्ययन कर सकेंगे।

इकाई 24

आर्थिक प्रक्रिया में राज्य की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 राज्य और आर्थिक विकास की प्रक्रिया

24.2.1 वाणिज्यवाद और अहस्तक्षेपवाद

24.2.2 कल्याणकारी राज्य

24.2.3 मार्क्सवाद

24.3 राज्य और अर्थ–व्यवस्था के बीच सम्बन्ध

24.4 तृतीय विश्व के राज्य और आर्थिक प्रक्रियाएं

24.5 तुलनात्मक विवेचन

24.6 तृतीय विश्व की विकास सम्बन्धी समीक्षा

24.7 मिश्रित अर्थ–व्यवस्था और भारतीय राज्य

24.7.1 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था

24.7.2 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था की कमियॉ

24.8 सारांश

24.9 उपयोगी पुस्तकें

24.10 सम्बन्धित प्रश्न

24.11 प्रश्नोत्तर

24.0 उद्देश्य

राज्य आधुनिक समय में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा विविध प्रकार के कार्यों को करता है। जनता के विकासार्थ विभिन्न कलयाणकारी कार्यो एवं योजनाओं का राज्य द्वारा सृजन किया जाता है। इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप को राज्य की भूमिका का पता चल सकेगा जो वह आर्थिक कार्यों के लिये करता है तथा आप यह जान सकेंगे कि किस प्रकार राज्य की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन होता है।

24.1 प्रस्तावना

राज्य की संस्था ने व्यक्ति एवं समाज को विभिन्न रुपों से प्रभावित किया है तथा आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियो में एक प्रमुख अभिकर्ता की भूमिका निभाई है। इसी प्रक्रिया में स्वयं राज्य का प्रारुप भी बदला है। कभी राज्य ने केवल विधि एवं व्यवस्था की जिम्मेदारी ली तो कभी आम जनता के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाया। कभी राज्य को पूँजीपति वर्गों, व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के हित साधक के रूप में देखा गया तो कभी साम्यवादी चिंतन से प्रभावित होकर इसे जनता के आर्थिक आवश्यक्ताओं की पूर्ति करने वाली एक एजेन्सी के रुप में देखा गया। बीसवीं शताब्दी का अन्त होते होते राज्य को परस्पर लड़ते हुए अभिकर्ताओं के मध्य सामन्जस्य स्थापित करते हुए भी देखा गया है। वर्तमान अध्ययन में हम इन सब बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे तथा तृतीय विश्व सहित भारत की मिश्रित अर्थ–व्यवस्था पर भी चर्चा करेंगे।

24.2 राज्य और आर्थिक विकास की प्रक्रिया

मानव एवं प्राकृतिक संसाधनों के विकास एवं दोहन के लिए राज्य आगे आया है और समय समय पर उसने निर्देशक अथवा आदेशक विकास का रुप धारण किया है। आर्थिक सम्पन्नता की तलाश में राज्य कई स्तरों से गुज़रा है। आगे इनका अध्ययन किया जा रहा है।

24.2.1 वाणिज्यवाद एवं अहस्तक्षेपवाद

मोटे तौर पर वाणिज्यवाद का अर्थ होता है–– आर्थिक राष्ट्रवाद अर्थात राज्य के आर्थिक जीवन तथा उद्योग–धन्धे सम्बन्धी कार्य तथा व्यापारिक कार्यकलापों का सरकार द्वारा नियमन। वाणिज्यवाद का उदय यूरोप के सामन्ती राज्यों से राष्ट्र राज्यों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। राज्य के नरेशों ने उस समय अपने राजनीतिक अधिकारों को ठोस बनाने के साथ–साथ राष्ट्रीय अर्थ–व्यवस्था को केन्द्रीकृत एवं एकीकृत करने का प्रयास किया। वाणिज्यवाद का उदय काल 1600–1700 ई0 तक माना जाता है।

वाणिज्यवाद का एक पहलू राज्यों द्वारा सोना–चाँदी के संचयन की अनवरत कोशिश था। इसका अर्थ था कि किसी देश की सम्पन्नता देश के अन्दर जमा सोना–चाँदी पर निर्भर करती है। जिस देश के पास जितना अधिक भण्डार होगा वह उतना अधिक सम्पन्न होगा, परन्तु जिन देशों के पास प्रचुर मात्रा में सोना–चाँदी का भण्डार नही था, वह क्या करें ? वाणिज्यवाद के समर्थकों का इस सम्बन्ध में यह मत था कि सोने–चाँदी की कमी वाला देश दुनिया के अन्य देशों के साथ व्यापार बढ़ाने की कोशिश करे। आयात की मात्रा कम करके तथा निर्यात बढ़ाकर ऐसा देश भी प्रचुर मात्रा में सोना–चाँदी प्राप्त कर सकता है। इस प्रक्रिया को अनुकूल व्यापार संतुलन (Favourable Balance of Trade) कहा जाता है। इस संतुलन को बनाये रखने के लिए तीन मुख्य उपाय बताये गये :–

(अ) आयात की मात्रा को कम करने के लिये ऊँचा सीमा शुल्क तथा कुछ वस्तुओं के आयात पर पूर्ण प्रतिबन्ध

(ब) निर्यात पर उदार छूट, और

(स) उत्पादकों को व्यापक प्रोत्साहन जिस से व्यापारियों को विदेशों में बेचने के लिए अधिक से अधिक माल उपलब्ध हो सके।

वाणिज्यवाद के सिद्धान्त में तीन और विशेषताएं शामिल थीं –

(अ) आर्थिक राष्ट्रवाद, (ब) पैतृकवाद और (स) साम्राज्यवाद

नये उद्योगों को प्रोत्साहन, निर्यात में वृद्धि और कम से कम आयात आर्थिक राष्ट्रवाद के अंग थे वहीं वाणिज्यवाद के समर्थक यह तर्क देते थे कि राज्य को जनता का अभिभावक होना चाहिये ताकि युद्ध या अन्य आपात स्थितियों में राज्य को एक स्वस्थ, सम्पन्न एवं बहुसंख्यक जनता का समर्थन मिल सके। अन्त में वाणिज्यवाद के समर्थकों ने साम्राज्य स्थापित करने का तर्क दिया। उपनिवेशों की स्थापना से कच्चे माल की प्राप्ति एवं तैयार माल की बिक्री के लिये बाज़ार का उपलब्ध होना सुनिश्चित हो जायेगा।

वाणिज्यवाद के युग में राज्य ने राष्ट्रीय आय को मज़बूत करने के लिये बड़े–बड़े व्यापारियों को संरक्षण प्रदान किया। कच्चे माल को निर्मित माल में परिवर्तित कर निर्यात की व्यवस्था की तथा दूसरे देशों से आयात पर कठोर नियम बनाये। इस प्रकार राज्य का हस्तक्षेप आर्थिक मामलों में बढ़ता गया। लेकिन इंग्लैंड में राजा के अधिकारों में कमी एवं संसद के अधिकारों में वृद्धि के कारण वाणिज्यवाद के माध्यम से हस्तक्षेप के विरुद्ध अहस्तक्षेप की नीति को स्वर मिलने लगा।

लैसेफेयर (Laissez Faire) फ्रेंच भाषा का वांक्यांश है जिसका अर्थ 'करने दो' (अर्थात् जैसा चाहें वैसा करने दो) होता है। अहस्तक्षेपवाद जिसे (Laissez Faire) लैसेफेयर भी कहते हैं, बौद्धिक स्तर पर एडम स्मिथ तथा डेविड रिकार्डो के लेखों एवं प्रस्तावों से वाणिज्यवाद का पतन होने लगा तथा फ्री मार्केट (मुक्त बाज़ार) के सिद्धान्त को बढ़ावा मिलना प्रारम हो गया।

व्यापार पर लगी अनेक पाबन्दियों से तंग आकर एक दिन फ्रांसीसी व्यापारी विन्सेन्ट द गोर्ने (Vincent de Gourney) ने अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में 'लेसे फेयरे' अर्थात चीज़ों को अपने हाल पर छोड़ दो' का प्रयोग किया। तब से राज्य के हस्तक्षेप से बचने की नीति के रुप में इसका प्रयोग होने लगा। आर्थिक दर्शन के रुप में इसका अर्थ है कि राज्य का हस्तक्षेप होने पर उत्पादन के साधनों का लाभ उतना नही हो पाता जितना राज्य के हस्तक्षेप के अभाव में हो पाता है।

1776 ई0 में एडम स्मिथ (Adam Smith) की पुस्तक 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में 'वाणिज्यवाद' की नियामक तथा एकाधिकारपरक अवधारणाओं की आलोचना की गयी। अपनी पुस्तक में एडम स्मिथ ने यह बताया कि उत्पादन एवं आर्थिक विनिमय में कुछ 'प्राकृतिक विधान' होते हैं। इन्हें अपना कार्य करने देना चाहिये। बाद में माल्थस तथा रिकार्डो एवं कुछ अन्य शास्त्रीय अर्थ शास्त्रीयों ने ''लेसे फेयरे'' के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। इनके अनुसार आर्थिक क्रियाकलापों की शासन एवं राजनीति से अलग अपनी दुनिया होती है जो कतिपय बुनियादी विधानों से नियमित होती है जैसे मांग एवं पूर्ति के नियम। उनके विचार में हर आदमी को स्वहित के अनुसार काम करना चाहिये, क्योकि व्यक्ति अपना हित जितना जान सकता है, दूसरा नही। हर व्यक्ति के कल्याण का कुल जमा ही आम लोगों का कल्याण तथा आज़ादी होगा। आर्थिक क्षेत्र में सरकार की भूमिका कम से कम होनी चाहिये। शासनतंत्र का दायरा जान और माल की सुरक्षा, कानून व्यवस्था, न्याय निष्पादन आदि तक ही सीमित रहना चाहिये। केवल व्यवसाय ही

नही शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य व्यक्तिगत मामलों में राज्य को दख़ल देने की कोई ज़रुरत नही।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के साथ मुक्त बाज़ार व्यवस्था प्राकृतिक रूप से जुड़ गई। 'लेसे फेयरे' का सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी के युरोपीय उदारवाद का अंग बन गया। उदारवादी जैसे बौद्धिक क्षेत्र में विचार की स्वतंत्रता पर बल देते थे उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में मुक्त व्यापार और मुक्त प्रतिस्पर्द्धा के समर्थक थे। इनके अनुसार राज्य को एक ग़ैर–सक्रिय 'पुलिसमैन' की भूमिका निभानी थी जिसे न्याय का संचालन, निजी सम्पत्ति की सुरक्षा तो करनी है लेकिन नागरिकों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना है।

समय गुज़रने के साथ–साथ 'लेसे फेयरे' का विरोध होने लगा, क्योकि इस सिद्धान्त के समर्थक श्रमजीवियों के हित साधक नही थे। उनका विश्वास 'पारिश्रमिक का लौह कानून' (Iron Law of Wages) में था जिसके अनुसार श्रमजीवियों को न्यूनतम वेतन ही मिलना चाहिये जिससे, वह अपने को जीवित रख सकें। ज़्यादा वेतन मिलने पर वह ज़्यादा बच्चे पैदा करेंगे और फिर उसी तरह निर्धन बने रहेंगे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुनः आर्थिक जीवन के क्षेत्रों में राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप की मांग की जाने लगी।

24.2.2 कल्याणकारी राज्य

यद्यपि आज हर राज्य अपने लिए कल्याणकारी राज्य होने का दावा करता है लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक राज्य 'पुलिस राज्य' से अधिक नही थे जिनका मुख्य कार्य शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना था। उस समय कल्याण कार्य व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूहों का कार्य क्षेत्र माना जाता था।

इस अवधारणा के विपरीत यह धारणा विकसित हुई कि राज्य के कुछ और भी कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व हैं यथा – नागरिकों का अधिक से अधिक कल्याण। इस बात की व्यवस्था करना कि उनके रहन–सहन तथा खान–पान का अच्छा स्तर रहे। उनके भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास के समस्त साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों। उनकी तथा उनके बच्चों की शिक्षा का समूचित प्रबन्ध हो।

टी.डब्लू. केन्ट (T.W.Kent) के अनुसार कल्याणकारी राज्य ''वह राज्य है जो अपने नागरिकों को बड़े पैमाने पर सामाजिक सेवायें उपलब्ध कराता है।'' हॉबमैन (Hobman) का विचार है कि कल्याणकारी राज्य साम्यवाद (पूर्ण राज्य नियंत्रण) तथा निरपेक्ष व्यक्तिवाद (न्यूनतम राज्य हस्तक्षेप) के मध्य समझौता है। अन्य शब्दों में कल्याणकारी राज्य निजी उद्यम के लाभों को स्वीकार करते हुए जीविकोपार्जन की सुरक्षा प्रदान करता है तथा इसके द्वारा राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण की व्यवस्था की जाती है।इस प्रकार कल्याण दया का विषय नही है बल्कि यह नागरिकों का अधिकार है।

यूरोप में विशेषकर औद्योगिकरण ने जहां आर्थिक विकास को आगे बढ़ाया वहीं शहरों की संख्या में भी वृद्धि हुयी जिसने जनसंख्या के एक बड़े भाग को शोचनीय दशा में जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किया। आधुनिक राज्य ने इन समस्याओं को हल करने के लिए मानवीय आधारों पर तथा सामाजिक अशान्ति को रोकने के लिए कदम आगे बढ़ाया । इस तरह विधियों एवं नियमों के निर्माण से कल्याणकारी राज्य की स्थापना अस्तित्व में आयी जो न सिर्फ निर्धनों के लिए है अपितु उन्हें नागरिक के रूप में देखते हुए उनकी समस्याओं का निदान करना है।

टी.एच. मार्शल (T. H. Marshall) के अनुसार ''कल्याणकारी राज्य लोकतंत्र, कल्याण एवं पूँजीवाद का सम्मिश्रण है।'' अब राज्य के द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में व्याप्त असमानताओं को लोकतंत्र के माध्यम से समाप्त करने का प्रयास किया जाता है। विश्व के अधिकांश देशों में राज्य का कल्याणकारी स्वरुप देखने को मिलता है लेकिन कल्याणकारी राज्य की आलोचना भी की जाती है जैसे आम जनता सरकारी सहायता के कारण कामचोर एवं निकम्मी बन जाती है। सरकारी कार्यों में भ्रष्टाचार के कारण सहायता की वस्तुऐं एवं धनराशि वैध व्यक्तियों एवं समूहों तक न पहुंचकर ठेकेदारों, बिचौलियों एवं नौकरशाहों के द्वारा हड़प ली जाती है, जिससे राष्ट्रीय आय पर बड़ बोझ पड़ता है। उत्पादकता में कमी आती है तथा आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि के कारण फिर गरीब, असहाय जनता को आर्थिक बोझों का सामना करना पड़ता है।

24.2.3 मार्क्सवाद

मार्क्सवादी विचारधारा निरपेक्ष व्यक्तिवाद, पूँजीवाद एवं कल्याणकारी राज्य के विरोध में आगे बढ़ी। मार्क्स का विचार था कि उदारवादी राज्य पारिश्रमिक बढ़ाकर, कार्य स्थलों पर कुछ सुविधायें देकर तथा कुछ आर्थिक लाभ की व्यवस्था करके श्रमिकों की वर्ग चेतना को समाप्त करना चाहते हैं ताकि समाजवादी क्रान्ति न आ सके।

मार्क्स के अनुसार मनुष्य समाज सदैव से ही दो वर्गों में विभाजित रहा है इसमें से एक वर्ग थोड़े से विशेषाधिकार युक्त व्यक्तियों का वर्ग रहा है जो उत्पादन के साधनों का स्वामी रहा है। दूसरा वर्ग उन बहु–संख्यक श्रमजीवियों का है जो अपने श्रम से कच्चे माल को तैयार माल में परिवर्तित करते हैं।

इस सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जिसका साधारण अर्थ यह है कि श्रमिक अपने श्रम से जो उत्पादन करता है उसका एक बहुत छोटा अंश ही उसे मज़दूरी में मिलता है, शेष पूँजीपति अपने लाभ में शामिल कर लेता है और इस प्रकार अतिरिक्त मूल्य श्रमिक के शोषण का साधन है। इस असमानता को दूर करने के लिये मार्क्स वर्ग–संघर्ष की बात करता है जहाँ श्रमिकों की ही विजय होनी है और इस प्रकार मज़दूरों का शासन स्थापित होगा जहाँ सभी को आर्थिक एवं सामाजिक न्याय उपलब्ध कराया जायेगा। उत्पादन के साधनों पर संक्रमण काल में राज्य का नियंत्रण होगा और राज्य सबको उनकी आवश्यक्ता के अनुसार उपलब्ध करायेगा।

24.3 राज्य और अर्थ–व्यवस्था के बीच सम्बन्ध

ऊपर दिये गये विचारों से जहां राज्य की प्रकृति का पता चलता है वहीं अर्थ–व्यवस्था एवं राज्य के मध्य सम्बन्धों की अन्तः क्रिया का भी ज्ञान होता है। कुल मिलाकर यह सर्वविदित है आधुनिक राज्य व्यवस्था की स्थापना के पूर्व तथा पश्चात अर्थ–व्यवस्था पूर्ण रूप से एक स्वतंत्र संस्था न रहकर सदैव राज्य से जुड़ी रही है। यह अलग बात है कि कभी अर्थ–व्यवस्था पर राज्य का प्रभाव अधिक हुआ तो कभी अर्थ–व्यवस्था ने राज्य के कार्यों को प्रभावित किया। जैसा हम ने ऊपर के पृष्ठों में देखा कि किस प्रकार वाणिज्यवाद में राज्य का आर्थिक कार्यों के लिए हस्तक्षेप बढ़ा था तथा फिर 'लैसे फेयर' अर्थात अहस्तक्षेप की नीति का मतलब था कि राज्य को आर्थिक कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप ही करना चाहिये। इस प्रकार संगठित जीवन एवं समाज में हम राज्य की संस्था का अनुभव करते हैं चाहे

बदलती हुयी आर्थिक परिस्थितियों से कभी राज्य केन्द्रीय संस्था बन जाता है तो कभी राज्य का दायरा संकुचित हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि आर्थिक शक्तिया ज़्यादा प्रबल हो रही हैं तथा वह ही राज्य को नियंत्रित कर रही हैं।

24.4 तृतीय विश्व के राज्य और आर्थिक प्रक्रियाएं

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद विश्व मंच पर राज्य व्यवस्था ने विश्व के राज्यों को परस्पर विरोधी खेमों में जहां बांटने का कार्य किया वहीं लम्बे समय से पराधीन रहे राज्यों की स्वतंत्रता का मार्ग भी प्रशस्त किया। भारत की स्वतंत्रता के बाद एशिया, अफ्रीका एवं लातीनी अमेरिका में धीरे–धीरे अनेक देश उपनिवेशी शासन से मुक्त हुए। विश्व में बाज़ार अर्थ–व्यवस्था पर आधारित पश्चिम के राज्य थे तथा इनके विपरीत सोवियत यूनियन (रुस) के नेतृत्व में गठित कम्युनिस्ट राज्य थे जहां पर निजी सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था तथा उत्पादन तथा वितरण प्रणाली पर राज्य का स्वामित्व स्थापित किया गया था। इस युग की सैनिक प्रतिस्पर्धा को शीत युद्ध के नाम से जाना जाता है। इसी काल में एशिया तथा अफ्रीका के नवोदित राज्य जो किसी सैनिक संगठन में जाना नहीं चाहते थे और जो अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहते थे उन राज्यों ने असंलग्नता की नीति अपनाई। इन देशों को तृतीय विश्व के राज्य कहा जाने लगा।

फ्रांसीसी इतिहासकार अल्फ्रेड सॉवी ने 1952 में 'तृतीय विश्व' शब्द का प्रयोग उन देशों के लिये किया था जो सैनिक संगठन 'नाटो' (NATO) या वार्सा सन्धि (WARSAW PACT) से अलग थे। तत्पश्चात 1950 के दशक के अन्त तक फ्रांसीसी मीडिया में एशिया, अफ्रीका तथा लातीनी अमेरिका के अल्प–विकसित देशों के लिये तृतीय विश्व शब्द का प्रयोग बहुदा किया जाने लगा। औद्योगीकृत पूँजीवादी देशों को प्रथम विश्व तथा साम्यवादी देशों को द्वितीय विश्व कहा जाता है।

तृतीय विश्व के राज्यों में निर्धनता, अल्प–विकास, अशिक्षा, कुपोषण, जनसंख्या विस्फोट जैसी सामूहिक समस्याएं हैं। यद्यपि शीत युद्ध काल में अधिकांश देश पूर्ण पूँजीवादी या पूर्ण साम्यवादी आर्थिक पद्धति से अलग हो कर एक नवीन आर्थिक प्रक्रिया को अपनाया फिर भी तीसरी दुनिया के सारे देशों में आर्थिक समरुपता देखने को नही मिलती। कुछ राज्यों ने तीसरी दुनिया की विशेषताएं रखते हुए भी अमेरीकी सैनिक एवं पूँजीवादी व्यवस्था का अनुसरण किया तो कुछ राज्यों ने सोवियत प्रणाली वाली आर्थिक व्यवस्था को अपनाया। इसी बीच इन नवोदित राज्यों में जो सामान्य बात थी वह आर्थिक विकास का मुद्दा था। विकास हेतु कुछ राज्यों ने पश्चिमी देशों से सहायता अनुदान प्राप्त किया तथा कुछ राज्यों ने सोवियत ब्लाक से अनुदान राशि एवं तकनीक प्राप्त की। कुछ राज्य इसमें सफल रहे कि उन्होंने शीत युद्ध का फायदा उठाते हुए दोनों गुटों से सहायता अनुदान एवं तकनीकी सहयोग प्राप्त किया। भारत इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है जहां अमेरीकी सहायता तथा कोलम्बो प्लान के अन्तर्गत राष्ट्रमण्डल के देशों से सहायता मिली वहीं भारत में भारी उद्योगों की स्थापना में सोवियत रुस ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस प्रकार तृतीय विश्व के देश अपनी आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए अलग–अलग नीतियों को अपनाते हुए दिखायी देते हैं। अफ्रीका के अधिकांश राज्यों में राज्य का आर्थिक जगत में प्रभुत्व स्थापित नही हो पाया। एशियाई राज्यों में अलग–अलग स्वरूप देखने को मिलता है। कही पर बाज़ार अर्थ–व्यवस्था का

TESLA-024

प्रतिमान हावी रहा और राज्यों ने फैसीलीटेटर (Facilitator सुविधा प्रदानकर्ता) की भूमिका निभायी। कुछ देशों में सेना तथा उद्योग का सम्मिश्ररण हो गया जैसे पाकिस्तान में जहां सेना का देश की रक्षा के साथ–साथ अर्थ–व्यवस्था में बड़ा भाग है। अफ्रीका तथा एशिया के कुछ देशों में बाहरी प्रभावों एवं आन्तरिक शक्तिशाली समूहों के कारण लोकतंत्र के स्थान पर सैनिक क्रान्ति एवं सैनिक शासन की स्थापना देखने को मिलती है।

24.5 तुलनात्मक विवेचन

इस प्रकार तीसरी दुनिया के देश भी उस बीमारी से अपने को नहीं बचा सके जो औद्योगिक राज्यों या समाजवादी राज्यों में व्याप्त थी। लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया से गुज़रते हुए संस्थाओं का निर्माण करना, उन्हें पुराने सामन्ती प्रभावों से मुक्त रखना तथा जनता की महत्वाकांक्षाओं तथा एवं उनकी आवश्यक्ताओं की पूर्ति के लिये नवोदित राज्यों ने जो मार्ग अपनाया उसमें दृढ़ता नही थी। इसी प्रकार लोकतंत्रीय प्रतिस्पर्द्धा का ग़लत प्रयोग करने के कारण नौकरशाही की शक्तियों में वृद्धि तथा राष्ट्रीय कोष एवं संसाधनों में लूट–खसूट की प्रवृत्ति और प्रशासनिक एवं राजनीतिक भ्रष्टाचार में वृद्धि हुयी। जिन वंचितताओं के निराकरण के लिये आर्थिक प्रक्रिया का सहारा लिया गया उसमें निराशा ही ज़्यादा हाथ लगी। समाज की स्थापना तथा सामाजिक न्याय का अभिवचन ज्यादातर खोखला ही रहा। यही कारण है कि तीसरी दुनिया के देश कुछ अपवादों को छोड़कर भारी संख्या में आज भी व्यापक निर्धनता, अशिक्षा, कुपोषण एवं स्वास्थ्य की समस्याओं से जूझ रहे हैं। ऋण–ग्रस्तता बढ़ी है एवं अधिकांश देश ऋण अदायगी के चक्र–व्यूह में फंस गये हैं जिस से राजनीतिक स्वतंत्रता के भीतर नव–उपनिवेशवादी राज्यों का फिर से नये रूप में हस्तक्षेप दिखायी दे रहा है।

24.6 तृतीय विश्व की विकास सम्बन्धी समीक्षा

तीसरी दुनिया के राज्यों ने विकास के लिये लोकतांत्रिक स्वरुप को अपनाने का प्रयास किया लेकिन इसी के साथ–साथ समस्या यह पैदा हुयी कि कहीं फिर से यह देश पूँजीवादी शोषण का शिकार न हो जायें इस लिये तीसरी दुनिया के बहुत से देशों ने नियन्त्रित अर्थ–व्यवस्था का प्रतिमान अपनाया। विकास एक आवश्यकता थी तथा अधिकांश देश औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र हुए थे इसलिये इनके सामने राष्ट्र निर्माण की समस्या भी थी जिस से वह अपनी कठिनाई एवं दीर्घ संघर्ष से हासिल की गयी स्वतंत्रता को सुरक्षित रख सकें। परन्तु जल्द ही तीसरी दुनिया के देशों में नौकरशाही तथा राजनीतिज्ञ मज़बूत हो गये। सरकारें स्वयं बड़ी पूँजीपति बन गयीं। राज्य की शक्ति के साथ लोक कल्याण के लिये बड़ी–बड़ी नीतियां बनाई गयीं लेकिन इन कल्याणकारी नीतियों का लाभ असहाय और ग़रीब जनता को कम मिला। विदेशी सहायता धनराशि और विदेशी अनुदान का आधारभूत ढांचों की कमी एवं पारदर्शी लोकतंत्र की अनुपस्थिति में बड़े पैमाने पर दुरुपयोग होने लगा। अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जब व्यापक पूँजी की ज़रूरत पड़ी तो विश्व बैंक से क़र्ज़ लिया गया। 1980 तक आते–आते तीसरी दुनिया के देशों के सामने क़र्ज़ के जाल में फंस जाने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं बचा था।

विकास के क्षेत्र में राज्य की व्यापक भूमिका है लेकिन तीसरी दुनिया के अधिकांश देश हस्तक्षेपी प्रकृति के होते हुए भी समावेशी विकास में पीछे रह गये।

सड़कों, विद्यालयों एवं ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों के निर्माण के स्थान पर तीसरी दुनिया की सरकारों ने बड़े–बड़े हवाई अड्डे, विश्वविद्यालय और बड़े–बड़े शहरी अस्पताल बनवाये। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा की अनुमति के स्थान पर राज्य द्वारा संचालित उद्योगों एवं व्यापार में राज्य ने अपनी व्यापक अदक्षता को शरण दिया। पिछले अर्द्ध शतक पर फैले हुए विकास के अनुभवों से यह प्रतीत होता है कि इन देशों में सुशासन की बहुत कमी है और सरकारें हीं समस्या का कारण हैं।

24.7 मिश्रित अर्थ–व्यवस्था और भारतीय राज्य

मिश्रित अर्थ–व्यवस्था एक ऐसी प्रणाली है जिस में राज्य एवं निजी क्षेत्र दोनों मिलाकर काम करते हैं। मिश्रित अर्थ–व्यवस्था में मूल विचार यह है कि उत्पादन के स्रोत निजी स्वामित्व में हों और यह कि बाज़ार आर्थिक समन्वय के प्रमुख अभिकर्ता के रुप में हो तथा लाभ कमाने वाली संस्थायें एवं पूँजी का संचय अर्थ–व्यवस्था को गतिमान करता हो। चूँकि मिश्रित अर्थ–व्यवस्था पूरी तरह से बाज़ार अर्थ–व्यवस्था या पूँजीवाद पर न तो आधारित है न उत्पादन के सभी स्रोतों पर राज्य के पूर्ण नियंत्रण को (जैसा कि साम्यवादी देशों में हुआ) स्वीकार करती है। यह अर्थ–व्यवस्था दोनों विपरीत आर्थिक विचारधारा अर्थात पूँजीवाद एवं समाजवाद के कुछ लक्षणों को मिश्रित करती है इसलिये इसे मिश्रित अर्थ–व्यवस्था का नाम दिया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन में राजनीतिक वाद–विवाद के मध्य 'मिश्रित अर्थ–व्यवस्था' की अवधारणा का प्रचलन हुआ। ब्रिटेन में 1930 के दशक में मज़दूर दल एवं अनुदार दल दोनों के कुछ प्रमुख नेता जैसे आर. एच. टॉनी (R. H. Tawney) एन्थोनी क्रासलैण्ड (Anthony Crosland) और एन्ड्रीव शोनफील्ड (Andrew Shonefield) (मज़दूर दल) तथा अनुदार दल के हैराल्ड मैकमिलन (Harold Macmillan) ने इस प्रणाली का समर्थन किया।

मिश्रित अर्थ–व्यवस्था में जैसा कि हम ने देखा दोनों प्रचलित प्रणालियों का मिश्रण है। प्रत्येक राज्य अपने स्तर पर तथा अपनी सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर मिश्रण की मात्रा तय करता है। कुछ राज्यों में निजी स्वामित्व को अधिक स्वतंत्रता दी जाती है और राज्य के आर्थिक विकास के लिये उत्पादन के निजी स्वामित्व वाले स्वरुप को स्वीकार किया जाता है वहीं दूसरी ओर कुछ राज्य हैं जो आर्थिक नव–निर्माण और विकास कार्यक्रमों के लिये निजी स्वामित्व वाले स्वरुप पर कम ध्यान देकर नियोजित अर्थ–व्यवस्था अर्थात राज्य के व्यापक आर्थिक कार्यक्रमों एवं नियन्त्रण पर बल देते हैं।

भारत भी उन्हीं देशों में है जहां राज्य के कन्धों पर आर्थिक विकास की जिम्मेदारी डाली गयी। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान कांग्रेस के नेतृत्व में साम्राज्यविरोधी संघर्ष समाजवादी विचारों से काफी प्रभावित था इसीका परिणाम था कि स्वतंत्रता के पश्चात संविधान निर्मात्री सभा में राज्य के नीति–निदेशक तत्वों के अधीन भावी राज्य की आर्थिक उद्देश्यों की निशानदेही की गयी। जहां एक ओर संविधान ने निजी सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकार के रुप में स्वीकार किया था वहीं सार्वजनिक हितों की पूर्ति के लिये राष्ट्रीयकरण का अवसर भी उपलब्ध कराया। देश के तीव्र और समग्र आर्थिक विकास के लिये राज्य नियन्त्रण में व्यापक योजनाएं चलाई गयीं।

24.7.1 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था

भारत में मिश्रित अर्थ–व्यवस्था को अपनाया गया है। मूलभूत उद्योग जैसे

रेलवे, डाक एवं तार, रक्षा उत्पादन, आणविक ऊर्जा सार्वजनिक क्षेत्र में है। भारत सरकार ने दिसम्बर 1954 में समाजवादी समाज की स्थापना का निश्चय किया। तीव्र आर्तिक विकास के लिये नियोजित विकास का मार्ग अपनाया गया। द्वितीय पंच वर्षीय योजना प्रलेख में भी कहा गया कि 'समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना के लिये यह अनिवार्य है कि आधारभूत एवं केन्द्रीय महत्व के सभी उद्योग एवं जन उपयोगी सेवाओं से सम्बन्धित उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में हों'। भारत में नियोजन के माध्यम से पंचवर्षीय योजनाओं की निर्माण हुआ जिस में राज्य की पूरी भागीदारी रही। आर्थिक समानता, अवसर की समानता, अधिकतम उत्पादन, पूर्ण रोज़गार तथा अविकसित क्षेत्रों का विकास प्राप्त करने का उद्देश्य था। धनी वर्ग से अधिक कर द्वारा प्राप्त आय को निर्धन वर्ग को सस्ती सेवायें – चिकित्सा, शिक्षा, सामातिक बीमा, सस्ते मकान आदि सेवायें – उपलब्ध कराने पर व्यय करने की योजना बनाई गई।

लेकिन इसी के साथ भारत में निजी सम्पत्ति के अधिकार को भी स्वीकार किया गया और निजी उद्योग स्थापित करने की अनुमति प्रदान की गयी। अर्थ–व्यवस्था के बहुत से क्षेत्र निजी उद्यमियों के लिये खुले रखे गये हैं। 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के माध्यम से सरकार को शस्त्र निर्माण, आणविक ऊर्जा एवं रेल यातायात में एकाधिकार प्रदान किया गया तथा खनिज पदार्थों, इस्पात, खनन, हवाई जहाज़ निर्माण, जहाज़रानी वग़ैरह में अनन्य अधिकार प्रदान किये गये। 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के माध्यम से 17 प्रकार के उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में रखे गये। निजी क्षेत्र को वस्तुतः उपभोक्ता सामानों के उत्पादन तक सीमित कर दिया गया। व्यापार को नियन्त्रित करने के लिये क़ानून बनाये गये तथा वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये गये। इस प्रकार उद्यमिता पर सरकारी नौकरशाही का कड़ा पहरा बिठाया गया। धीरे–धीरे दो ही दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र के विशाल उद्योग, न्यूनतम उत्पादन, लम्बा खर्च तथा व्यापक अदक्षता के शिकार होने लगे। कृषि का सही तरह से विकास नही हो पाया जबकि भारत की दो तिहाई जनसंख्या कृषि एवं उस पर आधारित उद्योगों से जुड़ी हुयी है। 1980 तक भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था एवं राज्य की आलोचना की जाने लगी। मिश्रित अर्थ–व्यवस्था के निम्न दोष सामने आने लगे।

24.7.2 भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था की कमियॉ

निजी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की मनोवैज्ञानिक डर ने निजी उद्योगों को पनपने से रोकने का काम किया। दूसरे सरकार की अनथक कोशिशों के बाद भी आर्थिक समानता की जगह पर विपरीत परिणाम आये। धनवान और धनी होते गये तथा निर्धन और निर्धन बने। कुछ बड़े उद्योगों में पूँजी एवं संसाधनों का केन्द्रण देखने को मिला।भ्रष्टाचार को व्यापक स्तर पर फलने–फूलने का अवसर मिला। लाइसेन्स–कोटा–परमिट राज (Licence, Quota, Permit Raj) के माध्यम से नौकरशाही ने निजी उद्योगों को परेशान करना एवं अपनी जेब भरना शुरु किया। कालाबाज़ारी बढ़ी एवं मुनाफा कमाने की होड़ में वस्तुओं की कृत्रिम कमी देखी गयी। विशालकाय सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यामों मे अनुत्पादकता के साथ–साथ घाटे की अर्थ–व्यवस्था प्रारम्भ हुयी। समस्या यह हुयी कि इन उद्योगों का ख़र्चा, वेतन, भत्ते तथा रख रखाव एवं दीगर मामलों में बढ़ा तथा निजी उद्यम के विपरीत कुछ करने का साहस न होने के कारण तथा जवाब देयता के अभाव में राजस्व का एक बड़ा भाग घाटे में चला गया। आय की असमानता बढ़ी। दोनों प्रकार की अर्थ–व्यवस्था के मिश्रण के बावजूद निजी उद्यम में दक्षता थी। राज्य का नियन्त्रण होने के बावजूद भ्रष्टाचार पनपा और घूसख़ोरी ने निजी उद्यमियों को समय–समय

पर कालाबाज़ारी के माध्यम से तथा कम गुणवत्ता के उत्पादों के ज़रिये लाभ कमाने एवं जनता का शोषण करने का मौक़ा दिया। जहां भारतीय राज्य ने लोक कल्याणकारी, हितैषी एवं संरक्षक के रुप में कार्य करने की सोची वहीं राजनेताओं एवं अकर्मठ तथा बेईमान नौकरशाही ने पुनः जनता का शोषण करना शुरु कर दिया। विकास के नाम पर अल्प–विकास, कुपोषण, जीवन की बुनियादी सहूलतों से वंचितता ही भारतीय जनता का भाग्य बन हयी। विधि का शासन बुरी तरह प्रभावित हुआ तथा असामाजिक तत्व क़ानून की धज्जियां बिखेरने लग गये।

24.8 सारांश

राज्य की संस्था अमूर्त रुप में होते हुए भी पिछली चार शताब्दियों से अधिक काल में विभिन्न आर्थिक विचारधाराओं से सम्बद्ध रही। जैसे–जैसे समाज में बोध एवं चिंतन बढ़ा है राज्य को अलग–अलग तरह की आर्थिक नीतियां अपनाते हुए पाया गया। मार्क्सवादी विचारक इसी लिये राज्य को शोषण की संस्था मानते हैं। राज्य ने चाहे जो रुप भी धारण किया हो मिसाल के तौर पर आर्थिक राष्ट्रवाद से प्रेरित होकर वाणिज्यवाद आया उसमें भी श्रमजीवियों तथा मेहनतकशों एवं कमज़ोरों का शोषण हुआ। जब राज्य के हस्तक्षेप को न्यूनतम करने की बात कही गयी तब भी कमज़ोर वर्गों का ही शोषण हुआ। तीसरी दुनिया के देशों ने जिन कारणों से भी आर्थिक सम्पन्नता एवं विकास के लिये जो प्रतिमान अपनाया उसका नतीजा उनको उनकी इच्छाओं के विरुद्ध ही मिला। असल बात तो यह है कि सही मायनों में राज्य ने समस्याओं को समझा ही नही और फिर राज्य पर किस वर्ग का अधिकार हुआ यह भी विश्लेषण करना ज़रुरी है। वास्तव में राज्य कभी भी आम जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सका। लोक कल्याण, लोकतंत्रीकरण तथा सत्ता में भागीदारी के नारे तो लगाये गये लेकिन मूल में कुछ अभिजात एवं विशिष्ट वर्गों का बचर्स्व ही रहा जिसने राज्य की समग्र भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगाये।

ऊपर के पृष्ठों में हमने विभिन्न आर्थिक नीतियों एवं प्रणालियों का अध्ययन किया एवं यह देखा कि राज्य का क्या प्रतिउत्तर एवं भूमिका रही।

24.9 उपयोगी पुस्तकें

Brezis, Elise S (2003), " Mercantilism", The Oxford Encyclopedia of Economic History, Oxford University Press.

Stilwell, Frank (2006), Political Economy : The Contest of Economic Ideas, 2nd ed., Oxford University Press.

Phillip, Anthoni O'Hara (ed.) (1999) "Welfare State", Encycoledia of Political Economy, Routledge.

ब्रेज़िस एलिस एस. (2003) ''मर्कैन्टीलिज़्म'' द ऑक्सफोर्ड इन्साइकलोपीडिया ऑफ इकोनॉमिक हिस्ट्री, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

स्टिलवेल फ्रैंक (2006) '' पोलिटिकल इकोनॉमी : द कान्टेस्ट ऑफ इकोनॉमिक आइडियाज़, द्वितीय संस्करण, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस।

फिलिप अन्थोनी ओ'हारा (सम्पादक) (1999)'' वेल्फेयर स्टेट'' इन्साइकलोपीडिया ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी, रुटलेज।

काश्यप, सुभाष, गुप्त, विश्वप्रकाश (2004)'' राजनीति कोश'', हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, द्वितीय संस्करण।

24.10 सम्बन्धित प्रश्न

लघु–उत्तरीय प्रश्न

(i) वाणिज्यवाद से आप क्या समझते हैं ?

(ii) कल्याणकारी राज्य के मुख्य लक्षण बताइये।

(iii) वर्ग–संघर्ष पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(i) मिश्रित अर्थ–व्यवस्था पर एक निबन्ध लिखिए।

(ii) तृतीय विश्व की आर्थिक समस्याओं का विवेचन कीजिए।

(iii) भारतीय मिश्रित अर्थ–व्यवस्था के अवगुण बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 वाणिज्यवाद का उदयकाल माना जाता है

(अ) 1600–1700 ई0

(ब) प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के बीच

(स) 1500–1600 ई0

(द) औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात

2 'तृतीय विश्व' शब्द का प्रयोग किसने किया ?

(अ) टी0डब्ल्यू0 केन्ट

(ब) हॉबमैन

(स) एडम स्मिथ

(द) अल्फ्रेड सॉवी

3 'वेल्थ ऑफ नेशन्स' किस नीति को प्रोत्साहित करती है ?

(अ) कल्याणकारी राज्य

(ब) अहस्तक्षेप की नीति

(स) अतिरिक्त मूल्य

(द) विकास और तृतीय विश्व

24.11 प्रश्नोत्तर

1 (अ) 2 (द) 3 (ब)

इकाई 25

राज्य और सामाजिक प्रक्रियाएं

इकाई की रुपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 धर्मनिरपेक्षता

25.2.1 धर्मनिरपेक्षता का अर्थ

25.2.2 भारत में समान सिविल संहिता

25.2.3 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

25.2.4 समस्याएं

25.3 अल्पसंख्यकों के अधिकार

25.3.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

25.3.2 समस्याएं

25.4 आरक्षण और उस से सम्बन्धित मुद्दे

25.4.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

25.4.2 समस्याएं

25.5 सामाजिक विषमताएँ और योग्यता का मापदण्ड

25.5.1 संदर्भ में भारतीय सामाजिक विषमताएं

25.6 सारांश

25.7 उपयोगी पुस्तकें

25.8 सम्बन्धित प्रश्न

25.9 प्रश्नोत्तर

25.0 उद्देश्य

जैसे जैसे लोकतंत्र और राजनीतिक चेतना का विकास होता है लोगों में अपनी पहचान की राजनीति का स्वर मुखरित होता है। राज्य ऐसी स्थिति में एक मध्यस्थ की भूमिका में दिखाई देता है जिसका यह कार्य होजाता है कि वह परस्पर विरोधी गुटों के बीच किस प्रकार सामंजस्य बिठाऐ जिस से कि सामाजिक समरसता, राष्ट्र की एकता तथा विभिन्न सामाजिक वर्गों, धार्मिक समूहों, जाति संगठनों एवं आर्थिक समुदायों के बीच ताल–मेल बना रहे। इस प्रकार राज्य तटस्थ नही रहसकता फिर भी राज्य को न्यायपूर्ण बुनियादों पर विधि के शासन का

TESLA-024

पालन करते हुए सक्रिय भूमिका का निर्वहन करना पड़ता है। आगे पाठयांश में आप भलि भांति इन कथनों को देखेंगे तथा इस इकाई के अध्ययन के माध्यम से आप को राज्य की भूमिका का पता चल सकेगा जो वह सामाजिक कार्यों के लिये करता है तथा आप यह जान सकेंगे कि किस प्रकार राज्य की सामाजिक आर्थिक नीतियों में परिवर्तन होता है।

25.1 प्रस्तावना

राज्य की संस्था ने व्यक्ति एवं समाज को विभिन्न रुपों से प्रभावित किया है तथा आर्थिक एवं सामाजिक गतिविधियो में एक प्रमुख अभिकर्ता की भूमिका निभाई है। इसी क्रम में स्वयं राज्य का प्रारुप भी बदला है। कभी राज्य ने केवल विधि एवं व्यवस्था की जिम्मेदारी ली तो कभी आम जनता के कल्याण को अपना लक्ष्य बनाया। कभी राज्य को पूँजीपति वर्गों, व्यापारियों एवं उद्योगपतियों के हित साधक के रुप में देखा गया तो कभी साम्यवादी चिंतन से प्रभावित होकर इसे जनता के आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली एक एजेन्सी के रुप में देखा गया। बीसवीं शताब्दी का अन्त होते होते राज्य को प्रस्पर लड़ते हुए अभिकर्ताओं के मध्य सामन्जस्य स्थापित करते हुए भी देखा गया है वर्तमान अध्ययन में हम इन सब बिन्दुओं का अध्ययन करेंगे तथा भारत के सन्दर्भ में धर्मनिरपेक्षता, समान नागरिक संहिता, अल्पसंख्यको के अधिकार तथा सामाजिक न्याय के क्षेत्र में समाज के कमजोर एवं अन्य पिछड़े वर्गों के लिए किस प्रकार राज्य पर दबाव पड़ता है आदि बिंदुओं पर चर्चा करेंगे।

25.2 धर्मनिरपेक्षता

कुछ लोगों का मानना है कि धर्मनिरपेक्षता की धारणा धर्म विरोध को प्रकट करती है। चूँकि योरोपियन पुनर्जागरण से कुछ पहले तक योरोप में चर्च एवं राज्य के बीच बर्चस्व को लेकर संघर्ष चला है जो बाद की शताब्दियों में भी जारी रहा। प्रबुद्धवादी युग में चर्च (जो पहले जनमानस के मस्तिष्क पर छाया हुआ था) अधिक से अधिक समाज की एक उपयोगी संस्था रह गया था। कुछ उग्रवादी विचारकों के लिये चर्च बर्बरता का अवशेष था क्योंकि विज्ञान एवं तक्र पर आधारित विचारों से पहले युरोप में चर्च के द्वारा स्थापित धार्मिक न्यायालयों ने बहुत आतंक फैला रखा था तथा स्वतंत्र विचारों एवं मानव प्रगति के लिये नये आविषकारों के लिये धार्मिक संकीर्णता ने बहुत कम स्थान छोड़ा था। बौद्धिक नेताओं ने सारे चर्च को दर किनार कर दिया। पुराने ईसाई विचार आवश्यक नहीं रह गये। चिंतकों ने विश्व इतिहास, समाज, मानव नियति और अच्छे एवं बुरे स्वरुप के बारे में ऐसे सिद्धान्त प्रस्तुत किये जिस में ईसाई व्याख्यानों की कोई भूमिका नहीं थी। युरोप में आये पुनर्जागरण के विशेष आलोक में धर्म–निरपेक्षता का सम्बन्ध धर्म से बिलकुल अलग मानवीय सम्बन्धों के आधार पर देखा जा सकता है। यहां यह विचार प्रबल है कि इस दुनिया के मामले ख़ास तौर से राजनीतिक, धर्म से नहीं हल किये जासकते। धर्म को एक वैयक्तिक मामला माना जाता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करता लेकिन राज्य की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के हल के लिये धर्म का सहारा भी नहीं लेता। आसान शब्दों में धर्मनिरपेक्षता राज्य की संस्थाओं एवं राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों तथा धार्मिक संगठनों के मध्य पृथककरण का नियम है। दूसरे अर्थों में मानवीय कृत्य एवं निर्णय विशेषकर राजनीतिक धार्मिक प्रभावों से अलग होने चाहिये।

25.2.1 धर्मनिरपेक्षता का अर्थ

आधुनिक पाश्चात्य धर्म–निरपेक्षता धार्मिक युद्धों (प्रायः विभिन्न ईसाई सम्प्रदायों के बीच) से बचाव की खोज का तथा राज्य और चर्च के अधिकार क्षेत्रों को अलग–अलग करने की आवश्यक्ता का परिणाम थी। आधुनिक लोकतांत्रिक राष्ट्र राज्य अब अपने क्षेत्र में निवास करने वाली जनता से धर्म, जाति, प्रजाति के आधार पर नही अपितु एक नागरिक के रुप में व्यवहार करते हैं। नागरिक की पहचान अन्य सभी पहचानों जैसे परिवार, प्रजाति, वर्ग एवं धर्म से ऊपर है।

'धर्मनिरपेक्षता' शब्द उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में जार्ज जैकब हाल्योक (George Jacob Halyoke) द्वारा गढ़ा गया जो लैटिन शब्द सैक्यूलम (Seculum) पर आधारित था। राज्य से चर्च के अलगाव को इंगित करने के अलावा यह वैयक्तिक स्वतंत्रता का भी सुझााव देता है। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार ''धर्मनिरपेक्षता का अर्थ ग़ैर–आध्यातिमक, धर्म अथवा आध्यात्मिक मामलों से कोई सम्बन्ध न होना, कोई वस्तु जो धर्म से भिन्न हो, उसके विरुद्ध अथवा उस से सम्बन्धित न हो अथवा धार्मिक वस्तुओं से सम्बन्धित न हो और आध्यात्मिक तथा धार्मिक वस्तुओं के विपरीत सांसारिक हो।'' ''ए न्यू इन्गिलिश डिक्शनरी'' के अनुसार धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म से सम्बन्धों का न होना है।

अतः यह स्पष्ट होता है कि धर्म–निरपेक्षता एक ऐसी व्यवस्था है जहां राजनीतिक मामलों में राज्य व्यक्ति के साथ नागरिक के रुप में व्यवहार करता है तथा व्यक्ति को किसी भी धर्म को मानने का अधिकार होता है। धर्मनिरपेक्षता धर्म के आधार पर भेद–भाव के विरुद्ध है। वह प्रत्येक व्यक्ति को नागरिक के रुप में देखती है तथा धर्मनिरपेक्षता राज्य को कोई विशेष धर्म अपनाने से रोकती है। डी0 ई0 स्मिथ के अनुसार ''धर्मनिरपेक्ष राज्य ऐसा राज्य होता है जो व्यक्तिगत और सामूहिक रुप से धार्मिक स्वतंत्रता की गारन्टी देता है, व्यक्ति के साथ उसके धर्म का ध्यान किये बिना, एक नागरिक के रुप में व्यवहार करता है और जो सांविधानिक रुप से किसी धर्म विशेष से न तो सम्बन्धित होता है न ही वह किसी धर्म को बढ़ावा देता अथवा उसमें हस्तक्षेप करता है।'' इस परिभाषा से तीन बिन्दुओं का संकेत मिलता है –

(1) धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है

(2) धर्मनिरपेक्ष राज्य धार्मिक आधार पर कोई भेद–भाव नही करता तथा

(3) धर्मनिरपेक्ष राज्य में राज्य का अपना कोई धर्म नही होता।

बिपिन चन्द्रा के अनुसार भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता के अर्थ पर गरमा गरम बहस होती रही है। कुछ का कहना है कि पश्चिम में, जहां से यह शब्द लिया गया , असका मतलब काफी भिन्न है। पश्चिम में चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष के फलस्वरुप दोनों अलग हो गये। चर्च को धार्मिक मामले तय करने का अधिकार मिला, जबकि राज्य ग़ैर–धार्मिक मामले तय करने लगा। भारत में धर्मनिरपेक्षता साम्प्रदायिक ताकतों के ख़िलाफ राष्ट्रवादी ताकतों के संघर्ष के संदर्भ में विकसित हुई। ये साम्प्रदायिक ताकतें धर्म का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिये करना चाहती थीं, और इस प्रकार उभरते राष्ट्र को धर्म के आधार पर विभाजित करना चाहती थीं। नेहरु के अनुसार भारत में इसका अर्थ धर्म के प्रति उदासीनता नही। इसका मतलब धर्म और आस्था की आज़ादी को बढ़ावा देना है। इसका मतलब है सभी धर्मों को पूरी आज़ादी, बस शर्त यह है कि वे एक दूसरे के मामलों और हमारे राज्य की मूल मान्यताओं में हसतक्षेप न करें।

TESLA-024

डा0 एस. राधाकृष्णन का धर्मनिरपेक्षता के भारतीय संदर्भ में विचार था कि 'किसी भी धर्म को प्राथमिकता नही दी जानी चाहिये' और यह कि' .....ऐसी धर्मनिरपेक्षता भारत की प्राचीन धार्मिक परम्परा के अनुकूल' थी। इसी प्रकार भारत की ख़ास परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए पं. जवाहरलाल नेहरु ने धर्मनिरपेक्षता को दोहरे अर्थों में परिभाषित किया जैसे – राज्य, राजनीति और शिक्षा को धर्म से अलग रखना तथा धर्म को व्यक्ति का निजी मामला बनाना एवं दूसरी तरफ सभी धर्मों के लिये समान आदर भाव दिखाना और उनके अनुयायियों को समान अवसर उपलब्ध कराना।

भारतीय संदर्भ में धर्मनिरपेक्षता/पंथनिरपेक्षता

संविधान के 58वें संशोधन (दिसम्बर 1987) के माध्यम से भारत के संविधान का अधिकारिक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। इसमें प्रस्तावना में 42वें संशोधन, 1976 के माध्यम से सेकुलर शब्द का अनुवाद पंथनिरपेक्ष किया गया है। पंथनिरपेक्षता एवं धर्मनिरपेक्षता में तकनीकी एवं भाव का अन्तर बताया जाता है तथापि सुविख्यात संविधान विद्वान डा0 सुभाष काश्यप ने दिल्ली विश्वविद्यालय से प्रकाशित राजनीति शब्दकोश में Secularism/Secular State के लिये धर्मनिरपेक्ष/धर्मनिरपेक्ष राज्य शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार सुविख्यात इतिहासकार बिपिन चन्द्र ने भी अपनी सम्पादित पुस्तक 'आजादी के बाद भारत 1947–2000' में धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया है। न्यायालयों के विनिश्चयों से भारत में सेकुलर राज्य के लक्षणों का ज्ञान होता है जिसका अनुवाद विभिन्न लेखक धर्मनिरपेक्ष एवं पंथनिरपेक्ष दोनों शब्दों से करते हैं।

दोनों अवधारणाओं में अन्तर इतना है कि पाश्चात्य राजनीतिक व्यवस्था में चर्च एवं राज्य के संघर्ष के कारण धर्मनिरपेक्षता का जन्म हुआ। जबकि भारत में बहु धार्मिक सामाजिक संरचना में राज्य का कोई धर्म नही परन्तु भारत में राज्य सभी धर्मों/धार्मिक पंथों का आदर करता है एवं समान संरक्षण प्रदान करता है।

25.2.2 भारत में समान सिविल संहिता

संविधान निर्मात्री सभा में समान सिविल संहिता बनाने एवं लागू किये जाने के विषय में हमेशा वाद–विवाद रहा। कुछ सदस्य जहां इसका समर्थन कर रहे थे कि सभी नागरिकों के लिये एक समान सिविल कानून बनाना चाहिये वहीं बहुत से सदस्य इस विचार के थे कि जब तक विभिन्न समुदाय स्वयं से तैयार न हो जायें उनके लिये राज्य के द्वारा एक समान सिविल संहिता नहीं बनाई जानी चाहिये। इसी लिए अनुच्छेद 44 के माध्यम से इसे राज्य के नीति–निदेशक तत्वों के अन्तर्गत रखा गया जिसका अभिप्राय यह है कि राज्य भारत में सभी नागरिकों के लिये एक समान सिविल संहिता तैयार करेगा।

मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत भाग 3 के अनुच्छेद 14 में यह उपबन्ध है कि राज्य भारतीय संघ के अन्दर रहने वाले किसी भी नागरिक के साथ जाति, मूल वंश, लिंग, जन्म स्थान आदि के आधार पर कोई भेद–भाव नही करेगा परन्तु भारत सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से इतना विभिन्नताओं से युक्त है कि हर अलग–अलग धर्म और जाति के लोग एक समान सिविल संहिता को मानने के लिये तैयार नही है। वह संविधान लागू होने के पूर्व जो अपनी अपनी अलग–अलग संहिता अपनाये हुए थे आज भी अपनी उसी संहिता को मानते हैं।

समान नागरिक संहिता को लागू करने के लिये जो लोग आवाज़ उठाते हैं उनका यह मानना है कि किसी देश में नागरिक–नागरिक के बीच में भेद करना ठीक नही है। जिस प्रकार सम्पूर्ण दण्ड की एक समान व्यवस्था के लिये भारतीय दण्ड संहिता का निर्माण किया गया उसी प्रकार एक समान सिविल संहिता का निर्माण होना चाहिये।

भारत में विशेषकर मुस्लिम और ईसाई धर्मावलम्बी समान नागरिक संहिता का विरोध करते हैं। इनका मानना है कि इस प्रकार के विधायन के माध्यम से उनके धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप होगा। मुस्लिम नेतृत्व तथा जन मानस का यह विचार है कि इसे अनिवार्य रुप से लागू नही किया जाना चाहिये।

1995 में सरला मुदगल बनाम भारत संघ के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने भारत सरकार से एक समान नागरिक संहिता बनाने का आग्रह किया। परन्तु सन् 2000 ई0 में स्वयं उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट किया कि इसने कभी भारत सरकार को समान नागरिक संहिता का संहिताकरण करने का आदेश नही दिया। 2003 में न्यायालय ने पुनः भारत सरकार को समान नागरिक संहिता न लागू करने के लिये दोषी ठहराया तो फिर 2008 में उच्चतम न्यायालय ने एक सार्वजनिक हित याचिका को स्वीकार करने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि हमें संसद या प्रधानमंत्री को एक समान नागरिक संहिता के लिए आदेश देने का कोई अधिकार नही है। आश्चर्य की बात है कि भारतीय जनता पार्टी ने केन्द्र में अपने शासन काल 1998–2004 के मध्य समान नागरिक संहिता का निर्माण करने का कोई प्रयास नही किया।

25.2.3 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 44 यह अपेक्षा करता है कि राज्य भारत के समस्त राज्यक्षेत्र में नागरिकों के लिये एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जहां भारत में बहुत से नागरिक समूहों, सामाजिक संगठनों एवं राजनीतिक दलों ने रह–रह का इसकी मांग की है वहीं भारत सरकार ने अपने वक्तव्यों तथा प्रस्तावों में अलग–अलग समयों में अपने संकल्प को दोहराया है। न्यायालयों ने भी भारत सरकार को इस दिशा में क़दम आगे बढ़ाने की सलाह दी है। फिर भी चूंकि भारत विविधताओं का देश है इस लिये बलपूर्वक सिविल मामलों में सब पर समान नियम लागू करने से सरकारें कतराती रही हैं। अनुच्छेद 371क तथा 371छ के अनुसार क्रमशः नागालैण्ड एवं मिज़ोरम राज्यों पर भारतीय संसद द्वारा पारित कोई कानून नागा तथा मिज़ो सामाजिक तथा धार्मिक आचरण, परम्परागत विधि एवं प्रक्रिया तथा सिविल एवं अपराधिक कानूनों पर बिना उपरोक्त राज्य विधान सभाओं की पूर्व अनुमति के लागू नही होसकता। ज्ञातव्य हो कि यह दोनों राज्य भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र के अनुसूचित जनजाति बाहुल्य राज्य हैं तथा अब इन राज्यों की बडी जनसंख्या (नागालैण्ड 90% तथा मिज़ोरम 87%) ईसाई धर्म भी स्वीकार कर चुकी है। संविधान ने अनुच्छेद 44 के माध्यम से जहां समान सिविल संहिता की बात कही है वहीं अनुच्छेद 25 के अन्तर्गत नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता भी प्रदान की है। समान सिविल संहिता का सब से कड़ा विरोध मुस्लिम एवं ईसाई समूहों के द्वारा किया जाता है। मुस्लिम समूहों का यह मानना है कि समान सिविल संहिता की आड़ में सरकार उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करेगी। मुस्लिम समूहों का यह भी मानना है कि उनकी शरीअत विधि में दोष नहीं है अपितु उसका सही तरह से मुस्लिम जनसंख्या क्रियानवयन नही कर रही है। इस सम्बंध में भारतीय दण्ड संहिता 1973

TESLA-024

की धारा संख्या 125 को समान रुप से जब उच्चतम न्यायालय ने 1985 में प्रसिद्व शाह बानो मुकदमे में सभी भारतीय नागरिकों में समान रुप से लागू किया तो मुस्लिम जनता ने इसका कड़ा विरोध किया । आल इन्डिया मुस्लिम पर्स्नल लॉ बोर्ड एवं अन्य संगठनों ने तत्कानील राजीव गॉधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार पर भारी दबाव बनाया जिसके कारण भारतीय संसद ने 1986 में मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण अधिनियम पारित किया जिसके माध्यम से धारा संख्या 125 के प्रभाव से मुसलमानों को छूट मिली। इस धारा में यह व्यवस्था है कि कोई पति अपनी पत्नी को आजीवन या विवाह विच्छेद के बाद पूर्व पत्नी के दूसरे विवाह होने तक गुज़ारा भत्ता का जिम्मेदार होगा। मुस्लिम विधि में पति के ऊपर विवाह विच्छेद के बाद केवल 3 महीना 10 दिन (इद्दत अवधि) तक के गुज़ारा भत्ते की जिम्मेदारी है। आजीवन अथवा पत्नी के दूसरे विवाह तक की जिम्मेदारी उसके पूर्व पति पर न होकर महिला के माता पिता, भाई बहन अथवा निकटतम संबधियों पर है। 1986 के अधिनियम के माध्यम से संसद ने विधि बनाकर सगे सम्बन्धियों की आर्थिक अक्षमता के कारण राज्य वक़्फ बोर्ड को गुज़ारा भत्ते की ज़िम्मेदारी दी है। दानियाल लतीफी बनाम भारत संघ के मुकदमे में उच्चतम न्यायालय ने 1986 के मुस्लिम महिला अधिकार संरक्षण कानून को संवैधानिक बताते हुए इसी कानून के अनुसार मुस्लिम तलाकशुदा महिला को इद्दत अवधि के गुज़ारा खर्चे के साथ–साथ एकमुश्त एक अच्छी रकम देने का आदेश दिया है जिससे वह अपना जीवन सुचारु रुप से चला सके।

25.2.4 समस्याएं

समान नागरिक संहिता के लिये फिर भी रह–रह कर सरकार से आग्रह किया जाता है कि वह भारत संघ में रहने वाले सभी नागरिकों के लिये समान विधि बनाये । परन्तु हिन्दू कोड बिल के पारित होने के बाद भी सारे देश में विवाह, विवाह विच्छेद, उत्तराधिकर इत्यादि के विषय में राज्यों में अलग अलग कानून हैं क्योंकि यह विषय समवर्ती सूचि में हैं जिस पर केन्द्र तथा राज्य विधान मण्डलों को कानून बनाने का अधिकार है। खुद हिन्दू विवाह अधिनियम के पारित होने के बाद भी राज्यों में विवाह विच्छेद से सम्बन्धित अलग–अलग नियम हैं। समान नागरिक संहिता के कारण यह कहा जाता है कि भारत में राष्ट्रीय एकीकरण में सहायता मिलेगी। लेकिन ऐतिहासिक साक्ष्य इसके विरुद्ध बोलते हैं उदाहरण के लिए प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन तथा जर्मनी सहधर्मी एवं समान नागरिक कानूनों के होते हुए भी आपस में टकरागये। इसी प्रकार पश्चिमी तथा पूर्वी पाकिस्तान समान धर्म एवं समान कानून के होते हुए भी पृथक राष्ट्र बन गये। तथा नागरिकों के लिये अलग अलग कानून उचित नही है। यह भी कहा जाता है कि हिन्दू कोड बिल के प्रावधानों से बचने के लिये लोग धर्मांतरण कर दूसरा विवाह कर लेते हैं। उच्चतम न्यायालय ने अपने एक निर्णय में यह कहा है कि हिन्दू विवाह अधिनियम के अधीन किया गया विवाह धर्मांतरण से समाप्त नही होता तथा दूसरी महिला के साथ विवाह स्थापित नही होगा। एक से अधिक पत्नियों से विवाह के जो आंकड़े उपलब्ध हैं उसके अनूसार अनुसूचित जनजातियों में 15.25%, बौद्व धर्म वालों में 7. 9% , हिन्दुओं में 5.8% तथा मुसलमानों में 5.7% द्विपत्नी विवाह वाले हैं। हिन्दु एवं मुसलमानों के बीच प्रतिशत का मामूली अन्तर वास्तविक संख्या में बहुत अधिक है। उच्चतम न्यायालय ने एक अन्य निर्णय के माध्यम से एक पत्नी के होते हुए बिना विवाह के साथ रहने एवं शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने की स्थिति में ऐसी महिला को भी पत्नी के समान मानते हुए सारे अधिकार देने को कहा है। दूसरी ओर जहां समान नागरिक संहिता के लिये कहा जाता है वहीं सिख सम्प्रदाय के

द्वारा अपने लिये अलग वैयक्तिक विधि की भारत सरकार से मांग की गयी है। नागरिकों के वैयक्कि जीवन में राज्य के द्वारा विधियों के माध्यम से हस्तक्षेप किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समान नागरिक संहिता का राजनीतिकरण होगया है। तथा समय–समय पर कुछ समूहों के द्वारा इसकी मांग करने से अल्पसंख्यक समुदायों में राज्य के प्रति संदेह एवं भय की भावना पैदा होती है तथा उन्हें अपनी पहचान के लुप्त होने का संकट सताता है।

25.3 अल्पसंख्यकों के अधिकार

लोकतंत्रीय व्यवस्था में नागरिकों को जहां बहुत से अधिकार प्राप्त होते हैं वहीं इस बात का भी डर रहता है कि चूँकि इस व्यवस्था में निर्णय बहुमत के आधार पर लिये जाते हैं इस लिए अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा का भी उपाय होना चाहिये।

हर देश में जनसंख्या के विभिन्न वर्गों को ध्यान में रख कर यह पता चल जाता है कि कौन सा समूह अपनी संस्कृति, धर्म, भाषा, प्रजाति आदि के आधार पर बहुसंख्यक वर्ग से संख्या में कम है। जो अपनी पहचान बनाये रखना चाहता है तथा अपने अधिकारों का संरक्षण चाहता है। लोकतंत्र की कठिन समस्याओं में से एक समस्या अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व देने की है। व्यवहार में लोकतंत्र का अभिप्राय बहुमत का शासन है। साथ ही अल्पसंख्यकों को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने हितों की रक्षा कर सकें। अपना विपरीत मत व्यक्त कर सकें तथा सरकार का विरोध कर सकें। लोकतंत्र बहुमत का शासन भले ही हो पर वह केवल बहुमत के लिये नही, अपितु सब के लिये है। इसलिए विश्व के विभिन्न देशों में अल्पसंख्यको के अधिकारों की व्यवस्था की जाती है।

25.3.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

भारत के संविधान निर्माण के समय अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर विशेष विचार किया गया और संविधान में कुछ विशेष प्रावधान किये गये किन्तु संविधान में अल्पसंख्यकों की कोई परिभाषा नही दी गयी। सम्पूर्ण संविधान में अनुच्छेद 29 और 30 में अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग किया गया है। सर्वप्रथम 1957 में 'केरल एजुकेशन बिल' के सम्बन्ध में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि अल्पसंख्यक से क्या अभिप्राय है। सर्वोच्च न्यायालय ने यह कहा कि कोई भी समूह जिसकी संख्या 50 प्रतिशत से कम हो वह अल्पसंख्यक वर्ग में आता है।इस से सम्बन्धित दूसरा प्रश्न यह था कि 50 प्रतिशत का क्या अर्थ है यह प्रतिशत देश की सम्पूर्ण जनसंख्या का होना चाहिए अथवा किसी राज्य विशेष की जनसंख्या का। न्यायलय के निर्णयके अनुसार एक राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या के आधार पर निर्धारित होना चाहिये। इसी से यह स्पष्ट होता है कि संघीय विधि के सम्बंध में अल्पसंख्यक शब्द का निर्धारण देश की कुल जनसंख्या के संदर्भ में किया जाएगा। संसार के अधिकांश देशों की तरह भारत में भी संविधान ने धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों के दो समूहों का वर्णन किया है। धार्मिक अल्पसंख्यक वर्गों में वर्तमान में मुसलमान,ईसाई, सिक्ख, बौद्ध, पारसी एवं जैन आते हैं जबकि भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के अन्तर्गत भारत के किसी राज्य में निवास करने वाले वह समूह हैं जिनकी भाषा उस राज्य में प्रयुक्त भाषा की तुलना में कम प्रयोग की जाती है। इस प्रकार उत्तर प्रदेश में

TESLA-024

बांग्ला भाषा भाषी यद्यपि वह धार्मिक रुप से हिन्दु हो अर्थात बहुसंख्यक समाज का अंग हो फिर भी वह भाषायी अल्पसंख्यक होगा।

संविधान अल्पसंख्कों को भी अनुच्छेद 25 के माध्यम से धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता है। इस अनुच्छेद के अन्तर्गत व्यक्ति को दो प्रकार के अधिकार प्राप्त है। (1) अन्तःकरण की स्वतंत्रता एवं (2) धर्म को अबाध ;मानने', 'आचरण' और 'प्रचार' करने की स्वतंत्रता। अनुच्छेद 26 धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी वर्ग को (i) धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिये संस्थाओं की स्थापना और पोषण का (ii) अपने धार्मिक सम्बन्धी विषयों का प्रबंध करने का अधिकार प्रदान करता है। ज्ञातव्य हो कि यह अधिकार भारत के सभी व्यक्तियों को/उनके समूहों को प्राप्त है।

इसी प्रकार अनुच्छेद 27 के अनुसार किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिये कर न देने की स्वतंत्रता है। अनुच्छेद 27 किसी एक धर्म का दूसरे धर्म से अधिक बढ़ावा देने को वर्जित करता है। अनुच्छेद 28 राज्य पोषित शिक्षण–संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा या उपासना का प्रतिषेध करता है।

अनुच्छेद 29 भारत क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों के किसी भी वर्ग को जिनकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाये रखने का अधिकार प्रदान करता है। इस अनुच्छेद का उद्देश्य अल्पसंख्कों के हितों का संरक्षण करना है। ऐसा वे अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को अपनी रुचि की संस्थाओं को स्थापित करके ही सुरक्षित रख सकते हैं। अनुच्छेद 30 के अनुसार अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि के अनुसार शिक्षण संस्थाओं को स्थापित करने और उन पर प्रशासन करने का अधिकार है। इसी अनुच्छेद में राज्य को आदेशित किया गया है कि राज्य शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या संस्कृति पर आधारित किसी अल्पसंख्यक के प्रबन्ध में है।

भाषायी अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा के लिये अनुच्छेद 350 (ख) के माध्यम से एक विशेष पदाधिकारी नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी है, जिसका मुख्य कार्य भाषायी अल्पसंख्यकों को संविधान द्वारा दिये गये संरक्षणों के कार्यान्वयन आदि के सम्बन्ध में जांच करना है।

1992 में केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना की तथा 2005 में एक अधिनियम के माध्यम से अल्पसंख्यक शैक्षणिक संस्थाओं के लिए राष्ट्रीय आयोग (National Commission for Minority Educational Instituions/ NCMEI) का गठन किया गया। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग (1993) एक संस्था के रुप में भारत सरकार एवं राज्यों की सरकारों के द्वारा व्यक्तियों के मानवाधिकारों के उल्लंघन के सम्बन्ध में न्याय निष्पादन का काम करता है।

25.3.2 समस्याएं

भारत में संवैधानिक सुरक्षा प्रदान किये जाने के बावजूद कार्यान्वयन स्तर पर नकारात्मक दृष्टिकोण के चलते ऊपर दिये गये अधिकारों का सही प्रयोग नहीं हो पाता।अल्पसंख्यकों में मुसलमानों की समस्या राजनीतिक स्वरुप लेलेती है। किसी सरकार के द्वारा उनके कल्याण के लिये किया जाने वाला कार्य जहां वोट बैंक राजनीति का अंग बनता है वहीं साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का प्रयोग करने वाले राजनीतिक दलों/समूहों के द्वारा इसे अल्पसंख्यक तुष्टीकरण की संज्ञा दी जाने लगती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद से इस वर्ग की देशभक्ति पर प्रश्नचिंह लगता रहा है। देश के विभाजन का इनको प्रत्यक्ष जिम्मेदार मान लिया गया और

इस प्रकार यह समझा जाने लगा कि यह पाकिस्तान के समर्थक हैं तथा राष्ट्रविरोधी है। देश में हिन्दु–मुस्लिम सौहार्द के स्थान पर साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ सी आ गयी जो अभी तक जारी है। प्रत्येक वर्ष सैंकड़ों की संख्या में साम्प्रदायिक दंगे होते है जिसे सरकारें नियंत्रण करने में असफल हो जाती हैं।

भारत में ईसाइयों के साथ भी बहुसंख्यक हिन्दुओं का टकराव बढ़ता हुआ दिखायी दे रहा है। हालांकि थोड़े ही लोग वातावरण को प्रदूषित करते हैं। भारत की सदियों से समन्वित संस्कृति इसका साक्ष्य प्रस्तुत करती है। स्वतंत्रता के बाद 2–3 दहाइयों तक अधिकांश क्षेत्रों में हिन्दु–ईसाई सम्बन्धों में शान्ति दिखाई दी लेकिन 1980 के पश्चात गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार, झारखण्ड, उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में ईसाई धार्मिक स्थलों, स्कूलों एवं अस्पतालों के विरुद्ध तोड़–फोड़ की घटनाओं में वृद्धि हुयी है। धर्मान्तरण को मुद्दा बना कर उग्र संस्थाओं ने अल्प संख्यक ईसाइयों के समक्ष भी मुसलमानों की तरह सुरक्षा की समस्या खड़ी करदी है।

जनवरी 1999 में उड़ीसा में आस्ट्रेलियाई मिशनरी डाक्टर ग्राहम स्टैन्स एवं उसके दो पुत्रों को जिन्दा जला दिया गया और यह कहा गया कि यह ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं के धर्मान्तरण के विरुद्ध वैध क्रोध की अभिव्यक्ति है। मुसलमानों एवं ईसाई अल्पसंख्यकों को समय–2 पर धमकी तथा परामर्श भी दिया जाता है कि वह अपने को हिन्दू समझें तथा मुसलमान मक्का/मदीना तथा ईसाई वैटिकन से अपना सम्बन्ध तोड़ लें अन्यथा बहुसंख्यक हिन्दुओं के अधीन होकर रहें जबकि संविधान भारत के सभी नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान करता है।

धर्मनिरपेक्ष संविधान के बाद भी राज्य का भेदभावपूर्ण व्यवहार भारत में साम्प्रदायिक दंगों में उभरकार सामने आता रहा है। गृह मंत्रालय के वार्षिक प्रतिवेदनों एवं मानवाधिकार पर काम करने वाले संगठनो के अध्यनों से भलिभांति यह तथ्य उजागर होता है कि शान्तिव्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेदार संस्थाओं ने साम्प्रदायिक दंगों में अपने पक्षपातपूर्ण व्यवहार से समस्या को और भी बढ़ाया है।

भारत में धार्मिक अल्पसंख्यक समूहों में 2001 की जनगणना के अनुसार मुसलमान 13.4 प्रतिशत हैं। जम्मू कश्मीर की कुल आबादी में 67 प्रतिशत, उ0प्र0 में 18.5 प्रतिशत, बिहार में 16.5, असम में 30.9, प0 बंगाल में 25.2 तथा केरल में 24.7 प्रतिशत मुसलमान रहते हैं। ईसाई उसी जनगणना के आंकड़ों के अनुसार पूरे भारत में 2.3 प्रतिशत हैं जिसमें नागालैण्ड में 90, मिज़ोरम में 87, मेघालय 71 तथा केरल में 19 प्रतिशत निवास करते हैं। सिक्ख 2001 की जनसंख्या के अनुसार 1.9 प्रतिशत हैं और पंजाब में इनकी जनसंख्या लगभग 60 प्रतिशत है। सिक्ख विरोधी दंगों के बाद से हिन्दु–सिक्ख सम्बन्धों में गिरावट आयी है। बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या कुल जनसंख्या का 0.8 प्रतिशत है। सिक्किम राज्य में 28, अरुणाचल प्रदेश में 13 तथा महाराष्ट्र में 6 प्रतिशत निवास करते हैं। जैन जिनको अभी हाल में राष्ट्रीय अल्पसंख्यक का दर्जा मिला है, 2001 के आंकड़ों के अनुसार 0.4 प्रतिशत हैं जबकि पारसी 0.6 प्रतिशत हैं। 1951 की जनगणना में पारसियों की जनसंख्या 115333 थी जो अब घटकर 2001 में 89601 रहगयी है। भारत सरकार एवं पारसी संगठनों ने जनसंख्यावृद्धि को प्रोत्साहन देने के लिए बहुत से कार्यक्रम चला रखे हैं।

TESLA-024

राजनीतिक स्तर पर जहां ईसाइयों को प्रतिनिधित्व की कमी की कोई शिकायत नही है वहीं मुस्लिम अल्पसंख्यक वर्ग को राजनीतिक प्रतिनिधित्व, सरकारी नौकरियों में प्रवेश, क्षिक्षण संस्थाओं में प्रवेश एवं सामाजिक तथा आर्थिक

क्षेत्रों में हाशिये पर चले जाने की स्थिति की शिकायत है। भारत में बसने वाले अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों अर्थात सिक्ख, बौद्ध, पारसी तथा जैन धर्मावलम्बियों की अलग समस्यायें हैं। ख़ालिस्तान की मांग के कारण सिक्खों को शक की निगााह से देखा जाने लगा था। परन्तु इसी समस्या ने सिक्खेां को पहचान की राजनीति पर उभारा जबकि बहुत दिनों तक उन्हें हिन्दु धर्म के एक पंथ के रुप में जाना जाता था।

25.4 आरक्षण और उससे सम्बन्धित मुद्दे

'आरक्षण' शब्द का अर्थ है सुरक्षा प्रदान करना। वर्तमान सन्दर्भ में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से कुछ जातिविशेष को शिक्षा एवं सरकारी सेवाओं में सुविधाएं प्रदान करना आरक्षण है। समानता और लोकतंत्र विश्व के अनेक देशों में लाया गया है परन्तु लोकतंत्र ने सभी वर्गों को समानता प्रदान कर दी हो ऐसा नही है। प्रतियोगिता तथा योग्यता के आधार पर राजकीय सेवाओं एवं कल्याण प्रशासन का लाभ उठाने में यह पाया गया कि पहले से सम्पन्न एवं समृद्ध वर्गों ने सरकारी सेवाओं तथा योजनाओं का ज्यादा लाभ उठाया है। इसके सामाजिक कारण भी रहे हैं जैसे पहले से लाभ उठारहे समूहों/वर्गों द्वारा अपने ही वर्ग/समूह/जाति को लाभान्वित करने का प्रयास वंचितता को जन्म देता है और संविधान के पवित्र सिद्धान्तों को व्यवहारिक रुप से लागू करने में अवरोध खड़ा करता है इसलिए सामाजिक न्याय का तकाजा है कि वंचित वर्गों के उत्थान के लिये कुछ सकारात्मक कदम उठाये जायें एवं विशेष अधिकार प्रदान करके वंचित,शोषित समूहों को प्रतियोगिता की दौड़ में आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया जाये। इस सन्दर्भ में विश्व के कुछ देशों में सकारात्मक भेदभाव/सकारात्मक कार्यवाही तथा कुछ देशों में समाज के कमजोर वर्गों के लिये कोटा व्यवस्था लागू की गयी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में श्वेत और काले लोगों के मध्य बढ़ते हुए तनाव एवं सरकारी नौकरियों, शिक्षण संस्थाओं तथा अन्य औद्योगिक कार्यों में काले अफ्रो–अमेरिकन लोगों का वंचितता तथा उनके प्रति श्वेत नस्ल के द्वारा भेदभाव ने अमेरीकी राजनीतिक व्यवस्था को उनके अधिकारों की रक्षा के लिये सकारात्मक कार्यवाही हेतु प्रेरित किया तथा 60 के दशक में इस प्रकार के कानून बनाए गए जिस से उनका प्रतिनिधित्व शैक्षिक संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में बढ़ाया जासके तथा इस वर्ग के लोगों के प्रति सामाजिक भेदभावा को कम किया जासके।

भारत में व्याप्त घोर असमानता को संवैधानिक तरीकों से दूर करने के लिये तथा शिक्षा के माध्यम से आयी राजनीतिक जागरुक्ता एवं कल्याणकारी राज्य की बाध्यताओं ने राज्य एवं सरकार को समाज के कमजोर एवं सामाजिक तथा शैक्षिक रुप से अन्य पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की। यहां यह स्पष्ट है कि राज्य हस्तक्षेप करके सामाजिक विषमता को दूर करने का प्रयास करता है। भारतीय संविधान निर्माताओं के सामने समानता के लक्ष्य के साथ सामाजिक विषमताओं को भी दूर करने का दायित्व था इस लिए मौलिक अधिकारों के साथ–2 राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों का प्रयोग किया।

आरक्षण के उपकरण के माध्यम से भारत में विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया गया है। शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के माध्यम से जहां एक ओर साक्षरता तथा शैक्षिक योग्यता बढ़ाने का प्रयत्न किया गया वहीं सरकारी नौकरियों में आरक्षण के माध्यम से इन वर्गों की उपस्थिति तथा अनुपात बढ़ाने का प्रयास किया गया। चूंकि भारत में संसदीय व्यवस्था है इस लिए कार्यपालिका द्वारा किसी

नीति को कार्यान्वित करने के लिए विधायिका से कानून बनवाने की जरुरत पड़ती है और न्यायपालिका को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार एक स्वस्थ लोकतंत्र की अलामत है इस लिए समय समय पर आरक्षण से सम्बन्धित मामलों पर न्यायालय ने निर्णय सुनाए हैं। अब हम उन प्रावधानों का वर्णन करेंगे जो संविधान तथा सरकार ने उठाये हैं।

25.4.1 संवैधानिक और अन्य सुरक्षात्मक उपाय

भारतीय संविधान के निमाताओं द्वारा भारतीय नागरिकों को समानता एवं स्वतंत्रता के सामान्य अनुच्छेदों के साथ समाज के सामाजिक और शैक्षणिक रुप से पिछड़े वर्गों के लिये विशेष व्यवस्था की गयी है। जहां भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14, 15 और 16 समानता का सिद्धान्त स्थापित करते हैं वहीं अनुच्छेद 15 (4) और 16(4) सामाजिक न्याय पर बल देते हैं। अनुच्छेद 15 (4) के अनुसार ''इस अनुच्छेद में कुछ भी ऐसा नहीं है जो राज्य को नागरिकों के किसी भी सामाजिक एवं शैक्षिक रुप से पिछड़े वर्ग के विकास के लिये अथवा अनुसूचित जाति अथवा जनजातियों के लिए कोई भी विशेष प्रावधान बनाने से रोकेगा''। इसी प्रकार अनुच्छेद 16(4) में प्रावधान है कि '' इस अनुच्छेद में कुछ भी ऐसा नही है जो राज्य को ऐसे नागरिकों के किसी पिछड़े वर्ग के पक्ष में नियुक्तियों अथवा रिक्तियों के आरक्षण के लिए कोई विशेष प्रावधान बनाने से रोकेगा जिसको राज्य की नजर में राज्य के तहत सेवाओं में उचित प्रतिनिधित्व नही मिला हो''। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 38 एवं 46 विशेषतः जनता के वंचित तबकों के लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करने को लक्षण मानते हैं। अनुच्छेद 38 के अनुसार (i) ''राज्य यथासम्भव प्रभावी तरीके से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की सुरक्षा एवं संरक्षण द्वारा लोगों के कल्याण को प्रोत्साहित करने का प्रयास करेगा जिसमें न्याय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करता हो'' तथा (ii) ''राज्य विशेषतः आय में असमानताओं को कम करने के लिये संघर्ष करेगा और सामाजिक स्थिति, सुविधाओं और अवसरों में असमानताओं को दूर करने का प्रयास करेगा, न सिर्फ व्यक्तियों के बीच बल्कि विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले अथवा विभिन्न व्यवसायों में रत लोगों के समूहों के बीच भी''। अनुच्छेद 46 के अनुसार '' राज्य विशेष सावधानी के साथ दुर्बल वर्गों और विशेषतया अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के शैक्षिक एवं आर्थिक हितों को प्रोत्साहन देगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनको संरक्षण प्रदान करेगा''। इसी प्रकार भारतीय संविधान के अन्य अनुच्छेद जैसे 330, 332, 335, 338, 340, 341 और 342 सामाजिक न्याय प्राप्त करने एवं दुर्बल वर्गों को सशक्त करने की ओर लेजाते हैं। इसमें संघीय तथा राज्य विधान मण्डलों में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए स्थानों के आरक्षण से लेकर राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह इन कमजोर वर्गों के अधिकार संवर्धन के लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति करे। अनुच्छेद 338 के अनुरुप भारत में राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग एवं पृथक रुप से अनुच्छेद 338 (क) के अधीन राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग का गठन किया गया है।

इसी प्रकार अनुच्छेद 340 में पिछड़े वर्गों की दशाओं के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति के सन्दर्भ में प्रावधान है। ऐसे आयोग का गठन राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है। 1953 में राष्ट्रपति ने अपनी इस शक्ति काप्रयोग करते हुए काका साहेब कालेलकर की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया था। दूसरा पिछड़ा वर्ग आयोग 20 सितम्बर 1978 को बिन्देशवरी प्रसाद मण्डल की अध्यक्षता में गठित किया गया। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 31 दिसम्बर 1980 को सरकार के समक्ष

TFSLA-024

प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर 1990 में सरकारी नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थान पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षित करने की घोषणा की। लेकिन इस पर विवाद खड़ा होने पर 1993 में पिछड़े वर्गों के लिये संसद ने राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग अधिनियम पारित किया जिसके अधीन एक आयोग की स्थापना की गयी। मण्डल आयोग ने अन्य पिछड़े वर्गों के लिये 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की थी जिसे न्यायालय में चुनौती दी गयी। सर्वोच्च न्यायालय ने 16 नवम्बर 1992 को इन्द्रा साहनी बनाम भारत संघ मामले में अपना ऐतिहासिक निर्णय देते हुए 27 प्रतिशत आरक्षण को उचित माना तथा कुल आरक्षण 50 प्रतिशत से अधिक नही होगा। इसी निर्णय में क्रीमी लेयर creamy layer की व्यवस्था की गयी अर्थात अन्य पिछड़े वर्गों में उच्च स्तर के व्यक्तियों को इस आरक्षा का लाभ नहीं मिलेगा।

वर्तमान में आरक्षण का लाभ सरकारी नौकरियों के साथ केन्द्रीय शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश में भी विस्तरित कर दिया गया है। अब अनुसूचित जातियों को 15 प्रतिशत, अनुसूचित जनजातियों को 7.5 प्रतिशत तथा अन्य पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण का लाभ दिया जारहा है।

राज्य सरकारों को अधिकार है कि वह अपने राज्य में जनसंख्या के अनुपात में 50 प्रतिशत सीमांकन को ध्यान में रखते हुए इन कमजोर वर्गों के आरक्षण प्रतिशत का राज्य स्तर की सेवाओं एवं शिक्षण संस्थाओं में निश्चित करें।

25.4.2 समस्याएँ

समाज के विभिन्न वर्गों के लिये आरक्षण की व्यस्था स्वतंत्रता से पूर्व तथा पश्चात भी वाद विवाद का विषय बनी रहीं। आरक्षण की नीति से समाज में जाति विभेद बढ़ा है। जिन समूहों, जातियों को आरक्षण के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़रहा है उनके द्वारा आरक्षण का विरोध किया जाता है। उदाहरण के लिये संविधान लागू होने के लगभग 40वर्षों बाद अन्य पिछड़े वर्गों के लिये आरक्षण की व्यवस्था की गयी। तत्कालीन वी0पी0 सिंह सरकार की मजबूरी थी जिसने मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने का निर्णय लिया। उच्च जाति के युवाओं ने इस निर्णय को अपने भविष्य के साथ खिलवाड़ मानते हुए व्यापक स्तर पर आंदोलन चलाया। लगभग 207 युवाओं ने इस फैसले कोबदलने केलिए आत्मदाह किया। ज्ञातव्य है कि 1953 में पहले आयोग ने भी अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिये सिफारिश किया था लेकिन कालेलकर आयोग की सिफारिशों को अव्यवहारिक कहकर ठन्डे बस्ते में डाल दिया गया था।

भारत में निश्चय ही आरक्षण की योजनाओं से आर्थिक उन्नति में वृद्धि के साथ कमजोर वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई है। लोकसेवाओं में पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व बढ़ा है। कमजोर वर्गों में शिक्षा के प्रति जागरुकता बढ़ी है। राजनीतिक चेतना में वृद्धि के साथ इन वर्गों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ रही है। लेकिन इसी के साथ ही आरक्षण के कुपरिणाम भी सामने आये हैं जिनसे इनकार नही किया जासकता जैसे प्रशासन और राजनीति में जातिवाद बढ़ा है। समाज के सभी कमजोर वर्गों को आरक्षण का लाभ नहीं मिल पारहा है। पिछड़ों में अग्रणी अच्छी तरह लाभान्वित हो रहे हैं, जबकि अतिपिछड़ा वर्ग और पिछड़ता जारहा है। इस प्रकार स्वयं दुर्बल जातियों में आपस में संघर्ष और तनाव को बढ़ावा मिला है। आरक्षण से निम्न जातियों की सुधरने की अपेक्षा उनकी निर्भरता बढ़ी है तथा उनकी प्रतिभा एवं योग्यता में कमी आयी है। आरक्षण की नीति से सामाजिक विद्वेष को बढ़ावा मिला है। यह तथ्य है कि उच्च जाति का एक मेधाबी अभ्यर्थी कोटा सिस्टम की वजह से चयनित नही होपाता और पिछड़े वर्ग का

अभ्यर्थी कम मेरिट पर अपने आरक्षित कोटे में चयनित होजाता है। उच्च वर्ग के अभ्यर्थियों में इस से ईष्या व विद्वेष बढ़ता है।

दूसरी ओर आरक्षण के मुद्दे को लेकर राजनीति बढ़ी है। वह जातियां जो मण्डल आयोग के द्वारा निर्धारित मापदण्ड के अनुसार अन्य पिछड़ी जातियों में नही हैं उनके द्वारा भी अपनी जाति को अन्य पिछड़ी जाति घोषित कराने के लिए हिंसक आन्दोलन चलाये गये हैं। राजनीतिक दल अपने वोट को देखते हुए इस प्रकार की राजनीति को बढ़ावा देते है।उदाहरण के लिए 2014 में लोक सभा चुनावों से पहले केन्द्र सरकार ने जाटों को अन्य पिछड़ी जाति का दर्जा देने का निर्णय लिया तथा संसद से इस सम्बन्ध में कानून भी पास हो गया क्योकि राष्ट्रीय अन्य पिछड़ा वर्ग आयोग ने उन्हें इसकी सिफारिश नही की थी।

बहरहाल राज्य सरकारों तथा केन्द्र सरकार को आरक्षण का क्रियान्वयन भलीभांति एवं अत्यन्त सावधानीपूर्वक करते हुए वास्तव में जो अत्यन्त निर्बल समूह हैं उनके उत्थान की व्यवस्था करनी चाहिए। आरक्षण तथा सकारात्मक विभेद की नीतियों के जो दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं उनको दूर करने का प्रयास करना चाहि।

अन्य पिछड़े वर्गों एवं अनुसूचित जातियों।जनजातियों के मध्य वैमनस्व को बढ़ावा मिला है। भूमिसम्पन्न व प्रबल अन्य पिछड़ी जातियां ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों के दमन और शोषण की मुख्य शक्ति के रुप में दिखायी दी हैं। उन्होने वही दांव पेंच अपनाए हैं जो प्रबल उच्च जातियां प्रयोग में लाती थीं।

25.5 सामाजिक विषमताएँ और योग्यता का मापदण्ड

समाजशास्त्री एवं अर्थशास्त्री 'सामाजिक असमानता' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनका अभिप्राय होता है कि समाज के संसाधनों एवं लाभों का प्रयोग विभिन्न समूह असमान ढंग से करते हैं दूसरे शब्दों में कुछ समूहों को अधिक भाग मिल जाता है तो कुछ को कम मिल पाता है। उदाहरण के लिए महिलाओं को अधिकतर सामाजिक व्यवस्था में काम ज्यादा करना पड़ता है तथा उनको इसका पारितोषिक कम मिलता है। यह भी हो सकता है कि उनकी योग्यता भी ज्यादा हो। इसी प्रकार अमेरीकी समाज में अफ्रो–अमेरीकन समूहों की शैक्षणिक योग्यताकम होती है तथा उनको श्वेतों की तुलना में वेतन भी कम मिलता है। समाजशास्त्रीयों ने इस के लिए एक मापदण्ड बनाया है जिसे सामाजिक–आर्थिक मापदण्ड (Socio-economic Scale/SES) कहा जाता है। इसमें आय (Income), शिक्षा (Education) तथा व्यवसायिक सम्मान (Occupational prestige) को आंका जाता है। उदाहरण के लिये एक व्यापारी कारखाने में काम करनेवाले श्रमिक से ऊंचा माना जाता है। इसी प्रकार एक प्रोफेसर व्यापारी से सामाजिक स्तर में ऊंचा समझा जाता है। यह हो सकता है कि व्यापारी ज्यादा धन कमाता हो।

विभिन्न समाजों में आर्थिक असमानता के अतिरिक्त समाज के विभिन्न संसाधनों के उपयोग को लेकर भी विषमताएं पायी जाती हैं यद्यपि हर समाज यह दावा करता है कि योग्यता (Merit) के आधार पर उनके यहां संसाधनों का वितरण किया जाता है परन्तु नस्लीय भेद, क्षेत्रीय असंतुलन और विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रह न्यायपूर्ण वितरण में रुकावट बनजाते हैं। आदिवासी / ट्राइबल समाजों में इस प्रकार की विषमता कम दिखाई देती है। यहां सामाजिक समरसता एवंसमानता को ज्यादहै सराहा जाता है जो आजबकि आधुनिक समाजों में जो औद्योगिक क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आए हैं और जहां पूंजी निर्माण के माध्यम से भौतिकवादी

TESL-024

व्यवस्था बढ़ती जा रही है वहां धन एवं सामाजिक स्तर को प्रोत्साहित किया जाता है। ऐसे समाजों में बराबर संघर्ष और प्रतिद्वन्दिता बनी रहती है। यहीं सामाजिक पदसोपान शुरु होता है। सरमारी सेवाओं एवं सार्वजनिक उद्यमों तथा बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था इस पदसोपान को बढ़जाने में मदद करती है।

समाज में सामाजिक रुत्बे (Status) की प्राप्ति किसी व्यक्ति को दो प्रकार से हो सकती है। एक तो जन्म के कारण दूसरे स्वयं की योग्यता के कारण। अधिकांश समाजों में एक व्यक्ति को दोनों गुणों से सम्पन्न होने पर ही ऊपर का दर्जा प्राप्त होता है। परन्तु कुछ समाजों में केवल जन्म के आधार पर ही किसी व्यक्ति को ऊपर का दर्जा प्राप्त हो जाता है। इसे हम जाति असमानता के नाम से जानते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य समाजों में सामाजिक विषमता तीन वर्गों में विभक्त की जाती है यथा उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग। सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए उदारवरदी लोकतंत्र में व्यक्तिवादी विचारों को माध्यम बनाया जाता है, जबकि समाजवादी देशों में व्यक्तिवाद की जगह समष्टिवादी तरीकों से समाज के संसाधनों राज्य के कठोर नियंत्रण से हल ढूंढा जाता है।

सामाजिक विषमता की बड़ी मार महिलाओं को झेलनी पड़ती है। आम तौर से श्रम विभाजन के आधार पर महिलाओं को अधिक कार्य तथा कम मजदूरी के साथ ही साथ राजनीतिक सहभागिता में उनका अंश बहुत कम होता है। बहुत से वैश्विक मुद्दे जैसेएच.आई.वी. एड्स (HIV/AIDS), निरक्षरता तथा निर्धनता को महिलाओं की समस्या समझा जाने लगा है, चूंकि वही ज्यदा प्रभावित हैं। नस्ल एवं नृजातीय समूहों को भी समाज में व्याप्त पूर्वाग्रहों के कारण रोजगार प्राप्त करने एवं अपने स्तर को ऊंचा उठाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, यहां तक कि सरकारी नौकरियों में भी उनके साथ भेदभाव किया जाता है। अमेरीका में सरकारी नीतियों जैसे (War on Drugs) 'नशीले पदार्थों के विरुद्ध युद्ध' ने बजाय ड्रग्स को समाप्त करने के समाज के दुर्बल वर्गों को और परीशानी में डाला है। ड्रग अपराधों की वजह से 10 लाख अफ्रो अमेरीकन जेलों में बन्द है। कनाडा में स्थानीय आदिम जातियों का वहां की जनसंख्या में प्रतिशत मात्र 3 है परन्तु संघीय कारागारों में उनकी संख्या एक चौथाई से अधिक है।

25.5.1 संदर्भ में भारतीय सामाजिक विषमताएँ

कानूनी समानता की स्थापना के बावजूद भारत में दलितों के साथ सामाजिक भेदभाव एवं उनके मानवाधिकारों का लगातार उल्लंघन एक कड़वी सच्चाई है। दलितों का एक बहुत बड़ा भाग आज भी अशिक्षित है जिसके परिणामस्वरुप उनकी आर्थिक सामाजिक स्थिति बहुत खराब है। देश के अधिकांश केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित शिक्षकों के अनेक पद खाली हैं। इसका कारण इस समुदाय के सदस्यों के साथ हो रहा जातीय भेदभाव है। उदाहरण के लिये जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में कार्यरत शिक्षकों में केवल 3.29 प्रतिशत शिक्षक ही अनुसूचित जाति समुदाय के हैं। उदारीकरण के फलस्वरुप निजी क्षेत्र में दलितों का प्रतिनिधित्व और भी कम है। भारत में भी सरकारी क्षेत्र लगातार सिमटता जारहा है जिससे वंचित समुदायों के सदस्यों के लिए रोजगार के अवसर लगातार कम होते जारहे हैं।हिन्दु समाज जाति आधारित सोपानात्मक व्यवस्था पर आधारित है, जिसमें दलितों एवं भूमिहीन किसानों को निम्न स्थान दिया गया। ग्रामीण क्षेत्रों में दलितों के साथ भेदभाव निजी क्षेत्र में

खामोशी के साथ विद्यमान है। भोजनालयों, स्कूलों , मन्दिरों एवं जल के स्रोतों तक पहुंच आदि मामलों में इनसे भेदभाव होता है।

भारतीय समाज में बहिर्वेशन की समस्या बहुत गम्भीर है। समाज की बहुत बडी आबादी का प्रतिनिधित्व करने वाली महिलाएं, दलित, आदिवासी एवं अल्पसंख्यक बहिर्वेशन की समस्या का गम्भीर रुप से सामना कर रही हैं। किसी समाज में कुछ नागरिकों या नागरिक समूहों के प्रति अन्य नागरिक समूहों या राज्य द्वारा भेदभाव पूर्ण एवं घृणास्पद व्यवहार करने को बहिर्वेशन कहते हैं इसका स्वरुप सांस्कृतिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक एवं धार्मिक हो सकता है।

अनुसूचित जातियों तथा अल्पसंख्यकों के ऊपर अत्याचार, उत्पीणन एवं शोषण को विभिन्न रुपों में देखा जा सकता है जिसमें जातीय संघर्ष, हिंसा एवं साम्प्रदायिक दंगे मुख्य हैं और इस प्रकार की स्थितियों में आम तौर से कानून व्यवस्था स्थापित करने वाले अभिकरणेां का पक्षपातपूर्ण रवैया सामाजिक विषमता को और बढ़ावा देता है।

जातीय हिंसा, मार पीट एवं गुन्डागर्दी ग्रामीण क्षेत्रों में एक आम बात है। भारतीय समाज के सभी वर्गों में गरीबी का सामना करने वाले लोगों की संख्या बहुत बड़ी है परन्तु आर्थिक उदारीकरण के बाद विकास का बहुत कम लाभ वचित समुदायों को मिला है। इसका कारण उनकी निम्न सामाजिक स्थिति, रोजगार के अवसरों में कमी, नौकरियों में सामाजिक भेद भाव एवं प्राचीन काल से इन्हें वंचित समूह के रुप में रखने की परम्परा इत्यादि हैं। इनमें से एक बहुत बड़ी संख्या भूमिराहीन मजदूरों की है। उनका अधिकांश भाग निम्न श्रेणी के कार्य करता है और उत्पादन के स्रोतों जैसे भूमि, जंगल और पानी आदि पर उसका नियंत्रण प्रायः नही के बराबर है। संयुक्त राष्ट्र 'विश्व सामाजिक रिपोर्ट 2010' ने यह स्वीकार किया है कि भारत में दलित और खासकर दलित महिलाएं पूरी तरह हाशिये पर धकेल दी गयी हैं।

भारत में आज भी अस्पृष्यता का कठोर पालन किया जाता है। आन्ध्रप्रदेश में अम्बेडकर शती समारोह समिति ने अपने सर्वेक्षण में यह पाया कि 249 में से 122 ग्रामों में चाय की दुकानों पर दलित वर्गों को चाय अलग बर्तनों में दीजाती है तथा सेवन के बाट उन्हीं को बर्तन धुलने पड़ते हैं। इसी प्रकार तमिलनाडु, उ0प्र0, राजस्थान और केरल में कुछ स्थानों पर दलितों को गांव के कुओं पर जाने की इजाजत नहीं यहां तक कि धोबी एवं नाई भी उनकी सेवा से इन्कार करदेते हैं। कुछ गांवों में दलितों को जूता, चप्पल एंव जैकेट पहनने की अनुमति नही है।

राज्य ने लोककल्याणकारी नितियों का अनुसरण करते हुए समाज के दुर्बल वर्गों, महिलाओं, वद्धों एवं अल्पसंख्यकों के लिए यद्यपि बड़े पैमाने पर कार्यक्रम चलाये हैं परन्तु उनका लाभ इन वंचित समूहों को नही मिल पाता। देश में हरित क्रान्ति से पैदावार जरुर बढ़ी लेकिन इसने गरीबों के लिए और समस्याएं पैदा कीं। भारत में ग्रामीण क्षत्रों में लाखों की संख्या में किसानों की आत्म हत्या इसका ज्वलंत उदाहरण है। तीव्र नगरीकरण, बड़े उद्योगों की स्थापना तथा देश में नैगम संस्कृति (corporate culture) ने भी सामाजिक विषमता को बढ़ावा दिया है । राज्य खुद एक बड़ा उद्योगपति बनगया है। जनता की जमीनों को विशेष आर्थिक क्षेत्र (SEZ), अनन्य आर्थिक क्षेत्र (EEZ) तथा बड़े–2 बांध एवं बड़ी–2 परियोजनाएं बनाकर उनको जमीनों से बेदखल करना तथा नगरों में झोपड़ पट्टियों में वृद्धि इस प्रकार की नीतियों की पैदावार है। सामाजिक विषमता को समाप्त करने में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है और सर्वशिक्षा अभियान के अन्तर्गत व्यापक स्तर

TESLA-024

पर शिक्षा को फैलाने का प्रयास चल रहा है लेकिन यह शिक्षा अपनी गुणात्मक विशेषता खोती जा रही है। समय पर शिक्षकों की भर्ती न करना तथा सार्वजनिक क्षेत्र में बच्चों के लिये शिक्षा व्यवस्था का कमजोर ढांचा सामाजिक विषमता की खाई को बजाए पाटने के और गहरा कर रहा है। एक ओर धनाढ्य परिवारों के बच्चे महंगी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं तो दूसरी तरफ गरीब और हाशिए पर धकेले गये परिवारों के बच्चे या तो स्कूल से बाहर हैं या उनका ड्रापआउट रेट बहुत ज्यादा है। शिक्षा के निजीकरण ने उनके लिए और कठिनाइयां खड़ी कर दी हैं। साक्षरता की दर में भले ही वृद्धि दिखाई दे लेकिन शिशु मृत्यु दर एवं कुपोषण के शिकार बच्चों की संख्या में सुधार का न होना, स्वास्थ्य की सेवाओं से वंचित परिवार सामाजिक विषमता को और बढ़ावा दे रहे है। आर्थिक क्षेत्र में एक लम्बी छलांग लगाने के बावजूद भी भारत का वैश्विक मानव विकास सूचकांक मे वर्ष 2014 में भी 135वां स्थान है। इन्टरनेशनल फूड पालासी एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने वर्ष 2011 में 81 राष्ट्रों में किये गये सर्वे के उपरान्त ग्लोबल हंगर इन्डेक्स में भारत को 67वें स्थान पर पाया।

हमारी कृषि पिछड़ती जा रही है। भारत में प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति खाद्यान्न उपलब्धता में निरन्तर कमी आ रही है। वर्ष 2006 में प्रति व्यक्ति दैनिक खाद्यान्न उपलब्धता 445.3 ग्राम थी जो 2011 में घटका प्रतिव्यक्ति मात्र 438.6 ग्राम रह गयी है। स्वच्छ पानी प्रत्येक व्यक्ति को मिल जाए, ऐसा स्वतंत्रता के 67 वर्ष बाद भी नही हो पाया है। जाति, भाषा, धर्म एवं राजनीतिक प्रतिबद्धता के आधार पर समाज निरन्तर प्रभावित होता चला जा रहा है।

25.6 सारांश

राज्य की संस्था अमूर्त रुप में होते हुए भी पिछली चार शताब्दियों से अधिक काल में विभिन्न आर्थिक विचारधाराओं के साथ ही साथ सामाजिक विचारों से सम्बद्ध रही। जैसे–जैसे समाज में बोध एवं चिंतन बढ़ा है राज्य को अलग–अलग तरह की आर्थिक एवं सामाजिक नीतियां अपनाते हुए पाया गया। किसी समय में राजा को ईश्वर का धरती पर प्रतिनिधि माना जाता था तथा धर्म का राजनीतिक जीवन में बड़ा महत्व होता था लेकिन यूरोप की राजनीतिक सामाजिक घटनाओं से राज्य में धर्म के विशेष महत्व को दरकिनार करने का प्रयास किया गया फिर भी फ्रांस जैसा धर्मनिरपेक्षवाद विश्व के अन्य समाजों में मान्यता नहीं प्राप्त कर सका। राज्य को अपने भूमि क्षेत्र में निवास करने वाले विभिन्न धार्मिक समूहों खास तौर से अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं संस्कृति की रक्षा का बन्दोबस्त करना पड़ता है जिस से राज्य की छबि एक न्यूट्रल जज की बनी रहे। इसी प्रकार भारत के विशेष सन्दर्भ में मुसलमानों एवं ईसाइयो को खास तौर से वैयक्तिक विधियों के अनुसार विवाह, तलाक, सम्पत्ति एवं उत्तराधिकार से सम्बन्धित कुछ अधिकार दिए गए है। लेकिन समय समय पर जहां एक ओर इस पेकार के विशेषाकिारों का कुछ समूहों एवं वर्गों द्वारा विरोध किया जाता है वही न्यायालयों के द्वारा भी ऐसे निर्णय दिए जाते हैं जो समान नागरिक संहिता की ओर क्रमिक विकास को दर्शाता है। इसी प्रकार आरक्षण व्यवस्था तथा उस से जुड़ी हुई राजनीति का हमने अध्ययन किया तथा उसके गुण दोषों को समझने का प्रयास किया। साथ ही राज्य की विभिन्न नीतियों के कारण या राज्य की अकुशलता की वजह से सामाजिक विषमता तथा भारत में व्याप्त घोर असमानता का भी अध्ययन किया। वास्तव में राज्य कभी भी आम जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर सका। लोक कल्याण, लोकतंत्रीकरण तथा सत्ता में भागीदारी के नारे तो

लगाये गये लेकिन मूल में कुछ अभिजात एवं विशिष्ट वर्गों का बर्चस्व ही रहा जिसने राज्य की समग्र भूमिका पर प्रश्न चिन्ह लगाये।

ऊपर के पृष्ठों में हमने विभिन्न सामाजिक नीतियों का अध्ययन किया एवं यह देखा कि राज्य का क्या प्रतिउत्तर एवं भूमिका रही।

25.7 उपयोगी पुस्तकें

Brass, Paul (1994) The Politics of India since Independence (2nd Edition), Cambridge, Cambridge University Press

Chandhok, Neera (1999), Beyond Secularism : The Rights of Religious Minority, New Delhi, Manas Publications.

Domhoff, G William (2013) "Who Rules America? The Triumph of the Corporate Rich",Mac Graw Hill.

Jaya, Neerja Gopal (1999), Democracy and the State: Welfare Secularism and Development in Contemporary India, New Delhi' Oxford University Press.

Sernau, Scott (2013), " Social Inequality In a Global Age", (Fourth Edition),Thousand Oaks, Sage.

Sharma K.L. (1999), Social Inequality in India : Profile of Caste, Class and Social Mobility, Jaipur, Rawat Publications.

Stiglitz, Joseph (2012), The Price of Inequality,New York, Norton.

Vershney, Ashutosh (2002), Ethnic Conflict and Civic Life, New Delhi, Oxford University Press.

कौशिक, रजनीश (2010), आरक्षण व्यवस्था समस्या या समाधान नई दिल्ली, राधा पब्लिकेशंस

शर्मा, रामदेव (2000) ''आरक्षण : तनाव और समाधान'' इलाहाबाद, जयभारती प्रकाशन।

लवानिया, एम.ए. (2007) ''ग्रामीण समाज शास्त्र, जयपुर।, रिसर्च पब्लिकेशंस।

गुप्ता एम. एल. एवं शर्मा, डी. डी़ (2005) ''भारतीय सामाजिक समस्याएं '' आगरा, साहित्य भवन पब्लिकेशंस।

गुप्ता, राजेश कुमार (2004) ''भारत में आरक्षण नीति, नई दिल्ली, मानक पब्लिकेशंस।

25.8 सम्बन्धित प्रश्न

लघु–उत्तरीय प्रश्न

(iv) धर्मनिरपेक्षता से आप क्या समझते हैं ?

(v) भारतीय संदर्भ में अल्पसंख्यक अधिकारों की विशेषता पर प्रकाश डालिए।

(vi) सामाजिक विषमताओं पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(iv) भारत में समान सिविल संहिता पर एक निबन्ध लिखिए।

(v) सामाजिक समस्याओं का विवेचन करते हुए उनको दूर करने के उपाय समझाइए।

(vi) धर्मनिरपेक्षता के भारतीय प्रतिमान की विशेषताएं बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 धर्मनिरपेक्षवाद का उदय काल माना जाता है

(अ) 1600–1700 ई0

(ब) प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के बीच

(स) पुनर्जागरण काल

(द) औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात

2 'आरक्षण'के स्थान पर सामाजिक न्याय के क्षेत्र में प्रचलित अन्य व्यवस्था को कहते है ?

(अ) सार्वभौम मताधिकार

(ब) सकारात्मक कार्यवाही

(स) सामाजिक विभेदीकरण

(द) जनहित याचिका

3 'भारत में भाषायी अल्पसंख्यक कौन हैं ?

(अ) मुसलमान

(ब) पारसी

(स) सिक्ख

(द) किसी राज्य में जिस भाषा के बोलने वालों की संख्या कम है।

25.9 प्रश्नोत्तर

1 (स)

2 (ब)

3 (द)

इकाई 26

राज्य और उदारीकरण की प्रक्रिया

इकाई की रुपरेखा

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 उदारीकरण

26.2.1 अर्थ

26.2.2 राज्य की भूमिका में ह्रास

26.2.3 उदारीकरण का स्वरुप

26.3 उदारीकरण से सम्बन्धित मुद्दे

26.3.1 भूमण्डलीकरण–अर्थ एवं लक्षण

26.3.2 निजीकरण

25.3.3 निजीकरण का औचित्य

26.3.4 निजीकरण और भारत

26.4 उदारीकरण और लोकतंत्र

26.5 भारत में उदारीकरण

26.6 भारत में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभाव

26.7 सारांश

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

26.9 सम्बन्धित प्रश्न

26.10 प्रश्नोत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई के माध्यम से हम उदारीकरण के विभिन्न आयामों का अध्ययन करेंगे तथा यह देखेंगे कि किस प्रकार से उदारीकरण के लिए राज्य पर दबाव बढ़ा है एवं स्वयं राज्य कैसे उदारीकरण के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाला बना है। चूंकि उदारीकरण के साथ ही साथ भूमण्डलीकरण एवं निजीकरण को बढ़ावा मिला है इस लिए इन सिद्धान्तों की विशेषता एवं गुण दोष पर भी चर्चा की जाएगी।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप को उदारीकरण की प्रक्रिया को समझने में आसानी होगी तथा आप यह समझसकेंगे कि किस प्रकार नियोजित

TESLA-024

अर्थव्यवस्था का स्थान विपणन अर्थव्यवस्था ने लिया है। इसके साथ ही आप यह जान सकेंगे कि विपणन अर्थव्यवस्था की खामियों ने किस प्रकार राज्य की आर्थिक तथा सामाजिक न्याय की संकल्पना को प्रभावित किया है एवं जनवादी तथा नव सामाजिक आन्दोलनों के उदय का कारण राज्य की क्षीण होती हैसियत फिर से लौटाने का प्रयास कर रही है।

26.1 प्रस्तावना

विकासशील समाजों में आम तौर से बाजार अर्थव्यवस्था (Market Economy) के स्थान पर नियोजित अर्थव्यवस्था (Planned Economy) को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद प्रारम्भ के दशकों में वरीयता मिली। विकासशील देश आम तौर से पूंजी के संचयन से घबराते थे तथा कठिनाई से प्राप्त हुई अपनी स्वतत्रता को आर्थिक क्षेत्र में समग्र विकास के लिए प्रयोग करना चाहते थे। इन समाजों में इस प्रकार राज्य के कन्धों पर राष्ट्रनिर्माण एवं आर्थिक विकास का कार्यभार आपड़ा। नियोजित अर्थव्यवस्था को किसी देश में सफलता मिली तो कहीं पर इसके अच्छे परिणाम नही आये। बहर हाल 80 के दशक में यह स्पष्ट होने लगा था कि नियंत्रित अथवा नियेाजित अर्थव्यवस्था को बदलकर अब बाजार अर्थव्यवस्था से सारी समस्याओं का हल सम्भव है। उधर सोवियतसंघ के विघटन ने विकास का मार्क्सवादी प्रतिमान (जिस में राज्य को अर्थव्यवस्था और उससे जुड़े हुए कार्यकलापों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त होता है) की अप्रासंगिकता को स्पष्ट कर दिया था। इसलिए विकासशाील समाजों में आर्थिक विकास के लिए पुनर्चिन्तन शुरु होगया और 90 के दशक ने उदारीकरण के नाम पर देशी अर्थव्यवस्थाओं को राज्य के नियंत्रण से आजाद करने का बिगुल बजा दिया। उदारीकरण के साथ ही संचार क्रान्ति ने भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को और तेज कर दिया तथा राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने के लिये (Downsizing of Government and Rolling Back of State) सरकार का आकार कम करने तथा राज्य का क्षेत्र सीमित करने का नारा दिया जाने लगा। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के स्थान पर निजीकरण की मुहिम तेजी पकड़ने लगी। विकासशील देशों में चाहे किसी भी राजनीतिक दल या समूह की सरकार रही हो, इस प्रक्रिया को तेज करने का ही कार्य किया। हम इन सब बिन्दुओं पर आगे पाठांश में चर्चा करेंगे तथा भारत का विशेष सन्दर्भ भी लेंगे।

26.2 उदारीकरण

26.2.1 अर्थ

उदारीकरण का मौलिक अर्थ है – अर्थव्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर नियंत्रणों और अधिनियमों का हटाया जाना ताकि बाजार की शक्तियां विकास की दिशा निर्धारित कर सकें। यह आर्थिक मामलों में प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देते हुए निजी एवं पारदेशीय पूंजी को जन्म देता है। यह व्यवस्था राज्य की एक सीमित भूमिका की पक्षधर है। अधिक विस्तृत सन्दर्भ में यह शब्द नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों के प्रचलन, कानून के शासन, सत्ता की जवाब देयता, आवधिक चुनाव, न्यायपालिका की स्वतंत्रता तथा सक्रियता एवं बहुदलीय प्रतिद्वन्दी राजनीतिक प्रणाली के विकास को इंगित करता है और सुशासन एवं पारदर्शिता को नागरिक जीवन में लाने का प्रयास करता है।

अधिक सटीक अर्थ में उदारीकरण व्यापार और निवेश की स्वतंत्रता, मुक्त व्यापार क्षेत्रों का सृजन, घरेलू अर्थव्यवस्था में संसाधनों के आवंटन पर से सरकारी नियंत्रण को हटाने, विदेशी व्यापार एवं भुगतानों पर प्रतिबंधों को हटाने, विदेशी पूंजी निवेश, ऋण एवंसहायता धनराशि के फैलाव तथा तीव्र औद्योगिक प्रगति की घोषणा करता है। उदारीकरण सरकारी खर्चे में कटौती, संतुलित बजट, कराधानों में कमी, सामाजिक सुरक्षा और कल्याणकारी कार्यों में कटौती की वकालत करता है। इसका तक्र है कि अत्यधिक राज्य नियंत्रण से अक्षमता, भ्रष्टाचार एवं कुप्रबन्ध का रोग शासन को लगजाता है।

आर्थिक उदारीकरण एक व्यापक शब्दावली है। व्यापक दक्षता एवं प्रभाविकता के लिए इसको जरुरी माना जाता है। इसका विचार है कि इस प्रकार से उत्पादकता बढ़ेगी जिसका लाभ सभी को प्राप्त होगा।

26.2.2 राज्य की भूमिका में ह्रास

नियोजित अर्थव्यवस्था की असफलता को राज्य की असफलता माना जाता है और यह कि राज्य ही तमाम अर्थिक बुराइयों की जड़ है, यह विश्वास बढ़ने लगा कि विभिन्न समाजों के सामने आने वाली आर्थिक समस्याएं, सार्वजनिक क्षेत्र की निष्क्रियता, बड़ा काम, कम उत्पादकता एवं वेतनों में वृद्धि, सरकारी संरक्षण तथा प्रतिस्पर्धाहीनता के कारण है। कराधान की उच्च दरें और अपने पतनशील उद्योगों को संरक्षण, तथा सामाजिक कल्याण लाभों में वृद्धि से पूंजी की बचत नही हो पाती और राज्य का हस्तक्षेप तथा जनता की आशा कि उनकी सरकार उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करे, इसने लाभदायिकता को प्रभावित किया है। सरकारी हस्तक्षेप एवं कल्याणकारी नीतियों के कारण जनता में परजीविता को प्रोत्साहन दिया है तथा जोखिम उठाने की आदत को कुंद किया है। 80 के दशक में विश्व के बड़े हिस्सों में राज्य के हस्तक्षेप को कम करने एवं बाजार व उद्योग को मुक्त शक्ति प्रदान करने की वकालत की जाने लगी। सूचना तथा संचार क्रान्ति ने इसे नया आयाम प्रदान किया तथा यह बहस तेज हो गयी कि कराधान की दरें कम होनी चाहिए एवं सरकारी खर्चों में मितव्ययिता लानी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक ने खास तौर से तीसरी दुनिया के देशों पर दबाव डाला कि वह अपनी अर्थव्यवस्था को उदार करें। इसके लिये संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम चलाये गये। 1989 में पूर्वी यूरोप में समाजवादी शासनों के विध्वंस और 1991 में सोवियत संघ के विघटन को पूंजीवाद की विजय के रुप में पुकारा गया और बाजार की शक्तियों को और अधिक प्रोत्साहन मिला। यहां से नव उदारवादी (Neo-Liberal Age) युग की शुरुआत होती है जिसमें सीधे राज्य पर आक्रमण किया गया और यह कहा जाने लगा कि राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिये तथा इसे केवले रात्री पहरेदार (Night Watchman) के रुप में कार्य करना चाहिए।

26.2.3 उदारीकरण का स्वरुप

पश्चिमी देशों में उदारीकरण के लिये 70 के दशक के बाद से ही नवउदारवादी विचारों के अन्तर्गत बहस शुरु होचुकी थी। युद्धोत्तर आर्थिक स्मृद्धि के सिकुड़ते क्षेत्र के पीछे बहुत से कारणों में से एक ओर तो यूरोप व उत्तरी अमेरिका में ग्रामीण श्रम के स्तरों में कमी तथा जापान एवं नव–औद्योगिकृत देशों के द्वारा कठोर प्रतिस्पर्धा तथा पूंजी के भूमण्डलीकरण ने आर्थिक उत्पादकता और लाभों की मात्रा कम करनी शुरु कर दी इसलिए अब राज्य की कल्याणकारी

TESLA-024

भूमिका पर प्रश्नचिन्ह लगने के साथ फिर से राज्य की न्यून भूमिका केवल कानून व्यवस्था बनाये रखने की संस्था के रुप में देखी जाने लगी।

यूरोप में उदारीकरण सार्वजनिक व्यय को घटाने, सामाजिक सुरक्षा एवं कल्याण कार्यक्रमों में कटौतियों, उत्तरोत्तर कराधानों में कमी, पूर्ण रोजगार नीतियों का त्याग, व्यापार संघों पर नियंत्रण, लचीले श्रम बाजार तथा राज्य उद्यमों के निजीकरण की ओर लेगया है। लेकिन संरक्षित कृषि उत्पादन, आप्रावासन नीति एवं अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित नही किया है। विकासशील देशों में आयात निर्यात, विदेशी निवेश, श्रम बाजार आदि को राज्य नियंत्रित करता था। राज्य धीरे धीरे इस प्रकार काफी ताकतवर हो गया था। राज्य उद्योग, कृषि, बाजार एवं वित्तीय संस्थाओं की एक बड़ी श्रृंखला का स्वामी था। निजी पूंजी एवं समूहों के लिए सेवा एवं कल्याण की दृष्टि से औद्योगिकएवं वित्तीय संस्थाओं का रास्ता बन्द था। 70 के दशक के मध्य तक इन देशों में से अधिकतर ऋणग्रस्तता के शिकार हो चुके थे। इन देशों में अत्यन्त कमजोर शासक समूह इन बाहरी झटकों को झेलने में असमर्थ थे जो पहले से ही जनसंख्या वृद्धि एवं विभिन्न हितों के कारण कमजोर होते जारहे थे। इसलिए एक मात्र विकल्प के रुप में इन देशों ने उदारीकरण को स्वीकार कर लिया। इन विकासशील देशों ने अपने यहां आर्थिक सुधार किये। नौकरशाही के आकार को छोटा करने का प्रस्ताव स्वीकार किया। राज्य व्यय पर नियंत्रण, मुद्रा अवमूल्यन, विभिन्न प्रकार के उत्पादों पर सब्सिडी को समाप्त करना या घटाना, कृषि और स्थानीय उत्पादों का संरक्षण समाप्त करदेना इत्यादि उदारीकरण के फलस्वरुप देखने में आया।

26.3 उदारीकरण से सम्बन्धित मुद्दे

26.3.1 भूमण्डलीकरण–अर्थ एवं लक्षण

भूमण्डलीकरण एक बहुआयामी खुली प्रक्रिया है। भूमण्डलीकरण का अभिप्राय भूमण्डल के विभिन्न लोगों एवं देशों के मध्य बढ़ती हुयी पारस्परिकता है। यह पारस्परिकता आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संबन्धों में निहित होती है। भूमण्डलीकरण व्यापार, वित, पूंजी, प्राद्योगिकी, सूचना एवं संस्कृति के अन्तरराष्ट्रीय प्रवाह की ओर इशारा करता है।

भूमण्डलीकरण एक आर्थिक व्यवस्था है परन्तु अनिवार्यतः अन्य मामलों में भी भूमण्डलीकरण राष्ट्रीय सीमाओं को लांघते हुए विभिन्न देशों की अर्थ व्यवस्थाओं तथा लोगों के जीवन के विविध पक्षों में आपसी सम्बन्धों एवं एक दूसरे को प्रभावित, परिवर्तित करने की क्षमता के रुप में दिखाई देता है। द्वितीयतः भूमण्डलीकरण एक नीतिगत व्यवस्था है। विशेषकर विश्वव्यापी पूंजीवाद के लिए जरुरी समझी जाने वाली राज्यनियंत्रण मुक्त व्यवस्था है। तृतीयतः भूमण्डलीकरण एक मूल्यगत पसंद के रुप में प्रचारित किया जारहा है। इन मूल्यों में विविधता तथा विरोध के बावजूद कुछ सामान्य तत्व देखे गए हैं। भूमण्डलीकरण विद्यमान सामाजिक, आर्थिक ढांचे में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, राज्य की सीमित भूमिका, आर्थिक निर्णयों की आजादी, सांस्कृतिक आजादी को विश्वव्यापी स्तर पर स्वीकृत और वांछनीय माना जाता है, परन्तु कई लोग इसे विचारों, संस्कृतियों, मूल्यों आदि के क्षेत्र में निपट व्यक्तिवादी मान्यताओं और मूल्यों को महिमामण्डित करने के प्रयास के रुप में देखते हैं।

भूमण्डलीकरण के उपरोक्त वर्णन से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं :

- भूमण्डलीकरण अन्तर्सम्बन्ध में विश्वास करता है। विश्व का प्रत्येक भाग संचार के साधनों से जुड़ा हुआ है। यह उन समस्याओं के कारण भी है जो आज एक राष्ट्र राज्य से निकलकर सम्पूर्ण भूमण्डल को प्रभावित करती हैं जैसे जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत का छरण, नशीली दवाएं, आतंकवाद एवं महासागरों का प्रदूषण आदि।

- भूमण्डल के एक कोने से घटित होने वाली क्रियाओं का प्रभाव दूसरे क्षेत्र में तीव्र गति से पड़ता है। उदाहरण के लिये पूर्व एशियाई संकट जिसका प्रभाव न्यूयाक्र स्टाक एक्सचेन्ज तथा विश्व के अन्य बाजारों पर पड़ता है।

- भूमण्डलीकरण की आड़ में अंग्रेजी भाषा, अमेरिकी संस्कृति, राष्ट्रीय संस्कृति में घुसपैठ करती हैं तथा इन्हें आदर एवं सम्मानसूचक माना जाने लगा है, एवं राष्ट्रीय तथा देशज संस्कृतियों को हीनता की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

- संचार प्राद्योगिकी का विकास राष्ट्र राज्य के प्राधिकार को गुप्त रुप से हानि पहुंचाता है और राष्ट्र राज्यों की सम्प्रभुता को खतरा पैदा करता है।

- भूमण्डलीकरण के प्रचलित प्रतिमान ने आर्थिक विषमताओं को और बढ़ाया है और गरीबों की हालत बदतर की है।

- भूमण्डलीकरण नए अवसर भी लाता है। यह लोगों को उपलब्ध विकल्पों की श्रेणी को उल्लेखनीय रुप से विस्तार देता है।

- भूमण्डलीकरण ने श्रम बाजारों में शिथिलता पैदा की है एवं श्रम प्रवास को एक राज्य में तथा अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर सरल करदिया है एवं विदेशी मुद्रा कमाने का एक नया स्रोत खोल दिया है।

- भूमण्डलीकरण ने बहुराष्ट्रीय निगमों, अन्तरराष्ट्रीय वित्तीय संगठनों जैसे अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष विश्व बैंक तथा विश्व व्यापार संगठन जैसी संस्थाओं को शक्तिशाली किया है।

26.3.2 निजीकरण

विश्व में आज परिस्थितियां ऐसी होती जा रही हैं कि उनसे बाध्य होकर कोई भी देश अपनी अर्थव्यवस्था की पुनः संरचना करने से बच नही सकता। निजीकरण शब्द का प्रयोग अनेक विचारों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विचार है विराष्ट्रीयकरण अर्थात सार्वजनिक उद्यम के स्वामित्व को सरकार के हाथ से लेकर निजी हाथों में देना। शब्द 'निजीकरण को दो असम्बन्धित लेनदेनों के वर्णन के लिए उपयोग किया जाता है। इस प्रकार 'निजीकरण' व्यवसाय, उद्यम, एजेन्सी या सार्वजनिक सेवा के स्वामित्व के सार्वजनिक क्षेत्र राज्य या सरकार से निजी क्षेत्र–निजी लाभ के लिए संचालित व्यवसाय या निजी गैर लाभ संगठनों के पास स्थानान्तरित होने की घटना या प्रक्रिया है।

निजीकरण कई प्रकार से हो सकता है। एक तो राज्य या सरकार द्वारा स्थापित कम्पनी के शेयरों को या स्वामित्व को पूरी तरह निजी व्यक्ति या समूह को बेच देना तथा स्वामित्व के सारे अधिकारों का ट्रान्सफर कर देना। दूसरे सेवा के क्षेत्र में निजीकरण अर्थात स्वामित्व अपने पास रखते हुए सरकार ठेकदारों को सेवाओं की आपूर्ति पर अदायगी करती है।

TESLA-024

25.3.3 निजीकरण का औचित्य

अर्थव्यवस्था में मन्दी आने के कारण उत्पादकता घट जाती है तथा लागत खर्च बढ़ने लगता है। इस लिए राज्य इस कुचक्र से निकलने के लिए निजीकरण का मार्ग अपनाता है।

दूसरा कारण यह है कि लम्बे समय से सरकारी स्वामित्व की इकाइयों में अक्षमता आजाती है। उनके द्वारा प्रदत्त सेवाओं के स्तर से यह स्पष्ट होजाता है। यद्यपि सरकारें उनमें आर्थिक निवेश बहुत करती है।

एक कारण यह भी है कि सरकारी स्वामित्व में कर्मचारीवृन्द को अनावश्यक संवैधानिक संरक्षण मिला होता है जिसके कारण उनकी अक्षमता पर उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही बड़ी विलम्बकारी एवं खर्चीली होती है जबकि निजीकरण में इस प्रकार की समस्याएं नहीं होतीं।

चूंकि सार्वजनिक उद्यमों में प्रतियोगिता नही होती इसलिए उनकी कार्यकुशलता पर विरीत प्रभाव पड़ता है। इस लिएभी निजीकरण को स्वीकार किया जाता है। निजीकरण के सम्बन्ध में समस्त विश्व में बौद्धिक विचार विमर्श तथा वाद विवाद शुरु हुआ तथा लोकमत के दबाव का भी इस सम्बन्ध में प्रभाव पड़ा।

इसी प्रकार सहायता देने वाली कुछ आर्थिक संस्थाओं ने भी शर्त लगादी कि सहायता धनराशि उन देशों को तभी दी जाएगी जब उनके द्वारा निजीकरण किया जाएगा। इससे निजीकरण की प्रक्रिया को बल मिला।

26.3.4 निजीकरण और भारत

उदारीकरण की मजबूरियों ने भारत को भी इस पर तैयार किया कि वह अपनी रुग्ण एवं हानिप्रद संस्थाओं को निजीकरण की राह पर लेचले। भारत में कुछ भी हो समाजवादी आन्दोलन तब तक कमजोर नही हुआ था। यद्यपि पूरवी यूरोप तथा सोवियत संघ के राज्यों ने अपने देशों में सार्वजनिक उद्यमों का निजीकरण शुरु कर दिया था। लेकिन भारत में निजीकरण एवं पूंजी विनिवेश की नीतियों का व्यापक विरोध हुआ। भारत सरकार ने एक विनिवेश आयोग (Disinvestment Commission) की स्थापना की तथा आगे चलकर एक विनिवेश मंत्रालय का भी गठन हुआ जो बाद में बन्द हो गया। इस आयेाग ने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों को विनिवेश के लिए दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया। यह श्रेणियां थीं–कोर समूह तथा गैर कोर समूह। कोर समूह के अन्तर्गत वे लोक उद्यम हैं जिनके लिए बाजार बहुत अधिक है। इसके साथ ही रुग्ण उद्यमों की वित्तीय सेहत की जांच के लिए औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) का गठन हुआ । 1998 के अन्त तक 138 रुग्ण सार्वजनिक उद्यमों को (BIFR) के साथ पंजीकृत कराया गया। भारत सरकार ने तीव्र विरोधों के बीच निम्नलिखित कम्पनियों का निजीकरण किया :

- भारत अलूमीनियम कम्पनी लिमिटेड
- सी. एम. सी. लिमिटेड
- हिन्दुस्तान ज़िंक लिमिटेड
- एच0 टी0 एल0 लिमिटेड
- इन्डियन पेट्रोकेमिकल कारपोरेशन लिमिटेड
- इन्डियन होक्के होटल्स लिमिटेड
- जेसप एण्ड कम्पनी लिमिटेड
- लगन जूट मशीनरी कम्पनी लिमिटेड
- मारुती उद्योग लिमिटेड

- माडर्न फूड इन्डस्ट्रीज लिमिटेड
- पैराद्वीप फासफेट्स लिमिटेड
- पंजाब होटल्स लिमिटेड
- विदेश संचार निगम लिमिटेड इत्यादि

निजीकरण पर उपलब्ध साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि भारत सरकार ने अत्यन्त सावधानी से सभी हितों की सुरक्षा का ध्यान देते हुए पारदर्शी नियम बनाए। जिस प्रकार लातीनी अमेरिका या भूतपूर्व सोवियत संघ के देशों में सार्वजनिक उद्यमों को औने पौने दामों बेचा जारहा था, ऐसा भारत में सजग जनमत, न्यायालय एवं सचेत मीडिया के कारण सम्भव नही था। भारत ने सोच समझकर एवं विभिन्न स्तरों से नीतियों को गुजारकर ज्यादातर तो आंशिक पूंजी विनिवेश की बात चलाई।ऐच्छिक अवकाश योजना (Voluntary Retirement Scheme-VRS) के माध्यम से कामगारों तथा अधिकारियों को मौका दिया तथा सार्वजनिक सम्पत्ति का अधिक से अधिक मूल्य निवेशकों के हितों का ध्यान देते हुए प्राप्त किया। यही वजह है कि निजीकरण के माध्यम से भारत एक बार फिर सार्वजनिक उद्यमों की साख बनाने में कामयाब होगया जिनका उदाहरण हम लोग नौ–रत्न एवं मिनी नौ–रत्न कम्पनियों की सूरत में देखते हैं। इन कम्पनियों को अब निजी उद्यमों के समान व्यापक स्तर पर स्वायत्ता प्राप्त है।

निजीकरण के क्षेत्र में भारत ने एक रास्ता और अपनाया। वह यह था कि सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों के साथ साथ अर्थ व्यवस्था के बहुत से क्षेत्रों में निजी देशी और विदेशी पूंजी को भी मान्यता देदी जैसे नागरिक उड्डयन, बीमा, बैंकिंग, स्वास्थ्य, शिक्षा और विनिर्माण इत्यादि। इसका यह परिणाम हुआ कि सार्वजनिक क्षेत्र को भी प्रतिस्पर्धात्मक नीतियां अपनानी पड़ीं।

इन सब सतर्कतात्मक प्रणालियों को अपनाने के बावजूद निजीकरण ने समस्याएं भी पैदा की हैं जिनको अस्वीकार नही किया जा सकता।

26.4 उदारीकरण और लोकतंत्र

ऐसा माना जाता है कि पूंजीवाद लोकतंत्र को बढ़ावा देगा। जैसे जैसे बाजार अर्थव्यवस्था आगे बढ़ेगी लोकतंत्र की मांग भी आगे बढ़ेगी। लेकिन साम्यवादी चीन ने एक दलीय मजबूत शासन के साथ बाजार सुधार करते हुए अन्य देशों की तुलना में अपनी आर्थिक वृद्धि एवं राज्यनियंत्रित संस्थाओं के द्वारा कड़ी प्रतियोगिता के माहौल में विकास को जारी रखा है इसने लोकतंत्र पहले फिर आर्थिक सुधार प्रत्यय को विपरीत दिशा में मोड़ने का कार्य किया है। एक विपरीत दृष्टिकोण यह प्रस्तुत किया जाता है कि पहले आर्थिक सुधार के माध्यम से बाजार को शक्तिशाली बनाया जाए, फिर लोकतंत्र की स्थापना होगी। यह भी सच है कि जनता में अपने अधिकारों के प्रति चेतना होती है तथा जब वह देखते हैं कि शासक वर्ग उनकी बुनियादी ज़रुरतों को पूरा करने में अक्षम हैं तो अपने आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों के लिए वह क्रान्ति अथवा आन्दोलन की राह पर चलने लगते हैं।

फिर भी यह देखा गया है कि 90 के दशक के बाद से लगातार बाजार की शक्तियों एवं जनतांत्रिक मांगों में टकराव होता रहा है। एक ओर उदारीकरण इस बात की नसीहत करता है कि जनता को अपनी समस्याओं को आर्थिक तरीके से हल करना चाहिए। हर बार उन्हें राज्य की ओर नहीं देखना चाहिए। जैसा कि वह कल्याणकारी राज्य प्रत्यय के समय किया करते थे। लेकिन प्रश्न यह है कि राज्य के प्राकृतिक संसाधनों पर कुछ एक वर्गों का प्रभुत्व नहीं होना चाहिए बल्कि

TESLA-024

राज्य को इसमें हस्तक्षेप करते हुए न्यायपूर्ण पुनर्वितरण की व्यवस्था करनी चाहिए और इस सम्बन्ध में लोकतंत्र के तरीकों को व्यवस्था पर दबाव बनाने एवं अपनी मांगों को पूरा कराने के लिए अपनाया जाता है।

उदारीकरण के दौर में बाजार की भूमिका बढ़ी है तथा राज्य की विश्वसनीयता में कमी आयी है। बलदेव राज नायर के मतानुसार भारत में पहली बार उदारीकरण के अर्थशास्त्र तथा सशक्तिकरण की राजनीति विपरीत दिशाओं में जारहे हैं। लोगों के पास राजनीतिक अधिकार हैं परन्तु वे बाजार में भागीदारी नही कर सकते हैं क्योंकि उनके पास हकदारियों एवं क्षमताओं का अभाव है। विभिन्न हितों के बीच मध्यस्तथा करने अथवा मेल मिलाप कराने के लिए राज्य का कोई प्रयास नही है। ऐसी स्थिति में जहां राज्य कोई प्रभावी एवं मध्यवर्ती भूमिका नही निभासकता है, उनका सुझाव है कि सभ्य समाज हस्तक्षेप कर सकता है।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मानना है कि उदारीकरण की एक आवश्यकता के रुप में राज्य 'विराजनीतिकरण की राजनीति' (Politics of Depoliticization) कर रहा है। इसका उदाहरण मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, मध्य अफ्रीका एवं लातीनी अमेरिका में देखा जा सकता है।

दो दशकों से अधिक समय गुजरने के बाद अब यह नही कहा जासकता कि उदारीकरण एवं लोकतंत्र परस्पर विरोधी दिशा में जारहे हैं। विश्व व्यापी प्रभावों, मीडिया की सतर्कता एवं राजनीतिक चेतना के बीच सामंजस्य बिठाने की कोशिश में है। बहर हाल संघर्ष एवं सामन्जस्य साथ साथ चल रहा है।

26.5 भारत में उदारीकरण

1991 में नवीन आर्थिक नीति के परिचय से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था नियंत्रणयुक्त, संरक्षणवादी एवं बन्द थी। 1991 में भारत को भुगतान अतिशेष की समस्या के साथ बड़े आर्थिक संकट से गुजरना पड़ा। भारत के पास आयात की अदायगी के लिए केवल 2 महीने के लिए पर्याप्त विदेशी मुद्रा थी। अपने आर्थिक संकट से उबरने के लिए भारत के पास एक विकल्प था कि वह विशव बैंक एवं अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष से ऋण प्राप्त करे। इसके लिए भारत को बैंक आफ इन्गलैण्ड में 47 टन तथा यूनियन बैंक आफ स्विटजरलैण्ड में 20 टन सोना गिरवी रखना पड़ा। डा0 मनमोहन सिंह उस समय वित्तमंत्री थे। उन्होने प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव के साथ मिलकर दूरगामी आर्थिक सुधारों की नीति को आगे बढ़ाया। भारत को इन ऋणदात्री संस्थाओं के द्वारा दिया संरचनात्मक समायोजन प्रोग्राम (Structural Adjustment Programme) भी स्वीकार करना पड़ा। भारत सरकार ने आर्थिक संकट दूर करने एवं अपनी आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने के लिए बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार किये। इसमें भारतीय मुद्रा का 20 प्रतिशत अवमूल्यन भी था। आयात संबन्धी नियम सरल किये गये। लाइसेन्स परमिट व्यवस्था को समाप्त किया गया तथा मोनापोलिस्टिक एन्ड रिस्ट्रक्टीव ट्रेड प्रैक्टिसेज़ (Monapolistic and Restrictive Trade Practices-MRTP) को समाप्त कर दिया गया। सार्वजनिक उपक्रमों और सेवाओं को अंशतः या पूर्णतः निजी क्षेत्रों या हाथों में सौंपने हेतु पहल किया गया। सम्पूर्ण विश्व में बिना रोक टोक के व्यक्तियों, वस्तुओं, सेवाओं, ज्ञान एवं तकनीक का स्वतंत्र प्रवाह हो सके इसके लिए सीमा शुल्क, तटीय शुल्क तथा अन्य प्रतिबन्धों को समाप्त किया गया। इन सब प्रक्रियाओं का उद्देश्य यह था कि इस से प्रतिस्पर्धात्मकता, उत्पादकता, कार्यकुशलता एवं गुणवत्ता में वृद्धि होगी। उदारीकरण ने तेजी के साथ भारत में निजी उद्योगों को बढ़ावा दिया है।

उदारीकरण से पहले 17 अधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत थे जिन्हें बाद में निजी उद्योगों के लिए भी खोल दिया गया।

26.6 भारत में उदारीकरण और भूमण्डलीकरण के प्रभाव

भारत में उदारीकरण तथा भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को शुरु हुए दो दशक से ज्यादा हो चुका है। शुरुआती दौर में राष्ट्रवादियों एवं मार्क्सवादियों द्वारा इसका तीव्र विरोध किया गया। पश्चिमी युरोप में स्वयं उदारवरदियों ने उदारीकरण का कड़ा विरोध किया था। इन विरोधों के बावजूद भारत में राज्य ने आर्थिक सुधारों के नाम पर कठोर निर्णय लिए और धीरे धीरे विभिन्न राजनीतिक दलों ने इसे सहर्ष न चाहते हुए भी स्वीकार कर लिया है।

कृषि

भूमण्डलीकरण और उदारीकरण का कृषि क्षेत्र पर गहरा प्रभाव पड़ा है। कृषि क्षेत्र का वृद्धि दर 1982–1992 के बीच 3.2 प्रतिशत से घटकर 1992–2001 के बीच की अवधि में 2.9 प्रतिशत हो गया। कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित खाद्य पदार्थों की मांग में विविधता बढ़ी है जिससे लोगों के रहन सहन का तरीका बदल है। इस से ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र के बीच आर्थिक असमानता बढ़ी है। उदारीकरण, भूमण्डलीकरण से भारत में क्षेत्रीय विषमता में भी वृद्धि हुई है।

सर्वप्रथम कृषि व्यापार में उदारीकरण प्रक्रिया का समावेश किया गया तथा यह कहा गया कि इस से किसानों को ज्यादा कीमत मिलेगी। घरेलू कीमत तथा अन्तर राष्ट्रीय कीमत में अन्तर कम होगा। निवेश बढ़ेगा, तकनीकी सुधार होगा। परिणाम स्वरुप कृषि क्षेत्र का विकास एवं विस्तार होगा। लेकिन अनुभव बताता है कि ऐसा नही हुआ बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में उतार चढ़ाव के कारण किसानों को और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसा देखा गया कि कृषि उत्पादों में व्यवहारतः प्रतिस्पर्धा का अभाव पाया गया है जैसे कि अंकटाड (UNCTAD) के अध्ययन 1993 से पता चलता है कि लगभग आधा, दर्जन बहुराष्ट्रीय कम्पनियां चीनी के कुल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हिस्सा 60 प्रतिशत, चावल में 70 प्रतिशत, गेहूं, काटन, मक्का में 85 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा था।

भारत में खाद्यान्न क्षेत्र में आत्मनिर्भता के बावजूद मात्रात्मक आयात प्रतिबन्ध हटाने से कृषि आयात 10 गुना बढ़गया है इसी तरह खाद्य तेलों पर आयात शुल्क खत्म कर देने भारत का तिलहन उद्योग संकट ग्रस्त होगया। कृषि आगतों के अनुदान को कम किया। इसके समर्थकों का मानना था कि इस से सरकार का बोझ कम होगा। राजकीय कोष में सुधार होगा। भारत में सब्सिडी का अधिकांश भाग खाद्यान्न, उर्वरक, चीनी, खाद्य तेलों के आयात पर हानि मद में किया जाता है। सब्सिडी कम करने से आवश्यक वस्तुओं के दाम बढ़ गए। किसानों तथा आम जनता को इसका कुप्रभाव झेलना पड़ा।

कृषि क्षेत्र में उन्नत बीज, उर्वरक, तकनीक, रसायनों के प्रयोग द्वारा वाणिज्यिक खेती पर अधिकाधिक जोर दिया जा रहा है जिस से छोटे किसानों, जनजातियों को नुकसान पहुंच रहा है जबकि भारत का संविधान निर्बल वर्गों के लिए आर्थिक एवं सामाजिक न्याय की बात करता है।

श्रम और रोज़गार पर प्रभाव

TESLA-024

भारत सरकार के आर्थिक समीक्षा 2001–02 से मालूम होता है कि उदारीकरण भूमण्डलीकरण के कारण समग्र रोजगार की वृद्धि दर कम होगयी।

संगठित क्षेत्र सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में रोजगार की वृद्धि दरों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र की रोजगार वृद्धि दर 1991 में 1.52 प्रतिशत सेघटकर 2000 में 0.68 प्रतिशत रह गयी। इसका चिंताजनक पहलू यह भी है कि वर्ष 1998 से लगातार सार्वजनिक क्षेत्र की रोजगार वृद्धिदर नकारात्मक बनी हुयी है। यद्यपि निजी क्षेत्र में रोजगार की वृद्धिदर सार्वजनिक क्षेत्र की तुलना में अधिक रही है लेकिन यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि निजी क्षेत्र की रोजगार वृद्धिदर वर्ष 1996 में 5.62 के उच्च स्तर पर पहुंचने के बाद आगे के वर्षों में घटती गयी है। सार्वजनिक क्षेत्र में जरुरत से अधिक आदमी हटाये गये हैं जिसने सार्वजनिक निवेश तथा भावी विकास व रोजगार को घटाया है।

शिक्षा व स्वास्थ्य

शिक्षा व स्वास्थ्य की उपेक्षा हुई है और लोगों को मंहगी निजी शिक्षा और स्वास्थ्य पर निर्भर होना पड़रहा है। रोज़गारवृद्धि का अभाव निजी क्षेत्र में आरक्षण हेतु मांगों को भी प्रेरित कर रहा है। इस समय एक प्रबल आवश्यक्ता सरकार के लिए यह है कि वह अच्छी शिक्षा मुहैया कराए। दुर्भाग्यवश जनशिक्षा का स्तर गिर रहा है और निजी शिक्षा की लागत बढ़ रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में भी अब मंहगी अग्रेजी माध्यम शिक्षा का प्रचलन हो रहा है। शिक्षा पर केन्द्र एवं राज्य सरकारों का बजट घटा है। सबसे अधिक कुप्रभावित उच्चतर शिक्षा का क्षेत्र रहा है।

क्षेत्रीय असंतुलन

भूमण्डलीकरण के कारण 'क्षेत्रवाद' और तद्जनित समस्याएं भी सामने आरही हैं। भारत के विकसित राज्य जैसे गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक और राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र आदि में रोजगार एवं बेहतर जीवन स्तर की सम्भावनाएं बढ़ी है। फलतः पिछड़े राज्यों से मजदूर एवं युवा वर्ग विकसित राज्यों में जाकर रोजगार प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु विकसित राज्यों के स्थानीय निवासियों को लगता है कि उनके राज्य में रोजगार के नए उत्पन्न अवसरों को अन्य राज्य के लोग आकर हड़प रहे हैं। इस सोच से तनाव एवं हिन्सा जन्म लेती है। महाराष्ट्र से उत्तर भारतियों को निकालने का आन्दोलन तथा असम में बिहारी मजदूरो की हत्यायें इसी सोच का परिणाम हैं।

भारत में 138 औद्योगिक गुच्छों (Industrial Clusters) में से केवल सात भारत के पांच गरीब राज्यों में स्थित हैं और 71 भारत के 4 सम्पन्नतम राज्यों में स्थित हैं। गरीब राज्यों की जनसंख्या अधिक है और इन राज्यों के सभी लोगों को स्थानीय स्तर पर रोजगार नही मिल पाता है। फलतः यह लोग अन्य विकसित राज्यों की ओर बढ़ते हैं। इस प्रकार विकसित राज्यों पर अप्रवासियों का दबाव बढ़जाता है।

अभी तक हमने भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के उन प्रभावों का जिक्र किया है जो नकारात्मक श्रेणी में आते हैं। इस से इन्कार नही किया जासकता कि उदारीकरण से भारत की अर्थव्यवस्था का भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ हो गया है। आज भूमण्डलीकरण पूरे विश्व का यथार्थ है। भारत में समाज और राज्य इस यर्थाथ से आंखें मूंदकर नही रह सकता। हमें इसका सकारात्मक प्रयोग करना होगा एवं इस से उत्पन्न चुनौतियों का सामना करना होगा।

आज भूमण्डलीकरण के कारण भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था 'अर्थ' को सर्वोच्च प्राथमिकता दे रही है इससे हमारे प्राचीन जीवन मूल्य और हमारी संवैधानिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण प्रतिमान (समाजवाद, व्यक्ति की गरिमा, सामाजिक–आर्थिक न्याय, लोककल्याणकारी राज्य आदि) प्राथमिकता खोते जा रहे

हैं। ऐसे में राज्य का यह कर्तव्य बनता है कि 'राज्य की न्यूनतम भूमिका' न निभाकर दृढ़ता से नई भूमिका निर्धारित करे जिससे कि यह अपनी सम्प्रभुता, संघाम्तक व्यवस्था, सामाजिक व आर्थिक संरचना और नागरिकों की सुरक्षा तथा विधि का शासन लागू कर अपनी उपयोगिता प्रमाणित करे।

भारत जैसे विकासशील देश में राज्य की सक्रीय भूमिका इस लिए भी आवश्यक है क्योंकि शिक्षा, स्वास्थ्य, गरीबी, बेरोज़गारी, आवास, पेय जल, प्रति व्यक्ति आय, जीवन प्रत्याशा के आधार पर बनने वाले मानव विकास सचकांक में भारत की स्थिति अब भी बहुत पीछे है जो इस बात का प्रमाण है कि राज्य को इस दिशा में प्रभावी ढंग से सक्रीय होना है।

26.7 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हम ने अपने समय की महत्वपूर्ण घटना जिस से विश्व का कोई देश या समाज बच नही सका का अध्ययन किया। इसे हम LPG (Liberalisation' Privatization and Globalisation) के नाम से जानते हैं अर्थात उदारीकरण, निजीकरण एवं भूमण्डलीकरण। इस घटनासमूह ने हमारी प्रचलित अवधारणाओं में परिवर्तन किया है। राज्य बनाम बाज़ार अर्थात राज्य के स्थान पर बाज़ार को प्राथमिकता देने की वकालत की गयी है। इसमें से हर एक अवधारणा का हमने अध्ययन किया तथा यह समझने का प्रयास किया कि विभिन्न समाजों में और खासकर भारत में इस पर क्या प्रतिक्रिया हुयी या होरही है। राज्य के कार्यक्षेत्र का आकार एवं उसकी भूमिका को कम करने की बात कही जाती है। लेएिकन विश्लेषण से पता चलता है कि यह स्वयं राज्य ही है जिसने अपने आकार को सिकोड़ने की बात भी चलायी है क्यों कि खुद राज्य अपने कार्यों के अतिरिक्त बोझ से निजात का रास्ता ढूंढ रहा था जो उसे उदारीकरण की प्रक्रिया में मिल गया। दसरे शब्दों में राज्य जहां विकास के लिए सुविधा प्रदानकर्ता (Facilitator for Development) है वहीं परिवर्तन का एक सक्रीय अभिकर्ता (Active Agent for Change) भी है। जहां एक ओर राज्य की सम्प्रभुता में ह्रास की बात स्वीकार की जाती है वहीं हम देखते हैं कि राज्य तेजी से बाह्य एवं आन्तरिक वास्तविक एवं काल्पनिक असुरक्षा के नाम पर सुरक्षा राज्य (Security State) में बदल रहा है। आतंकवाद एवं आन्तरिक विशमताओं से जनित हिंसक घटनाओं ने फिर से राज्य को शक्तिशाली बनने में मदद कर दी है जिस से उदारीकरण की प्रकिया के फलस्वरुप राजनीतिक क्षेत्र में पायी जाने वाली स्वतंत्रता, मानवाधिकार तथा दुर्बल वर्गों के कल्याण कार्यक्रम प्रभावित हुए हैं वहीं दूसरी ओर आज भी विकसित एवं शक्तिशाली राज्य इन्ही उपकरणों का प्रयोग करके अपना आर्थिक प्रभुत्व बनाए रखना चाहते हैं।

इस प्रकार राज्य की भूमिका में गिरावट नाममात्र के लिए है। वस्तुतः पूंजी ने राज्य के माध्यम से ही अपने को शक्तिशाली बनाया है।

26.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- Joseph, Stiglitz (2002), "Globalisation and its Discontents", WW Nortan and Company, New York.
- Nayar, Baldev Raj (2009), The Myth of Shrinking State# Globalisation and the State in India, Oxford University Press, New Delhi.
- कुमार, अरुण (2009) ''उदारीकरण, भूमण्डलीकरण एवं दलित'' रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।

- काबरा, कमल नयन (2005) ''भूमण्डलीकरण–विचार, नीतियां और विकल्प'', प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
- सिंहा, सच्चिदानन्द, (2007) '' भूमण्डलीकरण की चुनौतियॉ'' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
- मिश्रा, जयकुमार (2007) ''वैश्विकरण का संविधान, प्रशासन और राजनीति पर प्रभाव'', *लोकतंत्र समीक्षा*, खण्ड 40, अंक 1–2, संवैधानिक और संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली।
- पाण्डेय, रविप्रकाश (2005) '' वैश्विकरण एवं समाज'' शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद।

26.9 सम्बन्धित प्रश्न

लघु–उत्तरीय प्रश्न

(vii) उदारीकरण से आप क्या समझते हैं ?

(viii) भूमण्डलीकरण के मुख्य लक्षण बताइये।

(ix) निजीकरण पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(vii) भारत में उदारीकरण पर एक निबन्ध लिखिए।

(viii) विकासशील देशों पर भूमण्डलीकरण के प्रभावों का विवेचन कीजिए।

(ix) भारतीय निजीकरण प्रणाली के गुण एवं दोश बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1 उदारीकरण का उदयकाल माना जाता है
   (अ) शीतयुद्ध की समाप्ति पर
   (ब) प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के बीच
   (स) 1500–1600 ई0
   (द) औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात

2 'पूंजीविनिवेश' सम्बन्धित है–
   (अ) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में सरकारी पूंजी को बेचने से
   (ब) नियंत्रणों को शिथिल करने से
   (स) आर्थिक विकास से
   (द) कठोर कानून बनाने से

3 भारत में उदारीकरण को तीव्र गति देने में किनका योगदान अधिक है ?
   (अ) राजीव गांधी–साम पित्रोदा
   (ब) नरसिम्हाराव–मनमोहन सिंह
   (स) वी0 पी0 सिंह–देवीलाल
   (द) अटल बिहारी वाजपेयी–यशवंत सिंहा

26.10 प्रश्नोत्तर

1 (अ)
2 (अ)
3 (ब)